15.4


मुनि


दण्डी गुरु विरजानन्द सरस्वती


महर्षि दयानन्द सरस्वती


पं० ब्रह्मदत्त जिज्ञासु


डा० प्रज्ञा देवी







विषय-सूची

1

नागरिकशास्त्र का अर्थ, परिभाषा, क्षेत्र, उपयोगिता, स्वरूप तथा अध्ययन विधियाँ

[MEANING, DEFINITION, SCOPE, UTILITY, NATURE AND STUDY METHODS OF CIVICS]

"नागरिकशास्त्र मानव जीवन की वह शाखा है जो नागरिकों से सम्बन्धित समस्त विषयों (सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक) पर विचार करती है। इसके साथ ही वह नागरिकता के भूत, वर्तमान तथा भविष्य और स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं का विश्लेषण करती है।"

—*डॉ. ई. एम. व्हाइट*

"नागरिकशास्त्र नागरिकों के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से ही सम्बन्ध नहीं रखता अपितु इसमें वह सम्पूर्ण ज्ञान भी सम्मिलित है जो कि इन अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के उचित प्रयोग के लिए नागरिक को होना चाहिए। यह नागरिकता के लिए आवश्यक शिक्षा का ज्ञान है।"

—*प्रो. आर. पी. पटवर्धन*

यह सर्वमान्य सत्य है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। समाज में ही उसका जन्म होता है, समाज में ही रहकर वह अपना जीवनयापन करता है तथा अन्त में समाज में ही उसकी जीवन-लीला समाप्त होती है। यदि किसी मनुष्य को निर्जन वन में अकेला छोड़ दिया जाये तो कुछ समय पश्चात् उसका मन ऊब जायेगा तथा वह अपने साथियों से मिलने के लिए आतुर हो जाएगा। मनुष्य न केवल स्वभाव से ही समाज में रहना चाहता है बल्कि वह समाज में इसलिए भी रहने को विवश है क्योंकि इसके बिना उसकी आवश्यकताएँ भी पूरी नहीं हो सकतीं। अपनी विविध आवश्यकताओं की पूर्ति तथा अनेक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए उसे अपने साथियों से मिलना-जुलना होता है और उनका सहयोग भी प्राप्त करना होता है लेकिन इसका यह अर्थ कदापि नहीं है कि मनुष्य सदैव ही एक-दूसरे से मिल-जुलकर पारस्परिक सहयोग के आधार पर ही कार्य करते हैं। वस्तुतः प्रकृति ने मानव को विवेक तथा सोचने-समझने की शक्ति प्रदान की है। इसके साथ ही उसमें स्वार्थ की भावना भी विद्यमान रहती है। जब विभिन्न व्यक्तियों के विवेक तथा स्वार्थ परस्पर टकराते हैं तो उनमें विवाद और संघर्ष की स्थितियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। इन संघर्षों के कारण पारस्परिक स्नेह, विश्वास तथा सामाजिक गुणों का लोप हो जाता है। देश की शान्ति और सुरक्षा को खतरा पैदा हो जाता है एवं समाज की उन्नति का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है।

डॉ. ए. अप्पादोराय के मतानुसार, "प्रत्येक व्यक्ति अपने ढंग से सोचना और काम करना चाहता है लेकिन वह मनमानी नहीं कर सकता क्योंकि उसे समाज में रहना होता है। एक व्यक्ति की इच्छाएँ दूसरे की इच्छाओं से टकराती हैं। इसलिए समाज के सदस्यों के आपसी सम्बन्धों को नागरिकशास्त्र द्वारा नियमित करने की आवश्यकता होती है।"

सामाजिक जीवन में होने वाले इस प्रकार के झगड़ों और विवादों को नागरिकशास्त्र दूर करने का प्रयत्न करता है। नागरिकशास्त्र यह बताता है कि सामाजिक जीवन के झगड़े तथा बुराइयाँ किस प्रकार दूर हो सकते हैं और समस्त व्यक्ति मिल-जुलकर सुख-शान्ति से किस प्रकार जीवनयापन कर सकते हैं। यह हमें यह भी सिखाता है कि सामाजिक संगठन किस प्रकार मानवीय जीवन और सभ्यता को विकास के रास्ते पर आगे बढ़ा सकता है। अतः कहा जा सकता है कि **"नागरिकशास्त्र मानव जीवन को सुखमय तथा शान्तिमय बनाने वाला शास्त्र है और यह लोगों के नागरिक एवं सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है।"**

नागरिकशास्त्र का अर्थ
(MEANING OF CIVICS)

नागरिकशास्त्र शब्द अंग्रेजी भाषा के सिविक्स (Civics) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। इस शब्द के अर्थ को समझने के लिए लैटिन भाषा के दो शब्द **सिविस (Civis)** तथा **सिविटास (Civitas)** के अर्थ को समझना होगा। सिविस का अर्थ नागरिक और सिविटास का अर्थ नगर है। प्राचीन यूनान में नगर का आशय नगर राज्य तथा नागरिक का आशय नगर राज्य के सदस्य से होता था। अतः शाब्दिक अर्थों में सिविक्स अथवा नागरिकशास्त्र से हमारा आशय उस विषय से है जो नागरिकों से सम्बन्धित है अर्थात् शब्द उत्पत्ति की दृष्टि से **नागरिकशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें व्यक्ति का अध्ययन एक नागरिक के रूप में किया जाता है।**

नागरिकशास्त्र का शाब्दिक अर्थ—हिन्दी शब्द नागरिकशास्त्र दो शब्दों—'नागरिक' और 'शास्त्र' से मिलकर बना है। सर्वप्रथम हम इन शब्दों की व्याख्या करेंगे।

(अ) 'नागरिक' का आशय—सामान्य बोलचाल की भाषा में नागरिक का आशय नगर निवासी से लिया जाता है लेकिन राजनीतिक दृष्टि से यह अर्थ त्रुटिपूर्ण है। राजनीति में नागरिक शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया जाता है जो किसी संगठित राजनीतिक समाज का सदस्य होता है तथा जिसे कुछ राजनीतिक और सामाजिक अधिकार मिले होते हैं। इन अधिकारों के बदले उसे कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। अतः नागरिक को परिभाषित करते हुए कहा जा सकता है कि **"नागरिक किसी राज्य के वे सदस्य होते हैं जिनको राज्य की ओर से कुछ सामाजिक और राजनीतिक अधिकार मिले होते हैं तथा जो उस राज्य के प्रति भक्ति एवं निष्ठा की भावनाओं से बँधकर उसके प्रति कुछ कर्त्तव्यों का पालन करने के लिए प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से वचनबद्ध होते हैं।"**

(ब) 'शास्त्र' का आशय—शास्त्र से हमारा आशय किसी विषय के क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित ज्ञान से है जो निरीक्षण, प्रयोग और विश्लेषण द्वारा प्राप्त किया जाता है।

नागरिक और शास्त्र शब्दों के उपर्युक्त अर्थों के आधार पर रखकर नागरिकशास्त्र की व्याख्या निम्नलिखित शब्दों में की जा सकती है—

"नागरिकशास्त्र वह विषय है जिसमें संगठित राजनीतिक समाज (राज्य) के सदस्यों के रूप में नागरिक के भूत, भविष्य एवं वर्तमान जीवन का क्रमबद्ध तथा सुव्यवस्थित विवेचन किया जाता है।"

नागरिकशास्त्र का व्यापक अथवा आधुनिक अर्थ—वर्तमान काल में नगर-राज्यों के स्थान पर विशाल राज्यों का उदय हुआ है। अब सिर्फ नगर में रहने वालों को ही नहीं अपितु गाँव में रहने वालो को भी शासन में हिस्सा लेने के अधिकार मिल गये हैं। अतः अब नागरिकशास्त्र का क्षेत्र विस्तृत हो गया है। नागरिक शब्द का प्रयोग उस व्यक्ति के लिए किया जाता है जिसे राज्य की ओर से कुछ अधिकार मिले होते हैं तथा वह राज्य के प्रति कुछ कर्त्तव्यों का पालन करता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र वह शास्त्र है जिसके द्वारा हमें नागरिकता एवं उससे सम्बन्धित बातों का ज्ञान होता है। यह हमें सफल सामाजिक जीवन व्यतीत करने की शिक्षा देता है। अतः संक्षेप में हम कह सकते हैं, **"हालांकि नागरिकशास्त्र का विषय मुख्यतया मानव का नागरिक के रूप में विचार करना है लेकिन वस्तुतः यह मानव का राज्य के नागरिक, स्थानीय संस्थाओं के नागरिक तथा संसार के नागरिक के रूप में अध्ययन है।"**

नागरिकशास्त्र की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF CIVICS)

अनेक विद्वानों ने अपने-अपने दृष्टिकोण के आधार पर नागरिकशास्त्र की विभिन्न परिभाषाएँ दी हैं। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

प्रसिद्ध भारतीय लेखक पुन्ताम्बेकर का मत है कि **"नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।"**[1]

पैट्रिक गेड्डुस के अनुसार, **"सामाजिक निरीक्षण का समाज सेवा में प्रयोग ही नागरिकशास्त्र है।"**[2]

प्रो. वार्ड के शब्दों में, **"नागरिकशास्त्र समाज का वह निरीक्षण है जिसका प्रयोग समाज सेवा के कार्य में किया जाता है।"**[3]

डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में, **"सामाजिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में व्यक्ति को अनेक कर्त्तव्यों का पालन करना होता है तथा दूसरी ओर उन्हें अनेक अधिकार प्राप्त होते हैं। नागरिकशास्त्र प्रमुख रूप से इन्हीं से सम्बन्धित है।"**[4]

एल्फ्रेड जे. शॉ. के मतानुसार, **"नागरिकशास्त्र ज्ञान की वह शाखा है जो किसी राजनीतिक संगठन के सदस्यों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का विवेचन करती है।"**[5]

अँग्रेजी भाषा के प्रसिद्ध शार्टर ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार, **"नागरिकशास्त्र नागरिकता के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का सैद्धान्तिक विषय है।"**[6]

नागरिकशास्त्र की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा

उपर्युक्त परिभाषाओं में भाषा की दृष्टि से यद्यपि कुछ अन्तर है लेकिन सभी का मूल आशय यहीं है कि नागरिकशास्त्र में नागरिक के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का अध्ययन किया

---

1 "Civics is the science and philosophy of citizenship." —*Puntambekar*

2 "Civics is the application of social survey to social service." —*Patric Geddes*

3 "Civics is a social survey applied to social service." —*Prof. Ward*

4 "In the context of social relationships, there are many duties to be performed and correspondingly, many rights to be respected. It is with them that civics is mainly concerned." —*Dr. Beni Prasad*

5 "Civics may be defined as that branch of human knowledge which deals with the rights and duties of men, living as a member of a group politically organised." —*Alfred J. Shaw*

6 "Civics is the theory of rights and duties of citizenship." —*S. Oxford Dictionary*

जाता है। नागरिकशास्त्र की ये परिभाषाएँ अपने आप में पूर्ण नहीं हैं और सिर्फ आंशिक रूप से ही ठीक कही जा सकती हैं। इनमें नागरिकशास्त्र के व्यापक अध्ययन क्षेत्र को दृष्टि में नहीं रखा गया है क्योंकि अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की विवेचना तो नागरिकशास्त्र के व्यापक क्षेत्र का एक अंग मात्र है। अतः उपर्युक्त परिभाषाएँ संकुचित तथा अपूर्ण हैं।

प्रो. एफ. जी. गोल्ड तथा प्रो. ई. एम. ह्वाइट की परिभाषाएँ अधिक उपयुक्त और सटीक हैं।

प्रो. एफ. जी. गोल्ड का विचार है कि "नागरिकशास्त्र उन संस्थाओं, आदतों, कार्यों तथा भावनाओं का अध्ययन है जिनके द्वारा कोई पुरुष अथवा महिला अपने कर्त्तव्यों की पूर्ति कर सके और राज्य का सदस्य होने का लाभ उठा सके।"[1]

प्रो. गोल्ड की परिभाषा अन्य परिभाषाओं से अधिक व्यापक, अर्थपूर्ण एवं उचित प्रतीत होती है। इसमें नागरिकशास्त्र को सिर्फ अधिकार तथा कर्त्तव्यों तक ही सीमित नहीं किया गया है अपितु नागरिक जीवन से सम्बन्धित सभी संस्थाओं, आदतों, कार्यों और भावनाओं को इसके अध्ययन क्षेत्र के अन्तर्गत रखा गया है। फिर भी यह परिभाषा संकुचित ही कही जाएगी क्योंकि इसमें नागरिक जीवन के समस्त पहलुओं का समावेश नहीं है।

डॉ. ई. एम. ह्वाइट के मतानुसार, "नागरिकशास्त्र मानव जीवन की वह शाखा है जो नागरिकों से सम्बन्धित समस्त विषयों (सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक, राजनीतिक तथा धार्मिक) पर विचार करती है। इसके साथ ही साथ वह नागरिकता के भूत, वर्तमान तथा भविष्य और स्थानीय, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय पहलुओं का भी विश्लेषण करती है।"[2]

डॉ. ह्वाइट की परिभाषा में नागरिकशास्त्र की अध्ययन परिधि के अन्तर्गत आने वाली सम्पूर्ण बातों का समावेश है। यह अन्य परिभाषाओं की तरह एकाकी तथा संकुचित न होकर विस्तृत एवं स्पष्ट है। यह नागरिकों के सामाजिक, राजनीतिक, बौद्धिक, आर्थिक तथा धार्मिक पहलुओं पर भी विचार करती है। नागरिकशास्त्र के वर्तमान रूप का ही नहीं अपितु भूतकाल की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि तथा भविष्य के भावी आदर्श पर जोर देकर यह परिभाषा विषय को व्यापकता प्रदान करती है। इसमें न सिर्फ स्थानीय और राष्ट्रीय बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के विश्लेषण का अध्ययन भी सम्मिलित है।

अन्त में, हम निष्कर्ष रूप में कह सकते हैं कि "नागरिकशास्त्र हमें उन समस्त विषयों का ज्ञान कराता है जिनका सम्बन्ध मानव तथा समाज से है और जिसके ऊपर मानव एवं समाज की उन्नति निर्भर है।"

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अथवा विस्तार (विषय-सामग्री)
(SCOPE OF CIVICS)

किसी विषय के क्षेत्र अथवा विस्तार से हमारा आशय इस बात से होता है कि उस विषय के अन्तर्गत किन-किन बातों का अध्ययन किया जाता है अर्थात् उसकी विषय-वस्तु

1 "Civics is the study of institutions, habits, activities and spirit by means of which a man or a woman may fulfil the duties and receive the benefits of the membership of a political community." —F. G. Gould

2 "Civics is that more or less useful branch of human knowledge which deals with every thing (social, intellectual, economical, political and even religious aspects) relating to a citizen, past, present and future, local, national and human." —Dr. E. M. White

क्या है कोई शास्त्र पदार्थों के रासायनिक गुणों का ज्ञान कराता है तो कोई शास्त्र अंकों का। कोई शास्त्र मानव जीवन के सामाजिक सम्बन्धों का अध्ययन कराता है तो कोई आर्थिक पहलुओं का। असल में प्रत्येक शास्त्र का एक निश्चित क्षेत्र अथवा दायरा होता है जिसके अन्तर्गत रहकर हम उस शास्त्र का अध्ययन करते हैं।

नागरिकशास्त्र की भी अपनी एक सीमा और उसका अपना क्षेत्र है। नागरिकशास्त्र का जन्म-स्थान यूनान माना जाता है और यूनानी नागरिक जीवन को दृष्टि में रखते हुए नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बहुत ही संकुचित अर्थात् नगर राज्यों के नागरिकों के अध्ययन तक सीमित समझा जाता रहा लेकिन आधुनिक युग में सभ्यता और संस्कृति के विकास तथा वैज्ञानिक आविष्कारों ने सम्पूर्ण संसार को एक नगर जैसा बना दिया है। परिणामस्वरूप नागरिकशास्त्र का क्षेत्र बहुत अधिक व्यापक हो गया है। गेड्डस ने तो यहाँ तक कहा है कि "नागरिकशास्त्र सामाजिक निरीक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।"[1] वर्तमान काल में नागरिकशास्त्र नागरिक से सम्बन्धित सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक एवं बौद्धिक सभी पहलुओं का, भूत, वर्तमान और भविष्य से सम्बन्धित बातों का तथा स्थानीय, राष्ट्रीय अथवा अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व की समस्त घटनाओं का अध्ययन करता है। नागरिकशास्त्र के क्षेत्र पर प्रकाश डालते हुए प्रो. पुन्ताम्बेकर ने लिखा है कि "नागरिकशास्त्र का क्षेत्र मानव का सम्पूर्ण जीवन अथवा उसके वह कार्य हैं जिनको वह क्रियान्वित करता है तथा उसके कार्यों का अतीत के अनुभव एवं भविष्य के उद्देश्यों के आधार पर उचित निर्णय किया जा सकता है।" नागरिकशास्त्र के इस सर्वव्यापी क्षेत्र के सम्बध में एफ. जी. गोल्ड का कथन उचित है कि "नागरिकशास्त्र का क्षेत्र सभ्यता और नागरिकता के विकास तक फैला हुआ है।"[2]

नागरिकशास्त्र के इस व्यापक क्षेत्र को निम्नांकित शीर्षकों के रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का अध्ययन—अधिकार एवं कर्त्तव्य नागरिक जीवन के प्राण हैं, अतः नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत यह अध्ययन किया जाता है कि व्यक्ति के स्वयं अपने प्रति; परिवार, पड़ोस, नगर, राज्य तथा मानवता के प्रति क्या कर्त्तव्य हैं? और व्यक्ति को इन संस्थाओं से किन व्यक्तिगत, सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकारों की प्राप्ति होती है? नागरिकशास्त्र में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि अधिकार एवं कर्त्तव्यों का आपस में क्या सम्बन्ध है, समाज एवं राज्य का अधिकारों के अस्तित्व को बनाये रखने में क्या योगदान है, व्यक्ति एवं समाज के लिए अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की क्या उपयोगिता है? तथा इनका किस प्रकार से प्रयोग किया जाना चाहिए जिससे कि एक आदर्श समाज के निर्माण में सहायता मिल सके?

(2) नागरिक के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन—व्यक्ति नागरिकशास्त्र का केन्द्र-बिन्दु है जिसके कारण नागरिकशास्त्र उसके व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन करता है तथा उसे एक अच्छा व्यक्ति और आदर्श नागरिक बनाने का मार्ग प्रशस्त करता है। नागरिकशास्त्र में इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि सुखी नागरिक जीवन के मार्ग में कौन-कौनसी बाधाएँ आती हैं तथा उनको किस प्रकार दूर किया जा सकता है?

---

1 "Civics is social survey applied to social service." —*Geddes*
2 "Civics is co-extensive with civilization and citizenship." —*F. G. Gould*

(3) नागरिक के सामाजिक जीवन का अध्ययन—मानव एक सामाजिक प्राणी है अतः मानव जीवन की उचित जानकारी सामाजिक परिप्रेक्ष्य में ही की जा सकती है, इसीलिए नागरिकशास्त्र मानव के व्यक्तिगत जीवन के साथ-साथ सामाजिक जीवन का भी अध्ययन करता है। नागरिकशास्त्र इस बात का भी अध्ययन करता है कि व्यक्ति के जीवन में, उसके विकास में समाज की क्या भूमिका है तथा व्यक्तियों को आदर्श नागरिक बनाने के लिए उनके सामाजिक जीवन में कौन-कौन से परिवर्तन किये जाने आवश्यक हैं।

नागरिकशास्त्र का क्षेत्र

* नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का अध्ययन
* नागरिक के व्यक्तिगत जीवन का अध्ययन
* नागरिक के सामाजिक जीवन का अध्ययन
* अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का अध्ययन
* विभिन्न समुदायों एवं संस्थाओं का अध्ययन
* संविधानों का अध्ययन
* अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन
* अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन
* पड़ौस का अध्ययन
* विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन
* लोकतान्त्रिक आदर्शों का अध्ययन
* लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संगठन का अध्ययन
* राज्य का अध्ययन
* सरकार का अध्ययन

(4) अतीत, वर्तमान तथा भविष्य का अध्ययन—हमारे वर्तमान का आधार अतीत है। अतः वर्तमान को ठीक प्रकार से समझने के लिए नागरिकशास्त्र में अतीत-कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का अध्ययन किया जाता है। अतीत-कालीन सामाजिक एवं राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि वर्तमान में जो विभिन्न संस्थाएँ अस्तित्व में हैं, उनका विकास किस प्रकार हुआ। वर्तमान समाज का अध्ययन तो नागरिकशास्त्र का प्रमुख विषय है ही अतः इसमें वर्तमान सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाओं, संघों तथा समुदायों का अध्ययन किया जाता है। यहाँ यह स्मरणीय है कि नागरिकशास्त्र में अतीतकालीन और वर्तमान सामाजिक जीवन का अध्ययन बेकार में नहीं किया जाता बल्कि इस अध्ययन का उद्देश्य भविष्य में सामाजिक जीवन को श्रेष्ठ बनाना होता है। नागरिकशास्त्र इस बात पर भी विचार करता है कि भविष्य में समाज का आदर्श-स्वरूप किस प्रकार का होना चाहिए।

(5) विभिन्न समुदायों एवं संस्थाओं का अध्ययन—नागरिक सिर्फ राज्य और राजनीतिक संस्थाओं का ही सदस्य नहीं होता अपितु वह अनेक आर्थिक, धार्मिक और सांस्कृतिक संस्थाओं का भी सदस्य होता है। इसलिए नागरिकशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत इन संस्थाओं तथा इनसे सम्बन्धित विषयों, जैसे—शिक्षा, सम्पत्ति तथा विवाह इत्यादि का अध्ययन भी किया जाता है।

(6) संविधानों का अध्ययन—नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत संविधान के विभिन्न रूपों तथा उनके गुण-दोषों का अध्ययन भी किया जाता है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन के आधार पर ही यह स्पष्ट होता है कि किसी राज्य विशेष के लिए किस प्रकार का संविधान सर्वाधिक उपयुक्त होगा तथा अच्छे संविधान की कौन-कौनसी प्रमुख विशेषताएँ होती हैं। इसके अतिरिक्त विभिन्न शासन प्रणालियों का अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन—आज विज्ञान की प्रगति और यातायात तथा संचार के साधनों ने दूरी को समाप्त करके सम्पूर्ण विश्व को एक परिवार की भाँति बना दिया है। एक देश की घटनाओं का प्रभाव दूसरे देशों पर भी पड़ता है। अतः नागरिकशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का अध्ययन करता है और यह बताता है कि किस प्रकार राजनीतिक तथा आर्थिक क्षेत्र की अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का समाधान करके विश्व में सुख-शान्ति की स्थापना की जाय जिससे मानव जाति का भविष्य उज्ज्वल हो सके।

(8) अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का अध्ययन—युद्धों को रोकने और शान्ति बनाये रखने के लिए मानव ने समय-समय पर अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की स्थापना की है। नागरिकशास्त्र इस बात का अध्ययन करता है कि प्रथम विश्व युद्ध के बाद स्थापित राष्ट्र संघ (लीग ऑफ नेशन्स) ने विश्व शान्ति बनाये रखने के लिए क्या-क्या प्रयास किये और अपने इन प्रयासों में उसे क्यों असफलता प्राप्त हुई? 1945 में राष्ट्रसंघ के स्थान पर संयुक्त राष्ट्र संघ (U.N.O.) की स्थापना की गई। संयुक्त राष्ट्र संघ और उसके सहायक संगठन राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान दे रहे हैं। नागरिकशास्त्र इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों की रचना और कार्यों का अध्ययन करता है तथा इनको अधिक प्रभावशाली बनाने के उपायों पर विचार करता है।

(9) पड़ौस का अध्ययन—नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत पड़ौस का अध्ययन भी किया जाता है। क्योंकि यह शास्त्र हमें आदर्श पड़ौसी होने का गुण सिखाता है। इस सम्बन्ध में डॉ. बेनी प्रसाद का यह कथन सत्य ही है कि **"नागरिकशास्त्र विशेषकर पड़ौस के सम्बन्धों का अध्ययन करता है। वह पड़ौस की समस्याओं, मानव के कर्त्तव्यों तथा सामाजिक जीवन का अध्ययन करता है।"**

(10) विभिन्न विचारधाराओं का अध्ययन—मानव के जीवन को उसकी भौगोलिक, ऐतिहासिक, धार्मिक एवं आर्थिक परिस्थितियाँ प्रभावित करती हैं। इसके साथ-साथ ही विभिन्न विचारधाराएँ भी मानव के कार्यों को प्रभावित करती हैं। नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत इन विभिन्न परिस्थितियों एवं विचारधाराओं का अध्ययन भी किया जाता है।

(11) लोकतान्त्रिक आदर्शों का अध्ययन—स्वतन्त्रता एवं समानता लोकतन्त्र के मुख्य आदर्श तथा सिद्धान्त हैं। यह विधि के शासन (Rule of Law) के मूलाधार भी हैं अतः नागरिकशास्त्र में उनका विस्तृत अध्ययन किया जाता है। नागरिकशास्त्र में स्वतन्त्रता, समानता तथा विधि इन सभी के विविध रूपों का अध्ययन करने के साथ-साथ इस बात का भी अध्ययन किया जाता है कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा किस प्रकार सम्भव है। इसी प्रकार समानता के अर्थ, प्रकार एवं व्यवहार में समानता की प्राप्ति के उपायों का अध्ययन किया जाता है। स्वतन्त्रता तथा विधि में निकट का सम्बन्ध है और स्वतन्त्रता एवं समानता की प्राप्ति विधि एवं न्याय पर निर्भर होती है। अतः विधि एवं न्याय भी नागरिकशास्त्र के अध्ययन-क्षेत्र में सम्मिलित हैं।

(12) लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संगठन का अध्ययन—वर्तमान में लोकतान्त्रिक व्यवस्था सर्वोत्तम शासन व्यवस्था मानी जाती है। अतः लोकतान्त्रिक व्यवस्था के संगठन का अध्ययन भी नागरिकशास्त्र में सम्मिलित है। लोकतन्त्र में जनसाधारण द्वारा चुने हुए जन प्रतिनिधि शासन का संचालन करते हैं इसलिए चुनाव एवं मतदान से जुड़े प्रश्नों का विस्तार

से अध्ययन नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत किया जाता है। इसके साथ ही राजनीतिक दलों की संरचना, उनके कार्यों एवं नीतियों तथा जनमत निर्माण के साधनों का भी नागरिकशास्त्र में अध्ययन किया जाता है।

(13) राज्य का अध्ययन—नागरिकशास्त्र का प्रमुख विषय नागरिक है जिसका सम्बन्ध राज्य से होता है। नागरिक और राज्य में क्या सम्बन्ध होना चाहिए तथा राज्य का क्या स्वरूप है और क्या होना चाहिए, इत्यादि का भी अध्ययन नागरिकशास्त्र में किया जाता है। नागरिकशास्त्र ही हमें यह बताता है कि वर्तमान राज्य की बुराइयों को किस प्रकार दूर करके एक आदर्श राज्य की स्थापना की जा सकती है।

(14) सरकार का अध्ययन—सरकार राज्य का प्रमुख तत्व है। अतः राज्य सम्बन्धी किसी भी प्रकार का अध्ययन उस समय तक पूरा नहीं हो सकता जब तक कि सरकार का अध्ययन नहीं किया जाय। नागरिकशास्त्र में सरकार के विभिन्न स्वरूपों तथा उसके विभिन्न अंगों का अध्ययन किया जाता है।

उपर्युक्त वर्णन से यह स्पष्ट हो जाता है कि नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अत्यधिक विस्तृत एवं व्यापक होने के साथ-साथ निरन्तर विकासशील है। सभ्यता एवं संस्कृति के विकास ने जितनी करवटें ली हैं उतनी ही नागरिकशास्त्र के क्षेत्र में वृद्धि होती रही है। जैसे-जैसे नगर राज्यों का स्वरूप राष्ट्रीय राज्यों में परिवर्तित होता गया वैसे-वैसे नागरिकशास्त्र का क्षेत्र भी राष्ट्रीय राज्यों तक विस्तृत होता गया। आवागमन के द्रुतगामी वैज्ञानिक आविष्कारों, औद्योगिक क्रान्ति, प्रेस तथा सांस्कृतिक आदान-प्रदान के फलस्वरूप सम्पूर्ण संसार ने एक इकाई का रूप ग्रहण कर लिया है और ऐसा प्रतीत होता है कि पूरा संसार नागरिकशास्त्र की परिधि में समा रहा है। यहाँ यह कहना उचित ही होगा कि **"नागरिकशास्त्र का क्षेत्र एक ऐसे वृक्ष के समान है जिसका अर्द्ध-व्यास बढ़ता ही चला गया है अर्थात् नागरिकशास्त्र के क्षेत्र में सभ्यता के विकास के साथ-साथ वृद्धि हुई है।"**

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता अथवा महत्त्व
(UTILITY OR IMPORTANCE OF THE STUDY OF CIVICS)

व्यक्ति तथा समाज की दृष्टि से नागरिकशास्त्र के अध्ययन का अत्यधिक महत्त्व है। नागरिकशास्त्र यद्यपि अन्य सामाजिक शास्त्रों की तुलना में नया है तथा मात्र पन्द्रह शताब्दी पुराना ही है किन्तु वर्तमान में इसके अध्ययन की उपयोगिता तथा महत्त्व निश्चित रूप से बहुत अधिक है। नागरिकशास्त्र का उद्देश्य एक सुखी और आदर्श समाज की स्थापना करना है। हमारा सामाजिक जीवन उस समय तक आदर्श रूप धारण नहीं कर सकता जब तक कि सामाजिक जीवन का निर्माण नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों की दृढ़ नींव पर आधारित न हो। नागरिकशास्त्र के महत्त्व को स्वीकारते हुए पैट्रिक गेड्डस ने लिखा है कि **"अभी नागरिकशास्त्र सबसे नवीन शास्त्र है परन्तु यह अत्यन्त विशाल तथा सतत् विकासमान ज्ञानरूपी वृक्ष की उस छोटी कली के समान है जो सबसे अधिक फलदायक सिद्ध हो सकती है।"**

नागरिकशास्त्र के भावी महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए डॉ. राम एवं शर्मा ने लिखा है कि **"नागरिकशास्त्र के ज्ञान के अभाव में मानव उस सिपाही के समान है जो अपने अस्त्र-शस्त्रों के प्रयोग से अपरिचित है; उस वकील के समान है जो कानून को समझता ही नहीं है तथा उस अध्यापक के समान है जो शिक्षा के सिद्धान्तों से अपरिचित है।"**

आज का युग लोकतान्त्रिक व्यवस्था का युग है। लोकतान्त्रिक शासन की सफलता के लिए यह यह आवश्यक है कि नागरिकों को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान हो तथा सरकारों के संगठन, कार्य-प्रणाली एवं संचालन की प्रक्रिया की उन्हें भली-भाँति जानकारी हो। इस आवश्यकता की पूर्ति नागरिकशास्त्र के अध्ययन से ही सम्भव हो सकती है। इसलिए आज के लोकतान्त्रिक युग में नागरिकशास्त्र का अध्ययन प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक हो गया है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता तथा उसके महत्त्व को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण—नागरिकशास्त्र के अध्ययन से मानव में सामाजिक भावना का विकास होता है तथा सामाजिक और संगठित जीवन के उन सिद्धान्तों की जानकारी होती है जिनसे कि आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण हो सके। इस शास्त्र के अध्ययन द्वारा संकीर्ण स्वार्थों से ऊपर उठकर सामाजिक हित की दृष्टि से सोचने एवं कार्य करने की प्रेरणा एवं क्षमता का उदय होता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र सुखी, शान्तिमय और स्वस्थ समाज का निर्माण करता है जैसा कि ग्रीन ने लिखा है कि "सामाजिक हित ही वास्तविक हित है।"

नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता अथवा महत्त्व

* आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण
* नागरिकों में मानवीय गुणों का विकास
* मानव अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान
* राज्य तथा सरकार का ज्ञान
* राजनीतिक चेतना का विकास
* राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की शिक्षा का ज्ञान
* अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा
* राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान
* राष्ट्रीय एवं संवैधानिक इतिहास का ज्ञान
* लोकतन्त्रीय शासन की सफलता में सहायक
* सजग लोकमत के निर्माण में सहायक
* राजनीतिक दलों का ज्ञान
* विभिन्न संस्थाओं एवं समुदायों का ज्ञान
* विभिन्न विचारधाराओं का ज्ञान

(2) नागरिकों में मानवीय गुणों का विकास—नागरिकशास्त्र मानवीय सद्गुणों का शिक्षक है। आज के जनजीवन की दुर्व्यवस्था का मूल कारण यह है कि मानव सहज मानवीयता से दूर हटकर पशु-प्रवृत्ति की ओर अग्रसर होता जा रहा है। उसको मानवता का पाठ पढ़ाकर सद्गुणों का विकास करना, नागरिकशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है। यह नागरिकों में प्रेम, आज्ञापालन, सेवा, अनुशासन, सहयोग, सहिष्णुता तथा राष्ट्र प्रेम की भावना जाग्रत करता है और इस बात पर बल देता है कि व्यक्ति इन गुणों को आत्मसात् करके ही स्वयं अपने समाज और राष्ट्र के विकास में योगदान दे सकता है। आज के युग की महती आवश्यकता संकीर्ण स्वार्थों को त्यागकर आदर्श नागरिक में सद्गुणों का विकास करना है। इस दृष्टि से नागरिकशास्त्र का अध्ययन एक उपयोगी अनुष्ठान है।

(3) मानव अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान—व्यक्ति तथा समाज की प्रगति की दृष्टि से अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की व्यवस्था का अत्यधिक महत्त्व है। अधिकारों एवं कर्त्तव्यों की उचित व्यवस्था व्यक्ति तथा समाज के बीच संघर्ष को सीमित करती है और सहयोग के एक

ऐसे वातावरण को जन्म देती है जिसमें उनका पर्याप्त विकास हो। नागरिकशास्त्र अधिकार एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान देता है अतः इसे व्यक्ति तथा समाज के लिए उपयोगी माना जाता है। इस विषय में प्रो. एल्फ्रेड जे. शॉ ने ठीक ही लिखा है, **"नागरिकशास्त्र में हम अपने अधिकारों के प्रयोग का तरीका सीखते हैं जिससे हमारी प्रगति हो सके और हम सज्जन तथा समाज के उपयोगी सदस्य बन सकें। इससे हम अपने कर्त्तव्यों को पूर्ण करने का तरीका सीखते हैं जिससे हम दूसरों को उनके अधिकारों के उपभोग करने में सहायता पहुँचा सकें।"**

(4) राज्य तथा सरकार का ज्ञान—नागरिकशास्त्र यह बताता है कि राज्य की प्रकृति एवं उद्देश्य क्या हैं तथा सरकार को अधिक से अधिक लोकप्रिय होने के लिए उसे किस प्रकार की कार्यप्रणाली को अपनाना चाहिए। इस दृष्टि से नागरिकशास्त्र विभिन्न प्रकार के सिद्धान्तों और विचारधाराओं का भी ज्ञान कराता है।

(5) राजनीतिक चेतना का विकास—नागरिकशास्त्र राजनीतिक चेतना के विकास में सहायता करता है। यह राष्ट्रीय प्रशासन में नागरिकों की रुचि जाग्रत करता है और उन्हें प्रेरणा देता है कि वे अपने कर्त्तव्यों का पालन करें तथा अपने अधिकारों की रक्षा के प्रति भी जागरूक रहें और राष्ट्रीय सरकार को अनुत्तरदायी एवं अत्याचारी न बनने दें। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने कहा था कि **"लोकतन्त्र एक ऐसी शासन प्रणाली है जिसमें जनता को भेड़ियों के समान पिछलग्गू के रूप में आचरण नहीं करना होता है।"**

(6) राष्ट्रीयता एवं देश-प्रेम की शिक्षा का ज्ञान—इस शास्त्र के अध्ययन से राष्ट्रीयता की भावना का विकास होता है तथा देश-प्रेम की प्रेरणाप्रद शिक्षा मिलती है। नागरिकशास्त्र लोगों को इस बात का ज्ञान कराता है कि राष्ट्र के विकास में ही उनके अपने परिवार, ग्राम एवं नगर का विकास निहित है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा—नागरिकशास्त्र नागरिकों को राष्ट्रीयता की भावना से ही बाँधे नहीं रखता अपितु अन्तर्राष्ट्रीयता एवं विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा प्रदान करता है। नागरिकशास्त्र से इस बात की शिक्षा मिलती है कि हमकों सम्पूर्ण मानवता के हितों को ध्यान में रखकर अपने विचारों का निर्माण करना चाहिए। वर्तमान में संसार के शक्ति-सम्पन्न देश संहारक अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण कर रहे हैं तथा विद्वेष की भावना से कटिबद्ध हैं। ऐसे समय में तो नागरिकों द्वारा प्रदर्शित व्यापक दृष्टिकोण, विश्व-बन्धुत्व तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग का महत्त्व बहुत बढ़ जाता है। इसी कारण ई. एम. ह्वाइट ने लिखा है कि **"वर्तमान युग में जिन समस्याओं का सामना करना है उन्हें सुलझाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण की आवश्यकता है और नागरिकशास्त्र अपने सामंजस्यपूर्ण अध्ययन से व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करता है।"**

(8) राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान—वैज्ञानिक प्रगति के कारण राष्ट्रों के मध्य घनिष्ठ राजनीतिक सम्पर्क स्थापित हुए हैं और इसके कारण विश्व राजनीति में राष्ट्रों के बीच सहयोग एवं तनाव के क्षेत्र उत्पन्न हुए हैं। ऐसी स्थिति में प्रत्येक नागरिक के लिए राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। यह ज्ञान हमें नागरिकशास्त्र के अध्ययन से ही मिलता है।

(9) राष्ट्रीय एवं संवैधानिक इतिहास का ज्ञान—नागरिकशास्त्र विभिन्न देशों के राष्ट्रीय एवं संवैधानिक इतिहास को प्रस्तुत करता है। यह व्यावहारिक राजनीतिक शक्तियों का ज्ञान प्राप्त कराता है जिसके आधार पर राष्ट्रीय जीवन को और अधिक उन्नत एवं शक्तिशाली बनाया

जा सकता है। इसके अतिरिक्त, अपने देश के राजनीतिक एवं संवैधानिक इतिहास के ज्ञान से सामान्य नागरिक में देश-प्रेम की भावनाएँ सुदृढ़ होती हैं।

(10) लोकतन्त्रीय शासन की सफलता में सहायक—यह शास्त्र हमें लोकतन्त्र का ज्ञान प्रदान करके लोकतन्त्र के मार्ग पर अग्रसर करता है। लोकतान्त्रिक व्यवस्था नागरिकों से आशा करती है कि लोग अपने दायित्वों को पहचानेंगे तथा इसके द्वारा राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन में आने वाले परिवर्तनों के स्वागत के लिए तैयार रहेंगे। इन सभी के लिए यह आवश्यक है कि नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों से हम अच्छी प्रकार परिचित हों।

(11) सजग लोकमत के निर्माण में सहायक—वर्तमान शासन प्रणाली में लोकमत का अत्यधिक महत्त्व है। व्यक्ति लोकमत के निर्माण में अपनी भूमिका भली-भाँति निभा सके, इसके लिए नागरिकशास्त्र के अध्ययन की मूलभूत रूप में आवश्यकता होती है। नागरिकशास्त्र देश की प्रमुख समस्याओं से लोगों को अवगत कराकर सजग लोकमत के निर्माण में सहायक होता है।

(12) राजनीतिक दलों का ज्ञान—दल-प्रणाली लोकतन्त्र का आवश्यक अंग है। दल ही सरकार का निर्माण करते हैं। वे ही उस पर नियन्त्रण रखते हैं तथा जनता और सरकार के मध्य कड़ी का कार्य करके लोकतन्त्र को मूर्त एवं साकार बनाते हैं। नागरिकशास्त्र का अध्ययन हमें स्वस्थ दल-प्रणाली के निर्माण और विकास तथा दलगत प्रणाली की त्रुटियों से परिचित कराता है। इस ज्ञान का लाभ आदर्श राजनीतिक दल के निर्माण में सहायक होता है।

(13) विभिन्न संस्थाओं एवं समुदायों का ज्ञान—यह शास्त्र हमें विभिन्न समुदायों तथा संस्थाओं के संगठन, लक्ष्य और कार्य-प्रणाली का ज्ञान उपलब्ध कराता है। वर्तमान परिस्थितियों में, जबकि समुदायों एवं संस्थाओं के बिना नागरिक जीवन की कल्पना असम्भव है, नागरिकशास्त्र द्वारा उपलब्ध कराये गये ज्ञान का महत्त्व अत्यधिक बढ़ता जा रहा है।

(14) विभिन्न विचारधाराओं का ज्ञान—नागरिकशास्त्र के अध्ययन द्वारा हमें राज्य के अधिकार क्षेत्र से सम्बन्धित समाजवाद, साम्यवाद, व्यक्तिवाद, आदर्शवाद तथा अराजकतावाद इत्यादि चिन्तनधाराओं का परिचय मिलता है। यह ज्ञान हमारे राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक जीवन को विवेकशील तथा प्रगतिशील बनाने के लिए परमावश्यक है।

विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता
(UTILITY OF THE STUDY OF CIVICS FOR STUDENTS)

नागरिकशास्त्र का अध्ययन विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त आवश्यक है। उनके लिए नागरिकशास्त्र का महत्त्व निम्न प्रकार है—

(1) आदर्श नागरिकता की शिक्षा—नागरिकशास्त्र का अध्ययन विद्यार्थियों में उत्तरदायित्व की भावना का विकास करता है। विद्यार्थी जीवन में पड़े हुए संस्कार आजीवन उनके साथ रहते हैं। आज के विद्यार्थी कल के नागरिक बनेंगे। उन्हें आदर्श नागरिक बनाने की शिक्षा नागरिकशास्त्र से ही प्राप्त होती है।

> **विद्यार्थियों के लिए नागरिकशास्त्र के अध्ययन की उपयोगिता**
> * आदर्श नागरिकता की शिक्षा
> * राष्ट्र के कर्णधार बनाने में सहायक
> * उत्तरदायित्व की भावना का विकास
> * नागरिक सेवा की शिक्षा
> * विचारों को वैज्ञानिकता प्रदान करना

(2) राष्ट्र के कर्णधार बनाने में सहायक—आज के बालक ही राष्ट्र के कर्णधार होते हैं। आज के विद्यार्थी ही कल के राष्ट्रनायक, समाज-सुधारक, प्रशासक, राजनीतिज्ञ

तथा जीवन के विविध क्षेत्रों के शिल्पी होंगे। सरोजिनी नायडू ने ठीक ही कहा था, "भविष्य के प्रशासक स्कूलों और कॉलेजों में बैठे हुए हैं।" विद्यार्थियों को ही आगे चलकर देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक क्षेत्र की बागडोर सँभालनी पड़ेगी। अतः यह आवश्यक है कि विद्यार्थी आदर्श नागरिक बनें।

(3) उत्तरदायित्व की भावना का विकास—नागरिकशास्त्र ऐसा ज्ञान है जो विद्यार्थियों में सहयोग, राष्ट्रीय भावना, अनुशासन, अधिकार एवं कर्त्तव्य को उत्पन्न कर उत्तरदायित्व तथा आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाता है।

(4) नागरिक सेवा की शिक्षा—नागरिकशास्त्र मानव समाज का अध्ययन एवं निरीक्षण करके उसके द्वारा प्राप्त अनुभवों को समाज सेवा में लगाकर विद्यार्थियों को व्यावहारिक ज्ञान प्रदान करता है। यह आदर्श समाज की रचना में अपना महत्त्वपूर्ण योगदान देता है। प्रो. गेड्डस का यह कथन उचित ही है कि **"नागरिकशास्त्र सामाजिक निरीक्षण को सामाजिक सेवा में लगाने वाला व्यावहारिक ज्ञान है।"**

(5) विचारों को वैज्ञानिकता प्रदान करना—नागरिकशास्त्र ही एक ऐसा शास्त्र है जो विज्ञान होने के कारण विद्यार्थियों को वैज्ञानिक विधि से विचार करना सिखाता है। इसके अध्ययन से विद्यार्थियों का दृष्टिकोण व्यापक बनता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि नागरिकशास्त्र विद्यार्थियों को किसी वस्तु का विधिवत् निरीक्षण तथा अवलोकन करने की शिक्षा प्रदान करता है जिससे वस्तु का वास्तविक गुण ज्ञात हो सके। इस सम्बन्ध में एक विद्वान का विचार है कि **"नागरिकशास्त्र ऐसी वैज्ञानिक विधि को सिखाता है जो ठोस निष्कर्षों को निकालने के लिए अति आवश्यक है।"**

भारतीयों के लिए नागरिकशास्त्र की उपयोगिता
(UTILITY OF THE STUDY OF CIVICS FOR INDIANS)

भारतीयों के लिए इस शास्त्र का ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। भारत एक नव-स्वतन्त्रता प्राप्त देश है जिसमें लोकतान्त्रिक व्यवस्थाओं को अपनाया गया है। भारतीय नागरिकों के लिए नागरिकशास्त्र की विशेष उपयोगिता निम्न प्रकार है—

(1) राष्ट्रीय भावना का विकास—भारत सिर्फ 53 वर्ष पूर्व ही स्वतन्त्र हुआ है अतः उसे आदर्श नागरिकों की अत्यधिक आवश्यकता है। आदर्श नागरिक बनाने के लिए राष्ट्रीय भावना का होना अनिवार्य है तथा यह भावना नागरिकशास्त्र के अध्ययन से ही भारतीयों में विकसित हो सकती है।

भारतीयों के लिए नागरिकशास्त्र की उपयोगिता

* राष्ट्रीय भावना का विकास
* राष्ट्रीय समस्याओं के निदान में उपयोगी
* कुरीतियों से अलग रहने की प्रेरणा
* भारतीय संविधान का ज्ञान
* सामाजिक दायित्व की भावना में बढ़ोत्तरी

(2) राष्ट्रीय समस्याओं के निदान में उपयोगी—भारतीय समाज में साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, स्थानीयता, भाषावाद एवं जातिवाद इत्यादि से सम्बन्धित अनेक समस्याएँ पैदा हो रही हैं। इन समस्याओं के निदान के लिए नागरिकशास्त्र का अध्ययन वांछनीय है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन से प्रान्तीय एवं जातीय संकीर्णताएँ नष्ट हो जाती हैं तथा प्रबल राष्ट्रीयता का अभ्युदय होता है।

(3) कुरीतियों से अलग रहने की प्रेरणा—समाज में प्रचलित नाना प्रकार की कुरीतियों को दूर कर देश को प्रगति के मार्ग पर ले जाने के लिए भारतीयों को नागरिकशास्त्र के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। भारत में अनेक प्रकार के अन्ध-विश्वास और कुरीतियाँ प्रचलित हैं; जैसे—बाल-विवाह, छुआ-छूत, दहेज-प्रथा, पर्दा-प्रथा तथा सती-प्रथा इत्यादि। नागरिकशास्त्र नागरिकों में चेतना जाग्रत करके उन्हें कुरीतियों से दूर रहने के लिए प्रेरित करता है।

(4) भारतीय संविधान का ज्ञान—इस शास्त्र का अध्ययन करके ही प्रत्येक देशवासी भारतीय संविधान की जानकारी प्राप्त कर सकता है। भारतीय संविधान में वर्णित मौलिक अधिकारों एवं नागरिकों के कर्त्तव्यों का ज्ञान नागरिकशास्त्र ही कराता है।

(5) सामाजिक दायित्वों की भावना में बढ़ोत्तरी—व्यक्ति समाज में विभिन्न समुदायों के सम्पर्क में रहकर ही अपनी उन्नति कर सकता है। अतः इन समुदायों के प्रति उसके कुछ कर्त्तव्य भी होते हैं। वह इनसे कुछ पाने का भी अधिकारी होता है। परन्तु इसके लिए मनुष्य में सामाजिक दायित्व की भावना होनी परमावश्यक है जिसकी प्रेरणा नागरिकशास्त्र से ही मिलती है।

नागरिकशास्त्र के महत्त्व को स्वीकारते हुए डॉ. बेनी प्रसाद ने कहा है, **"अगर सच्ची भावना से चला जाये तो नागरिकशास्त्र का प्रभाव मस्तिष्क को व्यापक एवं भावनाओं को उदार बनायेगा। उससे युवकों को ऐसी शिक्षा मिलेगी कि वे समाज के व्यापक जीवन में प्रभावपूर्ण एवं उपयोगी ढंग से भाग ले सकें। सबसे महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इससे सामाजिक दायित्व की भावना गहरी होगी तथा आत्म-विकास की नींव पड़ेगी।"**

नागरिकशास्त्र की प्रकृति अथवा स्वरूप
(NATURE OF CIVICS)

नागरिकशास्त्र की प्रकृति के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला या दोनों। अरस्तू ने जहाँ नागरिकशास्त्र को पूर्ण विज्ञान के नाम से सम्बोधित किया है वहीं मेटलैंड तथा बर्क जैसे कुछ विद्वानों ने इसे विज्ञान की श्रेणी में रखना गलत बताया है। डॉ. बेनी प्रसाद का मत है कि **"नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों ही है।"**

विज्ञान का अर्थ—विज्ञान ज्ञान की वह शाखा है जिसमें किसी विषय विशेष का क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित अध्ययन किया जाता है। कार के शब्दों में, **"प्रत्येक विज्ञान संसार के प्रति एक धारणा, एक दृष्टिकोण, व्यवस्थित ज्ञान का स्वरूप तथा अन्वेषण की प्रणाली है।"** प्रो. हर्नशॉ के मतानुसार, **"किसी भी अध्ययन के विषय को विज्ञान की संज्ञा देते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि वह निष्पक्ष दृष्टि से सत्य की खोज करने में सक्षम है अथवा नहीं।"** विज्ञान के अर्थ को स्पष्ट करते हुए डॉ. गार्नर कहते हैं, **"किसी विषय का ऐसा ज्ञान विज्ञान कहलाता है जो विधिवत् निरीक्षण, अनुभव अथवा अध्ययन द्वारा प्राप्त किया गया हो तथा जिसके तथ्यों को समायोजित, क्रमबद्ध एवं वर्गीकृत किया गया हो।"**

विज्ञान की उपर्युक्त परिभाषाओं में निहित लक्षणों से स्पष्ट है कि विज्ञान कहलाने के लिए उस विषय के नियमों का पूरी तरह निश्चित और अटल होना आवश्यक नहीं है वरन् आवश्यकता इस बात की है कि उस विषय का अध्ययन क्रमबद्ध ढंग से और वैज्ञानिक प्रणाली के आधार पर किया जाय। कार्ल पियर्सन के शब्दों में, **"विज्ञान की एकमात्र पहचान उसकी अध्ययन प्रणाली से होती है, न कि उसकी अध्ययन सामग्री से।"**

नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्तियाँ
(CIVICS IS NOT A SCIENCE)

उपर्युक्त विवरण के आधार पर नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है लेकिन ऐसे अनेक विद्वान हैं जो नागरिकशास्त्र को विज्ञान मानने के पक्षधर नहीं हैं। **बकल ने कहा है, "नागरिकशास्त्र का विज्ञान होना तो दूर रहा, यह तो कलाओं में भी सबसे पिछड़ी हुई कला है।"** बर्क का विचार है कि **"जिस प्रकार सौन्दर्यशास्त्र को विज्ञान की उपमा नहीं दी जा सकती उसी प्रकार नागरिकशास्त्र को भी विज्ञान नहीं कहा जा सकता।"** नागरिकशास्त्र को विज्ञान न मानने वाले विद्वानों द्वारा उठाई गई प्रमुख आपत्तियाँ निम्नलिखित हैं—

नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने पर आपत्तियाँ
* कार्य तथा कारणों में निश्चित सम्बन्ध का अभाव
* अचूक माप की कमी
* सर्वमान्य तथ्यों का अभाव
* निष्पक्षता का अभाव
* पर्यवेक्षण तथा परीक्षण का अभाव
* भविष्यवाणी असम्भव

(1) कार्य तथा कारणों में निश्चित सम्बन्ध का अभाव—भौतिक एवं रसायन विज्ञान में कार्य तथा कारण में निश्चित सम्बन्ध पाया जाता है लेकिन नागरिक जीवन में जो घटनाएँ घटित होती हैं वे अनेक उलझन भरे कारणों का परिणाम होती हैं अतः अमुक घटना किन विशेष कारणों के परिणामस्वरूप हुई, यह कहना कठिन होता है।

(2) अचूक माप की कमी—शुद्ध माप विज्ञान की सर्वप्रधान विशेषता है लेकिन नागरिकशास्त्र में शुद्ध माप असम्भव है। इसका कारण यह है कि मानव का आवेग, उत्तेजना, भावना, अभिलाषा, क्रोध, प्रेम इत्यादि जो नागरिक जीवन को प्रभावित करते हैं, अस्पष्ट और अदृश्य हैं जिन्हें ताप अथवा गैस के दबाव की भाँति मापा नहीं जा सकता।

(3) सर्वमान्य तथ्यों का अभाव—ऑगस्त कॉम्टे के कथनानुसार, **"राज्य तथा शासन सम्बन्धी कोई भी प्रश्न ऐसा नहीं है जिस पर समस्त विद्वानों का एक मत हो।"** यदि एक ओर आदर्शवादी राज्य की सर्वोच्च सत्ता का प्रति-पादन करते हैं तो दूसरी ओर अराजकतावादी राज्य को अनावश्यक मानते हैं। जहाँ उदारवादी विचारक राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित रखना चाहते हैं वहीं फासीवादी विचारधारा व्यक्ति के जीवन के समस्त पहलुओं पर राज्य का नियन्त्रण चाहती है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र के विद्वान कोई ऐसा सिद्धान्त एवं नियम नहीं बता सकते जो सर्वमान्य हो। दो और दो चार होते हैं, यह गणित का सर्वमान्य सिद्धान्त है लेकिन इस प्रकार के किसी सर्वमान्य नियम का नागरिकशास्त्र में नितान्त अभाव है।

(4) निष्पक्षता का अभाव—विज्ञान की अध्ययन-वस्तु होने के कारण वैज्ञानिक मानवीय भावनाओं से दूर रहते हुए तटस्थता के साथ इनके अध्ययन में लगा रहता है। लेकिन नागरिकशास्त्र के अध्ययन में प्रयोगकर्त्ता भी व्यक्ति होता है तथा जिस पर प्रयोग किया जाता है वह व्यक्ति ही होता है। सामाजिक एवं राजनीतिक घटनाओं को व्यक्ति अपने दृष्टिकोण से देखता है। अतः वह उस विचारधारा और भावना के वशीभूत होकर निष्पक्ष दृष्टिकोण से किसी समस्या का अध्ययन नहीं कर सकता है। इसलिए नागरिकशास्त्र में जो निष्कर्ष निकाले जाते हैं वे निष्पक्ष एवं तटस्थ नहीं कहे जा सकते।

(5) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण का अभाव—प्राकृतिक विज्ञानों में एक प्रयोगशाला में बैठकर यन्त्रों की सहायता से मनचाहे प्रयोग किये जा सकते हैं किन्तु नागरिक जीवन के सम्बन्ध में इस प्रकार के पर्यवेक्षण तथा परीक्षण असम्भव हैं क्योंकि नागरिक जीवन के अध्ययन-विषय मानव के क्रिया-कलाप पूर्णरूपेण हमारे नियन्त्रण में नहीं होते। मानव जीवन बहुत जटिल होता है। उसकी इच्छाएँ, बुद्धि, भावनाएँ एवं विश्वास निरन्तर परिवर्तनशील होते हैं। इस सम्बन्ध में ग्राह्म वालस ने कहा है कि **"बीस वर्ष तक की सुसंस्कृत शिक्षा एवं दीक्षा के पश्चात् भी यह कहना कठिन होगा कि दो व्यक्ति ऐसे तैयार किये जा सकें जो प्रत्येक स्थिति में एक प्रकार से सोचेंगे तथा समान व्यवहार करेंगे।"**

(6) भविष्यवाणी असम्भव—इस शास्त्र की वैज्ञानिकता पर इसलिए भी सन्देह किया जाता है कि वह भविष्य के सम्बन्ध में कुछ भी निश्चयपूर्वक कहने में असमर्थ है। चूँकि इसमें मानव जीवन के राजनीतिक पहलू का अध्ययन किया जाता है तथा मानव स्वभाव परिवर्तनशील होता है अत: मानव व्यवहार के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा जा सकता। खगोल विज्ञान में यह सही-सही बताया जा सकता है कि किस दिन तथा किस समय चन्द्र ग्रहण और सूर्य ग्रहण लगेगा। लेकिन नागरिकशास्त्र यह नहीं बता सकता कि किस निश्चित विचार का जन-साधारण पर क्या प्रभाव पड़ेगा अथवा किस समय आर्थिक असन्तोष देश में क्रान्ति पैदा कर देगा।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर नागरिकशास्त्र को विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखा जा सकता।

नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है
(CIVICS AS A SCIENCE)

इसमें कोई सन्देह नहीं है कि संकुचित अर्थों में नागरिकशास्त्र को विज्ञान कदापि नहीं कहा जा सकता। इसमें ऐसे सिद्धान्तों अथवा नियमों का अभाव है जो 'अटल' हों लेकिन इसका यह आशय कदापि नहीं है कि नागरिकशास्त्र विज्ञान है ही नहीं। विज्ञान कहलाने के लिए आवश्यक नहीं है कि सम्बन्धित विषय द्वारा प्रतिपादित नियम अटल हों। विज्ञान से अभिप्राय उस क्रमबद्ध ज्ञान से है जो नियमित पर्यवेक्षण, अनुभव तथा अध्ययन से प्राप्त होता है। यदि इस परिभाषा को ध्यान में रखा जाय तो नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहा जा सकता है तथा इसके विज्ञान होने के पक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है
* वैज्ञानिक अध्ययन
* कार्य एवं कारण में आपसी सम्बन्ध
* परीक्षण एवं पर्यवेक्षण सम्भव
* भविष्यवाणी की क्षमता

(1) वैज्ञानिक अध्ययन—नागरिकशास्त्र के विद्वान भी वैज्ञानिक प्रणाली को प्रयोग में लाते हैं। नागरिकशास्त्र का अध्ययन पूर्णतया क्रमबद्ध रूप में दिया जाता है तथा तथ्यों एवं आँकड़ों को एकत्रित कर पर्याप्त रूप से शुद्ध नियम व सिद्धान्तों का निर्माण किया जाता है। राज्य के अतीत के आधार पर वर्तमान का अध्ययन किया जाता है तथा राज्य के वर्तमान अध्ययन और निष्कर्षों के आधार पर भविष्य के लिए सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया जाता है। उदाहरणार्थ राज्यों एवं समुदायों का सूक्ष्म निरीक्षण करके हम अनेक तथ्यों की जानकारी प्राप्त कर सकते हैं।

(2) कार्य एवं कारण में आपसी सम्बन्ध—नागरिकशास्त्र में विज्ञान की तरह कार्य और कारण में सम्बन्ध स्थापित किया जाता है तथा विशेष घटनाओं के अध्ययन के आधार पर सामान्य परिणाम निकाले जाते हैं। उदाहरणार्थ जनता का सन्तोष तथा आर्थिक असमानता सदैव ही विद्रोह के कारण रहे हैं। लार्ड ब्राइस के अनुसार, "मानव प्रकृति की प्रवृत्तियों में एकरूपता तथा समानता पायी जाती है जिसकी सहायता से हम यह पता लगा सकते हैं कि एक ही प्रकार के कारणों से प्रभावित होकर मनुष्य बहुधा एक ही प्रकार के कार्य करता है। कार्यों का वर्गीकरण किया जा सकता है, उनमें पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है तथा उन्हें शृंखलाबद्ध करके सामान्यतया प्रचलित प्रवृत्तियों के परिणाम के रूप में उनका अध्ययन किया जा सकता है।"

(3) परीक्षण एवं पर्यवेक्षण सम्भव—यद्यपि नागरिकशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति परीक्षण नहीं किए जा सकते हैं क्योंकि नागरिकशास्त्र का अध्ययन विषय मानव है। परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नागरिकशास्त्र में प्रयोग हो ही नहीं सकते। सम्पूर्ण संसार नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला है। प्रत्येक नया परिवर्तन, चुनाव, कानून तथा युद्ध नागरिकशास्त्र के लिए एक नवीन प्रयोग है। विभिन्न देशों में जो घटनाएँ घटित होती रहती हैं वे सभी हमारे लिए प्रयोग और अध्ययन की विषय-वस्तु हैं। प्रसिद्ध यूनानी विचारक अरस्तू ने 158 संविधानों के अध्ययन के आधार पर क्रान्ति के सामान्य कारणों का पता लगाया तथा उसे रोकने के उपाय बताए। आचार्य कौटिल्य परीक्षण एवं पर्यवेक्षण के आधार पर ही इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि राज्य शक्ति का दुरुपयोग होने पर जन-साधारण तो क्या, साधु-संन्यासी भी क्रुद्ध हो जाते हैं।"

(4) भविष्यवाणी की क्षमता—नागरिकशास्त्र में प्राकृतिक विज्ञानों की भाँति भविष्यवाणी नहीं की जा सकती है लेकिन इतना स्वीकार करना होगा कि इस विषय में भी भविष्यवाणी सम्भव है चाहे वह भविष्यवाणी सदैव सत्य न हो। इस सम्बन्ध में फाइनर लिखता है कि "हम निश्चिततापूर्वक भविष्यवाणियाँ नहीं कर सकते हैं किन्तु सम्भावनाएँ तो व्यक्त कर ही सकते हैं।" यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अगर सत्य तथा निश्चित भविष्यवाणी की क्षमता ही विज्ञान की कसौटी मान ली जाए तो फिर ऋतु विज्ञान जैसे अनेक विषय भी विज्ञान की श्रेणी में नहीं रखे जा सकते क्योंकि उनके द्वारा की गई भविष्यवाणियाँ अनेक बार गलत सिद्ध हो जाती हैं।

इस प्रकार अध्ययन की वैज्ञानिक प्रणाली और क्रमबद्ध ज्ञान के आधार पर यह कहा जा सकता है कि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है। हालांकि नागरिकशास्त्र एक विज्ञान है लेकिन वह पदार्थ विज्ञानों से आधारभूत रूप में भिन्न है। इसे पदार्थ विज्ञानों की भाँति पूर्ण विज्ञान नहीं कहा जा सकता। नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध मानव के विचारशील तथा परिवर्तनशील स्वभाव से है, पदार्थ विज्ञानों के समान अचल वस्तुओं से नहीं। अतः नागरिकशास्त्र के अध्ययन में कुछ अनिश्चतता होना स्वाभाविक है। यही कारण है कि नागरिकशास्त्र को पदार्थ विज्ञानों की श्रेणी का विज्ञान नहीं बल्कि एक सामाजिक विज्ञान माना जाता है।

नागरिकशास्त्र कला के रूप में
(CIVICS AS AN ART)

ज्ञान का वास्तविक जीवन में प्रयोग करना ही कला है। वस्तुतः कला अपने आप में एक ऐसी विधा है जिसका उद्देश्य मानव जीवन को श्रेष्ठतम रूप प्रदान करता है। श्री रवीन्द्र नाथ के मतानुसार, "जो सत्य और सुन्दर है वह कला है।" इसी प्रकार टालस्टॉय ने कला के

अर्थ को स्पष्ट करते हुए कहा है कि **"कला एक मानवीय प्रयास है जिसमें एक मानव अपनी उन भावनाओं को जिनका उसने अपने जीवन में साक्षात्कार किया हो, ज्ञानपूर्वक कुछ संकेतों द्वारा प्रकट करता है तथा उन भावनाओं का दूसरों पर प्रभाव पड़ता है और वे भी उसकी अनुभूति करते हैं।"** कला के इस अर्थ के आधार पर हम नागरिकशास्त्र को भी कला मान सकते हैं क्योंकि नागरिकशास्त्र में सिर्फ सिद्धान्तों का अध्ययन ही नहीं किया जाता अपितु यह भी बताया जाता है कि हमें उन सिद्धान्तों का कहाँ और किस प्रकार प्रयोग करना चाहिए। **प्रो. पैट्रिक गेड्डस** ने उचित ही लिखा है कि **"नागरिकशास्त्र सामाजिक सर्वेक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।"** नागरिकशास्त्र कला है, इसकी विवेचना निम्न प्रकार से की जा सकती है—

नागरिकशास्त्र कला के रूप में
* **व्यक्ति का मार्ग-दर्शन**
* **आदर्श समाज के निर्माण का मार्ग-दर्शन**
* **मानव कल्याण के आदर्श पर आधारित**
* **सामाजिक निरीक्षण का समाज सेवा में प्रयोग**

(1) व्यक्ति का मार्ग-दर्शन—नागरिकशास्त्र नागरिक को अधिकारों और कर्त्तव्यों का ज्ञान ही नहीं कराता अपितु इस सम्बन्ध में उनका मार्ग-दर्शन भी करता है कि वह अधिकारों का सही रूप में उपयोग कैसे करें तथा विभिन्न कर्त्तव्यों का उचित ढंग से पालन किस प्रकार करें। इस दृष्टि से नागरिकशास्त्र 'कर्त्तव्यों का उचित क्रम-निर्धारण' करके नागरिक का मार्ग-दर्शन करता है।

(2) आदर्श समाज के निर्माण का मार्गदर्शन—नागरिकशास्त्र न सिर्फ आदर्श नागरिकता के गुण ही स्पष्ट करता है अपितु उनको समुचित रूप से ग्रहण करने की शिक्षा भी प्रदान करता है।

(3) मानव कल्याण के आदर्श पर आधारित—नागरिकशास्त्र न सिर्फ मानव कल्याण का मार्गदर्शन करता है अपितु सुखी नागरिक जीवन तथा मानव कल्याण के लिए समुचित वातावरण का निर्माण और आवश्यक साधन भी जुटाता है।

(4) सामाजिक निरीक्षण का समाज सेवा में प्रयोग—**प्रो. प्रैट्रिक गेड्डस** का यह कथन उचित ही है कि नागरिकशास्त्र द्वारा सामाजिक निरीक्षण का समाज-सेवा में प्रयोग किया जाता है। नागरिकशास्त्र में निरीक्षण तथा परीक्षण द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है उसका प्रयोग समाज को सुधारने, बुराइयों को दूर करने तथा जीवन को सुन्दर बनाने में किया जाता है।

इस प्रकार नागरिकशास्त्र में कला की समस्त विशेषताएँ पायी जाती हैं। अतः निःसन्देह नागरिकशास्त्र मानव जीवन की एक श्रेष्ठ कला है।

नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों ही है
(CIVICS IS BOTH A SCIENCE AND AN ART)

विज्ञान एवं कला के रूप में नागरिकशास्त्र का अध्ययन करने के पश्चात् यह स्पष्ट हो जाता है कि वास्तव में नागरिकशास्त्र विज्ञान और कला दोनों ही है क्योंकि विज्ञान के रूप में यह शास्त्र मनुष्यों को एक आदर्श नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान कराता है तथा कला के रूप में उनके उपयोग की विधि तथा लाभ-हानियों से परिचित कराता है। **डॉ. बेनी प्रसाद** ने ठीक ही लिखा है कि **"नागरिकशास्त्र इस अर्थ में कला और विज्ञान दोनों ही है क्योंकि यह परिस्थितियों की खोज करता है तथा अपनी खोजों के फलों का मानव कल्याण की वृद्धि करने में प्रयोग करता है।"** अन्य शब्दों में यह कहा जा सकता है कि नागरिकशास्त्र अपने सैद्धान्तिक विवेचन की दृष्टि से विज्ञान है तथा अपने व्यावहारिक स्वरूप की दृष्टि से कला है।

नागरिकशास्त्र की अध्ययन विधियाँ अथवा प्रणालियाँ
(STUDY METHODS OF CIVICS)

प्रत्येक विषय के समुचित अध्ययन के लिए अध्ययन-प्रणाली की आवश्यकता होती है। अध्ययन-प्रणाली अथवा अध्ययन-विधि वह साधन है जिसके द्वारा किसी विषय की सामग्री का उचित अध्ययन किया जाता है। नागरिकशास्त्र विज्ञान एवं कला दोनों ही हैं अतः इसके अध्ययन में वैज्ञानिक एवं कलात्मक दोनों ही प्रकार की विधियों का प्रयोग किया जाता है। ये विधियाँ निम्नलिखित हैं—

(1) पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली (Observational Method)—नागरिकशास्त्र में प्रयोग की जाने वाली यह अति प्राचीन अध्ययन प्रणाली है। इस प्रणाली के अन्तर्गत नागरिकशास्त्र के विद्यार्थी को समाज के ढाँचे, सामाजिक संस्थाओं के प्रतिदिन के कार्य-कलापों, राज्यों के संगठन और कार्यों का सूक्ष्म दृष्टि से अवलोकन करना पड़ता है। इस प्रणाली में पर्यवेक्षणकर्ता को बहुत धैर्य और सन्तोष से कार्य करना पड़ता है। पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली का आधार वैयक्तिक अनुभव है और इसका सम्बन्ध वास्तविकताओं से है अतः इस प्रणाली के आधार पर प्राप्त किये गये निष्कर्षों के सही होने की अधिक सम्भावना रहती है।

पर्यवेक्षणात्मक प्रणाली में कुछ सावधानियाँ अपनाने की आवश्यकता होती है। प्रथम, अध्ययनकर्ता का ज्ञान व्यापक होना चाहिए। उसे इस बात के लिए जागरूक होना चाहिए कि उसका अध्ययन वास्तविक घटना और तथ्यों पर आधारित हो, सामान्य अनुमानों पर नहीं। द्वितीय, अध्ययनकर्ता को घटनाओं के निरीक्षण और विश्लेषण में एक तटस्थ दर्शक की भूमिका का निर्वाह करना चाहिए। उसका दृष्टिकोण पक्षपातरहित तथा उदार होना चाहिए। तृतीय, अवलोकन एकांगी तथा क्षणिक नहीं होना चाहिए वरन् लगातार लम्बे समय के अध्ययन के आधार पर निष्कर्ष निकालने चाहिए।

(2) प्रयोगात्मक अथवा परीक्षण प्रणाली (Experimental Method)—प्रयोगात्मक अथवा परीक्षण प्रणाली का प्रयोग प्राकृतिक विज्ञानों में होता है। नागरिकशास्त्र के अध्ययन में भी इस प्रणाली का प्रयोग किया जाता है। राज्य की प्रत्येक नीति, प्रत्येक कानून, विविध शासन प्रणालियों का संचालन देश का संविधान इत्यादि एक प्रकार के प्रयोग हैं। इस विषय में अनेक प्रयोग किये गये हैं। सिसली के स्वेच्छाचारी शासक को दार्शनिक राजा बनाने के उद्देश्य से प्लेटो का प्रयास, 1919 एवं 1935 का भारत शासन अधिनियम, नेपाल में पंचायत शासन प्रणाली का प्रारम्भ, अमेरिका में न्यूडील नीति, भारत में आचार्य विनोबा भावे का भूदान आन्दोलन, काँग्रेस को सत्ता से अपदस्थ करने एवं सुदृढ़ द्विदलीय लोकतन्त्र की स्थापना हेतु विभिन्न राजनीतिक दलों का जनता दल में विलय तथा वर्तमान में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन की केन्द्रीय सरकार इत्यादि राजनीति विज्ञान के प्रयोगों के अनेक उदाहरण हैं। इस सन्दर्भ में प्रसिद्ध विद्वान कॉम्टे का कथन है कि **"जब कभी भी राज्य के क्रमिक क्रिया-कलापों में कोई चेतन अथवा अचेतन परिवर्तन होता है तो वह एक राजनीतिक परीक्षण होता है।"** इस सन्दर्भ में गिलक्राइस्ट का कथन भी उल्लेखनीय है कि "शासन के ढाँचे में किया गया कोई परिवर्तन प्रत्येक नया कानून और प्रत्येक युद्ध नागरिकशास्त्र में एक नया प्रयोग है।"[1]

---

1 "Every change in the form of government, every new law passed and every war is an experiment in political science." —*R. M. Gilchrist*

यद्यपि यह सत्य है कि इस विषय में प्रयोग और परीक्षण प्राकृतिक विज्ञानों की सीमा तय नहीं किये जा सकते क्योंकि इसमें भौतिक विज्ञानों की भाँति सीमित प्रयोगशालाओं और यान्त्रिक उत्पादनों का प्रयोग सम्भव नहीं है। इसके अतिरिक्त, नागरिक घटनाएँ तथा मानव स्वभाव इतने जटिल होते हैं कि इनको नियन्त्रण में रखा जाना कठिन है। तथापि यदि प्रयोग को व्यापक अर्थ में लिया जाये तो समूचा संसार इस विषय की प्रयोगशाला बन जाता है जिसमें राजनीतिक घटनाओं तथा मानव के सामाजिक और राजनीतिक आचरण का प्रयोग कर निश्चित परिणाम पर पहुँचा जा सकता है। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट का कथन है कि **"भौतिक-शास्त्र और रसायन-शास्त्र में जो प्रयोग विधि है वह यद्यपि नागरिकशास्त्र में पूरी तरह लागू नहीं हो सकती किन्तु फिर भी नागरिकशास्त्र में अपने विशिष्ट प्रकार के प्रयोगों के लिए पर्याप्त क्षेत्र है।"**[1]

(3) **ऐतिहासिक प्रणाली (Historical Method)**—नागरिकशास्त्र की अध्ययन प्रणालियों में ऐतिहासिक प्रणाली का विशिष्ट महत्त्व है। नागरिकशास्त्र नागरिक संस्थाओं और घटनाओं का क्रमबद्ध अध्ययन करता है और क्योंकि आज की नागरिक संस्थाएँ इतिहास की उपज हैं इसलिए इन संस्थाओं की उत्पत्ति, विकास और उनके वर्तमान स्वरूप की वास्तविक जानकारी ऐतिहासिक प्रणाली के आधार पर ही की जा सकती है।

ऐतिहासिक प्रणाली महत्त्वपूर्ण होते हुए भी इसके प्रयोग में निम्नलिखित सावधानियों का रखा जाना आवश्यक है—

(i) ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या में पूर्ण निष्पक्षता रखी जानी चाहिए।

(ii) ऐतिहासिक तथ्यों की व्याख्या करते समय पूर्वकल्पित विचारों का प्रभाव नहीं होना चाहिए।

(iii) 'इतिहास की पुनरावृत्ति होती है' यह कथन सत्य होते हुए भी इसके अनेक अपवाद हैं। अतः वर्तमान और भविष्य की प्रत्येक घटना का अध्ययन अतीत के परिप्रेक्ष्य में नहीं किया जाना चाहिए। वर्तमान और भविष्य की बहुत-सी घटनाओं का सम्बन्ध अतीत से नहीं रहता।

(iv) ऐतिहासिक घटनाओं की समानताएँ भ्रममूलक भी होती हैं। कभी-कभी ऊपरी समानताएँ होते हुए भी अतीत और वर्तमान की राजनीतिक घटनाओं के कारणों में मौलिक अन्तर होता है। अतः ऊपरी समानताओं से सतर्क रहना चाहिए।

(4) **दार्शनिक प्रणाली (Philosophical Method)**—उपर्युक्त प्रणालियाँ आगमनात्मक हैं और इनमें यथार्थ से आदर्श की ओर अग्रसर हुआ जाता है। दार्शनिक प्रणाली निगमनात्मक है। इसके अन्तर्गत आदर्श से यथार्थ की ओर बढ़ते हैं। इसमें तर्क, कल्पना, आदर्श एवं दार्शनिक विचारधारा का आधिक्य होता है। यह प्रणाली पूर्व-निश्चित मान्यताओं और सिद्धान्तों को स्वीकार कर तर्क और कल्पना के द्वारा उनका विश्लेषण कर विशेष अवस्थाओं की व्याख्या करती है। दार्शनिक राज्य के संगठन, कार्य, उत्पत्ति इत्यादि के विषय में भावात्मक एवं काल्पनिक विचारधारा को लेकर उसके औचित्य की खोज, तर्क और कल्पना के सहारे करता है। इस अध्ययन प्रणाली का प्रयोग प्लेटो, हॉब्स, रूसो, सर टॉमस मूर, काण्ट, हीगल, बोसांके इत्यादि विचारकों ने किया है।

---

1 "Though the experimental method as applied in Physics and Chemistry is in applicable nevertheless. There is wide field of experimentation of definite kind in Civics." —*R. M. Gilchrist*

यद्यपि यह प्रणाली काल्पनिक और वास्तविकता से दूर है किन्तु नागरिकशास्त्र में इस प्रणाली की भी उपयोगिता है। नागरिकशास्त्र में इस प्रणाली की उपयोगिता के सम्बन्ध में ई. एम. सेट का कथन है कि "दार्शनिक प्रणाली हमारे समक्ष आदर्श सिद्धान्तों को रखती है जिनके आधार पर राजनीतिक वास्तविकताओं का चेतन अथवा अचेतन रूप से निरीक्षण और मूल्यांकन किया जाता है और आगे के सुधार के लिये सुझाव दिये जाते हैं।"

(5) तुलनात्मक प्रणाली (Comparative Method)—तुलनात्मक प्रणाली नागरिकशास्त्र के अध्ययन की अधिक प्राचीन प्रणाली है। यह प्रणाली बहुत उपयोगी है। यह प्रणाली ऐतिहासिक प्रणाली से साम्यता रखती है। वास्तव में, ऐतिहासिक और तुलनात्मक प्रणालियाँ एक-दूसरे की पूरक हैं। इस प्रणाली के अन्तर्गत सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाओं का अध्ययन किया जाता है। इसमें तथ्यों को संकलित कर उनका तुलनात्मक विश्लेषण और अध्ययन करके एक निश्चित निष्कर्ष पर पहुँचा जाता है।

ऐतिहासिक प्रणाली का सर्वप्रथम प्रयोग **अरस्तू** ने किया था। उन्होंने अपने **'आदर्श राज्य'** के चित्रण के लिए 158 देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन किया। आधुनिक काल में **मॉण्टेस्क्यू, सर हेनरीमेन, डी टाकविले, लॉर्ड ब्राइस** इत्यादि विद्वानों ने इस प्रणाली का प्रयोग किया है। मॉण्टेस्क्यू ने फ्रांस और इंग्लैण्ड के संविधानों की तुलना कर शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त को प्रतिपादन किया। **लॉर्ड ब्राइस** ने लोकतन्त्र के गुण और दोषों की उपयोगी व्याख्या विभिन्न लोकतन्त्रीय देशों के संविधानों के तुलनात्मक अध्ययन करने के बाद की है। भारत में संविधान सभा ने संसार के विभिन्न देशों के संविधानों का तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् भारत के लिए एक उत्तम संविधान का निर्माण किया जो 26 जनवरी, 1950 से लागू है। इस प्रकार तुलनात्मक प्रणाली नागरिकशास्त्र के अध्ययन की बहुत ही उपयोगी और महत्त्वपूर्ण प्रणाली है।

तुलनात्मक प्रणाली में सतर्कता की आवश्यकता—इस प्रणाली का सफलतापूर्वक प्रयोग करने के लिए निम्नलिखित सतर्कताओं को ध्यान में रखा जाना परमावश्यक है—

(i) सामाजिक तथा राजनीतिक घटनाचक्र के पीछे कार्य करने वाले नियमों और सिद्धान्तों के अनुसन्धान में समानताओं तथा असमानताओं दोनों का अवलोकन और अध्ययन करना चाहिए।

(ii) राजनीतिक संस्थाओं अथवा घटनाओं के अध्ययन में राजनीतिक स्थितियों के अतिरिक्त आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और नैतिक अवस्थाओं का भी अध्ययन करना चाहिए।

(iii) अधिक विभिन्नता वाली संस्थाओं की तुलना नहीं करनी चाहिए।

(iv) तुलनात्मक अध्ययन निष्पक्ष, वस्तुनिष्ठ और वैज्ञानिक होना चाहिए।

(v) परिणाम निकालने में शीघ्रता नहीं की जानी चाहिए।

(vi) परिणाम अथवा निष्कर्ष स्पष्ट और पूर्ण होना चाहिए।

(6) जीवशास्त्रीय प्रणाली (Biological Method)—यह प्रणाली राज्य को एक जीवधारी मानती है और उस पर जीवधारी के समस्त लक्षण घटित करती है। विद्वानों ने राज्य के संगठन, विकास, कार्य, अधिकार और कर्त्तव्य की व्याख्या के लिए इस प्रणाली का प्रयोग किया है। इस प्रणाली का प्रयोग विभिन्न रूपों में **प्लेटो, अरस्तू, हरबर्ट स्पेन्सर एवं दुर्खीम** इत्यादि ने किया है। इनमें से कुछ विद्वानों ने राज्य को केवल शरीर की उपमा दी है जबकि अन्य विद्वानों ने राज्य को वास्तव में एक शरीर मान लिया है। आलोचकों का कहना है कि

यह प्रणाली विशेष उपयोगी नहीं हो सकती क्योंकि इस प्रणाली के अन्तर्गत परिणामों तथा निष्कर्षों में निश्चितता नहीं आ सकती। इस प्रणाली द्वारा निकाला गया निष्कर्ष दोषपूर्ण हो जाता है।

(7) वैज्ञानिक प्रणाली (Scientific Method)—जर्मन राजनीतिक चिन्तकों तथा फ्रेंच विचारकों द्वारा नागरिक जीवन के अध्ययन में वैज्ञानिक प्रणाली अपनाने पर बल दिया गया है। यह प्रणाली राज्य को एक वैज्ञानिक इकाई, निगम अथवा व्यक्ति के रूप में मानती है जिसका कार्य कानून बनाना और उन्हें लागू करना है। इस प्रणाली के अनुसार जब राज्य के स्वरूप और कार्य-क्षेत्र का अध्ययन किया जाता है तब संविधान और प्रचलित कानूनों पर ही दृष्टिपात होता है। इस प्रणाली का दोष यह है कि यह विज्ञानवाद का अनुकरण करने के प्रयासों में उन आध्यात्मिक एवं नैतिक आदर्शों तथा सामाजिक शक्तियों की उपेक्षा करती है जो संविधान, कानून तथा मानवीय सम्बन्धों के आधार हैं। वाल्डो के अनुसार, **"यह इस प्रणाली का आधारभूत दोष है।"**

नागरिकशास्त्र की उपर्युक्त अध्ययन प्रणालियों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि मॉरगेन्थाऊ का यह कथन सत्य है कि विद्वान अध्ययन प्रणालियों के बारे में एकमत नहीं हैं, उनके विचारों में मतभेद हैं। लेकिन हम इन प्रणालियों अथवा विधियों को एक-दूसरे की विरोधी नहीं कह सकते। वस्तुतः वे एक-दूसरे की पूरक हैं। नागरिकशास्त्र का पूर्ण अध्ययन इनमें से किसी एक प्रणाली के आधार पर नहीं अपितु इन समस्त प्रणालियों के सामूहिक प्रयोग के आधार पर ही सम्भव है। समस्त प्रणालियों का सामूहिक प्रयोग करके एक-दूसरे की कमियों को दूर किया जा सकता है। विभिन्न प्रणालियों का अपना महत्त्व होने के कारण मिश्रित प्रयोग को सर्वोत्तम कहा जा सकता है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. नागरिकशास्त्र की कोई एक परिभाषा दीजिए। (1991, 92, 93, 94, 95)

उत्तर—ऑक्सफोर्ड शब्दकोश के अनुसार, "नागरिकशास्त्र नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का सिद्धान्त है।"

प्रश्न 2. नागरिकशास्त्र की परिभाषा करने वाले किन्हीं दो विद्वानों के नाम लिखिए।

उत्तर—(1) डॉ. ई. एम. ह्वाइट, तथा (2) डॉ. बेनी प्रसाद।

प्रश्न 3. 'सिविस' तथा 'सिविटास' शब्दों का अर्थ लिखिए। (1996)

उत्तर—लैटिन भाषा के शब्द 'सिविस' का अर्थ—'नागरिक' तथा 'सिविटास' का अर्थ 'नगर' होता है।

प्रश्न 4. नागरिकशास्त्र की विषय-वस्तु क्या है?

उत्तर—नागरिकशास्त्र की विषय-वस्तु सामाजिक प्राणी के रूप में मानव का अध्ययन है।

प्रश्न 5. नागरिकशास्त्र के अध्ययन के दो प्रमुख लाभ लिखिए। (1988, 91, 94, 96)

उत्तर—(1) अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का ज्ञान तथा (2) राज्य एवं सरकार का ज्ञान।

प्रश्न 6. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विद्यार्थियों के लिए कोई दो उपयोगिताएँ बताइए। (1991, 92)

उत्तर—(1) यह विद्यार्थियों को राष्ट्र के कर्णधार बनाने में सहायक है तथा (2) यह उन्हें नागरिक सेवा की शिक्षा देता है।

प्रश्न 7. नागरिकशास्त्र विज्ञान है अथवा कला?

उत्तर—नागरिकशास्त्र विज्ञान एवं कला दोनों हीं है।

प्रश्न 8. नागरिकशास्त्र को विज्ञान कहने के दो कारण बताइए। (1995)

अथवा

नागरिकशास्त्र के विज्ञान होने के पक्ष में दो तर्क दीजिए। (1997)

उत्तर—(1) इसमें परीक्षण एवं पर्यवेक्षण सम्भव है तथा (2) नागरिकशास्त्र में भविष्यवाणी की क्षमता है।

प्रश्न 9. नागरिकशास्त्र के विज्ञान न होने के पक्ष में दो तर्क प्रस्तुत कीजिए। (1997)

उत्तर—(i) नागरिकशास्त्र के नियम तथा निष्कर्ष भौतिक विज्ञानों की तरह स्थायी और निश्चित नहीं होते हैं तथा (ii) पर्यवेक्षण तथा परीक्षण में कठिनाई।

प्रश्न 10. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की दो विधियाँ बताइए। (1990, 92, 93, 94, 96, 97)

उत्तर—(1) ऐतिहासिक विधि तथा (2) निरीक्षणात्मक विधि।

प्रश्न 11. उन चार सामाजिक बुराइयों के नाम बताइए जिन्हें दूर करने में नागरिकशास्त्र सहायक होता है।

उत्तर—(1) दहेज प्रथा, (2) साम्प्रदायिकता, (3) जातिवाद तथा (4) छुआछूत।

प्रश्न 12. कला की परिभाषा दीजिए।

उत्तर—सत्यम्, शिवम् और सुन्दरम् की साधना ही कला है।

प्रश्न 13. नागरिकशास्त्र को किस प्रकार के विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है ?

उत्तर—नागरिकशास्त्र को सामाजिक विज्ञान की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रश्न 14. किसी भी शास्त्र के विज्ञान होने के लिए कौन-कौन सी तीन अनिवार्यताएँ होती हैं ?

उत्तर—(1) तर्क, (2) सन्तुलन तथा (3) प्रमाण।

प्रश्न 15. नागरिकशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत अध्ययन किये जाने वाली किन्हीं तीन प्रमुख बातों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—नागरिकशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत राज्य, सरकार तथा अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों से सम्बन्धित बातों का अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 16. नागरिकशास्त्र अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान कैसे कराता है ?

उत्तर—देश-विदेश की विचारधाराओं तथा उनके गुण-दोषों का ज्ञान प्राप्त करके अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं का ज्ञान होता है, यह नागरिकशास्त्र के द्वारा ही सम्भव है।

प्रश्न 17. नागरिकशास्त्र के अध्ययन में दार्शनिक प्रणाली का प्रयोग करने वाले विचारकों के नामों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—प्लेटो, हॉब्स, रूसो, सर टॉमस मूर, काण्ट, हीगल तथा बोसांके इत्यादि विचारकों ने नागरिकशास्त्र के अध्ययन में दार्शनिक विधि का प्रयोग किया।

प्रश्न 18. नागरिकशास्त्र को विज्ञान न मानने वाले किन्हीं दो विद्वानों के नाम बताइये।

उत्तर—(1) बकल तथा (2) मैटलैण्ड।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं? इसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए। (1981, 88, 90, 97, 2000)

अथवा

नागरिकशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसके क्षेत्र का विवेचन कीजिए। (2000)

2. नागरिकशास्त्र की विभिन्न परिभाषाओं की आलोचनात्मक विवेचना कीजिए। इसका क्षेत्र भी स्पष्ट कीजिए। (1983)
3. नागरिकशास्त्र की परिभाषा कीजिए और इसके अध्ययन की उपयोगिता (महत्त्व) बताइए। (1997)
4. नागरिकशास्त्र को परिभाषित करते हुए इसकी व्यावहारिक उपयोगिता पर प्रकाश डालिए। (1993)
5. नागरिकशास्त्र के अर्थ तथा स्वरूप की व्याख्या कीजिए। (1975)
6. नागरिकशास्त्र के स्वरूप तथा उसके क्षेत्र का वर्णन कीजिए। (1976, 84)
7. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं? इस कथन को स्पष्ट कीजिए कि "नागरिकशास्त्र सामाजिक निरीक्षण का सामाजिक सेवा में प्रयोग है।" (1978)
8. नागरिकशास्त्र की विषय-वस्तु क्या है? विस्तृत विवेचन कीजिए। (1975)
9. नागरिकशास्त्र की प्रकृति तथा उसकी उपयोगिता की व्याख्या कीजिए। इसके अध्ययन की कौन-कौनसी विधियाँ हैं? (1986)
10. "नागरिकशास्त्र नागरिकता का विज्ञान और दर्शन है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। (1997)
11. "नागरिकशास्त्र नागरिकता का शास्त्र है।" इस कथन की विवेचना कीजिए तथा विद्यार्थियों के लिए इसके अध्ययन की उपयोगिता बताइए। (1992)
12. नागरिकशास्त्र की प्रकृति तथा उसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए। (1991, 93)
13. नागरिकशास्त्र का विस्तार क्या है? विवेचना कीजिए। (1995)
14. विज्ञान की विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। क्या नागरिकशास्त्र विज्ञान है? (1995)
15. "नागरिकशास्त्र कला एवं विज्ञान दोनों है।" इस कथन की विवेचना कीजिए। (1977, 81, 85, 86, 89, 90, 91, 96)
16. नागरिकशास्त्र के अध्ययन की विभिन्न प्रणालियों का निरूपण कीजिए। (1994, 96)
17. "नागरिकशास्त्र मुख्यतः पड़ौस के अध्ययन से सम्बन्धित है।" इस कथन की व्याख्या करते हुए नागरिकशास्त्र का अध्ययन क्षेत्र समझाइए। (2000)

● ●

2

नागरिकशास्त्र का अन्य सामाजिक शास्त्रों से सम्बन्ध

[RELATIONSHIP OF CIVICS WITH OTHER SOCIAL SCIENCES]

"सामाजिक शास्त्रों के क्षेत्र में अध्ययन प्रारम्भ करने वाला व्यक्ति तुरन्त यह अनुभव करता है कि विज्ञानों के बीच दीवारें नहीं हैं और पूर्णतः एक विषय में किये गये शोध कार्यों का प्रभाव अन्य विषयों की प्रगति पर महत्त्वपूर्ण ढंग से पड़ता है।"[1]

—*जैकबसन एवं लिपमैन*

मानव एक सामाजिक प्राणी है और उसके सामाजिक जीवन में विभिन्न पहलू (जैसे—राजनीतिक, आर्थिक, मनोवैज्ञानिक इत्यादि) होते हैं। मानव इन पहलुओं का अध्ययन विभिन्न सामाजिक शास्त्रों के माध्यम से करता है। जहाँ नागरिकशास्त्र मानव जीवन के नागरिक पक्ष का अध्ययन करता है वहीं अर्थशास्त्र मानव जीवन के आर्थिक तथा राजनीतिशास्त्र राजनीतिक पक्ष का अध्ययन करता है। इतिहास भूतकाल की घटनाओं का अध्ययन करता है तो समाजशास्त्र मानव जीवन के आधार अर्थात् समाज का ज्ञान कराता है। चूँकि मानव के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलुओं में एक मौलिक एकता है, इसलिए इन सामाजिक शास्त्रों का भी पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। डॉ. ह्वाइट ने कहा है, "चूँकि नागरिकशास्त्र नागरिकों के जीवन के विभिन्न पक्षों का अध्ययन करता है अतः यह सम्बन्धों का शास्त्र है। यह अन्य सभी विषयों में किसी-न-किसी रूप में सम्बन्धित रहता है।"

समस्त सामाजिक शास्त्र एक वृक्ष की विभिन्न शाखाओं के समान है। अतः स्वाभाविक है कि निरपेक्ष रूप से किसी शास्त्र का अध्ययन नहीं किया जा सकता। नागरिकशास्त्र भी सामाजिक शास्त्रों में से एक है। इसकी पूर्ण जानकारी के लिए अन्य सामाजिक शास्त्रों के साथ इसके सम्बन्ध का ज्ञान भी बहुत ही आवश्यक है। इस सम्बन्ध में सिजविक ने उचित ही लिखा है, "अगर हमें किसी विषय अथवा विज्ञान की खोज करनी है तो यह लाभदायक होगा कि हम उस विज्ञान अथवा विषय का अन्य विज्ञानों या विषयों से सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त करें और फिर यह जानने का प्रयास करें कि उस विषय अथवा विज्ञान ने अन्य विज्ञानों से क्या ग्रहण किया है तथा उसने अन्य विषयों को क्या दिया है।"

---

1 "The beginner in any social study soon realises that there are no walls between sciences and that even the most minute researches in one may contribute importantly to the advancement of all." —*Jacobson and Lipman*

नागरिकशास्त्र तथा अन्य सामाजिक शास्त्रों के सम्बन्ध का अध्ययन निम्नवत् किया जा सकता है—

नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र
(CIVICS AND POLITICAL SCIENCE)

नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र के बीच घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह कहना उचित ही होगा कि नागरिकशास्त्र का जितना घनिष्ठ सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र से है उतना किसी भी सामाजिक शास्त्र से नहीं है। दोनों एक-दूसरे के पूरक होने की भूमिका का निर्वहन करते हैं। इन दोनों शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों का विवेचन निम्न प्रकार कर सकते हैं—

दोनों शास्त्रों की उत्पत्ति समान—नागरिकशास्त्र को अँग्रेजी में 'सिविक्स' (Civics) कहते हैं जो लैटिन भाषा के 'सिविटास' (Civitas) शब्द से निकला है। राजनीतिशास्त्र को अँग्रेजी में 'पॉलिटिक्स' (Politics) कहते हैं जो लैटिन भाषा के 'पोलिस' (Polis) शब्द से निकला है। 'सिविटास' तथा 'पोलिस' दोनों शब्दों का एक ही अर्थ—नगर-राज्य होता है। इस प्रकार शब्द व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से दोनों शास्त्र मानव का अध्ययन राजनीतिक समुदाय के सदस्य के रूप में करते हैं। इन दोनों विषयों की घनिष्टता को **ऑक्सफोर्ड शब्दकोष** में इस प्रकार व्यक्त किया गया है, **"नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र का वह भाग है जिसका सम्बन्ध नागरिक के अधिकारों एवं कर्त्तव्यों से है।"**

विषय-वस्तु की समानता—नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र का क्षेत्र बहुत कुछ सीमा तक समान है। दोनों ही शास्त्रों में नागरिकों के अधिकार, कर्त्तव्य, स्वतन्त्रता, समानता, व्यक्ति तथा राज्य के सम्बन्ध और सरकार के संगठन इत्यादि का अध्ययन किया जाता है। दोनों ही शास्त्रों का उद्देश्य ऐसी सामाजिक व्यवस्था का निर्माण करना है जिसमें रहकर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके।

दोनों शास्त्र एक-दूसरे के पूरक—नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र एक-दूसरे के पूरक हैं। राजनीतिशास्त्र राज्य की उत्पत्ति, विकास, क़ानून इत्यादि का अध्ययन करता है। सरकार के विभिन्न रूपों एवं उसके गुण-दोषों का अध्ययन भी इसके अन्तर्गत किया जाता है। दूसरी ओर नागरिकशास्त्र समाज में रहने वाले नागरिकों को आदर्श नागरिकता की शिक्षा प्रदान करता है। आदर्श नागरिकता तभी प्राप्त की जा सकती है जबकि नागरिकों में राजनीतिक चेतना पैदा हो। इस राजनीतिक चेतना को राजनीतिशास्त्र ही उत्पन्न कर सकता है। दोनों शास्त्रों के पारस्परिक सम्बन्धों को स्पष्ट करते हुए प्रो. मिहिर कुमार सेन ने लिखा है, **"राज्य नागरिकों से बनता है तथा नागरिक राज्य के सदस्य होते हैं। राज्य का अध्ययन करने के लिए हमें नागरिकों का अध्ययन करना चाहिए और नागरिकता का महत्त्व समझने के लिए हमें राज्य का अर्थ जान लेना चाहिए।"**

नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में अन्तर—दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी निम्नलिखित अन्तर हैं—

(1) **अध्ययन-क्षेत्र का अन्तर**—नागरिकशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक है। राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र राज्य के संगठन तक ही सीमित है परन्तु नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध सामाजिक जीवन के सभी अंगों से है। राजनीतिशास्त्र सिर्फ राष्ट्रीय जीवन तथा एक राज्य का दूसरे राज्य से सम्बन्ध की विवेचना करता है। इसके विपरीत,

नागरिकशास्त्र मनुष्य के सामाजिक जीवन के साथ-साथ राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय जीवन का भी विवेचन करता है।

(2) अधिकार एवं कर्त्तव्यों के अध्ययन का अन्तर—राजनीतिशास्त्र अधिकारों पर और नागरिकशास्त्र कर्त्तव्यों पर बल देता है।

(3) अध्ययन-प्रणाली का अन्तर—राजनीतिशास्त्र की अध्ययन-प्रणाली वर्णनात्मक है लेकिन नागरिकशास्त्र की प्रणाली मुख्यतः पर्यवेक्षणात्मक तथा विचारात्मक है। इस प्रकार स्पष्ट हो जाता है कि दोनों शास्त्र उद्देश्य और विषय के दृष्टिकोण से एक-दूसरे से भिन्न हैं। फिर भी अन्य सामाजिक शास्त्रों की अपेक्षा नागरिकशास्त्र राजनीतिशास्त्र के अधिक निकट है। इन दोनों विषयों का सम्बन्ध और भेद स्पष्ट करते हुए डॉ. बेनी प्रसाद ने कहा है कि **"दोनों में अध्ययन विषय का अन्तर ही नहीं वरन् विषय पर बल का अन्तर है। राजनीतिशास्त्र नागरिकता के राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय रूपों का विशेष अध्ययन करता है जबकि नागरिकशास्त्र में इनका साधारण रूप से और स्थानीय नागरिकता का विशेष रूप से अध्ययन होता है।"**[1]

नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र
(CIVICS AND SOCIOLOGY)

गैटिल ने समाजशास्त्र की परिभाषा करते हुए लिखा है, **"समाजशास्त्र एक सामान्य सामाजिक शास्त्र है। यह सामाजिक समुदायों पर विचार करता है तथा सम्पूर्ण सामाजिक जीवन सम्बन्धी नियमों और तथ्यों की खोज करने की ओर प्रयत्नशील रहता है।"** समाजशास्त्र सम्पूर्ण समाज तथा सामाजिक व्यवस्था का शासन है। यह व्यक्तियों के समूह के रूप में समाज और व्यक्ति के समस्त प्रकार के सम्बन्धों का विवेचन करता है। नागरिकशास्त्र में व्यक्ति के नागरिक जीवन का अध्ययन व्यक्ति की मूल सामाजिक प्रवृत्ति को आधार मानकर ही किया जाता है। अर्थात् नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। केटलिन के मतानुसार, **"नागरिकशास्त्र एवं समाजशास्त्र अभिन्न तथा वास्तव में एक ही वस्तु के दो पहलू हैं।"** समाजशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र के सम्बन्धों को निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

आधार रूप में—नागरिकशास्त्र नागरिक जीवन के जिन संगठनों तथा सिद्धान्तों का अध्ययन करता है उनका उदय सामाजिक पृष्ठभूमि में ही हुआ है। समाजशास्त्र सम्पूर्ण सामाजिक परिस्थितियों तथा सम्बन्धों का अध्ययन कराता है और सामाजिक परिवर्तन एवं विकास के नियमों का ज्ञान कराता है। वार्न्ज के अनुसार, **"नागरिकशास्त्र में हुए परिवर्तन तथा विकास समाजशास्त्र द्वारा निर्देशित संकेतों के अनुसार ही हुए हैं। अतः नागरिकशास्त्र के अध्ययन के लिए समाजशास्त्र का ज्ञान परमावश्यक है।"** प्रो. गिडिंग्स का कथन है कि **"समाजशास्त्र के मूल सिद्धान्तों से अपरिचित व्यक्ति को नागरिकशास्त्र की शिक्षा देना वैसा ही है जैसा कि न्यूटन के गति सम्बन्धी नियमों से अपरिचित व्यक्ति को खगोल विद्या की शिक्षा देना।"**

नागरिकशास्त्र का उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है। इसके लिए आवश्यक है कि अलग-अलग व्यक्ति समूहों के रीति-रिवाजों, परम्पराओं तथा उनकी सामाजिक और सांस्कृतिक पृष्ठभूमि को भली-भाँति समझा जाय। यह ज्ञान हमें समाजशास्त्र

---

1 **"The difference between civics and politics is one of acent and emphasis rather than of subject-matter."** —*Dr. Beni Prasad*

द्वारा ही प्राप्त हो सकता है। गार्नर ने लिखा है कि **"समाजशास्त्र व्यक्ति का अध्ययन एक प्राणी की तरह ही नहीं करता अपितु एक पड़ौसी, एक नागरिक, एक सहकर्मी तथा सामाजिक जीवन के रूप में करता है।"** इस प्रकार समाजशास्त्र अन्य समाजशास्त्रों के समान नागरिकशास्त्र के आधार के रूप में कार्य करता है।

सहायक के रूप में—समाजशास्त्र भी नागरिकशास्त्र से पर्याप्त सहायता प्राप्त करता है। समाजशास्त्र का प्रमुख उद्देश्य समाज में व्याप्त कुरीतियों को समाप्त करके स्वस्थ समाज का निर्माण करना है। लेकिन यह उद्देश्य तभी पूर्ण हो सकता है जबकि नागरिक अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक, ईमानदार तथा प्रगतिशील हों। ऐसे नागरिकों के निर्माण का कार्य नागरिकशास्त्र के द्वारा ही किया जाता है। इस प्रकार नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र के सहायक के रूप में कार्यरत है।

अध्ययन-विषय की समानता—नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र के पारस्परिक घनिष्ठ सम्बन्धों का एक स्वरूप यह है कि अनेक ऐसे विषय हैं जिनका अध्ययन इन दोनों शास्त्रों में समान रूप से किया जाता है। उदाहरणार्थ—व्यक्ति की सामाजिकता की प्रवृत्ति, सामुदायिक जीवन, जाति-व्यवस्था, कटुम्ब लोगों के जीवन पर धर्म का प्रभाव इत्यादि अनेक ऐसी बातें हैं जिनका अध्ययन इन दोनों शास्त्रों में समान रूप से किया जाता है।

उपर्युक्त तर्कों के आधार पर कहा जा सकता है कि समाजशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है। नागरिकशास्त्र समाजशास्त्र से अलग कोई शास्त्र नहीं है बल्कि यह इसी की एक शाखा है तथा साथ ही दोनों एक-दूसरे पर आश्रित भी हैं।

नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र में अन्तर—नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी निम्नलिखित अन्तर हैं—

(1) प्राचीनता के दृष्टिकोण से अन्तर—समाजशास्त्र नागरिकशास्त्र से अधिक प्राचीन है। लेकिन समाजशास्त्र बताता है कि मानव किस प्रकार सामाजिक प्राणी बना।

(2) उद्देश्य की दृष्टि से अन्तर—समाजशास्त्र का सम्बन्ध ठोस तथ्यों से है लेकिन नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध आदर्शों से है। समाजशास्त्र का सम्बन्ध 'क्या हो रहा है' से है लेकिन नागरिकशास्त्र 'राज्य को कैसा होना चाहिए' पर विचार करता है।

(3) अध्ययन की दृष्टि से अन्तर—समाजशास्त्र के अन्तर्गत संगठित एवं असंगठित सभी प्रकार के समुदायों का अध्ययन किया जाता है लेकिन नागरिकशास्त्र में सिर्फ राजनीतिक रूप से संगठित तथा चेतनशील समाज पर ही विचार किया जाता है।

(4) मानवीय दृष्टि से अन्तर—नागरिकशास्त्र मानव का अध्ययन सिर्फ एक नागरिक के रूप में करता है जबकि समाजशास्त्र मानव का अध्ययन नागरिक, पड़ोसी तथा आर्थिक-धार्मिक प्राणी के रूप में करता है।

(5) वैधानिक दृष्टिकोण से अन्तर—नागरिकशास्त्र सिर्फ राज्य-निर्मित विधियों का अध्ययन करता है, जबकि समाजशास्त्र विधियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रथाओं तथा परम्पराओं का अध्ययन करता है।

(6) विवेचना प्रणाली की दृष्टि से अन्तर—समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान (Descriptive Science) है जबकि नागरिकशास्त्र एक आदर्शपरक विज्ञान (Normative Science) है।

नागरिकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र
(CIVICS AND ECONOMICS)

अर्थशास्त्र मानव की समस्त आर्थिक क्रियाओं का अध्ययन करता है। एडम स्मिथ के मतानुसार, "अर्थशास्त्र धन का विज्ञान है।" इस प्रकार अर्थशास्त्र मानव के आर्थिक जीवन का अध्ययन करता है। राजनीतिक एवं आर्थिक जीवन एक-दूसरे से इतने अधिक घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं कि उनमें से किसी के भी अलग अस्तित्व की कल्पना भी नहीं की जा सकती। अतः स्पष्ट है कि नागरिकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में गहरा रिश्ता है। इन दोनों शास्त्रों के सम्बन्धों की विवेचना निम्न प्रकार से कर सकते हैं—

नागरिकशास्त्र की अर्थशास्त्र पर निर्भरता—अर्थशास्त्र ने नागरिकशास्त्र को विभिन्न रूपों में अत्यधिक प्रभावित किया है—

(1) नागरिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के विकास में सहायक—वर्तमान में यह सर्वमान्य तथ्य है कि राज्य की उत्पत्ति तथा उसके विकास में आर्थिक क्रियाओं ने योगदान दिया है। वर्तमान काल में भी आर्थिक क्रियाएँ नागरिक एवं राजनीतिक संस्थाओं के विकास में सहायक हैं।

(2) आर्थिक असन्तोष युद्धों तथा क्रान्तियों का कारण—इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि युद्धों तथा क्रान्तियों का प्रमुख कारण आर्थिक असन्तोष रहा है। कार के मतानुसार इटली में फासिस्ट तानाशाही, जर्मनी में नाजी तानाशाही तथा स्पेन में गृहयुद्ध इत्यादि का प्रमुख कारण आर्थिक असन्तोष और अव्यवस्थां ही था। इस बारे में अरस्तू ने ठीक ही कहा है कि "आर्थिक असमानता क्रान्ति का मुख्य कारण है।"

(3) राज्य की नीति को अर्थशास्त्र प्रभावित करता है—आदर्श नागरिकों का निर्माण प्रायः आर्थिक सम्पन्नता के वातावरण में ही हो सकता है। यदि लोगों को भरपेट भोजन, पहनने के लिए कपड़े तथा रहने के लिए मकान नहीं मिलेगा तो वे अपने कर्त्तव्यों का समुचित प्रकार से पालन नहीं करेंगे। संस्कृत की एक कहावत है, 'बुभुक्षितः किं न करोति पापम्'। इसका आशय है 'भूखा व्यक्ति कौन-सा पाप नहीं कर सकता?' अर्थात् यदि लोगों की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति नहीं होगी तो वह कभी भी श्रेष्ठ नागरिक नहीं बनेंगे।

गरीब लोग धन की लालसा में अपने अमूल्य मत बेच देता है। पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने कहा था, "भूखे व्यक्ति के लिए वोट का कोई मूल्य नहीं होता।" आदर्श नागरिक एवं आदर्श समाज व्यवस्था के निर्माण के लिए अर्थशास्त्र के उन सिद्धान्तों को ग्रहण करना आवश्यक है जिनके द्वारा व्यक्ति तथा देश आर्थिक उन्नति कर सकता है। राज्य में आर्थिक विषमताओं के न होने पर ही आदर्श नागरिक जीवन सम्भव है। अतः स्पष्ट है कि राज्य के क्रियाकलापों तथा उसकी नीतियों के पीछे आर्थिक परिस्थितियों का ही प्रभाव होता है।

नागरिकशास्त्र अर्थशास्त्र के सहायक के रूप में—नागरिकशास्त्र भी अर्थशास्त्र को प्रभावित करके निम्नलिखित रूपों में सहायता प्रदान करता है—

(1) आर्थिक व्यवस्था का निर्धारण—वर्तमान आर्थिक जीवन की प्रबल समस्या यह है कि लोगों द्वारा उचित-अनुचित समस्त प्रकार के साधनों द्वारा धन को प्राप्त करना ही अपना उद्देश्य बना लिया गया है।

(2) युद्ध का प्रभाव—युद्ध का प्रभाव सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। प्रायः युद्ध के कारण सैनिक व्यय बढ़ जाता है तथा आर्थिक प्रगति पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है।

(3) प्रशासनिक स्तर का प्रभाव—समाज में आर्थिक विकास पर प्रशासन के स्तर का प्रभाव पड़ता है। प्रशासनिक मशीनरी भ्रष्ट होती है तो आर्थिक विकास भी मन्द गति से होता है।

दोनों शास्त्रों का समान लक्ष्य—अर्थशास्त्र तथा नागरिकशास्त्र दोनों का लक्ष्य समान है। दोनों शास्त्र मानव के सामाजिक एवं आर्थिक कल्याण पर जोर देते हुए मानव जीवन को सुखी और शान्तिमय बनाने का मार्ग प्रशस्त करते हैं।

नागरिकशास्त्र तथा अर्थशास्त्र में अन्तर—दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी उनमें निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण अन्तर हैं—

(1) नागरिकशास्त्र आदर्शवादिता पर आधारित विषय है जबकि अर्थशास्त्र यथार्थवादी विषय है।

(2) नागरिकशास्त्र एवं अर्थशास्त्र दोनों का लक्ष्य एक है लेकिन उसे प्राप्त करने के साधन अलग-अलग हैं।

(3) अर्थशास्त्र की अनेक बातों; जैसे—विनिमय दर, अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार नियम तथा बजट इत्यादि से नागरिकशास्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं है। इसी प्रकार नागरिकशास्त्र की अनेक बातें अर्थशास्त्र के अध्ययन की विषय-वस्तु नहीं हैं।

(4) अर्थशास्त्र की अपेक्षाकृत नागरिकशास्त्र का क्षेत्र अधिक विस्तृत है।

(5) नागरिकशास्त्र का उद्देश्य मानव का सर्वांगीण विकास करना है जबकि अर्थशास्त्र सिर्फ मानव की आर्थिक क्रियाओं का ही अध्ययन करता है।

(6) आइवर ब्राउन के मतानुसार, **"अर्थशास्त्र का सम्बन्ध सिर्फ सम्पत्ति से है, जबकि नागरिकशास्त्र का सम्बन्ध व्यक्तियों से।"**

नागरिकशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र
(CIVICS AND PHILOSOPHY)

नागरिकशास्त्र का दर्शनशास्त्र के साथ अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सम्बन्ध है। नागरिकशास्त्र के प्रमुख आधारों का निर्धारण दर्शनशास्त्र के आधार पर ही सम्भव है। 'दर्शन' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत भाषा की 'दृश' धातु से हुई है, जिसका आशय है 'देखना' अर्थात् जो देखा जा सके वही दर्शन है। दर्शन 'शब्द' को अँग्रेजी भाषा में 'Philosophy' कहते हैं। 'Philosophy' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक भाषा के 'Philoso' तथा 'Sophia' शब्दों से हुई है जिनका शाब्दिक अर्थ 'Love of wisdom' अथवा 'ज्ञान से प्रेम' है। अतः चिन्तन एवं मनन की विचारपूर्ण प्रक्रिया के आधार पर अपने अन्तःमन से सत्य पर आधारित ज्ञान को देखना ही दर्शन है।

दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण संसार का अध्ययन करता है और राज्य (जो नागरिकशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है) सम्पूर्ण संसार का एक अंग है इसलिए नागरिकशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही अंग है। नागरिक जीवन की अनेक संस्थाओं का आधार दार्शनिक है। उदाहरणार्थ—राज्य की उत्पत्ति, राज्य की उत्पत्ति से पूर्व मानव समाज की स्थिति, राज्य के उद्देश्य तथा प्रभुता इत्यादि बातों का सम्बन्ध दर्शनशास्त्र से ही है। अन्य शब्दों में, नागरिकशास्त्र के विभिन्न विचारों पर दार्शनिक विचारों का गहरा प्रभाव पड़ता है। अतः कहा जा सकता है कि दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध है

नागरिकशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में अन्तर—घनिष्ठ सम्बन्ध रहते हुए भी दोनों शास्त्रों के बीच निम्नलिखित अन्तर हैं—

(1) दर्शनशास्त्र नागरिकशास्त्र के सैद्धान्तिक आधारों की खोज तक ही सीमित है जबकि नागरिकशास्त्र में उन सैद्धान्तिक आधारों को व्यावहारिक स्वरूप प्रदान किया जाता है।

(2) दर्शनशास्त्र के अन्तर्गत आध्यात्मिक अथवा अमूर्त विषयों के सम्बन्धों में भी अध्ययन किया जाता है जबकि नागरिकशास्त्र में मूर्त जगत में सम्बन्धित नागरिक के विभिन्न पहलुओं का ही अध्ययन किया जाता है।

नागरिकशास्त्र तथा नीतिशास्त्र
(CIVICS AND ETHICS)

मानव आचरण के लिए नीतिशास्त्र नैतिक मापदण्ड स्थिर करने वाला शास्त्र है। यह मानवीय आचरण के सत्य-असत्य तथा शुभ-अशुभ का ज्ञान प्रदान करने वाला विज्ञान है। डीवी के शब्दों में, **"नीतिशास्त्र आचरण का वह विज्ञान है जिसमें कि आचरण के औचित्य तथा अनौचित्य और अच्छाई एवं बुराई पर विचार किया जाता है।"**

नागरिकशास्त्र सम्पूर्ण नागरिक जीवन के अध्ययन के साथ-साथ उसके भविष्य के आदर्शात्मक रूप का अध्ययन भी करता है तथा नागरिक जीवन का यह आदर्श रूप नीतिशास्त्रीय धारणाओं पर ही आधारित होता है। दोनों शास्त्रों के सम्बन्धों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

समान लक्ष्य—नागरिकशास्त्र तथा नीतिशास्त्र के लक्ष्य एकसमान हैं। नीतिशास्त्र लोगों को उचित-अनुचित का ज्ञान कराकर उचित कार्य करने की शिक्षा प्रदान करता है। दूसरी ओर नागरिकशास्त्र लोगों को आदर्श नागरिक बनने की प्रेरणा देता है। इस प्रकार दोनों ही शास्त्र मानव जीवन को आदर्श एवं सुखमय बनाने के लिए पथ-प्रदर्शन करते हैं।

नीतिशास्त्र के सिद्धान्त आदर्श नागरिकता हेतु उपयोगी—नीतिशास्त्र के सिद्धान्त आदर्श नागरिकता की प्राप्ति में सहायक होते हैं तथा इन्हीं के आधार पर नागरिकशास्त्र आदर्श नागरिकों का निर्माण करने में सफल हो सकते हैं। लार्ड ऐक्टन के मतानुसार, **"नागरिकशास्त्र के सिद्धान्त नैतिक सिद्धान्तों के बिना निरर्थक हैं।"** इसी सन्दर्भ में फॉय (Foy) का भी कथन उल्लेखनीय है कि **"अगर कोई चीज नैतिक रूप से गलत है तो वह नागरिकशास्त्र की दृष्टि से कभी सही नहीं हो सकती।"**

नागरिकशास्त्र नीतिशास्त्र पर आधारित—नागरिकशास्त्र का उद्देश्य आदर्श नागरिकों का निर्माण करना है और वह अपना यह उद्देश्य नीतिशास्त्र के बिना प्राप्त नहीं कर सकता। इसीलिए प्रो. पुन्ताम्बेकर ने लिखा है कि **"यदि नीतिशास्त्र दर्शन है तो नागरिकशास्त्र आदर्श जीवन का आचरण है।"**[1]

वस्तुतः ये दोनों शास्त्र घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित हैं। दोनों की पारस्परिक निर्भरता के सम्बन्ध में ब्राउन ने कहा है कि **"नागरिकशास्त्र के अभाव में नीतिशास्त्र अपूर्ण है क्योंकि मानव एक सामाजिक प्राणी है और समाज से पृथक् नहीं रह सकता। नीतिशास्त्र के अभाव में नागरिकशास्त्र अकर्मण्य है क्योंकि इसका अध्ययन और फल भले-बुरे विचारों पर ही निर्भर है।"**

---

1 **"If Ethics is philosophy, civics is the practice of good life."** —*Puntambaker*

नागरिकशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में अन्तर—दोनों शास्त्रों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी निम्नलिखित विभिन्नताएँ हैं—

(1) नागरिकशास्त्र में जहाँ परिवार, राज्य तथा सरकार इत्यादि का अध्ययन किया जाता है वहीं नीतिशास्त्र का इनसे कोई सम्बन्ध नहीं होता है।

(2) नीतिशास्त्र सिद्धान्तों की रचना करता है लेकिन नागरिकशास्त्र उन सिद्धान्तों के प्रयोग पर आधारित है।

(3) नागरिकशास्त्र व्यक्ति की वाह्य उन्नति ही करता है जबकि नीतिशास्त्र व्यक्ति की आन्तरिक एवं वाह्य दोनों प्रकार की उन्नतियों में सहायक है।

(4) नीतिशास्त्र आदर्शवादिता पर आधारित है जबकि नागरिकशास्त्र व्यावहारिक है।

(5) नीतिशास्त्र, आध्यात्मिक विषय है जबकि नागरिकशास्त्र प्रधानतः भौतिक है।

नागरिकशास्त्र तथा इतिहास
(CIVICS AND HISTORY)

इतिहास मानव सभ्यता के विकास की कहानी है। राइकर के मतानुसार, "इतिहास विकास का नाटक और प्रक्रिया है।" प्रो. गैटिल के अनुसार, "इतिहास अतीत की घटनाओं और विकास, उनके कारणों तथा पारस्परिक सम्बन्धों का लेखा है। यह आर्थिक, धार्मिक, बौद्धिक तथा सामाजिक दशाओं के साथ-साथ राज्य, उसके विकास, संगठन तथा उसके पारस्परिक सम्बन्ध का भी वर्णन प्रस्तुत करता है।" वास्तव में, इतिहास मानव जाति की सफलताओं तथा विफलताओं का वह कोष है जहाँ से हमें भूतकालीन समाज और राज्य की झलक मिलती है।

नागरिकशास्त्र इतिहास पर निर्भर—नागरिकशास्त्र में वर्तमान नागरिक जीवन के साथ-साथ भूतकालीन नागरिक जीवन का भी अध्ययन किया जाता है। यह अध्ययन इतिहास के अभाव में असम्भव है। इसी प्रकार नागरिक एवं राजनीतिक जीवन की संस्थाएँ, जैसे—राज्य, ऐतिहासिक विकास का प्रतिफल है। उन्हें पूर्णतया समझने का ज्ञान इतिहास ही प्रदान करता है। अतः दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध होना स्वाभाविक है। इस बारे में सीले का यह कथन उल्लेखनीय है, "इतिहास के बिना नागरिकशास्त्र की कोई जड़ नहीं है और नागरिकशास्त्र के बिना इतिहास का कोई फल नहीं है।"[1] बर्गेस के मतानुसार, "यदि नागरिकशास्त्र तथा इतिहास को एक-दूसरे से अलग कर दिया जाय तो उनमें से एक यदि मृत नहीं तो पंगु अवश्य हो जायेगा तथा दूसरा कूड़े का ढेर मात्र रह जायेगा।"[2] नागरिकशास्त्र इतिहास का निम्न प्रकार से ऋणी है—

(1) इतिहास नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शन करता है—इतिहास नागरिकशास्त्र का मार्गदर्शन करता है तथा ऐतिहासिक चेतना द्वारा आदर्श स्थापित करने में सहायता करता है। इतिहास के अध्ययन से इस बात का ज्ञान प्राप्त होता है कि साम्राज्यवाद गुलामी एवं शोषण का द्योतक है जिसकी अन्तिम परिणति विश्वयुद्ध है। अतः भावी समाज की रक्षा हेतु साम्राज्यवाद की अवहेलना परमावश्यक है। विलोबी के अनुसार, "इतिहास नागरिकशास्त्र का तीसरा आयाम दर्शाता है।"

1 "Politics without History has no root and History without Politics has no fruit." —*Seeley*

2 "Separate History and Politics and the one becomes a cripple, if not a corpse; the other will-O' the-wisp." —*Burgess*

(2) इतिहास नागरिकशास्त्र की प्रयोगशाला है—इतिहास मानव के नागरिक तथा राजनीतिक जीवन में किये गये सफल-असफल प्रयोगों का संकलन है। इतिहास की ही प्रयोगशाला में नागरिकशास्त्र के नियमों तथा सिद्धान्तों पर प्रयोग होते रहते हैं। भूतकालीन घटनाओं का अध्ययन कर नागरिकशास्त्र आदर्श निश्चित करता है। भारतीय इतिहास के अध्ययन से ज्ञात होता है कि सम्राट अकबर ने धार्मिक सहिष्णुता की नीति अपनाई तथा उसके परिणामस्वरूप वह सफल रहा लेकिन औरंगजेब द्वारा अपनायी गई धार्मिक पक्षपात की नीति मुगल साम्राज्य के पतन का कारण बनी। इसी परीक्षण से शिक्षा ग्रहण करके देश के कर्णधारों ने भारत में 'धर्मनिरपेक्ष' राज्य की स्थापना की। भारतीय संविधान निर्माताओं ने इतिहास के ज्ञान का भरपूर लाभ उठाते हुए ही भारत में संविधान को संघात्मक होते हुए भी एकात्मक रूप दिया। संविधान निर्माता इस बात को जानते थे कि भारत में साम्प्रदायिकता, जातीयता तथा क्षेत्रीयता की भावनाओं और भाषावाद के कारण राष्ट्रीय एकता एवं अखण्डता के लिए खतरा पैदा हो सकता है।

नागरिकशास्त्र पर इतिहास की निर्भरता—इतिहास को अपनी वृहत् सामग्री के लिए नागरिकशास्त्र पर निर्भर रहना पड़ता है। हमारा वर्तमान व्यवहार नागरिकशास्त्र के सिद्धान्तों से प्रभावित होता है तथा नागरिकों द्वारा आज जिस प्रकार का व्यवहार किया जाता है वही आगे चलकर इतिहास बन जाता है। नागरिकशास्त्र व्यक्तियों में सद्गुणों को विकसित करके आदर्श सामाजिक जीवन का निर्माण करता है। यदि किसी देश के नागरिक आदर्श नागरिक हैं तो अवश्य ही उस देश का इतिहास स्वर्णिम होता है। नागरिकशास्त्र की विषय-वस्तु सदैव इतिहास के लिए आकर्षण का केन्द्र रही है। व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध, अधिकारों का उपभोग और कर्त्तव्यों का पालन इत्यादि ऐसी बातें हैं जिसको कोई भी इतिहासकार उपेक्षित नहीं कर सकता। वर्तमान इतिहास में सिर्फ युद्धों तथा कूटनीतिक षड्यन्त्रों का विवेचन ही नहीं किया जाता बल्कि सामाजिक एवं सांस्कृतिक जीवन के विवेचन को भी अत्यधिक महत्त्व दिया जाता है। इस सम्बन्ध में सीले ने उचित ही कहा है कि **"इतिहास की सहायता के बिना नागरिकशास्त्र असभ्य कहलाता है तथा इतिहास भी उस समय कोरा साहित्य रह जाता है जब नागरिकशास्त्र से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता है।"**[1]

नागरिकशास्त्र तथा इतिहास में अन्तर—दोनों विषयों में घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी निम्नलिखित मौलिक भेद हैं—

(1) अध्ययन-प्रणाली का अन्तर—इतिहास मात्र वर्णनात्मक प्रणाली का प्रयोग करता है लेकिन नागरिकशास्त्र पर्यवेक्षणात्मक तथा दार्शनिक प्रणालियों का प्रयोग करता है।

(2) क्षेत्र का अन्तर—नागरिकशास्त्र की अपेक्षा इतिहास का क्षेत्र अधिक विस्तृत है। नागरिकशास्त्र में जहाँ मानव के नागरिक जीवन तथा नागरिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का अध्ययन किया जाता है, वहीं इतिहास में मानव के भूतकालीन-जीवन के नागरिक, आर्थिक, धार्मिक एवं सामाजिक तथा राजनीतिक पहलुओं का अध्ययन किया जाता है।

(3) प्रकृति एवं उद्देश्य का अन्तर—इतिहास में सिर्फ ठोस तथा वास्तविक तथ्यों का अध्ययन किया जाता है। अतः यह घटनाओं का यथाक्रम वर्णन कर देता है। भविष्य में क्या घटित होना चाहिए इस बारे में यह मौन ही रहता है। नागरिकशास्त्र भूत तथा वर्तमान के साथ भविष्य में क्या होना चाहिए, इस बात का भी अध्ययन करता है।

1 "Politics is vulgar when not liberalised by History and History fades into mere literature when it loses sight of its relation to Politics." —*Seeley*

नागरिकशास्त्र तथा भूगोल
(CIVICS AND GEOGRAPHY)

मानव जीवन को भौगोलिक परिस्थितियाँ व्यापक रूप से प्रभावित करती हैं। भूगोल के अन्तर्गत किसी देश की जलवायु, उपज, वर्षा, वनस्पति तथा खनिज-पदार्थों का अध्ययन किया जाता है। मानव जीवन से इन समस्त चीजों का घनिष्ठ सम्बन्ध है अर्थात् कहा जा सकता है कि नागरिकशास्त्र तथा भूगोल में भी आपसी सम्बन्ध हैं। इन दोनों विषयों के सम्बन्धों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) **दोनों विषयों के उद्देश्य समान हैं**—दोनों विषयों के उद्देश्य एक जैसे हैं क्योंकि भूगोल पर ही किसी देश की आर्थिक समृद्धि निर्भर करती है। इसी प्रकार नागरिकशास्त्र भी व्यक्ति तथा समाज की आर्थिक प्रगति में सहायक होता है। भौगोलिक परिस्थितियों की प्रतिकूलता न होने के कारण किसी भी समाज की प्रगति होनी सम्भव नहीं है।

(2) **नागरिकशास्त्र भूगोल पर निर्भर है**—जैसा कि हम जानते हैं, नागरिकशास्त्र मानव के सामाजिक जीवन का अध्ययन करना है। इसका उद्देश्य एक आदर्श समाज व्यवस्था की स्थापना करना है। आर्थिक प्रगति के अभाव में एक आदर्श समाज की स्थापना असम्भव है। भौगोलिक परिस्थितियों के ऊपर किसी देश की आर्थिक प्रगति निर्भर करती हैं अर्थात् नागरिकों के उद्देश्यों को पूर्ण करने हेतु भूगोल का अध्ययन परमावश्यक है। यह सर्वविदित तथ्य है कि किसी देश की भौगोलिक परिस्थितियों का प्रभाव उस देश की राजनीतिक, सामाजिक, आर्थिक तथा धार्मिक संस्थाओं पर व्यापक रूप से पड़ता है। उदाहरणार्थ—प्राचीन यूनान में छोटे-छोटे नगर-राज्यों की स्थापना वहाँ की भौगोलिक दशाओं के फलस्वरूप ही हुई थी। अतः नागरिकशास्त्र एवं भूगोल में घनिष्ठ सम्बन्ध स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

नागरिकशास्त्र तथा भूगोल में अन्तर—दोनों विषयों में निम्नांकित अन्तर विद्यमान हैं—

(1) भूगोल विषय के अन्तर्गत प्राकृतिक वातावरण का अध्यन किया जाता है जिसका कि नागरिकशास्त्र से कोई विशेष सम्बन्ध नहीं है।

(2) भूगोल में सामाजिक सहयोग का अध्ययन नहीं किया जाता है जबकि नागरिकशास्त्र का यह प्रमुख विषय है।

नागरिकशास्त्र तथा मनोविज्ञान
(CIVICS AND PSYCHOLOGY)

नागरिकशास्त्र मानव को राज्य का नागरिक मानकर उसके आचरण का अध्ययन करता है। मनोविज्ञान वह विषय है जो मानव को सामाजिक कार्यों में उनके मन की चेतन और अचेतन क्रियाओं का अध्ययन करता है। मनुष्य का मन जिस प्रकार से सोचता है, वह जिन बातों से प्रेरणा तथा उत्तेजना प्राप्त करता है उन सभी का मानव के व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन पर प्रभाव अवश्य पड़ता है। चूँकि नागरिकशास्त्र मानव के सामुदायिक तथा सामाजिक जीवन पर विचार करता है अतः मनोविज्ञान से उसे अत्यधिक सहायता मिलती है। इसीलिए नागरिकशास्त्र और मनोविज्ञान का एक-दूसरे से घनिष्ठ सम्बन्ध है।

मनोविज्ञान हमें मानव की स्वाभाविक प्रवृत्तियों का ज्ञान कराता है। प्रत्येक कानू[illegible] का पालन मानव-स्वभाव पर ही निर्भर है। मानव की भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आ[illegible] इत्यादि का समाज पर कैसा प्रभाव पड़ता है यह हमें मनोविज्ञान ही बताता है। हमें मनोवि[illegible] के अध्ययन से आदर्श नागरिक बनने में बड़ी सहायता मिलती है और आदर्श नागरिक [illegible]

ही नागरिकशास्त्र का अन्तिम लक्ष्य है। अर्नेस्ट बार्कर के मतानुसार, "मानवीय क्रिया के रहस्य को समझने हेतु मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त का प्रयोग करना वर्तमान काल में वास्तव में एक फैशन बन गया है। हमारे पूर्वज जीवशास्त्रीय दृष्टिकोण से विचार किया करते थे। इसके विपरीत, हम मनोवैज्ञानिक ढंग से विचार करते हैं।"

नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत नागरिक संस्थाओं, संगठनों तथा राज्यों का उचित अध्ययन मनोविज्ञान की सहायता से ही हो सकता है। विभिन्न देशों के निवासियों की मनोवैज्ञानिक प्रवृत्ति को समझकर महत्त्वपूर्ण राजनीतिक सफलताएँ प्राप्त की जा सकती हैं। किसी देश में वे ही राजनीतिक संस्थाएँ सफल हो सकती हैं जो उस देश की जनता की मानसिक अवस्थाओं के अनुकूल होती हैं। गार्नर के अनुसार, "कोई सरकार तभी स्थाई तथा वास्तव में लोकप्रिय हो सकती है जबकि वह अपनी सत्ता के अधीन लोगों के विचारों तथा नैतिक भावनाओं को प्रतिबिम्बित और अभिव्यक्त करती हो। संक्षेप में, वह जाति की मानसिक रचना के समरूप हो।" ब्राइस ने इस मान्यता की पुष्टि करते हुए कहा है, "नागरिकशास्त्र का आधार मनोविज्ञान है।"

व्यावहारिक राजनीति में तो मनोविज्ञान का विशेष महत्त्व है। प्रत्येक सफल राजनीतिज्ञ मनोविज्ञान का अच्छा जानकार होता है। वह जानता है कि अपनी नीति तथा कार्य को सफल बनाने हेतु किस प्रकार से प्रचार किया जाय तथा जनता की भावनाओं, मनोवेगों व धार्मिक और नैतिक आकांक्षाओं को किस प्रकार उत्तेजित किया जाय। 1933 में हिटलर ने जर्मनी की जनता की मनोवृत्ति को समझकर उसी के अनुरूप कार्य किया और सत्तारूढ़ हुआ। भारत के नागरिक और राजनीतिक जीवन में महात्मा गाँधी को जो अपूर्व सफलता प्राप्त हुई उसका मूल कारण यही था कि उनके विचार तथा कार्य देशवासियों की भावनाओं के अनुरूप थे। वास्तव में, वर्तमान काल की व्यावहारिक राजनीति मनोविज्ञान की देन है।

दूसरी ओर मनोविज्ञान भी नागरिशास्त्र पर निर्भर है। नागरिकशास्त्र मनोविज्ञान को काफी प्रभावित करता है। यह मनोविज्ञान को नागरिक एवं राजनीतिक क्रिया-कलापों से सम्बन्धित अध्ययन सामग्री प्रदान करता है जिससे मनोविज्ञान और अधिक समृद्ध होता है।

नागरिकशास्त्र तथा मनोविज्ञान में अन्तर—दोनों विषयों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी निम्नलिखित अन्तर हैं—

(1) **प्रकृति के दृष्टिकोण से अन्तर**—मनोविज्ञान मानव व्यवहार तथा स्वभाव की यथार्थ स्थिति से ही सम्बन्ध रखता है लेकिन नागरिकशास्त्र यथार्थ स्थिति के साथ-साथ आदर्श का भी विवेचन करता है। मनोविज्ञान 'क्या है' तथा 'क्या था' से सम्बन्धित है। इसके विपरीत, नागरिकशास्त्र 'क्या होना चाहिए' का भी अध्ययन करता है।

(2) **विषय-वस्तु का अन्तर**—नागरिकशास्त्र नागरिक जीवन के क्रिया-कलापों का ही अध्ययन करता है जबकि मनोविज्ञान मानव व्यवहार के समस्त पक्षों का अध्ययन करता है।

(3) **व्यवहारिकता का अन्तर**—मनोविज्ञान सिर्फ मन के भावों का अध्ययन करता है जबकि नागरिकशास्त्र व्यावहारिक कार्यों का भी अध्ययन करता है। केटलिन के मतानुसार, "मनोविज्ञान मानसिक क्रियाओं का अध्ययन है जबकि नागरिकशास्त्र संकल्प किये गये कार्यों का अध्ययन है।"

(4) **प्रणाली का अन्तर**—मनोविज्ञान एक वर्णनात्मक विषय है जबकि नागरिकशास्त्र एक आदर्शात्मक विज्ञान।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. नागरिकशास्त्र एवं भूगोल में एक भेद स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—भूगोल में प्राकृतिक वातावरण का अध्ययन किया जाता है जबकि नागरिकशास्त्र में एक नागरिक के रूप में व्यक्ति का अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 2. नागरिकशास्त्र तथा दर्शनशास्त्र में कोई एक अन्तर स्पष्ट कीजिए।

उत्तर—दर्शनशास्त्र में आध्यात्मिक विषयों अथवा अमूर्त जगत के सम्बन्ध में अध्ययन किया जाता है जबकि नागरिकशास्त्र में मूर्त जगत से सम्बन्धित नागरिकों के विभिन्न पक्षों का अध्ययन किया जाता है।

प्रश्न 3. नागरिकशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र में एक मुख्य अन्तर बताइए।

उत्तर—राजनीतिशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र नागरिकशास्त्र की तुलना में संकुचित है।

प्रश्न 4. अरस्तू की प्रमुख पुस्तक का नाम लिखिए। (1994)

उत्तर—'पॉलिटिक्स' (Politics)।

प्रश्न 5. 'अर्थशास्त्र' नामक पुस्तक के लेखक का नाम बताइए। (1998)

अथवा

अर्थशास्त्र का लेखक कौन है? (2000)

उत्तर—कौटिल्य।

प्रश्न 6. अर्थशास्त्र नामक ग्रन्थ का मुख्य विषय लिखिए।

उत्तर—राजनीतिक संस्थाएँ, समस्याएँ तथा शासन प्रणाली।

प्रश्न 7. नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र में एक मूलभूत समानता क्या है? (1993, 2000)

उत्तर—नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र दोनों ही विषयों में मानव का अध्ययन उसकी मूल सामाजिक प्रवृत्ति को आधार मानकर किया जाता है।

प्रश्न 8. नागरिकशास्त्र तथा इतिहास का सम्बन्ध वाक्य पंक्ति में लिखिए।

उत्तर—इतिहास की सहायता से सामाजिक जीवन की समस्याओं का ज्ञान होता है तथा उसका समाधान भी किया जा सकता है।

प्रश्न 9. नागरिकशास्त्र तथा समाजशास्त्र में कोई दो अन्तर बताइए।

उत्तर—(i) नागरिकशास्त्र सिर्फ समाजोपयोगी बातों का अध्ययन करता है जबकि समाजशास्त्र समस्त सामाजिक परिवर्तनों का अध्ययन करता है। (ii) नागरिकशास्त्र आदर्शपरक विज्ञान है जबकि समाजशास्त्र एक वर्णनात्मक विज्ञान है।

प्रश्न 10. मनुष्य के सामाजिक जीवन के विभिन्न पहलू कौन-कौन से होते हैं ?

उत्तर—मनुष्य के सामाजिक जीवन के राजनीतिक, आर्थिक, ऐतिहासिक, मनोवैज्ञानिक तथा नैतिक इत्यादि पहलू हैं।

प्रश्न 11. अन्तर्विषयात्मक अध्ययन के अनुसार सभी सामाजिक विज्ञानों में कैसे सम्बन्ध पाये जाते हैं ?

उत्तर—सभी सामाजिक विज्ञान एक-दूसरे से परस्पर जुड़े हैं तथा उनमें आपस में गहरा सम्बन्ध है।

प्रश्न 12. नागरिकशास्त्र हेतु कौन-सा विषय प्रयोगशाला के रूप में कार्य करता है ?

उत्तर—इतिहास।

प्रश्न 13. नागरिकशास्त्र किस शास्त्र का एक विशिष्ट अंग मात्र है ?

उत्तर—समाजशास्त्र का।

प्रश्न 14. भूगोल देश की राजनीति को किस प्रकार प्रभावित करता है ?

उत्तर—व्यक्ति के कार्यों, व्यवसायों, आदतों तथा मनोवृत्तियों इत्यादि पर प्रभाव डालकर भूगोल व्यावहारिक राजनीति को प्रभावित करता है।

प्रश्न 15. वर्तमान में विश्व का कौन-सा क्षेत्र अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र है और क्यों ?

उत्तर—वर्तमान में मध्य पूर्व का क्षेत्र अपनी प्रमुख भौगोलिक स्थिति एवं खनिज पदार्थों की बहुतायत के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का केन्द्र बना हुआ है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नागरिकशास्त्र का इतिहास तथा अर्थशास्त्र से क्या सम्बन्ध है ? (1975)
2. नागरिकशास्त्र का अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र से सम्बन्ध समझाइए। (1998)
3. इतिहास, अर्थशास्त्र तथा समाजशास्त्र के साथ नागरिकशास्त्र के सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। (1987, 90, 94)
4. नागरिकशास्त्र के राजनीतिशास्त्र, भूगोल एवं अर्थशास्त्र के साथ सम्बन्धों की विवेचना कीजिए। (1989, 92)
5. नागरिकशास्त्र का इतिहास एवं नीतिशास्त्र से सम्बन्ध बताइए। (1991)
6. नागरिकशास्त्र के अर्थशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र से सम्बन्धों का विश्लेषण कीजिए। (1995)

● ●

3

सीमित परिवार की अवधारणा, विभिन्न विधियाँ

[CONCEPT OF LIMITED FAMILY, DIFFERENT METHODS]

"परिवार न्यूनाधिक रूप से स्त्री तथा पुरुष का एक समुदाय है जिसमें बच्चों सहित सिर्फ पुरुष हो अथवा बच्चों सहित सिर्फ स्त्री हो।"[1] —*निमकॉफ*

"परिवार मनुष्य की दिन-प्रतिदिन की आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्राकृतिक रूप से बना हुआ समुदाय है।"[2] —*अरस्तू*

परिवार का अर्थ तथा परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF FAMILY)

'परिवार' अंग्रेजी भाषा के फैमिली (Family) शब्द का हिन्दी अनुवाद है तथा फैमिली शब्द का उद्‌गम लैटिन शब्द फेमलस (Famulus) से हुआ है जो एक ऐसे समूह के लिए प्रयुक्त हुआ है जिसमें माता-पिता, बच्चे, नौकर अथवा दास हों। साधारण अर्थों में, विवाहित जोड़े को परिवार की संज्ञा दी जाती है लेकिन यह परिवार शब्द का उचित उपयोग नहीं है। परिवार में पति-पत्नी एवं बच्चों का होना आवश्यक है। विभिन्न विद्वानों ने परिवार को निम्न प्रकार परिभाषित किया है—

डॉ. श्यामाचरण दुबे के शब्दों में, "परिवार में स्त्री तथा पुरुष दोनों को सदस्यता प्राप्त रहती है, उनमें कम-से-कम दो विपरीत यौन व्यक्तियों को यौन सम्बन्धों की सामाजिक स्वीकृतिं रहती है तथा उनके संसर्ग से उत्पन्न सन्तान मिलकर परिवार का निर्माण करती हैं।"[3]

मैकाइवर तथा पेज के मतानुसार, "परिवार उस समूह का नाम है जिसमें स्त्री-पुरुष का यौन-सम्बन्ध पर्याप्त निश्चित हो तथा इनका साथ इतनी देर तक रहे जिससे सन्तान उत्पन्न हो जाये और उसका पालन-पोषण भी किया जाये।"[4]

---

1 "Family is more or less a durable association of husband and wife with or without children, or of a man or woman alone with children." —*Nimkoff*

2 "The family is the association, established by nature for the supply of man's every-day wants." —*Aristotle*

3 डॉ. श्यामा चरण दुबे, मानव और संस्कृति, पृष्ठ 101.

4 "The family is a group defined by a sex relationship sufficiently precise and enduring to provide for the procreation and upringing of children." —*MacIver and Page*

परिवार को परिभाषित करते हुए समनर तथा केलर ने कहा है कि "यह व्यक्तियों का एक ऐसा समुदाय है जो जीवन-यापन तथा मानव जाति को स्थिर रखने हेतु सहकारिता के सिद्धान्त पर आधारित है।"

टी. एच. क्लेयर के शब्दों में, "परिवार से हम सम्बन्धों की वह व्यवस्था समझते हैं जो माता-पिता तथा उनकी सन्तानों के बीच में पायी जाती है।"[1]

बर्गेस के शब्दों में, "परिवार एक ऐसा छोटा सामाजिक समुदाय है जो सामान्यतया माता-पिता तथा बच्चों से मिलकर बनता है जिसमें प्रेम और उत्तरदायित्व का न्यायोचित विभाजन होता है तथा जिसमें बच्चों को आत्म-नियन्त्रित एवं सामाजिक प्रेरणा प्राप्त व्यक्ति बनने की शिक्षा प्रदान की जाती है।"

परिवार शब्द की व्याख्या करते हुए जुकरमैन ने कहा है कि "परिवार समूह में एक पुरुष स्वामी, उसकी पत्नी अथवा पत्नियाँ तथा उसके बच्चे और अनेक में कभी-कभी एक या अधिक अविवाहित पुरुष होते हैं।"[2]

परिवार के लक्षण (विशेषताएँ)
(CHARACTERISTICS OF FAMILY)

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययनोपरान्त कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष प्राप्त होते हैं जिनका अध्ययन उनके लक्षणों अथवा विशेषताओं के अन्तर्गत किया जा सकता है। परिवार के लक्षण निम्न प्रकार हैं—

(1) **वैवाहिक बन्धन**—परिवार का अस्तित्व विवाह के कारण ही है। इस विवाह का स्वरूप एक-विवाह, बहुपति विवाह अथवा बहुपत्नी विवाह इत्यादि कुछ भी हो सकता है। विवाह के अभाव में वैध परिवार का निर्माण असम्भव है। यह वैवाहिक बन्धन परिवार का प्रथम निर्माणक तत्त्व तथा उसका अनिवार्य लक्षण है।

परिवार के लक्षण
* वैवाहिक बन्धन
* रक्त सम्बन्ध तथा वंश नाम पर आधारित
* निवास स्थान
* सार्वभौमिकता
* सीमित आकार
* सामाजिक, आर्थिक सुरक्षा तथा नागरिक कार्य
* स्थायी एवं अस्थायी
* भावात्मक आधार

(2) **रक्त सम्बन्ध तथा वंश नाम पर आधारित**—परिवार रक्त सम्बन्ध पर आधारित होता है। रक्त सम्बन्धों के कारण परिवार के सदस्य एकता के सूत्र में बँधते हैं। रक्त सम्बन्ध पर आधारित सम्बन्ध प्रायः अत्यधिक प्रगाढ़ तथा स्थायी होते हैं। इसी प्रकार समस्त परिवारों में बच्चों का नामकरण करने का कोई-न-कोई आधार होता है। हम इसे उपनाम अथवा वंश नाम की संज्ञा देते हैं। पितृवंशीय परिवारों में यह नामकरण पिता के वंश पर आधारित होता है जबकि मातृवंशीय परिवारों में माता के वंश के आधार पर।

1 "By family we mean a system or relationship existing between parents and children." —*T. H. Clare*

2 "A family group consists of a male over-lord, his female or females together with their young and many sometimes include one or more bechelors of unmarried males." —*Zukerman*

(3) **निवास स्थान**—परिवार के समस्त सदस्यों के निवास की कोई-न-कोई एक सामान्य व्यवस्था अवश्य होती है, जहाँ परिवार के सभी लोग मिल-जुलकर रहते हैं। परिवार का अपना निवास-स्थान होना आवश्यक है, जहाँ सुरक्षा तथा जीवन की अन्य सुविधाएँ उपलब्ध हों। व्यवस्थित जीवन का नाम ही परिवार है तथा यह व्यवस्थित जीवन एक निश्चित निवास-स्थान के अभाव में अत्यधिक दुर्लभ होता है।

(4) **सार्वभौमिकता**—परिवार की उपस्थिति सार्वभौमिक है। कोई समाज चाहे वह प्राचीन हो अथवा आधुनिक, ग्रामीण अथवा नगरीय, सभी में परिवार देखने को मिलेगा। प्रत्येक व्यक्ति किसी-न-किसी परिवार का सदस्य है तथा भविष्य में भी रहेगा। सामाजिक विकास के समस्त स्तरों पर परिवार देखने को मिलते हैं। यहाँ तक कि अनेक पशुओं में भी परिवार पाये जाते हैं।

(5) **सीमित आकार**—समाज में पाये जाने वाले सभी समुदायों में परिवार का आकार अत्यधिक सीमित होता है। इसके सदस्यों की संख्या अधिकतम दस-पन्द्रह होती है। संयुक्त परिवारों में यह संख्या अधिक भी हो सकती है लेकिन वर्तमान काल में संयुक्त परिवार प्रथा प्रायः लुप्त होती जा रही है।

(6) **सामाजिक, आर्थिक सुरक्षा तथा नागरिक कार्य**—परिवार अपने सदस्यों को सामाजिक, आर्थिक एवं भौतिक सुरक्षा प्रदान करता है। इसके साथ ही परिवार द्वारा अपने सदस्यों को प्रेम, सहानुभूति, सहनशीलता तथा त्याग इत्यादि आदर्श नागरिकता हेतु आवश्यक गुण भी प्रदान किये जाते हैं।

(7) **स्थायी एवं अस्थायी**—परिवार एक प्राचीन तथा स्वाभाविक समुदाय है। परिवार को स्थयी माना गया है क्योंकि अनादिकाल से वर्तमान युग तक इसका अस्तित्व चला आ रहा है। तलाक, मृत्यु एवं पृथक्करण इत्यादि के द्वारा परिवार की सदस्यता का त्याग किया जा सकता है। अतः इस दृष्टिकोण से इसे अस्थायी कहा जा सकता है अर्थात् परिवार स्थायी एवं अस्थायी दोनों ही हैं।

(8) **भावात्मक आधार**—परिवार के समस्त सदस्य भावात्मक बन्धनों से बँधे होते हैं। माता-पिता तथा बच्चों के मध्य त्याग एवं वात्सल्य की भावना पाई जाती है। पति-पत्नी में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। प्रेम, सहयोग, दया, सहिष्णुता, त्याग, बलिदान इत्यादि की भावनाएँ पारिवारिक संगठन को मजबूत आधार प्रदान करती हैं।

परिवार के उक्त लक्षणों का अध्ययन करने के उपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि "परिवार एक ऐसा स्वाभाविक अथवा प्राकृतिक समुदाय है जो रक्त सम्बन्ध तथा नैतिकता के आधार पर संगठित हो, जिसका निर्माण वैवाहिक सम्बन्धों द्वारा हुआ हो तथा जो एक निश्चित निवास-स्थान पर रहते हुए अपने सदस्यों की आर्थिक एवं सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था करता हो।"

परिवार के प्रकार अथवा वर्गीकरण
(KINDS OR CLASSIFICATION OF FAMILY)

परिवार अनेक प्रकार के होते हैं। इनको निम्नलिखित आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) **वंश की प्रधानता के आधार पर**—वंश के आधार पर परिवार को अग्र दो रूपों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) मातृसत्तात्मक (Matriarchal) परिवार—इस प्रकार के परिवार में सत्ता माता अथवा महिला में निहित होती है, विवाह के पश्चात् पति, पत्नी के घर जाकर रहता है तथा वंश माता के नाम से चलता है।

(ब) पितृसत्तात्मक (Patriarchal) परिवार—इस प्रकार के परिवारों में सत्ता एवं अधिकार पिता अथवा पुरुषों के हाथ में होते हैं। विवाह के पश्चात् पत्नी, पति के घर जाकर रहती है तथा पुत्र पिता का वंश नाम ग्रहण करते हैं। वर्तमान में अधिकांशतया इसी प्रकार के परिवार पाये जाते हैं।

परिवार के प्रकार अथवा वर्गीकरण
* वंश की प्रधानता के आधार पर
* विवाह के आधार पर
* संगठन के आधार पर
* आधुनिक आधार पर

(2) विवाह के आधार पर—विवाह के आधार पर परिवार को निम्न तीन रूपों में वर्गीकृत किया जा सकता है—

(अ) एक-विवाही (Monogamous) परिवार—एक पुरुष तथा एक महिला के मिलन से जिस परिवार का निर्माण हो वह एक-विवाही परिवार कहलाता है। इसमें पति-पत्नी एवं उनके अविवाहित बच्चे होते हैं।

(ब) बहु-विवाही परिवार—ऐसे परिवारों में एक समय में एक से अधिक जीवन साथी स्वीकृत होते हैं। इनके निम्न दो रूप हैं—

(i) बहु-पत्नी (Polygamous) परिवार—जब एक पुरुष को एक समय में एक से अधिक महिलाओं से विवाह करने की स्वीकृति होती है तो उसे बहु-पत्नी परिवार कहते हैं। मुसलमानों में एक पुरुष को चार पत्नियाँ तक रखने की स्वीकृति है।

(ii) बहु-पति (Polyandrous) परिवार—जब एक महिला एक समय में एक से अधिक पुरुषों से विवाह करती हो तो उसे बहु-पति परिवार कहते हैं।

(स) समूह-विवाही (Punaluan) परिवार—जब अनेक पुरुष अथवा भाई मिलकर महिलाओं के एक समूह से विवाह करें तथा सभी पुरुष समान रूप से समस्त महिलाओं के पति हों तो यह समूह-विवाही परिवार कहलायेगा।

(3) संगठन के आधार पर—संगठन के आधार पर परिवार को दो प्रकार से वर्गीकृत किया जा सकता है—

(अ) एकाकी अथवा व्यक्तिगत (Single) परिवार—व्यक्तिगत परिवार, परिवार का सबसे छोटा रूप है जो एक पुरुष, महिला तथा उसके आश्रित बच्चों से मिलकर बना होता है। इस प्रकार के परिवार में अन्य नाते-रिश्तेदारों को सम्मिलित नहीं किया जाता।

(ब) संयुक्त (Joint) परिवार—"संयुक्त परिवार में तीन अथवा तीन से अधिक पीढ़ियों के सदस्य एक-साथ एक ही घर में रहते हैं।" एक संयुक्त परिवार में दादा-दादी, माता-पिता, चाचा-चाची, चचेरे भाई एवं उनकी पत्नियाँ एवं बच्चे, विधवा बहिनें एवं बेटियाँ होती हैं।

(4) आधुनिक आधार पर—आधुनिक वर्तमान काल में परिवार को निम्न दो वर्गों में विभक्त किया जा सकता है—

(अ) सीमित (Limited) अथवा छोटा (Small) परिवार—इस परिवार में बच्चों की संख्या कम होती है। इस प्रकार के परिवार में दो बच्चों को आदर्श माना जाता है।

(ब) बड़ा (Big) परिवार—बड़े परिवार का आशय संयुक्त परिवार से न होकर एक ही व्यक्ति के काफी अधिक बच्चों से है।

सीमित परिवार की अवधारणा
(CONCEPT OF A LIMITED FAMILY)

भारतीय समाज में परम्परागत रूप से दो प्रकार के परिवार—(i) संयुक्त परिवार तथा (ii) व्यक्तिगत परिवार रहे हैं। लेकिन वर्तमान काल में परिवार का एक अन्य दृष्टि से भी वर्गीकरण किया गया है। इस वर्गीकरण के आधार पर परिवार के दो वर्ग—(i) सीमित परिवार अथवा छोटा परिवार तथा (ii) बड़ा परिवार हैं। यहाँ पर बड़े परिवार से हमारा आशय संयुक्त परिवार से न होकर एक ही व्यक्ति की अधिक सन्तानों से है।

सीमित परिवार का अर्थ—सीमित परिवार वह परिवार होता है जिसमें बच्चों की संख्या कम होती है अर्थात् इतनी होती है कि सीमित साधनों से उनका पालन-पोषण भली-भाँति हो सके तथा उनके विकास हेतु समस्त साधन उपलब्ध कराये जा सकें। आधुनिक काल में सीमित परिवार की संकल्पना में दो बच्चों को आदर्श माना जाता है।

पुराने समय में एक बड़ा परिवार गौरव एवं सम्मान का प्रतीक माना जाता था। लेकिन अब तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण अनेक समस्याएँ उठ खड़ी हुई हैं जिससे बड़े परिवार की अवधारणा बदल चुकी है तथा सीमित अथवा छोटे परिवार को आदर्श परिवार माना जाने लगा है। सीमित परिवार की अवधारणा में इस रूढ़िगत विचार को अस्वीकृत कर दिया गया है कि बच्चे भगवान की देन होने के कारण उन पर नियन्त्रण लगाना अनुचित है।

भारतीयों की यह परम्परागत धारणा थी कि पुत्र का जन्म होना शुभ तथा पुत्री का जन्म होना अशुभ है। अतः जिस परिवार में प्रारम्भ में पुत्री पैदा होती है वह पुत्र प्राप्ति की आशा में निरन्तर सन्तान पैदा करता चला जाता है। इसके परिणामस्वरूप परिवार के सदस्यों की संख्या लगातार बढ़ती चली जाती है। सीमित परिवार की धारणा इस बात पर बल देती है कि पुत्र तथा पुत्री दोनों का ही समान रूप से महत्त्व है। अतः दो या तीन बच्चे होने के बाद सन्तान उत्पत्ति पर रोक लगा देनी चाहिए।

वर्तमान में विश्व के समस्त राष्ट्र बढ़ती जनसंख्या के दुष्परिणामों से पीड़ित हैं। इसी कारण सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाने पर जोर दिया जा रहा है। चीन में तो 'एक दम्पत्ति, एक सन्तान' की धारणा पर बल दिया जा रहा है।

सीमित परिवार की आवश्यकता तथा महत्त्व
(NECESSITY AND IMPORTANCE OF LIMITED FAMILY)

सीमित परिवार की धारणा को अपनाने की आवश्यकता तथा महत्त्व को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) सम्पूर्ण राष्ट्र तथा समाज के हित में आवश्यक—भारत के समक्ष दो महत्त्वपूर्ण समस्याएँ हैं—गरीबी तथा बेरोजगारी। 1971 के जनगणना आँकड़ों के अनुसार भारत की जनसंख्या 54·8 करोड़ थी जो 1981 में 68·4 करोड़ तथा 1991 की जनगणना के अनुसार 84·6 करोड़ हो गयी। 11 मई, 2000 को भारत की जनसंख्या 100 करोड़ (एक अरब) हो चुकी है। जनसंख्या के इस विस्फोट ने न केवल गरीबी तथा बेरोजगारी बल्कि जीवन के विविध क्षेत्रों में अनेक गम्भीर समस्याओं को उत्पन्न कर दिया है। आगे चलकर यह स्थिति महान् संकट का कारण बनेगी। कृषि तथा अन्य प्राकृतिक संसाधनों को दृष्टिगत रखते हुए भारत में यह जनसंख्या अधिक है तथा गरीबी, बेरोजगारी तथा अन्य गम्भीर समस्याओं का आंशिक रूप से समाधान करने के लिए जनसंख्या वृद्धि पर कठोर नियन्त्रण आवश्यक है। यह नियन्त्रण तभी प्रभावी होगा जब सीमित परिवार की अवधारणा को अंगीकार कर लिया जाए।

(2) अच्छे स्वस्थ शरीर के दृष्टिकोण से उचित—इस अवधारणा को अंगीकार करना शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से भी तर्कसंगत है। अधिक बच्चों को जन्म देना माता तथा बच्चे, दोनों के स्वास्थ्य की दृष्टि से हानिकारक है। उल्लेखनीय है कि वर्तमान काल में स्थिति यह है कि संसार के विकसित देशों में प्रति व्यक्ति को दैनिक खुराक,3000 कैलोरी से भी अधिक प्राप्त होती है। रोडेशिया, मिस्र, टर्की तथा यूनान जैसे विकासशील देशों में भी एक व्यक्ति औसतन 2600 कैलोरी भोजन में ग्रहण करता है लेकिन भारत में यह औसत सबसे कम लगभग 2145 कैलोरी प्रति दिन प्रति व्यक्ति आता है। शारीरिक स्वास्थ्य का आधार पौष्टिक भोजन है तथा भारत जैसे विकासशील देश में सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाकर ही समस्त जनसंख्या हेतु पौष्टिक भोजन उपलब्ध कराया जा सकता है।

सीमित परिवार की आवश्यकता तथा महत्त्व

* सम्पूर्ण राष्ट्र तथा समाज के हित में आवश्यक
* अच्छे स्वस्थ शरीर के दृष्टिकोण से उचित
* सुदृढ़ आर्थिक स्थिति
* विकास के अधिक अवसर
* नागरिक सम्बन्धी दायित्वों का उचित सम्पादन

(3) सुदृढ़ आर्थिक स्थिति—स्वस्थ परिवार का प्रमुख लक्षण सुदृढ़ आर्थिक स्थिति है। परन्तु इसे तभी प्राप्त किया जा सकता है जब प्रत्येक दम्पत्ति सीमित परिवार की अवधारणा को अपनायें।

(4) विकास के अधिक अवसर—आज के बच्चे ही कल देश के कर्णधार होंगे। अतः इनके व्यक्तित्व का समुचित विकास होना परमावश्यक है। यह विकास तभी सम्भव है जब माता-पिता बच्चों के विकास की ओर पूर्ण ध्यान केन्द्रित रखें तथा साथ ही परिवार प्रचुर मात्रा में आर्थिक साधन-सम्पन्न हो। उक्त दोनों स्थितियों की उपलब्धि तभी सम्भव है जब सीमित परिवार की अवधारणा को अपना लिया जाय।

(5) नागरिक सम्बन्धी दायित्वों का उचित सम्पादन—परिवार अपने सदस्यों—प्रमुख रूप से बच्चों को प्रेम, सहयोग, त्याग, सहिष्णुता, नैतिकता तथा सदाचार इत्यादि की शाश्वत शिक्षा देता है। परन्तु आज समाज में जो असामाजिक प्रवृत्तियों वाले लोग पाये जाते हैं उसका प्रमुख कारण बचपन में उन्हें उचित प्रेम न मिलना तथा संस्कार विहीन लालन-पालन है। ऐसी स्थिति के पीछे बच्चों का अधिक संख्या में होना तथा उनकी शिक्षा की तरफ उचित ध्यान न देना है। परिवार नागरिकता सम्बन्धी दायित्वों का उचित निर्वाह तभी कर सकता है जब सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाया जाये।

सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाये जाने के उपाय अथवा विधियाँ
(MEASURES FOR A LIMITED FAMILY)

जन साधारण सीमित परिवार की धारणा को व्यापक रूप से अपना ले, इस दृष्टि से निम्नलिखित उपाय किये जा सकते हैं—

(1) शिक्षा का व्यापक प्रसार—1991 की जनगणना के अनुसार भारत में सिर्फ 52·21% व्यक्ति साक्षर हैं। इस दृष्टि से यह आवश्यक है कि अधिकांश जनता को शिक्षित बनाया जाये। शिक्षित लोग ही अज्ञानता तथा अन्धविश्वासों से दूर रहकर सीमित परिवार के महत्त्व को समझ सकते हैं।

(2) **परिवार नियोजन के साधनों का प्रचार**—आम जनता में परिवार नियोजन के साधनों को अपनाने के बारे में अनेक भ्रान्तियाँ हैं। अतः इन भ्रान्तियों को दूर करने के लिए इन साधनों के प्रयोग की उपादेयता के बारे में सघन एवं समुचित प्रचार किया जाना आवश्यक है।

सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाये जाने के उपाय अथवा विधियाँ

* शिक्षा का व्यापक प्रसार
* परिवार नियोजन के साधनों का प्रचार
* विवाह की आयु
* बाल विवाह पर रोक
* असीमित सन्तान वृद्धि पर रोक
* आत्म-संयम को प्रोत्साहन
* सामाजिक चेतना का विकास
* मनोरंजन के साधनों की उचित व्यवस्था
* बाल श्रमिकों पर प्रतिबन्ध

(3) **विवाह की आयु**—कानून बनाकर विवाह की न्यूनतम आयु बढ़ाकर लड़कियों के लिए 21 वर्ष तथा लड़कों के लिए 24 वर्ष की जानी चाहिए। ऐसा करने से 20 वर्ष की अवधि में जन्म दर 33 से घटकर 24 हो जायेगी।

(4) **बाल विवाह पर रोक**—बाल विवाह को दण्डनीय अपराध माना जाना चाहिए। व्यक्ति को इस बात का आभास कराया जाना चाहिए कि बाल विवाह जहाँ बच्चों के जीवन से खिलवाड़ है वहीं सामाजिक व्यवस्था के नाम पर कलंक है।

(5) **असीमित सन्तान वृद्धि पर रोक**—परिवार में दो बच्चे होने के बाद सन्तानोत्पत्ति पर कानूनी रोक लगाई जानी चाहिए। यह पाबन्दी देश हित में समस्त जातियों तथा वर्गों पर समान रूप से लागू की जानी चाहिए। इसमें सामाजिक अथवा धार्मिक अन्ध-विश्वासों को बाधक नहीं बनने देना चाहिए। इसके क्रियान्वयन हेतु दो बच्चों के बाद अनिवार्य नसबन्दी की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(6) **आत्म-संयम को प्रोत्साहन**—परिवारों को सीमित अथवा नियोजित रखने का सर्वश्रेष्ठ उपाय आत्म-संयमी जीवन है। अतः इस बात का समुचित प्रचार किया जाना चाहिए कि अच्छे स्वास्थ्य, अच्छी कार्यक्षमता, अच्छे पारिवारिक जीवन तथा देश के सुखद भविष्य के लिए संयमी जीवन की कितनी अधिक उपयोगिता है।

(7) **सामाजिक चेतना का विकास**—समाज में प्रचलित गलत धारणाओं—उदाहरणार्थ, लड़की को बुरा व लड़के को अच्छा समझना, सन्तति निरोध को धर्म-विरुद्ध मानना इत्यादि के विरुद्ध समाज में जागरूकता पैदा की जानी चाहिए। लड़का-लड़की के मध्य सामाजिक भेद समाप्त किये जाने चाहिए जिससे पुत्र प्राप्ति की आशा में बच्चों की संख्या न बढ़ाई जाये।

(8) **मनोरंजन के साधनों की उचित व्यवस्था**—मनोरंजन के साधनों का अभाव सीमित परिवार के लक्ष्य की प्राप्ति के मार्ग की एक बाधा है। अतः इस बात की आवश्यकता है कि ग्रामीण और शहरी क्षेत्रों में कृषकों तथा मजदूरों हेतु मनोरंजन के साधनों की समुचित व्यवस्था, उपलब्ध की जाय। सन्तानोत्पत्ति से उनका ध्यान हटाने में मनोरंजन के साधन बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

(9) **बाल श्रमिकों पर प्रतिबन्ध**—बाल श्रमिकों से अधिक सन्तानोत्पत्ति को प्रोत्साहन मिलता है। अतः इस प्रथा पर कानूनी रोक लगाई जानी चाहिए ताकि बच्चों की असीमित वृद्धि रुके तथा सीमित परिवार की भावना को प्रोत्साहन मिले।

वर्तमान में इस बात की विशेष आवश्यकता है कि सीमित परिवार की अवधारणा को अपनाने हेतु सभी स्तरों पर प्रभावशाली तथा तेज गति से कदम उठाये जायें।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. परिवार से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—व्यक्ति की प्रतिदिन की जरूरतों की पूर्ति हेतु स्थापित समुदाय को परिवार कहते हैं।

प्रश्न 2. फैमिली शब्द का उद्गम किससे हुआ?

उत्तर—लैटिन शब्द फेमलस से हुआ।

प्रश्न 3. परिवार के दो लक्षण बताइए। (1988)

उत्तर—(i) रक्त सम्बन्ध तथा (ii) वैवाहिक सम्बन्ध।

प्रश्न 4. आदर्श परिवार के दो गुणों (विशेषताओं) का उल्लेख कीजिए। (1990)

उत्तर—(i) अनुशासन एवं आज्ञापालन तथा (ii) त्याग तथा सहयोग की भावना।

प्रश्न 5. परिवार के दो कार्य लिखिए। (1988, 91)

उत्तर—(i) जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति तथा (ii) व्यक्ति के सामाजिक जीवन को सफल बनाना।

प्रश्न 6. संगठन के आधार पर परिवार को किस रूप में वर्गीकृत किया जाता है?

उत्तर—(i) व्यक्तिगत परिवार तथा (ii) संयुक्त परिवार।

प्रश्न 7. संयुक्त परिवार के दो लाभ बताइए। (1997, 2000)

उत्तर—(i) व्यय में बचत तथा (ii) संयुक्त शक्ति।

प्रश्न 8. सुखी परिवार के लिए दो आवश्यक शर्तें लिखिए। (1993)

उत्तर—(i) परिवार सीमित हो तथा (ii) परिवार की आर्थिक स्थिति सन्तोषजनक हो।

प्रश्न 9. सीमित परिवार का क्या अर्थ है?

उत्तर—सीमित परिवार का अर्थ—परिवार को दो बच्चों तक सीमित रखना है ताकि परिवार के सभी सदस्य आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से सुखी रहें।

प्रश्न 10. सीमित परिवार के पक्ष में दो तर्क दीजिए। (1997, 2000)

उत्तर—(i) देश में व्याप्त भुखमरी, बेकारी तथा बीमारी जैसी भयानक बुराइयों का अन्त होता है तथा (ii) सामाजिक कुरीतियों का निराकरण होता है।

प्रश्न 11. सीमित परिवार को किस प्रकार का परिवार माना जाता है?

उत्तर—आदर्श परिवार।

प्रश्न 12. वर्तमान में भारत की अनुमानित जनसंख्या कितनी है ?

उत्तर—11 मई, 2000 को भारत की अनुमानित जनसंख्या 1 अरब (100 करोड़) हो गयी है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. परिवार का आशय स्पष्ट करते हुए इसके विभिन्न लक्षणों पर प्रकाश डालिए।
2. परिवार से आप क्या समझते हैं? परिवार कितने प्रकार के होते हैं?
3. सीमित परिवार की अवधारणा पर एक निबन्ध लिखिए। (1991, 92, 94)
4. सीमित परिवार से आप क्या समझते हैं ? इसके गुणों का वर्णन कीजिए। (1996)
5. भारत जैसे देश में सीमित परिवार की आवश्यकता और महत्व को स्पष्ट कीजिए।
6. परिवार को सीमित अथवा छोटा रखने हेतु किन-किन उपायों अथवा विधियों को अपनाया जा सकता है ?
7. सीमित परिवार से आप क्या समझते हैं? वर्तमान युग में सीमित परिवार के गुणों की विवेचना कीजिए। (2000)

4

नागरिक एवं नागरिकता
[CITIZEN AND CITIZENSHIP]

"नागरिक वह है जो राज्य के प्रति भक्ति रखता हो, जिसे सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों और जो जन-सेवा की भावना से प्रेरित हो।"

—ए. के. सीयू

"कर्त्तव्य के उचित क्रम निर्धारण का नाम ही नागरिकता है।"[1]

—डॉ. विलियम बॉयड

नागरिक का अर्थ
(MEANING OF CITIZEN)

'नागरिक' शब्द अंग्रेजी भाषा के 'सिटीजन' (citizen) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। नागरिक का शाब्दिक अर्थ 'नगर निवासी' होता है लेकिन वर्तमान काल में 'नागरिक' शब्द व्यापक अर्थ में लिया जाता है। नागरिकशास्त्र की दृष्टि से नागरिक ऐसे व्यक्तियों को कहा जा सकता है जिन्हें राज्य की ओर से समस्त नागरिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान किये गये हों तथा जो उस राज्य के प्रति विशेष भक्ति रखते हों।

नागरिक की परिभाषा
(DEFINITION OF CITIZEN)

नागरिक की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

अरस्तू के शब्दों में, "एक नागरिक वह है जिसे राज्य के शासन में कुछ भाग प्राप्त हो तथा जो राज्य द्वारा प्रदान किये गए सम्मान का उपभोग करता हो।"[2]

अरस्तू की उक्त परिभाषा आधुनिक काल में अपूर्ण है क्योंकि वर्तमान में नगर राज्यों का स्थान विशाल राज्यों ने ले लिया है। परिणामस्वरूप 'नागरिक' शब्द का अर्थ अत्यधिक व्यापक हो गया है।

श्रीनिवास शास्त्री के मतानुसार, "नागरिक वह व्यक्ति है जो एक राज्य का सदस्य हो तथा जो सम्पूर्ण समाज के उच्चतम नैतिक हित की वृद्धि के साधनों को बुद्धिमानी से समझकर राज्य की सीमा में ही अपने कर्त्तव्य-पालन तथा अपने उच्चतम विकास हेतु प्रयत्नशील रहे।"

---

1 "Citizenship consists in the right ordering of loyalties." —*Dr. William Boyd*

2 "A citizen is one who has a share in the government of the state and is entitled to enjoy its honours." —*Aristotle*

वाटल ने नागरिक को परिभाषित करते हुए कहा है, "नागरिक समाज के वे सदस्य होते हैं जो कुछ विशेष कर्त्तव्यों द्वारा समाज से बँधे हों जो समाज के नियन्त्रण में रहते हों तथा जो समाज द्वारा प्रस्तुत सुविधाओं का लगातार उपभोग करते हों।"[1]

गैटिल के अनुसार, "नागरिक समाज के वे सदस्य हैं जो कुछ कर्त्तव्यों द्वारा समाज से बँधे रहते हैं, जो उसके प्रभुत्व को मानते हैं तथा उससे समान रूप से लाभ उठाते हैं।"

एच. जे. लास्की के शब्दों में, "नागरिक सिर्फ समाज का ही एक सदस्य नहीं है अपितु वह कुछ कर्त्तव्यों का यान्त्रिक रूप से पालन करने वाला तथा आज्ञाओं को बुद्धिमत्तापूर्ण ग्रहण करने वाला अनुयायी भी है।"[2]

मिलर के शब्दों में, "नागरिक राजनीतिक समाज के वे सदस्य होते हैं जिनसे मिलकर राज्य का निर्माण होता है तथा जिन्होंने व्यक्तिगत तथा सामूहिक अधिकारों की रक्षा हेतु सरकार की स्थापना की है।"[3]

नागरिक के लक्षण—उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर नागरिक के निम्नलिखित लक्षण अथवा विशेषताएँ स्पष्ट होती हैं—

(1) वह राज्य का सदस्य हो।

(2) उसे सभी सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों।

(3) वह राज्य की सीमा के भीतर रहता हो, चाहे वह नगर निवासी हो अथवा ग्रामवासी।

(4) वह राज्य की सम्प्रभुता को स्वीकार करता हो तथा राज्य में पूर्ण निष्ठा एवं भक्ति रखता हो।

(5) उसका उद्देश्य व्यक्तिगत तथा सामूहिक हितों की रक्षा करना हो।

(6) उसे मताधिकार प्राप्त हो।

नागरिकों के प्रकार
(KINDS OF CITIZENS)

प्रत्येक राज्य में दो प्रकार के व्यक्ति निवास करते हैं—(i) नागरिक तथा (ii) विदेशी। सर्वप्रथम हम नागरिक को वर्गीकृत करेंगे।

किसी देश के नागरिक को निम्नलिखित चार श्रेणियों में विभाजित कर सकते हैं—

(1) **अल्प-वयस्क नागरिक**—ये एक निश्चित आयु से कम आयु के व्यक्ति होते हैं। ऐसे नागरिकों को समस्त प्रकार के अधिकार प्राप्त होते हैं लेकिन निर्धारित आयु के पूर्व वे अपने राजनीतिक अधिकारों का उपयोग नहीं कर सकते हैं। भारत में 18 वर्ष की आयु से कम के व्यक्ति इस श्रेणी में आते हैं।

(2) **मताधिकार रहित वयस्क नागरिक**—ये वे नागरिक होते हैं जो निर्धारित आयु पूर्ण करने के बाद भी शारीरिक एवं मानसिक अयोग्यताओं के कारण मत देने के अधिकार

---

1 "Citizens are the members of the civilized society bound to this society by certain duties, subjected to its authority and equal participation in its advantages." —*Vattal*

2 "A citizen is one who is not only a member of civil society but an intelligent follower of orders and performer of certain mechanical duties." —*H. J. Laski*

3 "Citizens are the members of the political community to which they belong. They are the people who compose the state and who in their associated capacity have established government for the protection of individual and colletive rights." —*Miller*

से वंचित कर दिये जाते हैं। उदाहरणार्थ—कोढ़ी, पागल, दिवालिया व देशद्रोही इत्यादि। इन्हें सिर्फ सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं।

(3) **मताधिकार प्राप्त वयस्क नागरिक**—इस श्रेणी में वे नागरिक आते हैं जो चारों शर्तों को पूरा करते हों। अर्थात् वह राज्य के सदस्य हों, उन्हें सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त हों, उन्हें मताधिकार प्राप्त हो तथा उनमें राज्य के प्रति भक्ति प्रदर्शन की भावना हो।

(4) **देशीयकृत नागरिक**—इस श्रेणी में वह नागरिक आते हैं जो पूर्व में किसी अन्य देश अथवा राज्य के नागरिक थे लेकिन किसी देश में बहुत दिनों तक रहने एवं कुछ शर्तों को पूरा करने पर राज्य की ओर से उन्हें राजनीतिक एवं सामाजिक अधिकार दे दिये गये हों।

विदेशी (Aliens)

विदेशी वह व्यक्ति है जो अस्थायी अथवा स्थायी रूप से उस राज्य में निवास करता है जिसका कि वह सदस्य नहीं है। कोई भी व्यक्ति किसी देश में विदेशी उस समय कहा जा सकता है जब वह अल्पावधि हेतु किसी कार्यवश अपना देश छोड़कर दूसरे देश में रहने के लिए आया हो। कोई व्यक्ति व्यापार करने, शिक्षा प्राप्त करने अथवा घूमने के लिए दूसरे देश में आता है और जितने समय तक अपना देश छोड़कर बाहर रहता है उतने समय तक उस राज्य में विदेशी कहा जाता है। उसे उस देश के राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं तथा न ही वह उस राज्य के प्रति भक्तिभाव रखता है। वह तो उस राज्य के प्रति भक्तिभाव रखता है जिसका कि वह सदस्य है। इस प्रकार विदेशी वह व्यक्ति है जो सिर्फ सामाजिक अधिकारों का उपयोग करता है। एक विदेशी को जीवन एवं सम्पत्ति की रक्षा एवं कुछ सामान्य सामाजिक अधिकार तो प्राप्त होते हैं लेकिन अन्य सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते। इन अधिकारों की प्राप्ति के बदले विदेशियों को सम्बन्धित देश के कानून का पूर्णतया पालन करना होता है।

विदेशियों के प्रकार—उद्देश्य के आधार पर विदेशियों को निम्नलिखित तीन वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) **स्थायी विदेशी**—ऐसे विदेशी जो अपना पूर्व देश छोड़कर किसी ऐसे देश में आ गये हों जहाँ वे स्थायी रूप से रहना चाहते हों तथा नागरिकता प्राप्ति की शर्तों को पूरा कर रहे हों, निवासी विदेशी कहलाते हैं। नागरिकता प्राप्ति की प्रक्रिया द्वारा ये विदेशी उस देश के नागरिक बन जाते हैं।

(2) **अस्थायी विदेशी**—अस्थायी विदेशी विशेष कारण से अपना देश छोड़कर अल्पावधि हेतु दूसरे देश में आकर रहते हैं तथा अपना कार्य पूर्ण करके स्वदेश लौट जाते हैं। समान्यतया इनका उद्देश्य शिक्षा, भ्रमण अथवा व्यापार होता है।

(3) **राजदूत अथवा कूटनीतिक प्रतिनिधि**—विदेशियों का एक अन्य विशिष्ट प्रकार अन्य राज्यों के प्रतिनिधियों का होता है जिसे राजदूत अथवा कूटनीतिक प्रतिनिधि कहा जाता है। इनमें राजदूत के कार्यालय के कर्मचारी भी सम्मिलित होते हैं। इन पर उस राज्य के ही कानून लागू होते हैं जिनका वह प्रतिनिधित्व करते हैं। इस श्रेणी के विदेशियों को पत्राचार, यातायात इत्यादि के सम्बन्ध में विशेष सुविधाएँ तथा छूटें (उन्मुक्तियाँ) प्राप्त होती हैं।

नागरिक तथा विदेशी में अन्तर

(DIFFERENCE BETWEEN A CITIZEN AND AN ALIEN)

नागरिक तथा विदेशी में प्रमुख रूप से निम्न अन्तर अथवा भेद हैं—

नागरिक	विदेशी
1. नागरिक राज्य का स्थायी सदस्य होता है।	1. विदेशी राज्य का अस्थायी सदस्य होता है।
2. नागरिक को राज्य से सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्राप्त होते हैं।	2. विदेशी को राजनीतिक अधिकार प्राप्त नहीं होते हैं। उसे सिर्फ सामाजिक अधिकार प्राप्त होते हैं।
3. यह राज्य द्वारा प्रदत्त मौलिक अधिकारों का उपभोग करने का अधिकारी होता है।	3. विदेशी मौलिक अधिकारों का उपभोग नहीं कर सकता।
4. नागरिक अपनी अचल सम्पत्ति क्रय-विक्रय कर सकता है।	4. विदेशी इस अधिकार से वंचित रहते हैं।
5. राज्य नागरिकों को सैनिक-सेवा के लिए विवश कर सकता है।	5. राज्य विदेशियों को सेना में भर्ती होने के लिए बाध्य नहीं कर सकता है।
6. नागरिक अपने राज्य के प्रति अनेक कर्त्तव्यों का पालन करता है।	6. विदेशी राज्य के कुछ कानूनों का पालन अवश्य करता है परंतु वह कर्त्तव्य-पालन के लिए बाध्य नहीं है।
7. जब तक नागरिक कोई बहुत अधिक गम्भीर अपराध न करे तब तक राज्य अपने नागरिक को देश से निर्वासित नहीं कर सकता है।	7. विदेशी को बिना कारण बताये भी देश छोड़ने के लिए बाध्य किया जा सकता है।
8. नागरिक को राज्य की भूमि पर सदैव निवास करने का अधिकार होता है।	8. विदेशी को प्रार्थना करने पर अल्पकाल तक के लिए राज्य में रहने की अनुमति मिलती है।
9. नागरिक अपने राज्य के प्रति पूर्ण भक्ति एवं निष्ठा रखता है, किसी अन्य राज्य के प्रति नहीं।	9. विदेशी उस राज्य के प्रति भक्ति नहीं रखता है जिसमें वह अस्थायी रूप से निवास कर रहा है। वह केवल अपने राज्य के प्रति भक्ति रखता है।
10. नागरिक की रक्षा का ध्यान उस समय भी रखा जाता है जब वह देश से बाहर जाता है।	10. विदेशी अपने देश से बाहर आने पर अपनी रक्षा की आशा नहीं कर सकता है।
11. नागरिक ऐसी शर्तों से मुक्त रहते हैं जो विदेशियों के लिए अनिवार्य होती हैं।	11. विदेशी उस राज्य के अनेक प्रतिबन्धों के बन्धन में रहते हैं।

नागरिक तथा मतदाता
(CITIZEN AND VOTER)

एक राज्य के अन्तर्गत नागरिक तथा मतदाता में भेद (अन्तर) होता है। एक राज्य के समस्त नागरिक मतदाता नहीं होते हैं। मतदाता कौन हो सकता है; यह राज्य के कानूनों द्वारा स्पष्ट किया जाता है। किसी भी देश के अन्तर्गत अवयस्क नागरिक को मतदान का अधिकार प्राप्त नहीं होता है। इसके अलावा, कतिपय राज्यों में धर्म, सम्पत्ति, लिंग एवं शिक्षा के आधार पर भी कुछ नागरिकों को मताधिकार से वंचित किया जाता है। किन्तु आधुनिक समय की प्रवृत्ति इस प्रकार के प्रतिबन्धों के प्रतिकूल है। संयुक्त राज्य अमेरिका, भारत, इंग्लैण्ड, पाकिस्तान तथा फ्रान्स इत्यादि संसार के अधिकांश राज्यों में समस्त वयस्क नागरिकों को मतदान का अधिकार प्राप्त है।

नागरिकता का अर्थ
(MEANING OF CITIZENSHIP)

नागरिकता व्यक्ति की उस स्थिति का नाम है जिसमें उसे नागरिक का स्तर प्राप्त होता है। नागरिकता का निर्माण 'नागरिक' शब्द से हुआ है। यह नागरिक शब्द की भाववाचक संज्ञा है।

वास्तव में, नागरिकता उस 'क्षमता' अथवा 'क़ानूनी हैसियत' (Legal status) का नाम है जिसके कारण मनुष्य को कुछ नागरिक, आर्थिक एवं राजनीतिक अधिकार मिले होते हैं। साथ ही उसे समाज अथवा राज्य द्वारा निर्धारित कर्त्तव्यों का पालन भी करना पड़ता है।

नागरिकता की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF CITIZENSHIP)

नागरिकता की कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

गैटिल के शब्दों में, "नागरिकता किसी व्यक्ति की उस विशेष स्थिति का नाम है जिसके अन्तर्गत व्यक्ति अपने राज्य के सामान्य एवं राजनीतिक अधिकारों का उपयोग कर सकता है तथा कर्त्तव्यों का पालन करने हेतु सदैव प्रस्तुत रहता है।"[1]

डॉ. राम तथा शर्मा के अनुसार, "नागरिकता नागरिक जीवन की वह दशा है जिसमें व्यक्ति को किसी राज्य का सदस्य होने के नाते सामाजिक तथा राजनीतिक दोनों प्रकार के अधिकारों के उपभोग का अवसर प्राप्त होता है।"[2]

लॉस्की के शब्दों में, "अपनी प्रशिक्षित बुद्धि को जनहित में प्रयोग करना ही नागरिकता है।"[3]

डॉ. आशीर्वादी लाल ने नागरिकता को परिभाषित करते हुए कहा है कि "यह सिर्फ राजनीतिक कार्य ही नहीं अपितु एक सामाजिक तथा नैतिक कर्त्तव्य भी है।"[4]

शॉ डेस्मॉण्ड के अनुसार, "नागरिकता सिद्धान्त न होकर जीवन है।"[5]

---

1 "Citizenship is the status of a person by which he enjoys the social and political rights in the society." —*Gettell*

2 "Citizenship is a condition of life which guarantees to the citizen the enjoyment of all the rights, civil as well as political in the state." —*Dr. Ram and Sharma*

3 "Citizenship is the application of human intelligence to human welfare." —*Laski*

4 "Citizenship is not a mere political function, it is a social and moral function as well." —*Dr. Ashirvadi Lal*

5 "Citizenship is not theory but life." —*Shaw Desmonde*

नागरिकता की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF CITIZENSHIP)

नागरिकता की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(1) **राज्य की सदस्यता**—नागरिकता की सर्वप्रथम विशेषता राज्य की सदस्यता है।

(2) **सर्वव्यापकता**—नागरिकता प्रत्येक उस व्यक्ति को प्राप्त होती है जोकि राज्य का निवासी हो, भले ही वह शहर में निवास करता हो अथवा किसी ग्राम में।

(3) **राज्य के प्रति निष्ठा**—नागरिकता में देशभक्ति का गुण होना परमावश्यक है।

(4) **अधिकारों का प्रयोग**—नागरिकता व्यक्ति को राज्य की तरफ से अधिकार प्रदान करती है।

(5) **कर्तव्य पालन**—नागरिकता व्यक्ति को कर्त्तव्य पालन करने के लिए प्रेरित करती है।

नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ
(ACQUIREMENT OF CITIZENSHIP)

विभिन्न देशों में नागरिकता प्राप्त करने की अलग-अलग विधियाँ हैं। नागरिकता प्राप्त करने की समस्त विधियों को दो भागों में विभक्त किया जा सकता है—

(1) **जन्मजात अथवा स्वाभाविक नागरिकता**—इस विधि के द्वारा नागरिकता प्राप्त करने हेतु निम्न तीन सिद्धान्त प्रचलित हैं—

(क) **रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार नागरिकता का निर्धारण रक्त अथवा बालक के वंश के आधार पर होता है। बालक को उसी देश की नागरिकता प्राप्त होती है जिस देश के उसके माता-पिता होते हैं। उदाहरणार्थ, अगर किसी भारतीय दम्पत्ति के बच्चे का जन्म फ्रान्स में होता है तो वह फ्रान्स का नागरिक न होकर भारतीय नागरिक माना जायेगा। इसके विपरीत, यदि किसी बालक का जन्म भारत में होता है और उसके माता-पिता फ्रान्स के नागरिक हैं तो वह बच्चा फ्रान्स का नागरिक माना जायेगा। प्राचीन काल में यूनान, रोम तथा एशियाई देशों में नागरिकता का निर्धारण इसी सिद्धान्त के आधार पर होता था तथा आज भी फ्रान्स, स्वीडन, स्विट्ज़रलैण्ड इत्यादि देशों में यही सिद्धान्त प्रचलित है।

तर्कपूर्ण एवं न्यायसंगत होते हुए भी इस सिद्धान्त में यह दोष है कि जब माता एक देश की हो तथा पिता दूसरे देश का हो तो यह फैसला करना कठिन हो जाता है कि बालक किस देश की नागरिकता प्राप्त करे।

(ख) **जन्म-स्थान का सिद्धान्त**—इस सिद्धान्त के अनुसार बालक की नागरिकता उसके जन्म स्थान के आधार पर निश्चित की जाती है। उदाहरणार्थ, यदि भारत के किसी नागरिक का बच्चा अर्जेण्टाइना की भूमि पर जन्म लेता है तो वह बच्चा वहाँ का नागरिक माना जायेगा। लेकिन इसके विपरीत, यदि अर्जेण्टाइना के नागरिक का बच्चा भारत-भूमि पर अथवा अन्य किसी राज्य में जन्म लेता है तो वह स्वदेश की नागरिकता से वंचित रह जायेगा। यद्यपि यह सिद्धान्त अर्जेण्टाइना में प्रचलित है लेकिन वहाँ की अपेक्षा यह इंग्लैण्ड में अधिक व्यापक है। वहाँ तो यदि कोई बच्चा इंग्लैण्ड के जहाज में भी पैदा होता है तो वह इंग्लैण्ड का नागरिक माना जाता है।

इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष यह है कि यदि कोई दम्पत्ति विश्व भ्रमण के लिए निकले तो हो सकता है कि उसकी एक सन्तान जापान में हो, दूसरी भारत में तथा तीसरी संयुक्त

राज्य अमेरिका में। ऐसी दशा में जन्म-स्थान नियम के अनुसार तीनों बच्चे अलग-अलग देशों के नागरिक होंगे तथा उन्हें अपने माता-पिता के देश की नागरिकता प्राप्त नहीं होगी।

(ग) मिश्रित अथवा दोहरा सिद्धान्त—संसार में कुछ ऐसे देश भी हैं जिनमें रक्त सिद्धान्त एवं जन्म-स्थान सिद्धान्त दोनों को मिलाकर नागरिकता का निर्धारण किया जाता है। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में मिश्रित सिद्धान्त प्रचलित है। इस सिद्धान्त के अनुसार अमेरिकन तथा अंग्रेज माता-पिता से उत्पन्न बच्चों को, चाहे उनका जन्म इन देशों में हुआ हो अथवा किसी अन्य देश में, अपने माता-पिता के देश की ही नागरिकता प्राप्त होगी।

मिश्रित अथवा दोहरे सिद्धान्त के आधार पर नागरिकता प्रदान करने के सम्बन्ध में एकरूपता न होने के कारण व्यवहार में अनेक कठिनाइयाँ पैदा हो जाती हैं। उदाहरणार्थ, फ्रांसीसी माता-पिता कुछ समय के लिए इंग्लैण्ड में रहें तथा वहाँ उनके कोई सन्तान पैदा हो जाये तो उसको फ्रांस तथा इंग्लैण्ड दोनों ही देशों की नागरिकता प्राप्त हो जायेगी। वंश सिद्धान्त के आधार पर वह बालक फ्रांस का नागरिक होगा तथा दोहरे सिद्धान्त के अनुसार वह इंग्लैण्ड का नागरिक माना जायेगा क्योंकि इंग्लैण्ड में दोहरा सिद्धान्त प्रचलन में है तथा वह वहाँ पैदा हुआ है। वयस्क होने के उपरान्त बच्चे के सामने यह समस्या पैदा हो जायेगी कि वह किस देश की नागरिकता ग्रहण करे तथा किस देश की नागरिकता का परित्याग करे।

असल में, मिश्रित सिद्धान्त की तुलना में रक्त अथवा वंश का सिद्धान्त ही अधिक तर्कसंगत है। एक विशेष भूमि पर जन्म सिर्फ संयोग का ही परिणाम होता है। इसे नागरिकता का आधार नहीं माना जा सकता है। भूमि विशेष पर जन्म लेने से ही बालक के हृदय में उस भूमि के प्रति किसी प्रकार की निष्ठा जाग्रत नहीं हो जाती है।

(2) राज्य-प्रदत्त अथवा कृत्रिम नागरिकता—राज्य-प्रदत्त नागरिकता प्राप्त करने के नियम विभिन्न राज्यों में अलग-अलग होते हैं लेकिन साधारणतया अधिकांश देशों में निम्नलिखित नियमों को स्वीकार किया जाता है—

(i) देशीयकरण—यह एक कानूनी प्रक्रिया होती है जिसके द्वारा कुछ निश्चित शर्तें पूरी कर लेने पर व्यक्ति को उस देश विशेष की नागरिकता मिल जाती है। गार्नर के अनुसार, "देशीयकरण का आशय विदेशी को नागरिकता प्रदान करने की किसी भी विधि अथवा प्रणाली से है।"

साधारणतया समस्त देशों में देशीयकरण की विधि एकसमान है। इस प्रक्रिया का प्रारम्भ व्यक्ति के किसी देश की नागरिकता प्राप्त करने की इच्छा से होता है। प्रार्थी आवेदन-पत्र के द्वारा उस देश के प्रति भक्ति की शपथ लेता है तथा देशीयकरण से सम्बन्धित अन्य शर्तों को पूर्ण करता है। सम्बन्धित देश की सरकार द्वारा आवेदन-पत्र पर विचार कर उस व्यक्ति को नागरिकता प्रदान की जा सकती है। देशीयकरण के द्वारा नागरिकता प्राप्त करने की कुछ सामान्य शर्तें निम्न प्रकार हैं—

(क) निश्चित निवास—प्रायः समस्त देशों में ऐसा नियम प्रचलित है कि राज्य के अन्तर्गत निश्चित समय तक रहने पर विदेशी अपने पहले राज्य की नागरिकता त्यागकर वहाँ की नागरिकता ग्रहण करने हेतु आवदेन-पत्र दे तो उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। निवास करने की अवधि विभिन्न देशों में अलग-अलग है।

(ख) देशभक्ति की शपथ—व्यक्ति जिस देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहता है, उसे उस देश के प्रति भक्ति की शपथ लेनी पड़ती है। व्यक्ति द्वारा स्पष्ट घोषणा की जाती

है कि वह उस देश के प्रति निष्ठावान रहेगा तथा उस देश के कानूनों का पूर्णरूपेण पालन करेगा।

(ग) **नागरिकता प्राप्ति की इच्छा**—व्यक्ति को यह स्पष्ट घोषणा करनी पड़ती है कि वह उस देश की नागरिकता प्राप्त करने की इच्छा रखता है क्योंकि कोई भी देश किसी अन्य दूसरे देश के नागरिक पर अपनी नागरिकता को थोप नहीं सकता।

(घ) **राष्ट्रभाषा का ज्ञान**—कुछ देशों में यह नियम है कि जो भी व्यक्ति उस देश की भाषा का ज्ञान रखता हो, सिर्फ उसे ही नागरिकता प्रदान की जा सकती है। संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रभाषा का ज्ञान एक अनिवार्य शर्त है।

(ii) **विवाह द्वारा**—यदि किसी देश की महिला दूसरे देश के पुरुष से विवाह कर ले तो महिला को अपने पति के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। अधिकांश देशों में यही नियम प्रचलित है लेकिन जापान में यह नियम प्रचलित है कि यदि किसी अन्य देश का पुरुष जापानी महिला से विवाह कर ले तो पुरुष को भी जापान की नागरिकता मिल जाती है।

(iii) **गोद लेने से**—यदि कोई व्यक्ति किसी विदेशी बच्चे को गोद ले लेता है तो उस बालक को गोद लेने वाले धर्म-पिता के देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(iv) **सरकारी सेवा**—यदि कोई विदेशी किसी दूसरे देश में सरकारी पद ग्रहण कर लेता है तो उसको वहाँ की नागरिकता मिल जाती है।

(v) **विजय**—यदि कोई देश किसी अन्य देश पर अथवा उस देश के किसी भाग पर विजय प्राप्त कर लेता है तो पराजित देश अथवा जिस पर उसने विजय प्राप्त की है, वहाँ के नागरिकों को विजयी देश की नागरिकता प्राप्त हो जाती है।

(vi) **सम्पत्ति खरीदने पर**—कुछ देशों में यह नियम है कि यदि विदेशी उस देश में भूमि अथवा अचल सम्पत्ति खरीद लेता है तो उसे वहाँ की नागरिकता प्राप्त हो जाती है। दक्षिणी अमेरिका के कुछ देशों जैसे—पीरू तथा मैक्सिको में यह कानून प्रचलित है।

(vii) **विद्वत्ता के आधार पर**—अनेक राज्यों में विदेशी विद्वानों को नागरिकता प्राप्ति के लिए कुछ विशेष सुविधाएँ दी जाती हैं। उदाहरणार्थ, फ्रान्स में इसी प्रकार की व्यवस्था पायी जाती है

(viii) **पुनः नागरिकता की प्राप्ति**—यदि कोई नागरिक अपनी नागरिकता त्यागकर किसी अन्य देश की नागरिकता ग्रहण कर ले तो उसे उस देश का नागरिक समझा जायेगा। लेकिन यदि वह पुनः अपने देश की नागरिकता प्राप्त करना चाहे तो कुछ शर्तों के पूर्ण करने पर उसे नागरिकता प्राप्त हो सकती है।

भारतीय नागरिकता
(INDIAN CITIZENSHIP)

भारतीय नागरिकता का ज्ञान हमें भारतीय संविधान, भारतीय नागरिकता अधिनियम, 1955 और नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 के आधार पर प्राप्त होता है। भारतीय संविधान के दूसरे भाग में अनुच्छेद 5 से 11 तक भारतीय नागरिकता से सम्बन्धित उपबन्ध उल्लिखित हैं। भारत के संविधान में समस्त नागरिकों हेतु इकहरी नागरिकता की व्यवस्था की गई।

भारतीय संविधान के लागू होने के समय नागरिकता की व्यवस्था

भारतीय संविधान के लागू होने के समय (26 जनवरी, 1950) नागरिकता के सम्बन्ध में जिन सामान्य प्रावधानों का निर्धारण किया गया वे अग्र प्रकार थे—

(1) जन्मजात नागरिक—भारतीय संविधान के लागू होने से पूर्व जो लोग भारत में निवास करते थे उनको निम्नलिखित शर्तों के आधार पर भारतीय नागरिकता प्रदत्त की गयी थी—

(क) उनका जन्म अविभाजित भारत के राज्य-क्षेत्र में हुआ हो अथवा

(ख) उनके माता-पिता में से किसी एक का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो अथवा

(ग) वे भारतीय संविधान के लागू होने से न्यूनतम 5 वर्ष पूर्व साधारणतया भारत के राज्यक्षेत्र के निवासी रहे हों।

यदि कोई भारतीय नागरिक स्थायी रूप से किसी अन्य देश में जाकर निवास करने लगा हो तो वह भी उस समय तक भारत का नागरिक माना जायेगा जब तक कि वह स्वयं भारतीय नागरिकता का परित्याग न कर दे।

(2) शरणार्थी नागरिक—भारत विभाजन के पश्चात् जो व्यक्ति पाकिस्तान से भारत आए उनको शरणार्थी कहकर सम्बोधित किया गया है। भारतीय संविधान लागू होने के समय इनको भी निम्नलिखित शर्तों के आधार पर भारतीय नागरिक माना गया—

(क) यदि वे स्वयं अविभाजित भारत में पैदा हुए हों। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अविभाजित भारत में रियासतें भी सम्मिलित की गई थीं।

(ख) यदि उनके माता-पिता में से कोई एक अथवा दादा-दादी अथवा नाना-नानी में से कोई एक अविभाजित भारत में पैदा हुआ हो।

(ग) वे शरणार्थी जो 19 जुलाई, 1948 तक भारत आ गए हों और उसके पश्चात् साधारणतया भारत में ही रहने लगे हों।

(घ) वे शरणार्थी जो 19 जुलाई, 1948 के पश्चात् पाकिस्तान से भारत आए हों और जिन्होंने भारत सरकार द्वारा नियुक्त पदाधिकारी को प्रार्थना-पत्र देकर 24 जुलाई, 1950 से पहले अपना नाम भारत में पंजीकृत करा लिया हो। लेकिन ऐसे लोगों का पंजीकरण उसी दशा में किया जा सकता था जबकि वह प्रार्थना-पत्र देने की तिथि से न्यूनतम 6 माह पूर्व से भारत में निवास कर रहा हो।

(ङ) जो व्यक्ति मार्च, 1947 के पश्चात् भारत छोड़कर पाकिस्तान चले गये थे उन्हें भारतीय संविधान द्वारा भारत की नागरिकता के अधिकारों से वंचित रखा गया है परन्तु यह नियम उन लोगों पर लागू नहीं होता जो पुनः पाकिस्तान से भारत लौट आये हैं तथा जिन्होंने भारत सरकार से भारत में स्थायी रूप से रहने की अनुमति प्राप्त कर ली है।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि 1947 के पूर्वार्द्ध में जिस समय भारत में साम्प्रदायिक दंगों ने बड़ा स्वरूप धारण कर लिया था, अनेक मुस्लिम परिवार सामूहिक रूप से पाकिस्तान चले गए थे। दंगे समाप्त होने के पश्चात् उनमें से बहुत-से लोग भारत वापस लौट आये। इन लौटे हुए लोगों की सुविधा हेतु ही उक्त नियम निर्मित किया गया था।

(3) विदेशों में रहने वाले नागरिक—जो भारतीय व्यापार, नौकरी इत्यादि हेतु अन्य देशों में रहते हैं वे भी निम्न शर्तों को पूर्ण करने पर भारत के नागरिक बन सकते हैं—

(क) उनका अथवा उनके माता-पिता का अथवा दादा-दादी अथवा नाना-नानी का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।

(ख) उन्होंने विदेश में स्थित भारतीय राजदूत के पास भारत का नागरिक बनने के लिए प्रार्थना-पत्र देकर अपना नाम पंजीकृत करा लिया हो।

भारतीय संविधान लागू होने के पश्चात् नागरिकता की व्यवस्था

भारतीय संविधान ने संसद को यह अधिकार दिया था कि वह भारतीय नागरिकता के सम्बन्ध में विस्तृत कानून निर्मित करे। परिणामस्वरूप संसद ने 1955 में नागरिकता अधिनियम पारित किया। इस अधिनियम में नागरिकता की प्राप्ति तथा उसके लोप (समाप्त हो जाने की स्थिति) का विस्तृत वर्णन किया गया है। इस अधिनियम के अनुसार भारतीय नागरिकता की प्राप्ति और उसके लोप के नियम निम्न प्रकार हैं—

भारतीय नागरिकता की प्राप्ति
(ACQUIREMENT OF INDIAN CITIZENSHIP)

(1) **जन्मजात नागरिकता**—कोई भी व्यक्ति जो 25 जनवरी, 1950 अथवा उसके पश्चात् भारत में पैदा हुआ है, भारतीय नागरिक माना जायेगा लेकिन विदेशी दूतावासों के उन लोगों के बच्चे, जो भारतीय नागरिक नहीं हैं अथवा विदेशी शत्रु द्वारा अधिकृत क्षेत्र में पैदा हुए शत्रु के बच्चे भारत के नागरिक नहीं माने जायेंगे।

भारतीय नागरिकता की प्राप्ति
* जन्मजात नागरिकता
* वंशानुगत नागरिकता
* पंजीकरण द्वारा नागरिकता
* देशीयकरण द्वारा नागरिकता
* भूमि विस्तार द्वारा नागरिकता

(2) **वंशानुगत नागरिकता**—नागरिकता अधिनियम द्वारा वे लोग भी भारतीय नागरिक होंगे जो 26 जनवरी, 1950 को अथवा उसके पश्चात् भारत से बाहर पैदा हुए हों लेकिन उनके माता-पिता में से कोई एक उनके जन्म के समय भारतीय नागरिक रहा हो।

(3) **पंजीकरण द्वारा नागरिकता**—निम्नलिखित श्रेणी के व्यक्ति पंजीकरण के द्वारा भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकते हैं—

(क) वे लोग जो 26 जुलाई, 1947 के पश्चात् पाकिस्तान से आये हैं; भारतीय नागरिक उस दशा में माने जायेंगे जब वे प्रार्थना-पत्र देकर अपना नाम 'भारतीय अधिकारी' के पास नागरिकता के अभिलेखों में पंजीकृत करा लें लेकिन ऐसे व्यक्तियों के लिए यह शर्त होगी कि प्रार्थना-पत्र देने से पूर्व वे न्यूनतम 4 माह से भारत में निवास करते हों और उनका अथवा उनके माता-पिता अथवा दादा-दादी अथवा नाना-नानी का जन्म अविभाजित भारत में हुआ हो।

(ख) वे भारतीय जो विदेशों में जाकर रहने लगे हैं, भारतीय दूतावास में प्रार्थना-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे।

(ग) वे विदेशी महिलाएँ जिन्होंने भारतीय नागरिक से विवाह कर लिया हो, प्रार्थना-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगी।

(घ) राष्ट्रमण्डलीय देशों के नागरिक, यदि वे भारत में ही निवास करते हों अथवा भारत सरकार की नौकरी कर रहे हों, प्रार्थना-पत्र देकर भारतीय नागरिकता प्राप्त कर सकेंगे।

(4) **देशीयकरण द्वारा नागरिकता**—विदेशी नागरिक भी अग्रलिखित शर्तों को पूर्ण करने पर भारत के नागरिक बन सकते हैं—

(क) विदेशी ऐसे राज्य का नागरिक न हो जहाँ भारतीयों पर वहाँ की नागरिकता ग्रहण करने पर प्रतिबन्ध लगाया गया हो।

(ख) वह प्रार्थना-पत्र देने की तिथि से पूर्व न्यूनतम एक वर्ष से लगातार भारत में निवास कर रहा हो।

(ग) उपरोक्त एक वर्ष से पूर्व, न्यूनतम 5 वर्षों तक भारत में रह चुका हो अथवा भारत सरकार की नौकरी में रह चुका हो अथवा दोनों मिलाकर 7 वर्ष का समय हो लेकिन किसी भी परिस्थिति में 4 वर्ष से कम समय न हो।

(घ) उसका आचरण अच्छा हो।

(ङ) वह भारत की किसी प्रादेशिक अथवा राज्य भाषा का श्रेष्ठ ज्ञाता हो।

(च) नागरिकता का प्रमाण-पत्र मिलने पर वह भारत में रहने का अथवा भारत सरकार की नौकरी करने का अथवा किसी अन्तर्राष्ट्रीय संस्था में जिनका सदस्य भारत भी हो, कार्य करने का इच्छुक हो।

(5) **भूमि विस्तार द्वारा नागरिकता**—यदि कोई नवीन क्षेत्र भारत में सम्मिलित कर लिया जाता है तो वहाँ की जनता भारतीय नागरिक मानी जायेगी। उदाहरणार्थ, 1961 में गोआ को भारत में सम्मिलित किये जाने पर वहाँ के लोगों को भारतीय नागरिकता प्राप्त हो गई।

भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986

भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 द्वारा 1955 के अधिनियम में कुछ महत्त्वपूर्ण संशोधन किये गये। ये संशोधन निम्न प्रकार हैं—

(क) भारत में जन्मे उस व्यक्ति को ही नागरिकता प्रदान की जायेगी जिसके माता-पिता में से कम से कम कोई एक भारतीय नागरिक हो।

(ख) पंजीकरण के द्वारा नागरिकता प्राप्त करने वालों को न्यूनतम 5 वर्ष भारत में निवास करना होगा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पूर्व में यह अवधि 6 माह थी।

(ग) देशीयकरण द्वारा नागरिकता तभी प्रदान की जायेगी जब सम्बन्धित व्यक्ति न्यूनतम 10 वर्षों तक भारत में रह चुका हो। उल्लेखनीय है कि पूर्व में यह समय सीमा 5 वर्ष थी।

उक्त संशोधनों के माध्यम से भारत सरकार ने यह निश्चित करने का प्रयास किया है कि किसी भी व्यक्ति को तभी भारतीय नागरिकता प्रदत्त की जायेगी जब वह भारत में ठीक प्रकार से घुल-मिल चुका हो। यह उल्लेखनीय है कि भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 जम्मू-कश्मीर एवं असम पर भी लागू है।

भारतीय नागरिकता का लोप अथवा अन्त
(LOSS OF INDIAN CITIZENSHIP)

निम्नलिखित दशाओं में से किसी भी एक दशा के उत्पन्न होने की स्थिति में किसी व्यक्ति को भारत की नागरिकता से वंचित किया जा सकता है—

(1) **नागरिकता का स्वयं परित्याग करने पर**—यदि कोई वयस्क भारतीय स्वयं भारतीय नागरिकता के परित्याग की घोषणा करता है तो यह घोषणा विशेष अधिकारी द्वारा पंजीकृत कर ली जायेगी और इसके पश्चात् वह व्यक्ति भारत का नागरिक नहीं रहेगा। इसके साथ ही उसके सभी अवयस्क बच्चों की भी भारतीय नागरिकता समाप्त हो जाएगी।

(2) विदेशी नागरिकता प्राप्त करने पर—यदि भारत का कोई नागरिक स्वतः पंजीकरण से अथवा देशीयकरण से अथवा अन्य किसी भी प्रकार से किसी अन्य देश की नागरिकता प्राप्त कर लेता है तो उसकी भारतीय नागरिकता का अन्त हो जाता है।

भारतीय नागरिकता का लोप अथवा अन्त
* नागरिकता का स्वयं परित्याग करने पर
* विदेशी नागरिकता प्राप्त करने पर
* संघ सरकार द्वारा नागरिकता का लोप किये जान पर
  (i) धोखा देने पर
  (ii) देशद्रोह करने पर
  (iii) लम्बे समय तक देश से अनुपस्थित रहने पर
  (iv) अपराध करने पर

(3) संघ सरकार द्वारा नागरिकता का लोप किये जाने पर—भारत की संघ सरकार निम्नांकित कारणों से नागरिकता का लोप अथवा अन्त कर सकती है—

(i) धोखा देने पर—यदि किसी व्यक्ति ने धोखा देकर अथवा असत्य बयान देकर अथवा आवश्यक तथ्यों को छिपाकर भारतीय नागरिकता प्राप्त की है तो सही जानकारी प्राप्त होने पर संघ सरकार उसकी नागरिकता समाप्त कर सकती है।

(ii) देशद्रोह करने पर—यदि किसी व्यक्ति ने भारत सरकार के प्रति देशद्रोह किया है अथवा युद्ध के समय शत्रु की मदद की है तो भी संघीय सरकार उस व्यक्ति की नागरिकता समाप्त कर सकती है।

(iii) लम्बे समय तक देश से अनुपस्थित रहने पर—यदि कोई व्यक्ति भारत सरकार की आज्ञा के बिना लगातार 7 वर्ष तक विदेश में रहे और विदेश के भारतीय दूतावास में अपनी भारत की नागरिकता कायम रखने की इच्छा से प्रतिवर्ष पंजीकरण अथवा नवीनीकरण भी न कराये तो उसकी भारतीय नागरिकता समाप्त की जा सकती है।

(iv) अपराध करने पर—यदि किसी व्यक्ति ने पंजीकरण अथवा देशीकरण से भारतीय नागरिकता प्राप्त की है और नागरिकता प्राप्त करने के 5 वर्ष के भीतर किसी देश में उसे न्यूनतम 2 वर्ष की सजा हुई है तो भी उसकी नागरिकता समाप्त की जा सकती है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि किसी भी व्यक्ति की नागरिकता समाप्त करन से पूर्व उसे अपना पक्ष प्रस्तुत करने का पूर्ण अवसर प्रदान किया जाता है।

भारतीय नागरिकता की मुख्य विशेषताएँ (लक्षण)
(MAIN CHARACTERISTICS OF INDIAN CITIZENSHIP)

भारतीय नागरिकता की प्रमुख विशेषताएँ (लक्षण) निम्न प्रकार हैं—

(1) इकहरी नागरिकता—संघात्मक शासन प्रणाली में सामान्यतया दोहरी नागरिकता—(अ) संघ की नागरिकता तथा (ब) राज्य की नागरिकता की व्यवस्था की जाती है। भारत के संविधान द्वारा भारत में संघात्मक शासन की व्यवस्था की गई है लेकिन संयुक्त राज्य अमेरिका इत्यादि अन्य संघ राज्यों की तरह भारत में दोहरी नागरिकता ही नहीं अपितु एक ही नागरिकता (भारतीय नागरिकता) की व्यवस्था की गई है। चाहे कोई व्यक्ति भारत के किसी भी क्षेत्र में रहता हो, वह सिर्फ भारत का नागरिक होगा। हमारे देश भारत में उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, बिहार इत्यादि राज्य हैं लेकिन राज्यों की नागरिकता की कोई व्यवस्था नहीं की गई है। अमरनन्दी के शब्दों में, "भारतीय संविधान के अन्तर्गत सम्पूर्ण भारत के लिए

सिर्फ एक ही प्रकार की नागरिकता की व्यवस्था की गई है।" इकहरी नागरिकता की यह व्यवस्था राष्ट्रीय एकता को दृष्टिगत रखते हुए की गई है।

(2) नागरिकता एक संघीय विषय—भारतीय संविधान के अनुसार नागरिकता को संघ सरकार का विषय माना गया है। नागरिकता के सम्बन्ध में नियम बनाने और उन्हें क्रियान्वित करने का अधिकार सिर्फ केन्द्रीय संसद को ही प्राप्त है और राज्य सरकारों को इस बारे में कार्य करने का कोई अधिकार प्रदान नहीं किया गया है।

भारतीय नागरिकता की मुख्य विशेषताएँ (लक्षण)
* इकहरी नागरिकता
* नागरिकता एक संघीय विषय
* नागरिकता के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण
* संसद को कानून बनाने का अधिकार

(3) नागरिकता के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण—भारत में नागरिकता के सिद्धान्तों को अत्यन्त उदार बनाया गया है। नागरिकता का निर्धारण करते समय जन्म एवं वंश पर आधारित दोनों ही सिद्धान्तों का प्रयोग किया गया है।

(4) संसद को कानून बनाने का अधिकार—भारतीय संविधान के भाग-2 में अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि भारतीय संसद को भविष्य में भी नागरिकता पर कानून निर्मित करने का अधिकार होगा।

नागरिकता की समाप्ति अथवा लोप
(LOSS OF CITIZENSHIP)

किसी व्यक्ति की नागरिकता निम्न स्थितियों में समाप्त हो सकती है—

(1) स्वेच्छा से नागरिकता का त्याग—अनेक देश अपने नागरिकों को यह अधिकार देते हैं कि यदि वे इच्छापूर्वक वहाँ की नागरिकता त्यागना तथा दूसरे देश की नागरिकता ग्रहण करना चाहें तो वे सरकार की अनुमति से ऐसा कर सकते हैं। इसके लिए नागरिक को सरकार के पास आवेदन करना होता है। जर्मनी में इस प्रकार का नियम प्रचलित है।

नागरिकता की समाप्ति अथवा लोप
* स्वेच्छा से नागरिकता का त्याग
* दीर्घकालीन अनुपस्थिति
* विदेशों से सम्मान प्राप्ति
* विवाह
* देश-द्रोह
* सेना से भागने पर
* समाज का त्याग
* गम्भीर अपराध करने पर
* पागल अथवा दिवालिया हो जाने पर

(2) दीर्घकालीन अनुपस्थिति—यदि कोई व्यक्ति लम्बी अवधि तक दूसरे देश में रहता है तो वह अपने देश की नागरिकता खो बैठता है। देश से अनु- पस्थित रहने की अवधि विभिन्न देशों में अलग-अलग है।

(3) विदेशों से सम्मान प्राप्ति—कुछ देशों में यह नियम प्रचलित है कि वहाँ का नागरिक सरकार की आज्ञा प्राप्त किये बिना किसी अन्य देश में सरकारी नौकरी नहीं कर सकता तथा न ही कोई उपाधि अथवा सम्मान स्वीकार कर सकता है। जब कोई व्यक्ति दूसरे देश में शासकीय सेवा अथवा सम्मान प्राप्त कर लेता है तो उसकी मूल नागरिकता समाप्त हो जाती है।

(4) **विवाह**—यह भी नागरिकता की समाप्ति का एक आधार है। जब एक देश की महिला किसी दूसरे देश के पुरुष से विवाह कर लेती है तो उस महिला की अपने पूर्व देश की नागरिकता लुप्त हो जाती है।

(5) **देश-द्रोह**—यदि कोई व्यक्ति देश-द्रोह का अपराधी है तो उसकी नागरिकता समाप्त कर दी जाती है।

(6) **सेना से भागने पर**—यदि कोई सैनिक सेना से भाग जाता है तो राज्य उसकी नागरिकता का अन्त कर देता है।

(7) **समाज का त्याग**—जो व्यक्ति समाज एवं राज्य को त्यागकर साधु-सन्त हो जाते हैं उन्हें भी नागरिकता से वंचित कर दिया जाता है।

(8) **गम्भीर अपराध करने पर**—कुछ गम्भीर अपराध करने पर भी न्यायालय द्वारा नागरिकता का अन्त कर दिया जाता है।

(9) **पागल अथवा दिवालिया हो जाने पर**—कुछ देशों में पागल अथवा दिवालिया हो जाने पर व्यक्ति की नागरिकता समाप्त कर दी जाती है। भारतीय संविधान में तो पागल एवं दिवालिया को नागरिक स्वीकार ही नहीं किया गया है।

आदर्श नागरिकता
(IDEAL CITIZENSHIP)

किसी भी देश की प्रगति उसके नागरिकों पर आधारित होती है। जिस देश के नागरिक आदर्श नागरिकता के गुणों से परिपूर्ण होते हैं वह शीघ्र ही उन्नति की चोटी पर पहुँच जाता है। इस सन्दर्भ में अरस्तू का यह कथन ठीक ही है, "श्रेष्ठ नागरिक ही श्रेष्ठ राज्य का निर्माण कर सकते हैं अतः राज्य के नागरिक आदर्श होने चाहिए।" राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के मतानुसार, "आदर्श नागरिक में अहिंसा, सत्य तथा निर्भीकता के गुण होते हैं।"

आदर्श नागरिकता के तत्त्व अथवा आदर्श नागरिक के गुण
(ELEMENTS OF IDEAL CITIZENSHIP)

आदर्श नागरिकता के प्रमुख तत्त्व निम्नलिखित हैं—

आदर्श नागरिकता के तत्त्व
* उत्तम स्वास्थ्य एवं उच्च चरित्र
* शिक्षा
* कर्त्तव्य-परायणता
* परोपकार, सहानुभूति तथा दया
* आज्ञापालन तथा अनुशासन
* व्यापक दृष्टिकोण
* मताधिकार का उचित प्रयोग
* अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना
* मितव्ययिता
* देशभक्ति

(1) **उत्तम स्वास्थ्य एवं उच्च चरित्र**—आदर्श नागरिकता हेतु उत्तम स्वास्थ्य अनिवार्य आवश्यक है। अस्वस्थ व्यक्ति समाज पर एक भार है। वह न तो अपने प्रति तथा न ही समाज के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है। यहाँ यह कथन उचित ही है कि **"स्वस्थ शरीर में ही स्वस्थ मस्तिष्क का वास होता है।"** इसी प्रकार आदर्श नागरिकता में उच्च चरित्र का होना परमावश्यक है। व्यक्ति अपने चारित्रिक गुणों के आधार पर ही अपने व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास कर सकता है तथा विषम परिस्थितियों में अपने कर्त्तव्यों का पालन कर सकता है। इसके विपरीत, चरित्रहीन व्यक्ति कदापि आदर्श नागरिक नहीं बन सकता।

(2) **शिक्षा**—निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि शिक्षा आदर्श नागरिक के जीवन की नींव है। इसके द्वारा व्यक्ति का अज्ञान रूपी अन्धकार दूर होता है। व्यक्ति को उदारवादी बनाने में शिक्षा का महत्त्वपूर्ण योगदान

है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी ने शिक्षा के महत्त्व को स्वीकारते हुए लिखा है, "शिक्षा जो आत्मा का भोजन है, आदर्श नागरिकता की प्रथम शर्त है।"[1]

(3) **कर्त्तव्य-परायणता**—एक आदर्श नागरिक वही है जो राज्य एवं समाज के प्रति कर्त्तव्यों का भली-भाँति पालन करता है। असल में वही देश प्रगति कर सकता है जिसके नागरिक कर्त्तव्य-परायण हैं। श्रेष्ठ सामाजिक जीवन के लिए कर्तव्य-परायणता की भावना अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसे आदर्श नागरिक के जीवन की कुंजी की संज्ञा दी जा सकती है।

(4) **परोपकार, सहानुभूति तथा दया**—आदर्श नागरिक में परोपकार की भावना होना आवश्यक है। समाज के असहाय, दीन-दुःखी तथा अपाहिजों का उपकार करना प्रत्येक व्यक्ति का नैतिक कर्त्तव्य है। भारतीय इतिहास तो हजारों महापुरुषों के उपकारपूर्ण कार्यों से भरा पड़ा है। उपकार के लिए सहानुभूति तथा दया की भावना होनी चाहिए। जब तक किसी व्यक्ति का मन उदार नहीं होगा, वह दूसरों की सेवा नहीं कर पायेगा। सहानुभूति एवं दया की भावना ही व्यक्ति को उपकार करने हेतु प्रेरणा देती है।

(5) **आज्ञापालन तथा अनुशासन**—एक आदर्श नागरिक में इस भावना का होना भी परमावश्यक होता है। एक आदर्श नागरिक राज्य-प्रदत्त कानूनों का निष्ठापूर्वक पालन करता है तथा अन्य लोगों को भी ऐसा करने की प्रेरणा देता है। वह अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों के प्रति सदैव जागरूक रहता है।

(6) **व्यापक दृष्टिकोण**—जो व्यक्ति अन्य व्यक्तियों की भावनाओं एवं विचारों का आदर करता है वही राज्य एवं समाज का अधिकतम हित कर सकता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि व्यापक दृष्टिकोण रखने वाला व्यक्ति ही आदर्श नागरिक बन सकता है।

(7) **मताधिकार का उचित प्रयोग**—आधुनिक लोकतान्त्रिक युग में समस्त वयस्क महिलाओं एवं पुरुषों को मताधिकार प्राप्त है। इस अधिकार का उचित तथा निष्पक्षता के साथ प्रयोग करना प्रत्येक नागरिक का पहला कर्त्तव्य है। इस अधिकार के अनुचित प्रयोग से शासन में भ्रष्टाचार व्याप्त हो जाता है तथा शासन सत्ता अयोग्य व्यक्तियों के हाथों में पहुँच जाती है जो स्वार्थवश देश को पतन के रास्ते पर ले जाते हैं। अतः आदर्श नागरिक को अपने मताधिकार का उचित प्रयोग करना चाहिए। इस बारे में लॉर्ड ब्राइस ने उचित ही कहा है, **"मताधिकार एक बहुत ही पवित्र अधिकार है। इसका उचित प्रयोग राष्ट्र का निर्माण कर सकता है तथा इसका अनुचित प्रयोग राष्ट्र का पतन कर सकता है।"**[1]

(8) **अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना**—एक आदर्श नागरिक में इस गुण का होना भी आवश्यक है। व्यक्ति को सम्पूर्ण विश्व के प्रति सहानुभूति एवं प्रेम का भाव प्रदर्शित करना चाहिए तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आदर्श में ही विश्वास रखना चाहिए।

(9) **मितव्ययिता**—सामाजिक कल्याण हेतु आदर्श नागरिक में मितव्ययिता का गुण होना आवश्यक है। फिजूलखर्ची व्यक्ति के जीवन में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा करती है। व्यर्थ में धन को खर्च करने वाला व्यक्ति जहाँ स्वयं कष्ट उठाता है वहीं समाज को भी हानि पहुँचाता है।

(10) **देश-भक्ति**—आदर्श नागरिक का एक महत्त्वपूर्ण गुण देश-भक्ति है। उसमें देश-भक्ति की भावना कूट-कूटकर भरी होनी चाहिए। आपातकाल में देशभक्ति की भावना

---

1 "Education, the bread of the soul, is the first condition of healthy citizenship." —*M. Gandhi*

से प्रेरित होकर अपना सर्वस्व बलिदान करने के लिए तैयार नागरिक ही राष्ट्र की नींव के पत्थर होते हैं।

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएँ

(HINDRANCES IN THE WAY OF IDEAL CITIZENSHIP)

आदर्श नागरिकता के मार्ग में अनेक बाधाएँ आती हैं। इन बाधाओं का संक्षिप्त विवरण निम्न प्रकार है—

(1) **अशिक्षा**—शिक्षा तथा ज्ञान के अभाव में आदर्श नागरिकता की कल्पना करना व्यर्थ है। अशिक्षित एवं अज्ञानी व्यक्ति उचित व अनुचित में अन्तर नहीं कर पाते। वे अपने उत्तरदायित्व के बोध से अपरिचित रहते हैं। ऐसे व्यक्ति राजनीतिक तथा सार्वजनिक कर्त्तव्यों का निष्पादन अपनी समझ-बूझ के आधार पर न करके अन्य व्यक्तियों के बहकावे में आकर करते हैं। शिक्षा तथा ज्ञान के बिना व्यक्ति न तो अपने व्यक्तित्व का विकास कर सकता है और न ही राष्ट्र के विकास में योगदान दे सकता है। मैक्कम ने तो यहाँ तक कहाँ है कि "शिक्षा के बिना नागरिक अपूर्ण है।"

आदर्श नागरिकता के मार्ग में बाधाएँ

* अशिक्षा
* आर्थिक विषमता अथवा निर्धनता
* भ्रष्ट शासन
* भाषण एवं लेखन की स्वतन्त्रता का अभाव
* साम्प्रदायिकता
* पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण
* सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता
* जाति-प्रथा
* उग्र राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद की संकीर्ण मनोवृत्ति
* पूँजीवाद

(2) **आर्थिक विषमता अथवा निर्धनता**—आदर्श नागरिकता के मार्ग का मुख्य अवरोध आर्थिक विषमता अथवा निर्धनता है। गरीबी व्यक्ति के लिए एक अभिशाप है। गरीब व्यक्ति अपने भोजन तथा कपड़े इत्यादि से सम्बन्धित समस्याओं को सुलझाने में ही व्यस्त रहता है, अतः उससे समाज तथा देश के प्रति उपयोगी कार्य करने की आशा नहीं की जा सकती। **प्रो. इलियास अहमद** गरीबी को आदर्श नागरिकता के मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट मानते हैं। एक प्रसिद्ध शायर ने लिखा है—

"तन की भूख मन को गुनहगार बना देती है।
ब़ाग के ब़ाग को बीमार बना देती है॥
भूखे पेटों को राष्ट्रभक्ति सिखाने वालो।
भूख इन्सान को गद्दार बना देती है।"

(3) **भ्रष्ट शासन**—आदर्श नागरिकता स्वच्छ एवं सुव्यवस्थित शासन में ही पनप सकती है। भ्रष्ट शासन में इसका विकास होना सम्भव नहीं है। स्वार्थी एवं भ्रष्ट शासकों के नियन्त्रण में रहने वाले लोग कदापि आदर्श नागरिक नहीं बन सकते।

(4) **भाषण एवं लेखन की स्वतन्त्रता का अभाव**—व्यक्ति के जीवन में भाषण एवं लेखन की स्वतन्त्रता अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसके अभाव में व्यक्ति के चरित्र का विकास अवरुद्ध हो जाता है। इसके अभाव में व्यक्ति अपने अधिकारों की रक्षा भी नहीं कर सकता।

---

1 **"The right of franchise is the most sacred right, its proper use can make a nation and its misuse can bring ruin to the state."** —*Lord Bryce*

इस प्रकार भाषण एवं लेखन की स्वतन्त्रता का अभाव आदर्श नागरिकता के मार्ग की एक रुकावट है।

(5) **साम्प्रदायिकता**—साम्प्रदायिकता को आदर्श नागरिकता का प्रबलतम शत्रु माना गया है। साम्प्रदायिकता की भावना से ही सामाजिक जीवन में कटुता पैदा हो जाती है तथा शान्ति नष्ट हो जाती है। कभी-कभी इसके वशीभूत होकर व्यक्ति अपने धार्मिक एवं राजनीतिक समुदायों को इतना अधिक महत्त्व देते हैं कि वे समाज एवं राज्य के हितों की उपेक्षा हेतु तत्पर हो जाते हैं। ऐसी स्थिति में आदर्श नागरिकता की प्राप्ति असम्भव हो जाती है।

(6) **पक्षपातपूर्ण दृष्टिकोण**—पक्षपात की प्रवृत्ति मानव प्रगति में बाधक है। अतः किसी भी आधार पर किसी व्यक्ति के साथ पक्षपात नहीं करना चाहिए। पक्षपात की भावना आदर्श नागरिकता के मार्ग में एक प्रमुख रुकावट है।

(7) **सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीनता**—जब समाज में अधिकांश लोग सार्वजनिक जीवन के प्रति उदासीन हो जाते हैं तो स्वार्थी तथा चालाक लोग शासन पर अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेते हैं। इसके परिणामस्वरूप आदर्श नागरिकता के विकास की सम्भावनाएँ कम होती चली जाती हैं।

(8) **जाति-प्रथा**—वर्तमान काल में आदर्श नागरिकता के मार्ग में जाति-प्रथा भी बाधक है। सामाजिक एकता को समाप्त करने में जाति-प्रथा ने कोढ़ का काम किया है। जाति-हित को राष्ट्रहित से अधिक महत्व दिया जाता है। देश में चुनाव जाति के आधार पर ही लड़े जाते हैं। जाति-प्रथा ने छुआछूत तथा भेदभाव की भावना को जन्म दिया है। अस्पृश्यता जातिवाद का ही परिणाम है।

(9) **उग्र राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद की संकीर्ण मनोवृत्ति**—उग्र राष्ट्रीयता तथा साम्राज्यवाद की संकुचित मनोवृत्ति व्यक्ति में जातीय श्रेष्ठता की भावना को उकसाती है तथा अन्य राज्यों की अपेक्षा अपने राज्य के वर्चस्व को स्थापित करने की प्रेरणा देती है। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध इसी प्रेरणा तथा प्रवृत्ति के परिणाम थे। उग्र राष्ट्रीयता का यह विचार 'विश्व-बन्धुत्व' अथवा 'जीओ और जीने दो' की भावना के प्रतिकूल है।

(10) **पूँजीवाद**—आदर्श नागरिकों के समाज में धन का समान रूप से वितरण आवश्यक है। असमान वितरण से पूँजीवाद फैलता है। इस व्यवस्था में गरीबों का शोषण होता है तथा समाज की शान्ति एवं व्यवस्था भंग हो जाती है। इस प्रकार आदर्श नागरिकता के मार्ग में पूँजीवाद बहुत बड़ी रुकावट है।

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निवारण
(MEANS OF REMOVING HINDRANCES TO IDEAL CITIZENSHIP)

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निराकरण निम्न शीर्षकों में दर्शाया जा सकता है—

(1) **उचित शिक्षा की व्यवस्था**—शिक्षा ज्ञान का प्रसार करके अज्ञान का विनाश करती है। शिक्षा से आदर्श नागरिकता के मार्ग में आने वाली रुकावटों का समाधान किया जा सकता है। साम्प्रदायिकता, उदासीनता तथा संकीर्ण राष्ट्रीयता इत्यादि की भावना को शिक्षा ही दूर कर सकती है। शिक्षित नागरिक ही आदर्श नागरिक बन सकते हैं।

(2) **गरीबी का अन्त**—आदर्श नागरिकता की बाधाओं को दूर करने के लिए आर्थिक व्यवस्था में सुधार करना आवश्यक है क्योंकि आर्थिक सम्पन्नता सामाजिक उन्नति की रीढ़ होती है। गरीबी विभिन्न प्रकार की कठिनाइयाँ पैदा करती है। इसका अन्त करने के लिए कुटीर उद्योग खोले जाने चाहिए तथा उनको आर्थिक सहायता देकर प्रोत्साहित किया जाना चाहिए।

(3) अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास—प्रत्येक देश को राष्ट्रीयता की भावना के साथ ही अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को भी प्रोत्साहन देना चाहिए। इसके आधार पर ही विश्व शान्ति के लक्ष्यों एवं विश्व कल्याण की भावना को प्राप्त किया जा सकता है।

आदर्श नागरिकता की बाधाओं का निवारण

* उचित शिक्षा की व्यवस्था
* गरीबी का अन्त
* अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास
* नैतिकता का विकास
* पूँजीवाद का अन्त
* देश-भक्ति पैदा करके
* उच्च कोटि का साहित्य तथा स्वतन्त्र प्रेस
* स्वस्थ राजनीतिक दलों की स्थापना
* सामाजिक कुरीतियों का समाधान
* पारिवारिक सुधार

(4) नैतिकता का विकास—आदर्श नागरिकता के विकास में नैतिकता का विशेष महत्त्व है अतः नैतिकता के विकास की दिशा में सभी सम्भव प्रयास करने चाहिए।

(5) पूँजीवाद का अन्त—पूँजीवाद को समाप्त करने हेतु समाज में धन का समुचित वितरण होना परमावश्यक है। पूँजीवादी व्यवस्था का विनाश करके तथा देश में समाजवादी व्यवस्था स्थापित करके ही आदर्श नागरिकता प्राप्त की जा सकती है।

(6) देश-भक्ति पैदा करके—वर्तमान भारत में ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो सम्पूर्ण देश के हित की बात सोचते हों। यद्यपि चीन तथा पाकिस्तान के आक्रमण के पश्चात् देश-भक्ति की भावना को कुछ बल मिला है लेकिन बड़ी आवश्यकता इस बात की है कि प्रत्येक भारतीय मन से इसे स्वीकार करें।

(7) उच्च कोटि का साहित्य तथा स्वतन्त्र प्रेस—आदर्श नागरिता के निर्माण में साहित्य तथा स्वतन्त्र प्रेस का अत्यधिक उत्तरदायित्व है। साहित्य तथा प्रेस ही नागरिकों को सदाचारिता, कर्त्तव्यपरायणता, निष्पक्षता तथा आदर्शवादिता की शिक्षा प्रदान कर सकते हैं।

(8) स्वस्थ राजनीतिक दलों की स्थापना—देश में विद्यमान राजनीतिक दलबन्दी एवं गुटबन्दी को समाप्त किया जाना चाहिए। राजनीतिक दलबन्दी देश का वातावरण दूषित कर देती है। हालांकि दलीय प्रणाली लोकतन्त्र का आधार है लेकिन वर्तमान में इसका स्वरूप विकृत हो चुका है। आज इस बात की आवश्यकता है कि प्रत्येक राजनीतिक दल अपने दलीय स्वार्थों को त्यागकर राष्ट्रीय हितों को प्राथमिकता दे।

(9) सामाजिक कुरीतियों का समाधान—बदली हुई परिस्थितियों के अनुसार सामाजिक दृष्टिकोण में परिवर्तन कर लेना नितान्त आवश्यक है। समाज सुधारकों एवं प्रबुद्ध नागरिकों का यह प्रमुख कर्त्तव्य है कि समाज की हानिकारक परम्पराओं तथा प्रथाओं को समाप्त करने का प्रयास करें। उन्हें समाज में ऐसी चेतना जाग्रत करनी होगी जिससे नागरिक सामाजिक कुरीतियों का त्याग करके प्रगति के रास्ते पर चल सकें।

(10) पारिवारिक सुधार—परिवार नागरिक जीवन की प्रथम पाठशाला है। अतः आदर्श नागरिकता के लिए परिवार बहुत ही उपयोगी सिद्ध हो सकता है इसके लिए परिवार का वातावरण शिक्षाप्रद एवं शान्तिमय होना चाहिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. नागरिक को अंग्रेजी भाषा में क्या कहते हैं ?

उत्तर—'सिटीजन'।

प्रश्न 2. नागरिक एवं विदेशी में कोई दो अन्तर बताइए। (1993)

उत्तर—(i) राज्य नागरिक को सैनिक सेवा हेतु विवश कर सकता है जबकि विदेशी को ऐसा करने हेतु बाध्य नहीं किया जा सकता है तथा (ii) नागरिक राज्य का स्थायी सदस्य होता है जबकि विदेशी किसी अन्य राज्य में अस्थायी सदस्य है।

प्रश्न 3. किसी राज्य की नागरिकता प्राप्त करने के लिए किन्हीं दो शर्तों का उल्लेख कीजिए। (1990)

अथवा

नागरिकता प्राप्त करने के काई दो तरीके बताइए। (1991, 95)

उत्तर—(i) जन्म द्वारा तथा (ii) देशीयकरण द्वारा।

प्रश्न 4. उन दो प्रमुख परिस्थितियों का उल्लेख कीजिए जिनसे नागरिकता समाप्त हो जाती है।

अथवा

नागरिकता खोने के दो तरीके बताइए। (1997)

उत्तर—(i) देशद्रोही बनने पर अथवा सेना से भागने पर तथा (ii) पागल अथवा दिवालिया हो जाने पर।

प्रश्न 5. नागरिकता समाप्त होने के कोई दो कारण बताइए। (1991, 92, 96)

उत्तर—(i) विदेशी से विवाह करने पर तथा (ii) विदेशी नागरिकता स्वीकार कर लेने पर।

प्रश्न 6. आदर्श नागरिकता के दो प्रमुख गुणों का उल्लेख कीजिए। (1996, 2000)

उत्तर—(i) कर्तव्यपरायणता तथा (ii) देशभक्ति की भावना।

प्रश्न 7. आदर्श नागरिकता के मार्ग में दो बाधाएँ क्या हैं ? (1997)

अथवा

आदर्श नागरिकता के मार्ग की दो बाधाएँ लिखिए। (1998)

उत्तर—(i) अशिक्षा तथा (ii) निर्धनता।

प्रश्न 8. भारतीय नागरिकता प्राप्ति की कोई एक शर्त बताइए।

उत्तर—कोई भी व्यक्ति जो 25 जनवरी, 1950 अथवा उसके पश्चात् भारत में पैदा हुआ है, भारतीय नागरिक माना जाएगा।

प्रश्न 9. भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम, 1986 द्वारा क्या निश्चित करने का प्रयत्न किया गया ?

उत्तर—इस संशोधन द्वारा सरकार ने यह निश्चित करने का प्रयास किया कि किसी भी व्यक्ति को तभी भारतीय नागरिकता दी जायेगी जब वह देश में ठीक प्रकार से घुल-मिल चुका हो।

प्रश्न 10. भारतीय संसद संविधान के किस अनुच्छेद के अन्तर्गत नागरिकता पर कानून बना सकती है ?

उत्तर—भारतीय संविधान के भाग-2 में अनुच्छेद 11 के अन्तर्गत।

प्रश्न 11. भारतीय नागरिकता के कोई दो लक्षण बताइए।

उत्तर—(i) इकहरी नागरिकता तथा (ii) नागरिकता के सम्बन्ध में उदार दृष्टिकोण।

प्रश्न 12. भारतीय नागरिकता को प्राप्त करने के कोई दो उपाय लिखिए। (1993)

उत्तर—(1) जन्मजात नागरिकता अथवा (2) वंशानुगत नागरिकता।

प्रश्न 13. भारतीय नागरिकता सम्बन्धी अधिनियम कब पारित हुआ ? (1990)

उत्तर—भारत की संसद ने 1955 में भारतीय नागरिकता अधिनियम पारित किया।

प्रश्न 14. भारतीय नागरिकता संशोधन अधिनियम कब पारित हुआ ?

उत्तर—1986 में।

प्रश्न 15. भारतीय संविधान के किस भाग में नागरिकता सम्बन्धी उपबन्धों का उल्लेख है ?

उत्तर—भारतीय संविधान के भाग-2 के अनुच्छेद 3 से 11 तक भारतीय नागरिकता से सम्बन्धित उपबन्धों का उल्लेख किया गया है।

प्रश्न 16. कोई दो स्थितियाँ बताइए जिनमें संघ सरकार भारतीय नागरिक की नागरिकता को समाप्त कर सकती है। (1994)

अथवा

कोई दो स्थितियाँ बताइए जिनमें केन्द्रीय सरकार भारतीय नागरिक की नागरिकता का अपहरण कर सकती है। (1998)

उत्तर—(1) देशद्रोह करने पर तथा (2) लम्बे समय तक देश से अनुपस्थित रहने पर।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. 'नागरिक' शब्द की व्याख्या कीजिए तथा नागरिक और विदेशी में अन्तर बताइए। (1984, 91)
2. नागरिक और विदेशी में अन्तर स्पष्ट कीजिए। (1994)
3. नागरिकता की परिभाषा दीजिए। नागरिकता कैसे प्राप्त होती है तथा कैसे खोई जाती है ? (1974, 89, 90, 94, 2000)
4. आदर्श नागरिकता के तत्त्वों का निर्धारण कीजिए। (1972, 84)
5. आदर्श नागरिक के मुख्य गुणों का वर्णन कीजिए। नागरिकता का आदर्श प्राप्त करने के उपाय बताइए। (1987)
6. आदर्श नागरिक के गुणों की विस्तारपूर्वक व्याख्या कीजिए। (1985, 91)
7. आदर्श नागरिकता के मार्ग में कौन-कौन सी बाधाएँ हैं ? उन्हें कैसे दूर किया जा सकता है ? (1996)
8. नागरिकता से आप क्या समझते हैं ? यह कैसे लुप्त हो जाती है ?
9. भारतीय नागरिकता कैसे प्राप्त की जा सकती है ? किन परिस्थितियों में किसी व्यक्ति को भारत की नागरिकता से वंचित किया जा सकता है ?
10. भारतीय नागरिकता पर एक निबन्ध लिखिए।
11. नागरिकता से आप क्या समझते हैं ? भारतीय नागरिकता के सम्बन्ध में क्या व्यवस्थाएँ की गई हैं ? स्पष्ट कीजिए।
12. भारत में नागरिकता प्राप्त करने तथा खोने के विभिन्न तरीकों की विवेचना कीजिए। (1990, 93, 95)
13. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए— (1997)
    (i) आदर्श नागरिकता (1971)
    (ii) नागरिकता प्राप्त करने की विधियाँ (1977, 92, 95, 2000)
    (iii) निर्धनता तथा अशिक्षा में से कौन-सा तत्त्व आदर्श नागरिकता के मार्ग में ज्यादा बड़ी बाधा है तथा क्यों। (1978)
    (iv) आदर्श नागरिक

● ●

5

नागरिकों के अधिकार एवं कर्त्तव्य

[RIGHTS AND DUTIES OF CITIZENS]

"मानव व्यक्तित्व के लिए अस्तित्व तथा पूर्णता के लिए जो कुछ आवश्यक हो वही अधिकार है।"[1] —हेनरिशी

"काई कार्य जिसको करना नैतिक दृष्टि से आवश्यक समझा जाता है, कर्त्तव्य है, चाहे ऐसे कार्य को आप व्यक्तिगत दृष्टि से पसन्द करते हैं अथवा अपसन्द।"[2]

—*एनसाइक्लोपीडिया ब्रिटैनिका*

वर्तमान काल में अधिकार तथा कर्त्तव्य सिर्फ नागरिकशास्त्र का ही एक महत्त्वपूर्ण विषय नहीं है अपितु मानव जाति के अपने विकास तथा उन्नत जीवन हेतु इसका ज्ञान आवश्यक है। लोकतान्त्रिक राज्यों में इसको मानव जीवन का आधार माना जाता है। अधिकार-रहित व्यक्ति न तो जीवित रह सकता है और न ही अपने कर्त्तव्यों को समझ सकता है क्योंकि अधिकार एक ऐसी क्षमता है जिसके आधार पर मानव अपने कर्त्तव्यों का पालन करने में समर्थ हो सकता है।

अधिकार का अर्थ
(MEANING OF RIGHTS)

वर्तमान राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन को सुखमय बनाना है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए राज्य व्यक्ति को कुछ सुविधाएँ प्रदान करता है जो कि व्यक्त्तित्व के विकास हेतु अति आवश्यक हैं। राज्य द्वारा प्रदान की जाने वाली इन सुविधाओं को आम बोलचाल में अधिकार कहा जाता है। अन्य शब्दों में हम कह सकते हैं कि अधिकार समाज द्वारा प्रदान की गई तथा राज्य द्वारा रक्षित वह सुविधाएँ हैं जिनके आधार पर व्यक्ति अपना बहुमुखी विकास कर सकता है।

अधिकार की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF RIGHT)

अधिकार की परिभाषाएँ विभिन्न विद्वानों द्वारा विभिन्न रूपों में दी गयी हैं, इनमें से प्रमुख अग्रलिखित हैं—

1 "Right is really necessary to the maintenance of material conditions essential to the existence and perfection of human personality." —*Henrici*

2 "Duty is a term loosely applied to any action or course of action which is regarded as morally incumbent, apart from personal likes and dislikes or any external compulsion. Such action must be viewed in relation to principle, which may be abstract in the highest sense (*e.g.*, obedience to the dictates of conscience) or based on local and personal relations." —*Encyclopaedia Britannica*

टी. एच. ग्रीन के अनुसार, "अधिकार वह शक्ति है जिसकी लोककल्याण हेतु ही माँग की जाती है तथा मान्यता भी प्राप्त होती है।"[1]

सालमण्ड ने अधिकार को परिभाषित करते हुए कहा है, "सत्य के नियम द्वारा रक्षित हित का नाम अधिकार है। कोई भी हित जिसका आदर करना कर्त्तव्य हो तथा जिसका अतिक्रमण अनुचित हो, अधिकार कहलाता है।"[2]

वाइल्ड ने अधिकार के सम्बन्ध में कहा है, "अधिकार किसी विशेष कार्य को करने के लिए स्वतन्त्रता की युक्तिसंगत माँग है।"[3]

जान ऑस्टिन के शब्दों में, "एक व्यक्ति को दूसरे व्यक्ति से बलपूर्वक कार्य करा लेने की क्षमता का नाम अधिकार है।"[4]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर कहा जा सकता है कि अधिकार व्यक्ति के व्यक्तिगत जीवन के विकास हेतु आवश्यक तथा राज्य द्वारा स्वीकृत कुछ विशिष्ट सामाजिक परिस्थितियाँ हैं।

अधिकारों की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(CHARACTERISTICS OF RIGHTS)

अधिकार की विशेषताओं अथवा लक्षणों का वर्णन निम्न प्रकार किया जा सकता है—

(1) अधिकार सिर्फ समाज में ही सम्भव—अधिकारों की प्रथम विशेषता यह है कि इन्हें व्यक्ति सिर्फ समाज में ही प्राप्त कर सकता है। यदि समाज नहीं है तो व्यक्ति अधिकारों को प्राप्त नहीं कर सकता। एकाकी व्यक्ति को अधिकारों की आवश्यकता नहीं होती है।

अधिकारों की विशेषताएँ अथवा लक्षण
* अधिकार सिर्फ समाज में ही सम्भव
* राज्यों द्वारा स्वीकृत तथा निर्धारित
* समाज द्वारा स्वीकृत
* अधिकार असीमित नहीं
* व्यक्ति की माँग अथवा दावा
* सर्वव्यापकता अथवा सार्वभौमिकता
* अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित हैं
* निरन्तर विकासशील
* कल्याणकारी स्वरूप
* राज्य द्वारा संरक्षित

(2) राज्यों द्वारा स्वीकृत तथा निर्धारित—अधिकारों का राज्य द्वारा स्वीकृत होना आवश्यक है तथा स्वीकृत अधिकारों को राज्य निर्धारित भी करता है। राज्य देखता है कि कोई व्यक्ति किसी के अधिकारों का उल्लंघन न करे। कोई व्यक्ति अगर इन अधिकारों का उल्लंघन करता है तो राज्य उसे दण्डित करता है।

(3) समाज द्वारा स्वीकृत—अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत होने चाहिए। समाज किसी अधिकार को तभी स्वीकृति देता है जब उसमें सर्व-कल्याण की भावना निहित हो। डॉ. आशीर्वादम् के अनुसार, "प्रत्येक अधिकार हेतु सामाजिक स्वीकृति आवश्यक होती है। ऐसी स्वीकृति के अभाव में अधिकार सिर्फ सराहनीय दावे मात्र रह जाते हैं।"

---

1 "A right is a power claimed and recognised as contributory to common good." —*T. H. Green*

2 "A right is an interest protected by a rule of right (justice). It is an interest the respect for which is a duty and the violation of which is wrong." —*Salmond*

3 "A right is a resonable claim to freedom in the exercise of certain activities." —*Wilde*

4 "A right is one man's capacity of exaction from other's acts of forbearance." —*John Austin*

(4) अधिकार असीमित नहीं—समाज में एक व्यक्ति के अधिकार दूसरे व्यक्ति के अधिकारों से सीमित हो जाते हैं। एक व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग तभी कर सकता है जबकि वह दूसरे के अधिकारों को मान्यता प्रदान करे। ऐसा न होने पर समाज में अराजकता फैल सकती है।

(5) व्यक्ति की माँग अथवा दावा—व्यक्तित्व विकास हेतु कुछ विशेष सुविधाएँ अथवा परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं इन सुविधाओं की पूर्ति पर ही व्यक्ति का विकास निर्भर करता है। अतः व्यक्ति इन सुविधाओं को माँग के रूप में समाज के समक्ष रखता है। समाज से स्वीकृति मिलने के पश्चात् यह माँगें अधिकार का रूप ले लेती हैं।

(6) सर्वव्यापकता अथवा सार्वभौमिकता—अधिकार सभी के लिए समान होते हैं। (समानता अधिकार का मूल तत्त्व है।) समानता के अभाव में अधिकार का कोई मूल्य तथा महत्त्व नहीं है। जाति, लिंग तथा धर्म के आधार पर किसी के साथ भेदभाव नहीं किया जा सकता। अधिकार सर्वव्यापक होते हैं तथा समाज के समस्त व्यक्तियों को समान रूप से प्राप्त होते हैं।

(7) अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर सम्बन्धित हैं—अधिकार तथा कर्त्तव्य परस्पर आश्रित हैं। एक व्यक्ति का अधिकार दूसरे का कर्त्तव्य हो जाता है। अधिकारों में कर्त्तव्य की भावना निहित है। कर्त्तव्य रहित अधिकार का कोई मूल्य नहीं होता।

(8) निरन्तर विकासशील—व्यक्तियों की आवश्यकताएँ निरन्तर बदलती रहती हैं तथा बदलती आवश्यकताओं के अनुरूप अधिकारों में परिवर्तन अनिवार्य हो जाता है। अतः अधिकारों की ऐसी सूची तैयार करना असम्भव है जिसमें परिवर्तन की कोई सम्भावना न हो।

(9) कल्याणकारी स्वरूप—अधिकारों का स्वरूप नैतिक होता है अतः किसी भी ऐसी स्वतन्त्रता अथवा सुविधा को अधिकार की मान्यता नहीं मिल सकती जिससे व्यक्ति के व्यक्तित्व का चारित्रिक पतन होता हो अथवा उसके विकास में बाधा पहुँचती हो। यही कारण है कि मद्यपान, जुआ खेलना अथवा आत्महत्या करना अधिकार के अन्तर्गत नहीं आते हैं।

(10) राज्य द्वारा संरक्षित—राज्य अधिकारों का संरक्षक होता है। अधिकारों की रक्षा तथा आवश्यक व्यवस्था राज्य अपनी कानूनी शक्ति के द्वारा करता है। जब तक किसी अधिकार को राज्य अपनी स्वीकृति तथा संरक्षण प्रदान नहीं करता तब तक उसे परिभाषित अर्थ में अधिकार नहीं माना जा सकता।

अधिकारों का वर्गीकरण अथवा प्रकार
(CLASSIFICATION OR KINDS OF RIGHTS)

प्रमुख रूप से अधिकारों को निम्नांकित चार भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(1) प्राकृतिक अधिकार (Natural Rights)— जो अधिकार प्रकृति द्वारा मिलते हैं वे प्राकृतिक अधिकार कहलाते हैं। जॉन लॉक के मतानुसार राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व व्यक्ति प्रकृति के राज्य में रहता था। वहाँ उसे वह जीवन का अधिकार, स्वतन्त्रता का अधिकार तथा सम्पत्ति का अधिकार प्राप्त था। ये प्राकृतिक अधिकार थे। राज्य इन अधिकारों को समाप्त नहीं कर सकता अपितु इनकी रक्षा करता है। ग्रीन ने प्राकृतिक अधिकारों को आदर्श अधिकारों के रूप में माना है। उनके अनुसार ये वे अधिकार हैं जो व्यक्ति के नैतिक विकास हेतु आवश्यक हैं तथा जिनकी प्राप्ति समाज में ही सम्भव है।

अधिकारों का वर्गीकरण अथवा प्रकार
* प्राकृतिक अधिकार
* नैतिक अधिकार
* मौलिक अधिकार
* कानूनी अधिकार

वर्तमान काल में प्राकृतिक अधिकारों के सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि अधिकार समाज और राज्य के बिना प्राप्त ही नहीं किये जा सकते। व्यक्ति सिर्फ वही अधिकार प्राप्त कर सकता है जो राज्य उसे प्रदान करता है।

(2) नैतिक अधिकार (Moral Rights)—नैतिक अधिकार उन अधिकारों को कहते हैं जिनका सम्बन्ध व्यक्ति के नैतिक आचरण से होता है। इस प्रकार के अधिकार समाज द्वारा स्वीकृत होते हैं तथा समाज अपनी नैतिक शक्ति के आधार पर इनकी रक्षा करता है। इनका निर्माण धर्मशास्त्र एवं सामाजिक चेतना के आधार पर होता है। इनके पीछे समाज की नैतिक शक्ति होती है किन्तु कानूनी शक्ति नहीं होती है। राज्य न तो ऐसे अधिकारों को स्वीकार करता है तथा न ही इनका विरोध करता है। इनका मानना अथवा न मानना व्यक्तिगत इच्छा पर अधिक निर्भर होता है।

(3) मौलिक अधिकार (Fundamental Rights)—वे अधिकार जो मानव जीवन के लिए मौलिक तथा अपरिहार्य होने के कारण संविधान द्वारा नागरिकों को प्रदान किये जाते हैं, मौलिक अधिकार कहे जाते हैं। इन अधिकारों का राज्यों के संविधान में वर्णन कर दिया जाता है। न्यायपालिका इन अधिकारों की रक्षा करती है। सर्वप्रथम मौलिक अधिकार अमेरिकी संविधान में सम्मिलित किये गये। भारतीय संविधान द्वारा भी मौलिक अधिकार प्रदान किये गये हैं।

(4) कानूनी अधिकार (Legal Rights)—ये वे अधिकार हैं जिन्हें राज्य मान्यता प्रदान करता है तथा जिनकी रक्षा राज्य के कानूनों द्वारा होती है। कानूनी अधिकारों का उल्लंघन करने वाले को राज्य द्वारा दण्डित किया जाता है। लीकॉक के शब्दों में, "कानूनी अधिकार वे विशेषाधिकार हैं जो एक नागरिक को अन्य नागरिकों के विरुद्ध प्राप्त होते हैं तथा जो राज्य की सर्वोच्च शक्ति द्वारा प्रदान किये जाते हैं तथा रक्षित होते हैं।"

कानूनी अधिकारों को तीन भागों में बाँटा जा सकता है—(1) सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार, (2) राजनीतिक अधिकार तथा (3) आर्थिक अधिकार।

सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार
(SOCIAL OR CIVIL RIGHTS)

यह अधिकार व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास हेतु तथा सामाजिक जीवन के सभ्य, सुसंस्कृत एवं कुशल संचालन के लिए आवश्यक होते हैं। राज्य इन अधिकारों को कानून द्वारा मान्यता प्रदान करता है। सामाजिक अथवा नागरिक अधिकारों के प्रमुख प्रकार निम्नलिखित हैं—

(1) जीवन का अधिकार—जीवन का अधिकार एक प्रारम्भिक अधिकार है जिसके बिना न तो व्यक्ति और न ही समाज सुरक्षित रह सकता है। यदि राज्य मानवीय जीवन की रक्षा नहीं करेगा तो व्यक्ति को सदैव अपने जीवन की चिन्ता लगी रहेगी। इस बारे में प्रो. लास्की ने भी कहा है कि **"यदि मनुष्य को जीवन का अधिकार प्राप्त नहीं होगा तो वह सम्पूर्ण जीवन अपनी सुरक्षा में ही व्यतीत कर देगा।"**

जीवन के अधिकार में आत्म-सुरक्षा की स्वतन्त्रता भी निहित है। इसका तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति अपने जीवन की सुरक्षा हेतु हमलावर पर घातक वार कर सकता है। उसका यह कार्य अपराध नहीं माना जायेगा।

(2) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अर्थ है कि व्यक्ति अपने निजी क्षेत्र में पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है लेकिन वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता राज्य द्वारा निर्मित कानूनों की सीमाओं में रहकर ही प्राप्त कर सकता है।

सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार

* जीवन का अधिकार
* व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार
* शिक्षा का अधिकार
* परिवार का अधिकार
* संघ निर्माण का अधिकार
* समझौते का अधिकार
* आवागमन का अधिकार
* विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार
* समानता का अधिकार
* धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार
* न्याय प्राप्त करने का अधिकार

(3) शिक्षा का अधिकार—शिक्षा के अभाव में व्यक्ति पशु की भाँति होता है। अतः नागरिकों को शिक्षा का अधिकार प्रदान किया जाता है तथा इस अधिकार के उपभोग हेतु उन्हें वाचनालय, पुस्तकालय तथा संग्रहालयों इत्यादि अनेक प्रकार की सुविधाएँ दी जाती हैं। इसके अतिरिक्त प्रारम्भिक शिक्षा की अनिवार्य तथा निःशुल्क रूप में व्यवस्था भी की जाती है।

(4) परिवार का अधिकार—मनुष्य जाति को बनाये रखने के लिए परिवार का अधिकार परमावश्यक है। व्यक्ति अपनी इच्छानुसार विवाह कर सकता है तथा बच्चे पैदा कर सकता है। इस अधिकार द्वारा व्यक्ति की काम-प्रवृत्ति की पूर्ति होती है लेकिन इस अधिकार का प्रयोग सिर्फ समाज के कल्याण हेतु ही किया जाय इसलिए सरकार विवाह, तलाक, पत्नियों की संख्या तथा परिवार के सदस्यों में सम्पत्ति का विभाजन सम्बन्धी कानून बना देती है।

(5) संघ निर्माण का अधिकार—मानव अपने जीवन की विविध आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु अनेक प्रकार के आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक संगठन निर्मित करता है तथा राज्य उसके इस अधिकार को मान्यता देता है। लेकिन राज्य ऐसे संघ बनाने की अनुमति नहीं देता है जोकि राज्य के हितों के विरुद्ध हों। राज्य ऐसे संघों को समाप्त कर सकता है।

(6) समझौते का अधिकार—राज्य व्यक्ति को अन्य नागरिकों के साथ सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार भी प्रदन करता है। इससे व्यक्ति के परस्पर सम्बन्ध दृढ़ होते हैं तथा अनेक समस्याओं का समाधान भी हो जाता है।

(7) आवागमन का अधिकार—इस अधिकार के अन्तर्गत प्रत्येक व्यक्ति को राज्य की सीमा के भीतर स्वतन्त्रतापूर्वक एक स्थान से दूसरे स्थान को जाने की सुविधा प्राप्त होती है। राज्य उन स्थानों पर, जो कि राज्य की सुरक्षा हेतु महत्त्वपूर्ण होते हैं, जाने की आज्ञा नहीं देता। यदि व्यक्ति को यह अधिकार न दिया जाय तो वह गुलाम बन कर रह जायेगा।

(8) विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता का अधिकार—व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास हेतु विचार तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता के अधिकार का अत्यधिक महत्त्व है। इसे लोकतन्त्र का मुख्य आधार भी कहा जाता है। लोकतान्त्रिक राज्य में राज्य की नीति का आधार जन साधारण की इच्छा होनी चाहिए। परन्तु राज्य जन साधारण की इच्छा को तभी कार्य रूप दे सकता है जबकि वह उसे निर्भीक रूप से अभिव्यक्त करे। इस अधिकार के समर्थन में प्रो. लास्की ने कहा है, "एक व्यक्ति को अपने विचार के अनुसार भाषण की स्वतन्त्रता देना उसके व्यक्तित्व विकास की एकमात्र तथा अंतिम सुविधा तथा उसकी नागरिकता को नैतिक पूर्णता का एकमात्र साधन देना है।" मैकाइवर ने भी इस अधिकार के सम्बन्ध में लिखा है

"राज्य द्वारा विचारों को शक्ति द्वारा नहीं दबाना चाहिए। विचारों का विचारों के साथ ही संघर्ष हो सकता है तथा सिर्फ इसी प्रकार ही सत्य का अनुमान लग सकता है।"[1]

(9) समानता का अधिकार—समानता का अधिकार लोकतन्त्र की आत्मा है। इस अधिकार का अभिप्राय है कि सार्वजनिक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में मानवीय समानता की स्थापना की जानी चाहिए। प्रत्येक मंनुष्य को अन्य मनुष्यों के समान सम्मान एवं महत्त्व प्राप्त होना चाहिए। व्यक्ति के मध्य धर्म, नस्ल, जाति, भाषा, लिंग, जन्म-स्थान तथा धन इत्यादि के आधार पर अन्तर नहीं किया जाना चाहिए। इस अधिकार को मूर्त रूप देने के लिए भारत के संविधान में छुआछूत को गैर-कानूनी घोषित किया गया है तथा अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों इत्यादि को सार्वजनिक जीवन में संरक्षण दिया गया है।

(10) धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार—लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यक्ति को धार्मिक स्वतन्त्रता अर्थात् किसी भी धर्म में आस्था रखने, उसका प्रचार करने तथा गुरुद्वारा, मन्दिर, मस्जिद एवं चर्च इत्यादि बनवाने की स्वतन्त्रता है। कोई भी धर्म किसी पर थोपा नहीं जाता लेकिन साम्यवादी राष्ट्र धार्मिक स्वतन्त्रता के अधिकार को कोई महत्त्व नहीं देते हैं।

(11) न्याय प्राप्त करने का अधिकार—गरीब एवं निर्बल लोगों को अत्याचार से बचाने हेतु न्याय प्राप्ति के अधिकारों का प्रबन्ध किया जाता है। यदि मानव को यह अधिकार न दिया जाय तो उसके अनेक अधिकार व्यर्थ हो जायेंगे। इसलिए संविधान के द्वारा न्यायालयों में जाने का तथा न्याय प्राप्त करने का अधिकार दिया जाता है।

राजनीतिक अधिकार
(POLITICAL RIGHTS)

डॉ. बेनी प्रसाद के शब्दों में, "राजनीतिक अधिकारों का आशय उन व्यवस्थाओं से है जिनमें नागरिकों को शासन के कार्यों में हिस्सा लेने का अवसर प्राप्त होता है अथवा नागरिक, शासन प्रबन्ध को प्रभावित कर सकते हैं। राजनीतिक अधिकार व्यक्ति को राज्य का सदस्य होने के परिणामस्वरूप मिलते हैं। इनके द्वारा व्यक्ति राज्य के शासन कार्यों में प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेने का अवसर पाता है। साधारणतया एक लोकतान्त्रिक राज्य के द्वारा अपने नागरिकों को निम्नलिखित राजनीतिक अधिकार प्रदत्त किये जाते हैं—

राजनीतिक अधिकार
* मत देने का अधिकार
* निर्वाचित होने का अधिकार
* सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार
* आवेदन-पत्र और सम्मति देने का अधिकार
* राजनीतिक दल बनाने का अधिकार
* विदेशों में रक्षा का अधिकार

(1) मत देने का अधिकार—लोकतन्त्र शासन का यह प्रमुख अधिकार है। आधुनिक समय में विश्व के अधिकांश देशों में लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था है। आज के राष्ट्र-राज्यों की विशाल जनसंख्या के कारण प्रत्यक्ष लोकतन्त्र असम्भव हो गया है। अतः प्रतिनिधिमूलक या अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र प्रचलित है। इसमें राज्य के नागरिक अपने प्रतिनिधियों का चयन कर संसद और विधानमण्डल में भेजते हैं। लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक है कि देश के अधिकतम नागरिकों को जाति, वर्ण, धर्म, सम्प्रदाय तथा लिंग इत्यादि के बिना

---

1 "The state should not use force to supress opinions. Opinions can be fought only by opinions. Only thus, it is possible for truth to be revealed." —*MacIver*

भेदभाव के मताधिकार का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इस दृष्टि से प्रायः सभी देशों में वयस्क मताधिकार के सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। मॉण्टेस्क्यू ने कहा था कि **"प्रतिनिधियों को चुनने का अधिकार सभी व्यक्तियों को होना चाहिए, सिवाय उनके जो ऐसी स्थिति में हों (पागल, दिवालिया और बच्चे) कि वे उचित ढंग से सोच-विचार न कर सकें।"**

(2) निर्वाचित होने का अधिकार—लोकतन्त्र में शासक और शासित का कोई अन्तर नहीं होता और योग्यता सम्बन्धी कुछ प्रतिबन्धों के साथ राज्य के समस्त नागरिकों को जनता के प्रतिनिधि के रूप में निर्वाचित होने का अधिकार होता है। वर्तमान काल में प्रायः सभी देशों में यह अधिकार समस्त नागरिकों को प्राप्त है।

(3) सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार—राज्य के समस्त सार्वजनिक पदों पर, व्यक्तियों को योग्यता के आधार पर नियुक्ति पाने का समान अधिकार दिया जाना चाहिए।

(4) आवेदन-पत्र और सम्मति देने का अधिकार—इस अधिकार के अन्तर्गत नागरिकों को यह अवसर दिया जाता है कि वे वैयक्तिक अथवा सामूहिक रूप में सरकार को शासन सम्बन्धी शिकायतें दूर करने के लिए अथवा शासन को अधिकाधिक लोककल्याणकारी बनाने के लिए आवेदन-पत्र दे सकते हैं। इस प्रकार वे शासन की नीतियों के समर्थन में अपनी सम्मति भी प्रकट कर सकते हैं। गुरुमुख निहाल सिंह ने कहा है, **"यह अधिकार व्यक्तिगत अथवा सामूहिक रूप से व्यक्ति की कठिनाइयों एवं शिकायतों को दूर करने का प्राचीन तथा बहुमूल्य अधिकार है।"**

(5) राजनीतिक दल बनाने का अधिकार—लोकतन्त्र में नागरिकों को अलग-अलग राजनीतिक दल बनाने का अधिकार प्राप्त होता है। यह राजनीतिक दल चुनावों में हिस्सा लेते हैं, सरकार बनाते हैं तथा सरकार की आलोचना इत्यादि करते हैं।

(6) विदेशों में रक्षा का अधिकार—संसार के समस्त नागरिक जिस समय विदेशों में जाते हैं उस समय उनकी रक्षा की जिम्मेदारी राष्ट्र अपने ऊपर लेता है। इस कार्य के लिए राष्ट्रों के राजदूतों द्वारा परस्पर सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं।

आर्थिक अधिकार
(ECONOMIC RIGHTS)

राज्य द्वारा व्यक्ति को निम्नलिखित आर्थिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं—

(1) काम का अधिकार—प्रत्येक राज्य नागरिक को अपनी इच्छानुसार कार्य करने का अधिकार देता है क्योंकि अच्छा जीवनयापन करने हेतु एवं प्रारम्भिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु रोजगार अत्यावश्यक है। काम का अधिकार व्यक्ति को अपनी एवं परिवार की भौतिक आवश्यकताओं—भोजन, कपड़ा, निवास-स्थान, दवा, शिक्षा व मनोरंजन इत्यादि की पूर्ति में सहायता देता है। चीन तथा यूगोस्लाविया इत्यादि राज्यों में काम के अधिकार को संवैधानिक मान्यता दी गयी है। अमेरिका तथा ब्रिटेन जैसे समृद्धिशाली राज्यों ने इसे मौलिक अधिकारों के रूप में तो मान्यता नहीं दी है लेकिन उन्होंने व्यवहार में इसे

आर्थिक अधिकार

* **काम का अधिकार**
* **उचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार**
* **विश्राम का अधिकार**
* **आर्थिक समानता का अधिकार**
* **सम्पत्ति का अधिकार**
* **आर्थिक सुरक्षा का अधिकार**

स्वीकार किया है। अनेक राज्य, आर्थिक कठिनाइयों के कारण अपनी जनता को यह अधिकार नहीं दे पाये हैं परन्तु वे इसे नैतिक दायित्व मानते हैं तथा इस दिशा में अग्रसर हैं।

(2) उचित पारिश्रमिक प्राप्त करने का अधिकार—प्रत्येक नागरिक सिर्फ कार्य ही नहीं माँगता अपितु काम के बदले उचित पारिश्रमिक भी माँगता है। यदि उसे उचित पारिश्रमिक मिलेगा तो वह कार्य में अधिक रुचि लेगा। इससे उत्पादन में वृद्धि होगी तथा देश की आर्थिक स्थिति में सुधार होगा। प्रो. लास्की के शब्दों में, **"एक व्यक्ति को सिर्फ काम पाने का ही अधिकार नहीं है अपितु उसे यह भी अधिकार है कि उसे कार्य करने के लिए उपयुक्त पारिश्रमिक मिले।"**

(3) विश्राम का अधिकार—वर्तमान में राज्य व्यक्ति को आराम करने का अधिकार भी देता है। मानव एक यन्त्र नहीं है जिसका कि लगातार प्रयोग किया जा सके। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए ही राज्य काम करने का समय निश्चित करता है तथा अवकाश का प्रबन्ध करता है।

(4) आर्थिक समानता का अधिकार—आर्थिक समानता का तात्पर्य है कि समाज में गम्भीर आर्थिक विषमताएँ नहीं होनी चाहिए। अर्थव्यवस्था का संचालन सार्वजनिक हित में इस प्रकार से किया जाय कि सम्पत्ति एवं उत्पादन के साधनों का न्यायसंगत वितरण हो सके।

(5) सम्पत्ति का अधिकार—आधुनिक काल में सम्पत्ति का अधिकार बड़े वाद-विवाद वाला अधिकार बन गया है। अरस्तू तथा लॉक इसे प्राकृतिक अधिकार मानते हैं। इसके विपरीत, प्लेटो सम्पत्ति के अधिकार का विरोध करते हैं। कार्ल मार्क्स ने सम्पत्ति को 'लूट के माल' की संज्ञा दी है। इसी कारण समाजवादी राष्ट्र रूस, चीन इत्यादि सम्पत्ति के अधिकार के विरोधी हैं।

राज्य अथवा सरकार को किसी व्यक्ति की निजी सम्पत्ति को समुचित मुआवजा दिये बिना छीनने का अधिकार नहीं है क्योंकि सम्पत्ति ही वह प्रेरणा स्रोत है जो मानव को आगे बढ़ने की प्रेरणा देती है।

वर्तमान समय में सम्पत्ति के अधिकार को अनियमित एवं अनियन्त्रित रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि जहाँ एक ओर सम्पत्ति व्यक्ति की प्रेरणा स्रोत है वहीं दूसरी ओर सम्पत्ति घमण्ड, शोषण, उत्पीड़न एवं अकर्मण्यता को प्रोत्साहित करती है। लास्की ने उचित ही लिखा है, **"धनवान तथा निर्धन में विभाजित समाज रेत की नींव पर टिका होता है।"**

(6) आर्थिक सुरक्षा का अधिकार—आधुनिक कल्याणकारी राज्य में आर्थिक सुरक्षा का अत्यधिक महत्त्व है। इस अधिकार का तात्पर्य यह है कि व्यक्ति को बुढ़ापा, बीमारी, बेरोजगारी तथा अपंग इत्यादि होने की स्थिति में आर्थिक सुरक्षा प्रदान की जाय। आज ऐसे अनेक राज्य हैं जो वृद्धावस्था में व्यक्ति को पेंशन इत्यादि की व्यवस्था करते हैं।

राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार
(RIGHT TO REVOLT AGAINST THE STATE)

अधिकारों के सन्दर्भ में प्रायः यह प्रश्न किया जाता है कि व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार है अथवा नहीं? यदि नागरिक को यह अधिकार प्राप्त हो तो किस सीमा तक तथा किन परिस्थितियों में इस अधिकार का उपयोग किया जाना उचित है।

वे विद्वान जो राज्य की कानूनी प्रभुसत्ता तथा अधिकारों के कानूनी सिद्धान्त में आस्था रखते हैं, राज्य के प्रति किसी भी प्रकार के विद्रोह के अधिकार से असहमत हैं। उनका विचार है कि राज्य की शक्ति सर्वोच्च है और वह अधिकारों का जन्मदाता है अतः उसके विरुद्ध विद्रोह के अधिकार की कल्पना भी अनुचित है। राज्य के प्रति भक्ति और राज्य की आज्ञाओं का पालन व्यक्ति का कानूनी कर्त्तव्य होता है और इसलिए व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का कानूनी अधिकार तो प्राप्त हो ही नहीं सकता लेकिन व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध विद्रोह का नैतिक अधिकार अवश्य प्राप्त होता है। इस पक्ष का समर्थन मुख्य रूप से उदार आदर्शवादी टी. एच. ग्रीन ने किया है। लास्की ने इसका समर्थन समाज के कल्याणकारी आधारों पर किया है और महात्मा गाँधी ने इसका समर्थन आध्यात्मिक आधारों पर किया है।

ग्रीन विद्रोह का अधिकार देते हुए कहता है, "यदि राज्य उस उच्च नैतिक उद्देश्य (अपने नागरिकों की आत्मोन्नति को सम्भव बनाना) की पूर्ति नहीं करता जिसके लिए वह विद्यमान है तो वह नागरिकों की राज्य-भक्ति का दावा नहीं कर सकता।" ऐसी दशा में नागरिकों को राज्य के विरुद्ध या कम से कम उस सरकार के विरुद्ध अधिकार है जिसमें राज्य का अपूर्ण रूप प्रकट होता है। किन्तु ग्रीन ने यह चेतावनी दी है कि इस अधिकार का वहुत सोच-विचार कर ही प्रयोग किया जाना चाहिए।

लास्की ने भी व्यक्ति को उसी समय राज्य के विरुद्ध विद्रोह का अधिकार दिया है जबकि राज्य जीवन, स्वतन्त्रता एवं सम्पत्ति के अधिकारों की रक्षा न करे। उन्होंने राज्य के विरुद्ध विद्रोह के अधिकार का समर्थन करते हुए कहा है, "नागरिकता व्यक्ति के विवेकपूर्ण निर्णय का जनकल्याण में प्रयोग है।" यदि व्यक्ति को इस बात का पूर्ण विश्वास हो जाये तो विद्यमान शासन-व्यवस्था सामान्य जनता के हित और कल्याण में कार्य नहीं कर सकती तो राज्य के विरुद्ध विद्रोह व्यक्ति का एक नैतिक अधिकार नहीं बल्कि एक नैतिक कर्त्तव्य भी हो जाता है।

महात्मा गाँधी ने कहा है, "व्यक्ति का सर्वोच्च कर्त्तव्य अपनी अन्तरात्मा के प्रति होता है।" अतः अन्तरात्मा की पुकार पर सरकार का विरोध किया जा सकता है।

वर्तमान समय में प्रसिद्ध समाजवादी नेता लोकनायक जयप्रकाश नारायण के विचार अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जो उन्होंने तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी को 21 जुलाई, 1975 को लिखे पत्र में व्यक्त किये थे, **"किसी लोकतन्त्र में निर्वाचित सरकार यदि भ्रष्ट हो जाय और कुशासन करती रहे तो उससे त्यागपत्र माँगने का अधिकार जनता के पास अवश्य होता है और यदि कोई विधान मण्डल जो ऐसी सरकार को समर्थन देता ही चला जाय तो उस विधान मण्डल को भी हटाना होगा ताकि जनता अपने अधिक श्रेष्ठ प्रतिनिधि चुन सके।"**

ग्रीन, लास्की, गाँधी और जयप्रकाश नारायण के अनुसार राज्य के प्रति विद्रोह के नैतिक अधिकार का प्रयोग निम्न प्रकार से किया जाना चाहिए—

(1) विद्रोह का अधिकार—विद्रोह केवल नैतिक आधार पर ही किया जा सकता है। सिद्धान्ततः राज्य सार्वजनिक कल्याण की संस्था है और व्यवहार में उसका आचरण इसी प्रकार का होना चाहिए किन्तु सम्भव है कि व्यवहार में वह सामान्य जनता के प्रति अन्याय की नीति का पालन करे। इस स्थिति में व्यक्ति व समाज का विद्रोह नैतिक है।

(2) विद्रोह का उद्देश्य—विद्रोह का आधार नैतिक है और इसलिए उसका उद्देश्य भी नैतिक होता है। विद्रोह का उद्देश्य व्यक्ति विशेष या वर्ग विशेष के हितों की रक्षा करना नहीं अपितु सार्वजनिक हितों की रक्षा करना है।

(3) विद्रोही नेतृत्व का चरित्र—राज्य के प्रति विद्रोह के अधिकार की प्रकृति नैतिक है और उसका उद्देश्य भी नैतिक मूल्यों की पुनः स्थापना है अतः यह आवश्यक है कि विद्रोह की प्रेरणा देने वाला नेतृत्व तथा चरित्र उच्चकोटि का हो, वे संयमी और विवेकशील हों अन्यथा विद्रोह सफल होकर भी उद्देश्यों की प्राप्ति में असमर्थ रहेगा।

(4) विद्रोह के सम्बन्ध में सावधानियाँ—विद्रोह के अधिकार के प्रयोग के सम्बन्ध में कुछ सावधानियाँ अवश्य ध्यान में रखी जानी चाहिए अन्यथा विद्रोह से हानियाँ हो सकती हैं—

(i) स्थिति को सुधारने और वांछित परिवर्तन लाने के लिए विद्रोह के पूर्व सभी संवैधानिक साधनों का प्रयोग किया जाना चाहिए। टी. एच. ग्रीन का मत है कि इन साधनों के असफल होने पर हिंसात्मक साधन अपनाये जाने चाहिए किन्तु महात्मा गाँधी का मत है कि किसी भी स्थिति में हिंसात्मक व क्रान्तिकारी साधन उचित नहीं हैं।

(ii) यह सम्भव है कि विद्रोह के परिणाम विद्रोह से पूर्व की स्थिति से भी अधिक दुःखदायी हों, इस स्थिति में विद्रोह का समर्थन नहीं किया जा सकता है। इस स्थिति से बचने के लिए आवश्यक है कि विद्रोह से पूर्व इसके परिणामों पर हानि-लाभ की दृष्टि से गम्भीरतापूर्वक विचार कर लिया जाना चाहिए। विद्रोह उस स्थिति में ही किया जाना चाहिए जब विद्रोह से लाभ की सम्भावना अधिक हो।

विलोबी और रोजर्स का कहना है, **"नागरिकों को क्रान्ति करने के नैतिक अधिकार से वंचित नहीं किया जा सकता है परन्तु क्रान्ति तभी की जा सकती है जब सरकार के विरोध में अन्य सभी उपाय असफल रहें और क्रान्ति का परिणाम जनता के हित में हो।"**

राज्य के प्रति विद्रोह के अधिकार का उपयोग करने से पहले नागरिकों को सभी वैध उपायों का प्रयोग अवश्य कर लेना चाहिए तथा यदि जनता ने संसद को छोड़कर सड़क पर निकलने का निर्णय कर ही लिया है तो उसके परिणामों पर भली-भाँति विचार कर लेना चाहिए क्योंकि यह अधिकार राज्य के उत्पन्न विकारों की अन्तिम औषधि है न कि प्रतिदिन का भोजन। इस औषधि का प्रयोग करने से पहले ए. एच. साल्टो के अनुसार, **"प्रत्येक व्यक्ति को यह अवश्य सोच लेना चाहिए कि यदि प्रत्येक व्यक्ति मेरे जैसा ही कार्य करे तो उसका परिणाम क्या निकलेगा।"**

कर्त्तव्य का अर्थ
(MEANING OF 'DUTY')

भारतीय प्राचीन विचारकों ने अधिकार की अपेक्षा कर्त्तव्य-पालन पर अधिक जोर दिया है। कौटिल्य ने कर्त्तव्य को स्वधर्म कहा है। कर्त्तव्य अंग्रेजी भाषा के शब्द 'ड्यूटी' (Duty) का हिन्दी अनुवाद है। 'ड्यूटी' शब्द की उत्पत्ति 'Due' से हुई है जिसका अर्थ 'उचित' होता है। अतः कर्त्तव्य से तात्पर्य ऐसे कार्य से है जिसे कोई व्यक्ति स्वाभाविक, नैतिक तथा कानूनी दृष्टि से करने हेतु बाध्य है। लैड के शब्दों में, **"करना चाहिए की भावना ही कर्त्तव्य है।"** राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी के शब्दों में, **"कर्त्तव्य अधिकार का सच्चा स्रोत है। यदि हम अपने कर्त्तव्यों का पालन करते रहें तो अधिकार हमसे दूर न रहेंगे।"**

डॉ. जाकिर हुसैन के मतानुसार, **"अपने दायित्वों एवं सेवाओं का सक्रिय इच्छा द्वारा निर्वाहक करना ही कर्त्तव्य है।"**[1]

1 **"Duty is an active desire to fulfil obligations and responsibilites."**
—*Dr. Zakir Hussain*

संक्षेप में, किसी विशेष कार्य के करने अथवा न करने के सम्बन्ध में व्यक्ति के उत्तरदायित्व को ही कर्त्तव्य कहा जा सकता है। अन्य शब्दों में, जिन कार्यों के सम्बन्ध में समाज एवं राज्य सामान्य रूप से व्यक्ति से यह आशा करते हैं कि उसे वे कार्य करने चाहिए, उन्हीं को व्यक्ति के कर्त्तव्य की संज्ञा दी जा सकती है।

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण अथवा प्रकार
(CLASSIFICATION OR KINDS OF DUTIES)

नागरिकों के कर्त्तव्यों का क्षेत्र अत्यधिक व्यापक है क्योंकि उसको एक साथ अनेक प्रकार के कर्त्तव्यों का पालन करना पड़ता है। एक नागरिक के प्रमुख कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं—

(1) नैतिक कर्त्तव्य (Moral Duties)—नैतिक कर्त्तव्य उसे कहते हैं जिसका सम्बन्ध व्यक्ति की नैतिक भावना, अन्तःकरण तथा उचित कार्य की प्रवृत्ति से होता है। वस्तुतः नैतिक कर्त्तव्य का सम्बन्ध व्यक्ति के अन्तःकरण से होता है। इन कर्त्तव्यों को राज्य द्वारा मान्यता प्राप्त नहीं होती। नागरिक के नैतिक कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं—

> **कर्त्तव्यों का वर्गीकरण**
> * नैतिक कर्त्तव्य
> * कानूनी कर्त्तव्य अथवा राज्य के प्रति कर्त्तव्य

(i) परिवार के प्रति कर्त्तव्य—व्यक्ति, राज्य और समाज के विकास में कुटुम्ब का प्रमुख स्थान है। परिवार में ही मनुष्य को सर्वप्रथम शिक्षा मिलती है और उसमें नागरिक गुणों का बीजारोपण होता है। श्रेष्ठ नागरिक और स्वस्थ समाज के निर्माण के लिए स्वस्थ परिवार का होना भी आवश्यक है। यह तभी सम्भव है जबकि नागरिक परिवार के अनुशासन और आचरण का पालन करे।

(ii) अपने प्रति कर्त्तव्य—राज्य यां समाज अन्ततः नागरिकों का संगठन है। नागरिकों की उन्नति पर ही उसकी उन्नति निर्भर है। स्वस्थ, चरित्रवान, परिश्रमी तथा स्वावलम्बी नागरिक एक स्वस्थ समाज और राज्य का निर्माण कर सकते हैं। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने विकास पर पूर्ण ध्यान दे। इसके लिए उसे स्वस्थ, संयमी, अनुशासनप्रिय, शिक्षित और परोपकारी होना चाहिए। यदि कोई नागरिक अपने शारीरिक और मानसिक विकास के प्रति उदास रहता है तो वह अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता।

(iii) ग्राम, नगर, जाति तथा समाज के प्रति कर्त्तव्य—परिवार के अतिरिक्त नागरिक को अपने ग्राम, नगर जाति एवं समाज से भी सहायता मिलती है। अतः इन संगठनों के प्रति भी उसके कुछ कर्त्तव्य हैं। उसका कर्त्तव्य है कि इन संगठनों की उन्नति में सहायता पहुँचाये।

(2) कानूनी कर्त्तव्य (Legal Duties) अथवा राज्य के प्रति कर्त्तव्य—ये नागरिक के वे कर्त्तव्य होते हैं जिन्हें राज्य निर्धारित करता है। नागरिक को इनका पालन अनिवार्य रूप से करना होता है। इनके उल्लंघन करने पर राज्य द्वारा दण्ड दिया जाता है। नागरिक के प्रमुख कानूनी कर्त्तव्य निम्न प्रकार हैं—

(i) राज्य के प्रति निष्ठा—राज्य के प्रति निष्ठा और भक्ति की भावना नागरिक का प्रथम कर्त्तव्य होता है। उसे शत्रुओं से देश को बचाने के लिए देश के अन्दर शान्ति और सुव्यवस्था बनाये रखने में राज्य की सहायता करनी चाहिए। आपातकाल में अनिवार्य सैनिक सेवा इसी प्रकार का कर्त्तव्य का फल है।

(ii) **कानून का पालन**—कानून का निर्माण समाज के कल्याण के लिए होता है। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह राज्य-निर्मित नियमों का पालन करे। ऐसा करके वह राज्य के लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक सिद्ध होगा।

(iii) **करों का भुगतान**—शासन-संचालन और नागरिकों की उन्नति के लिए प्रत्येक राज्य को आर्थिक शक्ति की आवश्यकता होती है। इस आर्थिक शक्ति को प्राप्त करने के लिए राज्य विविध प्रकार के कर लगाता है। अतः प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह समय से सभी प्रकार के करों का भुगतान करे।

(iv) **मत का उचित प्रयोग**—लोकतन्त्र को चलाने के लिए चूँकि जनता के प्रतिनिधियों की आवश्यकता होती है और उन प्रतिनिधियों पर ही देश का भविष्य निर्भर करता है इसलिए नागरिकों का कर्त्तव्य है कि वे जनता के प्रतिनिधियों का चुनाव पर्याप्त सोच-समझकर करें। जाति, धर्म अथवा धन को मत का आधार नहीं बनाना चाहिए।

(v) **सार्वजनिक पद ग्रहण करना**—प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह सार्वजनिक पद को ग्रहण करने के लिए सदैव तत्पर रहे, साथ ही समाज द्वारा सौंपे गये उत्तरदायित्वों का निष्ठापूर्वक निर्वाह करे।

गुरुमुख निहाल सिंह ने नागरिकों के कुछ सामान्य कर्त्तव्यों का वर्णन निम्न प्रकार किया है—

(i) प्रत्येक नागरिक को अपने पैरों पर खड़ा होना चाहिए, उसे समाज पर बोझ नहीं होना चाहिए।
(ii) प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने बच्चों का अच्छी तरह से लालन-पालन करे और उसके लिए सर्वोत्तम शिक्षा की व्यवस्था करे।
(iii) नागरिकों को अपने ऊपर राज्य द्वारा सौंपे गये जूरी अथवा न्याय-सहायक (assessor) का कार्य निष्ठापूर्वक निभाना चाहिए।
(iv) प्रत्येक नागरिक को अपने अन्दर सामाजिक विवेक और जनभावना का विकास करना चाहिए।
(v) प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह अपने पास-पड़ौस को साफ-सुथरा रखे और अपने पड़ौसियों के आराम और सुविधा में किसी प्रकार की सार्वजनिक बाधा न उत्पन्न न करे।
(vi) जन-समितियों, संगठनों, स्थानीय संस्थाओं के सदस्य इत्यादि के रूप में हमें अपने कर्त्तव्यों का पालन करना चाहिए।

अधिकार तथा कर्त्तव्यों का परस्पर सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN RIGHTS AND DUTIES)
अथवा
'अधिकार तथा कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं'
(RIGHTS AND DUTIES ARE THE TWO ASPECTS OF THE SAME COIN)

अधिकार तथा कर्त्तव्य यद्यपि दो अलग-अलग शब्द हैं लेकिन दोनों में परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। अधिकार तथा कर्त्तव्य के बीच वही सम्बन्ध है जो शरीर एवं आत्मा में है। एक के अभाव में हम दूसरे की कल्पना नहीं कर सकते हैं। दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्धों को अग्र प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

"है अटूट सम्बन्ध बहुत कर्त्तव्य और अधिकारों में।
इनमें है सम्बन्ध वही जो है कैंची की धारों में॥"

एक व्यक्ति का जो अधिकार है, वह दूसरे व्यक्ति का कर्त्तव्य है। इस सम्बन्ध में प्रो. लास्की ने उचित ही कहा है, "मेरा अधिकार तुम्हारे कर्त्तव्य के साथ बँधा हुआ है।"[1]

प्रायः अधिकार एवं कर्त्तव्य को परस्पर विरोधी समझा जाता है। एक सामान्य व्यक्ति यह सोचता है कि अधिकार उपभोग की वस्तु है, अतः लाभदायक है तथा कर्त्तव्य त्याग की माँग करते हैं अतः हानिकारक एवं कष्टदायक हैं। लेकिन ऐसा दृष्टिकोण एक मूर्ख एवं अज्ञानी व्यक्ति का ही हो सकता है, राजनीतिक चेतना-सम्पन्न नागरिक का नहीं। मूल रूप से व्यक्ति एवं समाज अथवा नागरिक एवं राज्य परस्पर विरोधी न होकर सहयोगी हैं। एक नागरिक का वास्तविक हित अन्य नागरिकों के वास्तविक हितों के विरुद्ध नहीं हो सकता। मानव एक राजनीतिक सामाजिक प्राणी है अतः उसके हित अन्य लोगों के हितों के विरुद्ध सम्भव नहीं हैं। डॉ. बेनी प्रसाद का यह कथन उचित ही है, "अधिकार तथा कर्त्तव्य एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। यदि व्यक्ति उन्हें अपने दृष्टिकोण से देखता है तो अधिकार हैं तथा इसी को दूसरों के दृष्टिकोण से देखा जाता है तो वे कर्त्तव्य हो जाते हैं।"[2] इसीलिए ग्रीन ने भी कहा है, "अधिकार कर्त्तव्यों के पूरक हैं।" महात्मा गाँधी की भी मान्यता है, "अधिकारों का वास्तविक स्रोत कर्त्तव्य हैं।"[3]

अधिकार तथा कर्त्तव्यों का परस्पर सम्बन्ध निम्न प्रकार से व्यक्त किया जा सकता है—

अधिकारों और कर्त्तव्यों का परस्पर सम्बन्ध

* अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों ही माँगें हैं
* कर्त्तव्यपालन से ही अधिकारों की प्राप्ति सम्भव
* व्यक्ति का अधिकार समाज तथा राज्य का कर्त्तव्य
* अधिकार एवं कर्त्तव्य दार्शनिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित
* नागरिक के अधिकार राज्य के प्रति कर्त्तव्य उत्पन्न करते हैं
* व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसका कर्त्तव्य
* मानवता के प्रति कर्त्तव्य

(1) अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों ही माँगें हैं—अधिकार तथा कर्त्तव्य दोनों ही व्यक्ति तथा समाज की अनिवार्य माँगें हैं। जहाँ अधिकार व्यक्ति की माँग हैं जिन्हें समाज स्वीकार कर लेता है तो वहीं कर्त्तव्य समाज की माँगें हैं जिन्हें व्यक्ति सार्वजनिक हित में स्वीकार करता है। वाइल्ड के शब्दों में कहा जा सकता है, "अधिकार का महत्त्व, कर्त्तव्यों के संसार में ही है।"

(2) कर्त्तव्यपालन से ही अधिकारों की प्राप्ति सम्भव—यदि समाज के समस्त व्यक्ति सहयोग करेंगे तभी अधिकारों का अस्तित्व रह पायेगा तथा जब सहयोग की भावना का विकास होता है तभी कर्त्तव्य आ जाते हैं। कर्त्तव्यों के पालन में अधिकारों के उपभोग का रहस्य छिपा हुआ है। महात्मा गाँधी ने ठीक ही कहा था, "संसार में ऐसा कोई आदमी ऊँचा

---

1 "Rights are co-relative with functions." —Laski
2 "They are two aspects of the same thing. If one looks at them from one's own stand point, they are rights. If one looks at them from the stand point of others, they are duties." —Dr. Beni Prasad
3 "The true source of rights is duty." —Mahatma Gandhi

नहीं उठा जिसने सिर्फ अधिकारों के विषय में ही सोचा हो। वही ऊपर उठ पाये हैं जिन्होंने कर्त्तव्यों को प्रमुखता दी।"[1]

(3) व्यक्ति का अधिकार समाज तथा राज्य का कर्त्तव्य—व्यक्ति अपने अधिकारों का उपभोग तभी कर सकता है जबकि समाज और राज्य अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। अधिकारों का अस्तित्व समाज की सहमति तथा राज्य के संरक्षण पर आधारित है। यदि राज्य कानूनों के द्वारा नागरिकों के अधिकारों को संरक्षण प्रदान नहीं करेगा तो नागरिकों के अधिकार महत्त्वहीन हो जायेंगे।

(4) अधिकार एवं कर्त्तव्य दार्शनिक दृष्टिकोण से सम्बन्धित—हिन्दू धर्मशास्त्र के अनुसार अधिकार तथा कर्त्तव्य में वही सम्बन्ध है जो कार्य तथा उसके परिणाम के बीच है।

(5) नागरिक के अधिकार राज्य के प्रति कर्त्तव्य उत्पन्न करते हैं—राज्य नागरिकों के विकास हेतु विविध सामाजिक एवं राजनीतिक अधिकार प्रदान करता है। अतः नागरिकों का पुनीत कर्त्तव्य है कि वह राज्य के प्रति अपने कर्त्तव्यों का पालन करें। राज्य के प्रति भक्ति-भाव रखना, राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करना तथा उसके द्वारा लगाये गये करों का भुगतान करना नागरिकों का पुनीत कर्त्तव्य है। आपातकाल के समय स्वयं को राज्य के प्रति समर्पित करना भी नागरिक का ही कर्त्तव्य है। नागरिक के कर्त्तव्य-पालन पर ही राज्य नागरिक को अधिकतम विकास के लिए सुविधाएँ प्रदान करने हेतु सक्षम होता है।

(6) व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसका कर्त्तव्य—समाज में प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार स्वयं उसका कर्त्तव्य है। यदि एक व्यक्ति चाहता है कि वह अपने अधिकारों का उपभोग बिना किसी रुकावट के करे तथा समाज के लोग उसके अधिकार में रोड़ा न अटकायें तो उसका कर्त्तव्य है कि वह उसी प्रकार के दूसरे व्यक्तियों के अधिकारों को मान्यता प्रदान करे तथा उनके अधिकारों के उपभोग में रुकावट पैदा न करे। डॉ. बेनी प्रसाद के मतानुसार, **"यदि प्रत्येक व्यक्ति सिर्फ अपने अधिकार का ही ध्यान रखे तथा दूसरों के प्रति कर्त्तव्यों का पालन न करे तो शीघ्र ही किसी के लिए भी अधिकार नहीं रहेंगे।"**[2]

(7) मानवता के प्रति कर्त्तव्य—आधुनिक काल में व्यक्ति अपने राज्य का ही नहीं अपितु विश्व का नागरिक है। विश्व नागरिकता का विचार दिन-प्रतिदिन प्रबल रूप धारण कर रहा है। श्रेष्ठ नागरिक का यह कर्त्तव्य है कि वह सम्पूर्ण विश्व में शान्ति कायम करने के लिए राष्ट्रीय सहयोग तथा सुरक्षा में भागीदारी करे।

उपर्युक्त के पश्चात् हम कह सकते हैं कि समाज में हमें कुछ अधिकार मिलते हैं तथा उनके बदले में हम जो ऋण चुकाते हैं वे हमारे कर्त्तव्य हैं। इस प्रकार अधिकारों में कर्त्तव्य निहित हैं। वर्तमान में व्यक्ति अधिकारों की अधिक कामना करते हैं। लेकिन वे भूल जाते हैं कि अधिकारों के साथ-साथ कर्त्तव्य-पालन भी आवश्यक है। वस्तुतः अधिकार एवं कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं। श्रीनिवास शास्त्री के अनुसार, **"अधिकारों का अन्त कर्त्तव्यों में होता है।"**[3]

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. नागरिकों के दो प्राकृतिक अधिकार लिखिए। (2000)

उत्तर—(i) जीवन का अधिकार तथा (ii) स्वतन्त्रता का अधिकार।

1 "No people have risen who thought only of rights. Only those did so who thought of duties." —*Mahatma Gandhi*

2 "If everyone insisted on his rights for himself but neglected his duties towards others, there would soon be no rights left for any one." —*Dr. Beni Prasad*

3 "Rights end in duties." —*Sri Niwas Shastri*

प्रश्न 2. अधिकारों के दो प्रमुख भेद बताइए।

उत्तर—(i) सामाजिक अथवा नागरिक अधिकार तथा (ii) राजनीतिक अधिकार।

प्रश्न 3. किन्हीं दो सामाजिक अधिकारों का उल्लेख कीजिए। (1992)

उत्तर—(i) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अधिकार तथा (ii) शिक्षा का अधिकार।

प्रश्न 4. दो मानव अधिकारों के नाम लिखिए। (2000)

उत्तर—(i) सामाजिक अधिकार तथा (ii) राजनीतिक अधिकार।

प्रश्न 5. अधिकारों को प्रमुख रूप से किन चार भागों में विभक्त किया जा सकता है ?

उत्तर—(i) प्राकृतिक अधिकार, (ii) नैतिक अधिकार, (iii) मौलिक अधिकार तथा (iv) कानूनी अधिकार।

प्रश्न 6. नागरिकों के कोई दो प्रमुख राजनीतिक अधिकार बताइए। (1990, 91, 95)

उत्तर—(i) मत देने का अधिकार तथा (ii) निर्वाचित होने का अधिकार।

प्रश्न 7. अधिकारों के किन्हीं दो सिद्धान्तों के नाम लिखिए। (1997)

उत्तर—(i) प्राकृतिक सिद्धान्त तथा (ii) आदर्शवादी सिद्धान्त।

प्रश्न 8. कर्त्तव्यों के दो प्रमुख भेद बताइए।

उत्तर—(i) नैतिक कर्त्तव्य तथा (ii) कानूनी कर्त्तव्य।

प्रश्न 9. नागरिकों के दो प्रमुख कर्तव्य बताइए। (1989, 93)

उत्तर—(i) राज्य के प्रति भक्ति की भावना, (ii) राज्य द्वारा निर्मित कानूनों का पालन करना।

प्रश्न 10. राज्य के प्रति नागरिकों के दो प्रमुख कर्त्तव्यों का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—(i) देशभक्ति तथा (ii) करों का भुगतान।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. नागरिक के कर्त्तव्यों की विवेचना कीजिए। (2000)
2. अधिकार का अर्थ समझाइए। इसके विभिन्न प्रकार कौन-कौन से हैं ? (1973, 84)
3. नागरिक जीवन में अधिकारों का क्या महत्त्व है ? "कर्त्तव्यों के संसार में ही अधिकारों का उपभोग सम्भव है।" इस कथन को समझाइए। (1977)
4. "अधिकारों के अस्तित्व हेतु कर्त्तव्यों का होना आवश्यक है", इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (1981, 88)

अथवा

अधिकारों और कर्त्तव्यों के बीच सम्बन्ध बताइए। (2000)

5. 'अधिकार' शब्द से आप क्या समझते हैं ? समानता तथा स्वतन्त्रता के अधिकारों के साथ सम्बन्धों का विवेचन कीजिए। (1992)
6. अधिकारों के विविध सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए। (1995)
7. अधिकार से क्या तात्पर्य है ? लोकतन्त्र में उपलब्ध नागरिकों के अधिकारों का वर्गीकरण तथा उनका वर्णन कीजिए। (1993, 2000)

6

पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिकों के दायित्व

[RESPONSIBILITIES OF CITIZENS TOWARDS PROTECTION OF ENVIRONMENT]

"धरती का पर्यावरण नाशवान है तथा स्वयं को शुद्ध कर लेने की उसकी शक्ति हम ठीक से समझ नहीं पाये हैं, पर है वह सीमित ही।"

—विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक विशेषज्ञ समिति की रिपोर्ट का अंश

यद्यपि पर्यावरण का महत्त्व सदैव से ही स्वीकार किया जाता रहा है किन्तु औद्योगीकरण के प्रारम्भिक समय से ही पर्यावरणीय विध्वंसता के कारण जागरूकता बढ़ी है। पर्यावरण में लगातार जो क्षति हो रही है, इसके परिणामस्वरूप कृषि, पशु और वनों के उत्पादन की हानि को जोड़कर देखें तो निश्चय ही यह हमारे देश के केन्द्रीय और राज्य सरकारों के कुल वार्षिक कृषि बजट से कई गुना अधिक होगी। पर्यावरण गतिमान होता है तथा स्थान एवं काल के साथ-साथ परिवर्तित होता रहता है। पर्यावरण में बराबर परिवर्तन होते रहते हैं। पर्यावरण के बदलने से मनुष्यों तथा अन्य जीवधारियों में परिवर्तन हुआ है और मनुष्य ने भी अपने क्रिया-कलापों के द्वारा पर्यावरण को प्रभावित किया है। वर्तमान समय में जिन तरीकों से प्राकृतिक संसाधनों का अवैज्ञानिक उपयोग व विनाश हो रहा है उसे अब मूक दर्शक बनकर नहीं देखा जा सकता है। पर्यावरण संरक्षण आज की प्रधान आवश्यकता है।

पर्यावरण का अर्थ
(MEANING OF ENVIRONMENT)

'पर्यावरण' को अंग्रेजी भाषा में 'एनवायरनमेण्ट' (Environment) कहते हैं। यह दो शब्दों 'परि' + 'आवरण' से मिलकर बना है। 'परि' शब्द का अर्थ होता है 'चारों ओर से' तथा 'आवरण' शब्द का अर्थ होता है 'ढँके या घेरे हुए'। इस प्रकार पर्यावरण शब्द का अर्थ है—वह वस्तु जो हमसे अलग होने पर भी हमें चारों ओर से ढँके अथवा घेरे रहती है। इस अर्थ में प्राणी के चारों ओर जो कुछ भी भौतिक तथा अभौतिक वस्तुएँ हैं वे उसका पर्यावरण हैं। व्यक्ति अपने चारों ओर अनेक प्राकृतिक शक्तियों एवं पदार्थों; जैसे—सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, पृथ्वी, हवा, नदी, पर्वत, जंगल तथा जलवायु एवं ताप इत्यादि से और अनेक सामाजिक, सांस्कृतिक तथ्यों जैसे—समाज, समूह, संस्था, लोकाचार, प्रथा, धर्म, नैतिकता तथा सामाजिक मूल्यों इत्यादि से घिरा हुआ है। इन्हें ही उसका पर्यावरण कहा जा सकता है।

पर्यावरण की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF ENVIRONMENT)

विभिन्न विद्वानों ने पर्यावरण को निम्न शब्दों में परिभाषित किया है—

ई. ए. रॉस के शब्दों में, "पर्यावरण कोई वाह्य शक्ति है जो हमें प्रभावित करती है।"[1]

पी. जिस्बर्ट के शब्दों में, "प्रत्येक वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरती है एवं उस पर प्रभाव डालती है, पर्यावरण कहलाती है।"[2]

टाँसले के शब्दों में, "चारों ओर पाई जाने वाली प्रभावशाली दशाओं का वह योग, जिसमें जीव रहते हैं, वातावरण अथवा पर्यावरण कहलाता है।"

टी. डी. इलियट के मतानुसार, "चेतन पदार्थ की इकाई से प्रभावित उद्दीपन तथा अन्तःक्रिया के क्षेत्र को पर्यावरण कहते हैं।"[3]

पर्यावरण को परिभाषित करते हुए सोरोकिन कहता है, "पर्यावरण का तात्पर्य ऐसी दशाओं तथा घटनाओं से है जिसका अस्तित्व मनुष्य के कार्यों से स्वतन्त्र है जो मानव रचित नहीं है और जो बिना मनुष्य के अस्तित्व तथा कार्यों से प्रभावित हुए स्वतः परिवर्तित होती है।"

हर्सकोविट्स के शब्दों में, "पर्यावरण इस समय बाहरी दशाओं तथा प्रभावों का योग है जो मानव के जीवन और विकास पर प्रभाव डालते हैं।"

पर्यावरण के प्रकार
(KINDS OF ENVIRONMENT)

पर्यावरण निम्न तीन प्रकार का होता है—

(1) **प्राकृतिक अथवा भौगोलिक पर्यावरण**—इसके अन्तर्गत समस्त प्राकृतिक अथवा भौगोलिक शक्तियाँ सम्मिलित होती हैं। सूर्य, चन्द्रमा, पृथ्वी, तारे, आकाश, वायु, जल, पेड़-पौधे तथा पहाड़ इत्यादि भौगोलिक पर्यावरण के ही तत्त्व हैं।

(2) **सामाजिक पर्यावरण**—पर्यावरण के इस प्रकार से हमारा तात्पर्य उस सम्पूर्ण सामाजिक ढाँचे से है जो कि मानव को जन्म से मृत्यु तक घेरे रहता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि यह सामाजिक सम्बन्धों का पर्यावरण है। परिवार, नाते-रिश्तेदार तथा पड़ौस इत्यादि इस पर्यावरण के अंग हैं।

(3) **सांस्कृतिक पर्यावरण**—प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से मानव द्वारा निर्मित समस्त वस्तुएँ सांस्कृतिक पर्यावरण के अन्तर्गत आती हैं।

पर्यावरण का क्षेत्र
(ZONES OR RESOURCES OF ENVIRONMENT)

पर्यावरण प्रमुख रूप से चार भागों में विभाजित है—

(1) स्थल मण्डल (Lithosphere)

(2) वायु मण्डल (Atmosphere)

(3) जल मण्डल (Hydrosphere)

(4) जैव मण्डल (Biosphere)

---

1 "Environment is any external force which influences us." —*E. A. Ross*

2 "Environment is anything immediately surrounding an object and exerting a direct influence on it." —*P. Gisbert*

3 "Environment is the field of effective stimulation and interaction for any unit of living matter." —*T. D. Elliott*

भौतिक जगत के उक्त चारों मण्डलों की रक्षा तथा उनकी विशुद्धता को बनाये रखने को ही 'पर्यावरण की सुरक्षा' कहते हैं।

पर्यावरण प्रदूषण का अर्थ
(MEANING OF ENVIRONMENTAL POLLUTION)

जल, वायु अथवा भूमि के भौतिक, रासायनिक अथवा जैविक गुणों में होने वाले किसी भी अवाछंनीय परिवर्तन को पर्यावरण प्रदूषण कहा जाता है। पर्यावरण प्रदूषंण का आशय उस पदार्थ अथवा क्रिया से है जो अनुचित स्थान पर, अनुचित समय पर, अनुचित मात्रा में पायी जाती है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है, पर्यावरण में होने वाले किसी ऐसे परिवर्तन को जो मानव एवं उसके लाभदायक सजीवों तथा निर्जीवों को हानि पहुँचाये, पर्यावरण प्रदूषण कहते हैं।

पर्यावरण की सुरक्षा तथा उसका महत्त्व
(PROTECTION OF ENVIRONMENT AND ITS IMPORTANCE)

वस्तुतः "पर्यावरणीय संरक्षण का अर्थ है कि प्राकृतिक संसाधनों का ऐसे विवेकपूर्ण ढंग से उपयोग किया जाये ताकि उनका अधिक से अधिक समय तक, अधिक से अधिक व्यक्तियों की अधिक से अधिक भलाई के लिए, प्रयोग किया जा सके। साथ ही संसाधनों की गैर-जरूरी खपत व विनाश रोका जाये ताकि वे संसाधन भावी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखे जा सकें।"

पर्यावरण प्रदूषण तथा पर्यावरण असन्तुलन के विनाशकारी संकट से बचने के लिए आज मानव ने पर्यावरण की सुरक्षा की आवश्यकता अनुभव की है। आज से सहस्त्रों वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों ने पर्यावरण संकट को भाँप लिया था और उसे सुरक्षित रखने का उपदेश दिया था। कौटिल्य का कथन है, "राज्य की स्थिरता पर्यावरण की स्वच्छता पर निर्भर करती है।" औषधि विज्ञान के प्रणेता चरक ने यह कहकर कि "स्वस्थ जीवन के लिए शुद्ध वायु, जल तथा मिट्टी आवश्यक कारक हैं", पर्यावरण की सुरक्षा के महत्त्व को ही प्रकट किया है। महाकवि कालिदास ने 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' तथा 'मेघदूत' जैसे अमर काव्यों में मन पर पर्यावरण के प्रभाव को दर्शाया है। लेमार्क तथा डार्विन जैसे वैज्ञानिकों ने पर्यावरण को जीवों के विकास में महत्वपूर्ण कारक स्वीकार किया है।

वास्तव में, पर्यावरणीय सुरक्षा एक जटिल प्रश्न है जिसका सम्बन्ध न केवल सम्पूर्ण समाज से है अपितु प्रत्येक व्यक्ति से भी है। इसके अध्ययन में विज्ञान की समस्त शाखाएँ संलग्न हैं। पर्यावरण संकट के कारण आज लगभग प्रत्येक राष्ट्र में 'पर्यावरण मंत्रालय' की स्थापना की जा चुकी है। पर्यावरण सम्बन्धी कानूनों को अधिक प्रभावी बनाया जा रहा है। कुछ देशों में पर्यावरण पर दीर्घकालीन कार्यक्रम बनाये गये हैं। इन देशों में फ्रान्स तथा जर्मनी का नाम प्रमुख है। 1972 में स्टाकहोम में पर्यावरण की सुरक्षा पर एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन हुआ। इस सम्मेलन की सिफारिशों पर संयुक्त राष्ट्र संघ में पर्यावरण कार्यक्रम बनाये गये। 1980 में 'विश्व संरक्षण नीति' घोषित की गई। पश्चिम यूरोपीय देशों के पर्यावरणीय संकट को यूरोपीय आर्थिक समुदाय ने भी अनुभव किया तथा 1973 में पहला पर्यावरणीय कार्यक्रम घोषित किया। जून 1988 में 48 देशों के 300 वैज्ञानिकों ने टोरन्टो सम्मेलन में पर्यावरण संरक्षण के विषय पर विचार-विमर्श किया तथा पर्यावरण के प्रदूषण और बदलाव के विषय में विश्व को चेतावनी देते हुए कहा, "पर्यावरण प्रदूषण से मौसम का बदलाव, अत्यधिक गर्मी,

सूखा, पानी की कमी, बर्फीली चोटियों का पिघलना, समुद्र का जलस्तर ऊँचा उठना जिससे समुद्र तट के पास बसे शहरों में बाढ़ आना आदि खतरे उत्पन्न होंगे जिनका फसलों पर बुरा प्रभाव होगा तथा शारीरिक विकार व रोगों में वृद्धि होगी और वह मानव-जीवन की विनाश-लीला का प्रारम्भ होगा।"

आजकल औद्योगिक विकास के प्रभावों के फलस्वरूप प्रतिवर्ष हमारे पर्यावरण में कार्बन-डाइ-ऑक्साइड और अन्य हानिकारक गैसों की मात्रा में 2 प्रतिशत की वृद्धि हो रही है और यह सम्पूर्ण मानवता के लिए अत्यन्त चिन्ता का प्रश्न है। अमरीकी अन्तरिक्ष वैज्ञानिक डॉ. कार्ल सागन ने 'पर्यावरण और विकास' विषय पर आयोजित संगोष्ठी में बताया है कि "यदि वातावरण में कार्बन गैसों की मात्रा इसी प्रकार से बढ़ती गई तो 2050 तक भारत सहित सम्पूर्ण विश्व में व्यापक सूखा पड़ेगा, जल संसाधनों में भारी कमी आयेगी तथा वायु मण्डल को संरक्षण प्रदान करने वाली ओजोन परत टूटने लगेगी।" उन्होंने ईंधन (कोयला, तेल आदि) के विकल्प के रूप में 'सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा और परमाणु विगलन' (Nuclear fusion) को प्रयोग करने की आवश्यकता पर बल दिया।

पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिकों का दायित्व
(RESPONSIBILITIES OF CITIZENS TOWARDS PROTECTION OF ENVIRONMENT)

वर्तमान में पर्यावरण प्रदूषण एक विश्वव्यापी दानवी समस्या है। पर्यावरण सुरक्षा सम्पूर्ण मानव जाति हेतु जीवन-मरण का प्रश्न है। मानवीय प्रगति के साथ-साथ प्रदूषण की समस्या लगातार जटिल होती जा रही है। प्रदूषण की रोकथाम तथा पर्यावरण की सुरक्षा प्रत्येक नागरिक का पहला दायित्व है। पर्यावरण संरक्षण की दृष्टि से नागरिकों के निम्नलिखित दायित्व हैं—

(1) मृदा (मिट्टी) की सुरक्षा—मृदा प्राकृतिक पर्यावरण के अन्तर्गत एक अति महत्त्वपूर्ण संसाधन है। मनुष्य के पशुचारण अवस्था से कृषि युग में पदार्पण से लेकर आज तक उसके आर्थिक विकास और आर्थिक क्रियाओं का मुख्य आधार मिट्टी रहा है। विश्व की महान् सभ्यताएँ नदियों के मैदानों में जहाँ उपजाऊ मिट्टी उपलब्ध है, विकसित हुईं। इसीलिए विलकौक्स ने कहा है, "मानव सभ्यता का इतिहास मिट्टी का इतिहास है तथा प्रत्येक व्यक्ति की शिक्षा मिट्टी से प्रारम्भ होती है।"

पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिकों का दायित्व

* मृदा (मिट्टी) की सुरक्षा
* जल की सुरक्षा
* वायु की सुरक्षा
* वनों की सुरक्षा
* ध्वनि प्रदूषण के सन्दर्भ में नागरिकों के दायित्व
* वन्य जन्तु संरक्षण
* पर्यावरण की रक्षा के सरकारी प्रयासों के प्रति नागरिकों का दायित्व

मृदा को सबसे अधिक हानि अपरदन अथवा कटाव से होती है। मैदानी भागों में कीटनाशकों व उर्वरकों के अधिक प्रयोग से मिट्टी की स्वाभाविक उर्वरता कम होने तथा उसके प्रदूषित होने की समस्या भी गम्भीर है। वनों के विनाश, अनियन्त्रित व अति पशुचारण तथा कृषि की गलत विधियों से भी मिट्टी को भारी हानि पहुँचती है। अतः मृदा के संरक्षण की भारी आवश्यकता है। मृदा अथवा मिट्टी की सुरक्षा के सम्बन्ध में नागरिक को अग्रलिखित उपाय अपनाने चाहिए—

(i) कृषक कीटनाशक औषधियों एवं उर्वरकों का प्रयोग सीमित मात्रा में करें।
(ii) कृत्रिम उर्वरकों के स्थान पर देशी खाद का प्रयोग करना चाहिए क्योंकि कृत्रिम उर्वरकों के प्रयोग से भूमि की उर्वरा शक्ति धीरे-धीरे समाप्त होती जा रही है।
(iii) कृषक भूमि में ऊसर के फैलाव को वैज्ञानिक ढंग से रोकने का प्रयास करें।
(iv) नागरिक कूड़े-करकट एवं पशुओं के मल-मूत्र को किसी गड्ढे में एकत्रित कर वैज्ञानिक ढंग से खाद में परिवर्तित करें।
(v) कृषक आवश्यकता से अधिक सिंचाई न करें क्योंकि ऐसा करने से मिट्टी की उर्वरता शक्ति समाप्त होने लगती है।
(vi) नागरिक मृदा प्रदूषण को रोकने के सन्दर्भ में जन-चेतना का वातावरण बनायें।

(2) **जल की सुरक्षा**—जल मनुष्य तथा अन्य जीवधारियों की एक आधारभूत आवश्यकता है। जैसे-जैसे आबादी बढ़ रही है तथा रासायनिक उद्योगों का प्रसार हो रहा है वैसे-वैसे ही ताजा पानी दुर्लभ होता जा रहा है। संयुक्त राष्ट्र संघ के एक सीरियायी प्रतिनिधि ने चेतावनी दी, "वह दिन दूर नहीं जब एक बूँद पानी एक बूँद तेल से ज्यादा महँगा होगा।" जल की सुरक्षा के सम्बन्ध में नागरिक को निम्न नियमों का पालन करना चाहिए—

(i) उद्योगों के दूषित जल को साफ करके उसे सिंचाई इत्यादि में उपयोग किया जाय।
(ii) नगरों, महानगरों तथा छोटे कस्बों में मल उपचार संयन्त्रों की स्थापना की जाय।
(iii) मृतक पशुओं के नदियों में विसर्जन पर पूर्ण रूप से प्रतिबन्ध लगाया जाय।
(iv) कस्बों, नगरों तथा महानगरों में सुलभ शौचालयों की स्थापना की जाय जिससे मल-मूत्र के लिए नदियों के किनारे, घाट, सार्वजनिक स्थान तथा अन्य खुले स्थानों का उपयोग न हो।
(v) औद्योगिक अवशेषों का उपयोग किया जाये जैसे—खाद बनाना तथा बिजली पैदा करना इत्यादि।
(vi) नागरिक, जहाँ प्रतिबन्धित हो, उन नदियों एवं तालाबों का प्रयोग नहाने तथा कपड़े धोने के रूप में न करें।
(vii) नदियों के जलग्रहण क्षेत्रों में पर्याप्त वृक्षारोपण किया जाये जिससे कि नदियों में बढ़ते हुए गाद को कम किया जा सके।
(viii) औद्योगिक अवशिष्ट पदार्थों को बिना किसी प्रोसेसिंग के नदियों में प्रवाहित नहीं करना चाहिए।
(ix) विद्युत् शवदाह गृहों की स्थापना की जाये जिससे कि अधजले शव एवं कार्बनिक पदार्थ नदियों में प्रवाहित न हो सकें।
(x) विभिन्न मौसमों में नदियों के विभिन्न स्थानों में नदियों के जल की जाँच करना आवश्यक है ताकि जल प्रदूषण का स्तर मालूम हो सके।
(xi) नागरिकों को यह ध्यान रखना चाहिए कि वे कोई ऐसा कार्य न करें जिससे जल प्रदूषित हो।
(xii) जल प्रदूषण नियन्त्रण कार्यक्रम में स्थानीय निवासियों की भागीदारी भी सम्मिलित करनी आवश्यक है जिससे कि कार्यक्रम में अधिक-से-अधिक सफलता मिल सके।
(xiii) नागरिक अपने जानवरों की सफाई इत्यादि नदियों अथवा तालाबों में न करें।

(xiv) जल प्रदूषण को रोकने के लिए सरकार द्वारा अथवा स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा जनचेतना अभियान प्रारम्भ होना चाहिए।

(3) वायु की सुरक्षा—आज से 5,000 वर्ष पूर्व जब सर्वप्रथम मनुष्य ने आग जलाना सीखा तो उसी दिन वायु प्रदूषण का बीजारोपण हो चुका था। वायु को अशुद्ध करने के लिए मानव ही उत्तरदायी है। औद्योगिक कारखानों की चिमनियों से निकलने वाले धुएँ, वाहनों के धुएँ, ताप बिजलीघरों के धुएँ तथा परमाणु भट्टियों की रेडियोधर्मी किरणों ने वायु को बहुत अधिक प्रदूषित किया है। वायु को प्रदूषण से बचाने में नागरिकों के निम्न दायित्व हैं—

(i) पेट्रोल-डीजल से चलने वाले वाहनों का प्रयोग कम करना चाहिए अथवा उनकी वायु प्रदूषण उत्पन्न करने की क्षमता में कमी लाना चाहिए।

(ii) घरों में होने वाले प्रदूषण को सुधरे चूल्हों अथवा धुआँ रहित चूल्हों के प्रयोग द्वारा कम किया जा सकता है।

(iii) सम्पूर्ण भौगोलिक क्षेत्र के 33% में वनों को विकसित करके वायु प्रदूषण पर नियन्त्रण किया जा सकता है।

(iv) कारखानों को आबादी से दूर स्थापित करना तथा उनकी चिमनियों को अधिक ऊँचा करके उनसे निकलने वाले धुएँ को साफ करने के लिए विशेष फिल्टर का प्रयोग करना चाहिए।

(v) गोबर अथवा कूड़ा-करकट को इधर-उधर न फेंककर आबादी के बाहर किसी गड्ढे में डालना चाहिए जिससे उनके निकलने वाली दूषित वायु से वायु प्रदूषण कम हो सके।

(4) वनों की सुरक्षा—पर्यावरण की रक्षा की दृष्टि से वनों, पेड़-पौधों और वनस्पति जगत की रक्षा का विशेष महत्त्व है। वन तापमान को नियन्त्रित करते हैं, नमी एवं वर्षा के कारक हैं, तेज आँधियों को धीमा करते हैं और मरुस्थल के विस्तार को रोकते हैं। इस प्रकार वन पर्यावरण सन्तुलन स्थापित करने का कार्य करते हैं। अतः वनों की सुरक्षा करने की आवश्यकता है और इस दृष्टि से नागरिकों के निम्नलिखित दायित्व हैं—

(i) पर्यावरण की दृष्टि से पृथ्वी के 33% भाग पर वन होने चाहिए लेकिन मात्र 19% भूमि ही वनों से आच्छादित है। अतः बड़े पैमाने पर वृक्षारोपण करने का कार्य किया जाना चाहिए।

(ii) नागरिकों का दायित्व है कि वे न केवल वृक्ष लगायें अपितु जो वृक्ष लगाये गये हैं उनकी रक्षा का प्रयत्न करें।

(iii) जागरूक नागरिकों को चाहिए कि वे सामाजिक वानिकी आन्दोलन चलायें और वन-संरक्षण के महत्त्व को जन-जन तक पहुँचायें।

(5) ध्वनि प्रदूषण के सन्दर्भ में नागरिकों के दायित्व—ध्वनि प्रदूषण भी पर्यावरण प्रदूषण की ज्वलन्त समस्या है। जिस प्रकार से जल और वायु प्रदूषण मानव स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं उसी प्रकार ध्वनि प्रदूषण भी मानव स्वास्थ्य का शत्रु है। ध्वनि प्रदूषण के सम्बन्ध में नागरिकों को निम्न दिशाओं में कार्य करना चाहिए—

(i) त्यौहार तथा विवाह के अवसर पर आतिशबाजी अथवा पटाखों का कम से कम प्रयोग करें।

(ii) नागरिकों को चाहिए कि वे सार्वजनिक स्थलों जैसे—विद्यालय, पुस्तकालय, चिकित्सालय, मन्दिर, मस्जिद इत्यादि के निकट किसी प्रकार का शोर न करें।

(iii) ध्वनि प्रदूषण को नियन्त्रित करने के लिए जनता में प्रचार द्वारा जागृति उत्पन्न करनी चाहिए।

(iv) नागरिकों को अपने वाहनों में ध्वनि-नियन्त्रक (साइलेन्सर) का प्रयोग करना चाहिए।

(v) नागरिक अपने वाहनों में तीव्र ध्वनि वाले हार्न का उपयोग न करें।

(vi) नागरिक धार्मिक तथा सांस्कृतिक कार्यक्रमों में यथासम्भव ध्वनि विस्तारक यन्त्रों का प्रयोग कम करें।

(6) वन्य जन्तु संरक्षण—वन्य जीव-जन्तु हमारे लिए उपयोगी हैं। वन्य प्राणियों का सम्बन्ध 'जीओ और जीने दो' का सन्देश देने वाली भारतीय संस्कृति से जुड़ा है। अतः नागरिकों को वन्य जीव-जन्तुओं के प्रति दया का भाव रखना चाहिए और उनके संरक्षण के प्रति सजग रहना चाहिए।

(7) पर्यावरण की रक्षा के सरकारी प्रयासों के प्रति नागरिकों का दायित्व—नागरिकों का यह दायित्व है कि वे पर्यावरण की रक्षा के निम्नलिखित सरकारी प्रयासों में अपना सहयोग प्रदान करें—

(i) संविधान में संशोधन—(क) 1976 में संविधान में किये गये 42वें संशोधन द्वारा संविधान में उल्लिखित 'राज्यों के नीति निदेशक सिद्धान्तों' में अनुच्छेद 48(अ) जोड़ा गया जिसमें कहा गया है, **"राज्य पर्यावरण का संरक्षण करने तथा देश के वनों तथा वन्य जीवों की सुरक्षा करने का प्रयास करेगा।"**

(ख) 42वें संशोधन के अन्तर्गत ही संविधान में नागरिकों के 10 मूल कर्त्तव्यों का समावेश किया गया है। इसमें कहा गया है, **"वनों, झीलों तथा नदियों और वन्य जीवों सहित प्राकृतिक पर्यावरण का संरक्षण तथा सुधार करना एवं जीवित प्राणियों के प्रति दया रखना भारत के प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य होगा।"**

(ii) प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड—केन्द्रीय स्तर पर केन्द्रीय प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड तथा प्रत्येक राज्य में राज्य प्रदूषण नियन्त्रण बोर्ड स्थापित किये गये हैं। ये बोर्ड केन्द्र में तथा राज्यों में प्रदूषण की रोकथाम के लिए कार्य करते हैं, उद्योगों द्वारा फैलाये जाने वाले जल तथा वायु के प्रदूषण को रोकते हैं तथा पर्यावरण-सुरक्षा के लिए आवश्यक उपाय करते हैं।

(iii) पर्यावरण एवं वन पर्व—पर्यावरण की उपयोगिता एवं सुरक्षा की ओर जन-साधारण का ध्यान आकर्षित करने के लिए देश में अनेक पर्व मनाये जाते हैं। जैसे—(क) 21 मार्च को विश्व वानिकी दिवस, (ख) 5 जून को विश्व पर्यावरण दिवस, (ग) 1 से 7 जुलाई तक वन महोत्सव सप्ताह, (घ) 1 से 7 अक्टूबर तक वन्य-जन्तु संरक्षण सप्ताह।

(iv) विभिन्न कानूनों का निर्माण—पर्यावरण की सुरक्षा और जल तथा वायु के प्रदूषण को रोकने के लिए तथा वन्य जन्तु संरक्षण के लिए देश में अनेक कानून बनाये गये हैं जैसे—(क) जल प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण अधिनियम, 1947; (ख) वायु प्रदूषण निवारण एवं नियन्त्रण अधिनियम, 1981; (ग) पर्यावरण सुरक्षा अधिनियम, 1986; (घ) मोटर वाहन प्रदूषण नियन्त्रण अधिनियम, 1989 तथा (ङ) वन्य-जन्तु संरक्षण अधिनियम, 1991 इत्यादि।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. पर्यावरण से आप क्या समझते हैं ?

उत्तर—प्रत्येक वह वस्तु जो किसी वस्तु को चारों ओर से घेरती है एवं उस पर प्रभाव डालती है, पर्यावरण कहलाती है।

प्रश्न 2. पर्यावरण कितने प्रकार का होता है ?

उत्तर—पर्यावरण तीन प्रकार का—(i) भौगोलिक पर्यावरण, (ii) सामाजिक पर्यावरण तथा (iii) सांस्कृतिक पर्यावरण होता है।

प्रश्न 3. पर्यावरण की सुरक्षा का क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—इसका अभिप्राय प्रकृति द्वारा हमको उपलब्ध कराये गये सम्पूर्ण वातावरण की सुरक्षा करना है।

प्रश्न 4. पर्यावरण की सुरक्षा के कोई दो उपाय बताइए। (1995)

उत्तर—(i) जनसंख्या वृद्धि के नियन्त्रण हेतु प्रयास तथा (ii) वनस्पति जगत एवं वनों की रक्षा एवं उनका संवर्द्धन।

प्रश्न 5. प्रदूषण का प्रमुख कारण क्या है ?

उत्तर—प्राकृतिक संसाधनों का अविवेकपूर्ण प्रयोग।

प्रश्न 6. पर्यावरण प्रदूषण के किन्हीं दो कारकों को इंगित कीजिए।

उत्तर—(i) वाहनों से निकलने वाला धुआँ तथा (ii) कारखानों से निकलने वाला कचरा।

प्रश्न 7. 'विश्व पर्यावरण संरक्षण नीति' कब घोषित की गई ?

उत्तर—1980 में।

प्रश्न 8. पर्यावरण की सुरक्षा से सम्बन्धित प्रथम अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन कब तथा कहाँ हुआ ?

उत्तर—1972 में स्टॉकहोम में।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. पर्यावरण से आप क्या समझते हैं ? यह कितने प्रकार होता है ?
2. पर्यावरण की सुरक्षा से क्या आशय है ? उसके प्रति नागरिकों के क्या दायित्व हैं ? (2000)
3. पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिकों के दायित्वों की विवेचना कीजिए।
4. पर्यावरण प्रदूषण के सम्बन्ध में नागरिकों के कर्त्तव्यों पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (1995)

●●

7

राज्य : परिभाषा एवं तत्त्व

[STATE : DEFINITION AND ELEMENTS]

"राज्य ऐसे स्वतन्त्र मनुष्यों का एक पूर्ण समाज है जो अधिकारों के उपभोग के लिए तथा सामान्य उपयोगिता के लिए परस्पर बँधे हुए हैं।"

—ह्यूगो ग्रोशियश

"राज्य एक निश्चित भू-भाग में जनता द्वारा कानून की स्थापना के लिए एक संगठित समूह का नाम है।" *—लीकॉक*

राज्य एक सर्वोच्च, सर्वश्रेष्ठ तथा प्रभुसत्ता-सम्पन्न संगठन है जो समाज में कानून व्यवस्था बनाये रखता है तथा व्यक्ति के विकास हेतु उचित वातावरण पैदा करता है। अरस्तू के मतानुसार, "राज्य जीवन के लिए अस्तित्व में आया तथा जीवन को और भी श्रेष्ठ बनाने के लिए बना हुआ है।"[1] इसका तात्पर्य है कि राज्य का उद्देश्य व्यक्ति के जीवन की रक्षा करना ही नहीं है अपितु वह वे सभी कार्य करता है जो व्यक्ति के विकास हेतु आवश्यक हैं। वास्तव में, राज्य के अभाव में सभ्य जीवन की कल्पना भी नहीं की जा सकती।

राज्य का अर्थ
(MEANING OF STATE)

प्राचीन काल में राज्य को 'पोलिस' (Polis) तथा 'सिविटास' (Civitas) के नाम से जाना जाता था जिसका अर्थ 'नगर राज्य' है। 'राज्य' शब्द के अंग्रेजी रूपान्तरण 'State' की उत्पत्ति 'स्टेटस' (Status) से हुई है जिसका अर्थ 'स्तर' है। अतः शाब्दिक अर्थों के अनुसार राज्य ऐसा संगठन है जिसका स्तर अन्य संगठनों से उच्च है। आधुनिक रूप में राज्य शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम इटली के प्रसिद्ध विद्वान मैकियावली ने अपनी पुस्तक 'प्रिन्स' में किया था। 16वीं शताब्दी में इस शब्द का प्रयोग इंग्लैण्ड में प्रचलित हुआ तथा इसके पश्चात् अन्य देशों में भी इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

राज्य की परिभाषा
(DEFINITION OF STATE)

अब तक राज्य की प्रमुख रूप से जो परिभाषाएँ की गयी हैं उन्हें अध्ययन की सुविधा की दृष्टि से दो भागों में बाँटा जा सकता है—(अ) प्राचीन परिभाषाएँ तथा (ब) आधुनिक परिभाषाएँ।

---

1. "The state came into existence for life and continues for the sake of good life." —*Aristotle*

(अ) राज्य की प्राचीन परिभाषाएँ—प्राचीन विद्वानों ने राज्य के दो लक्षण माने—(i) राज्य व्यक्तियों का एक समुदाय है तथा (ii) राज्य व्यक्तियों के सुख तथा कल्याण हेतु निर्मित एक श्रेष्ठ समुदाय है। इस दृष्टिकोण के आधार पर राज्य को निम्न प्रकार परिभाषित किया जा सकता है—

बोदाँ के शब्दों में, "राज्य अपनी सामान्य सम्पत्ति सहित परिवारों का एक समुदाय है जो सर्वोच्च सत्ता तथा विवेकबुद्धि द्वारा नियन्त्रित है।"[1]

सिसरो के अनुसार, "राज्य उस समुदाय को कहते हैं जिसमें यह भावना विद्यमान हो कि समस्त व्यक्तियों को उन समुदायों के लाभों का परस्पर मिलकर उपयोग करना है।"[2]

हॉब्स के शब्दों में, "राज्य एक ऐसा व्यक्ति है जो पारस्परिक समझौते के आधार पर जनसमूह के लिए उस जनशक्ति के समस्त साधनों का आवश्यकतानुसार जनता की शक्ति तथा सुरक्षा हेतु प्रयोग कर सके।"

हीगन के मतानुसार, "राज्य एक नैतिक भाव मूर्त रूप है। इसमें वस्तुरूप आत्मा तथा दृढ़ स्वतन्त्रता का सम्मिश्रण है।"

संत ऑगस्टाइन के शब्दों में, "राज्य ऐसे व्यक्तियों के समझौते द्वारा निर्मित संस्था है जिन्होंने अपना संगठन विधि तथा कर्त्तव्यों के प्रयोग और पूर्ति के लिए तथा पारस्परिक सम्पर्क के लाभ की प्राप्ति के लिए बनाया है।"

(ब) राज्य की आधुनिक परिभाषाएँ—जहाँ प्राचीन विचारकों द्वारा राज्य को व्यक्तियों का एक समुदाय बताया गया है वहीं आधुनिक विद्वानों की मान्यता है कि सिर्फ व्यक्तियों से ही राज्य का निर्माण नहीं होता। राज्य के निर्माण हेतु यह नितान्त आवश्यक है कि वे व्यक्ति भली-भाँति संगठित हों, संगठित जीवन व्यतीत करने हेतु वे एक निश्चित क्षेत्र में रहते हों तथा उनके बीच शान्ति तथा व्यवस्था की स्थापना के लिए कोई राजनीतिक सत्ता हो। राज्य के सम्बन्ध में इस मान्यता को दृष्टिगत रखते हुए आधुनिक विचारकों ने अनेक परिभाषाएँ दी हैं। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

गैटिल के शब्दों में, "राज्य मनुष्य के समुदाय को कहते हैं जो स्थायी रूप से अधिकृत निश्चित भू-भाग पर निवास करता है, कानूनी रूप से वाह्य नियन्त्रणों से मुक्त रहता है तथा ऐसी शासन व्यवस्था किये रहता है जो उसकी क्षेत्रीय सीमा के अन्तर्गत निवास करने वाले समस्त मानव समुदायों का निर्माण एवं उसे कार्यान्वित करता है।"[3]

एच. जे. लॉस्की के अनुसार, "राज्य प्रादेशिक समाज है जो सरकार और प्रजा में विभक्त है और जो अपने नियत भौगोलिक क्षेत्र की अन्य सभी व्यवस्थाओं पर सर्वोच्च सत्ता रखता है।"[4]

---

1 "The state is an association of families and their common possessions governed by a supreme power and by reason." —*Bodin*

2 "The state is a numerous society united by common sense of right and natural participation in advantages." —*Cicero*

3 "The state, therefore, may be defined as community of persons, permanently occupying a definite territory, legally independent of external control and possessing an organised government which creates and administers law over all persons and groups within its jurisdiction." —*Gettell*

4 "The state is a territorial society divided into government and subject claiming within its allotted physical area supremacy over all other institutions." —*H. J. Laski*

ब्लण्ट्शली के अनुसार—"किसी निश्चित भू-प्रदेश में राजनीतिक रूप से संगठित व्यक्तियों को राज्य कहा जाता है।"[1]

विलोबी के अनुसार—"राज्य मनुष्यों के उस समाज को कहते हैं जिसमें एकल सत्ता पायी जाती है जो अपने अन्तर्गत व्यक्ति तथा समूहों को कार्यों पर नियन्त्रण रखती हो लेकिन वह किसी भी नियन्त्रण से मुक्त हो।"[2]

वुडरो विल्सन के शब्दों में—"एक निश्चित भू-भाग में कानून के लिए संगठित जन-समुदाय को राज्य कहते हैं।"[3]

बर्गेस के मतानुसार—"राज्य मनुष्य जाति का एक निश्चित भाग है जो राजनीतिक इकाई के रूप में देखा जाता है।"[4]

मैकाइवर के शब्दों में—"राज्य एक ऐसा संघ है जो सरकार द्वारा प्रसारित ऐसे नियमों द्वारा कार्य करता है जिन्हें पालन करने के उद्देश्य से सरकार को शक्ति प्राप्त होती है तथा जो किसी निश्चित भू-क्षेत्र की सभी वाह्य सुव्यवस्था की स्थितियों को बनाये रखता है।"[5]

हॉलैण्ड के शब्दों में—"राज्य मनुष्यों का एक बहुसंख्यक समाज है जो साधारणतः किसी निश्चित भू-भाग पर बसा है जिसमें बहुमत या किसी निश्चित वर्ग का मत अपनी शक्ति के आधार पर विरोधी तत्त्वों की किसी भी संस्था के विरुद्ध विजयी होता है।"[6]

उपर्युक्त परिभाषाओं में से कोई भी परिभाषा पूर्ण नहीं है। ब्लण्ट्शली, विल्सन तथा बर्गेस की परिभाषाओं में सम्प्रभुता का उल्लेख नहीं है जो कि वास्तव में राज्य का प्राण है। एच. जे. लास्की की परिभाषा में सिर्फ आन्तरिक सम्प्रभुता का ही विवेचन किया गया है, वाह्य सम्प्रभुता का नहीं।

सर्वमान्य परिभाषाएँ

विभिन्न विद्वानों द्वारा राज्य की जो परिभाषाएँ दी गई हैं उनमें गार्नर तथा फिलिमोर की परिभाषाएँ ही सर्वमान्य एवं श्रेष्ठ हैं। यह परिभाषाएँ निम्न प्रकार हैं—

गार्नर के अनुसार, "राजनीति विज्ञान और सार्वजनिक कानून की धारणा के रूप में, राज्य संख्या में कम या अधिक व्यक्तियों का ऐसा संगठन है जो किसी प्रदेश के निश्चित भू-भाग में स्थायी रूप से रहता हो, जो बाहरी नियन्त्रण से पूर्ण स्वतन्त्र या लगभग स्वतन्त्र

1 "The state is the politically organised national person of a definite territory" —*Bluntschlli*

2 "The state exists whenever can be discovered in any community of men a supreme authority exercising a control over the social action of individuals and groups of individuals made itself subject to no such regulation." —*Willoughby*

3 "The state is a people organised for law within a definite territory." —*Wilson*

4 "The state is a particular portion of mankind viewed as organised unit."—*Burgess*

5 "The state is an association which acting through law as promulgated by a government, endowed to this end with coercive power, maintains within community territorially demarcated the universal condition of social order." —*MacIver*

6 "State is a numerous assemblage of human beings, generally occupying certain territory, about, whom the will of majority from an ascertainable class of persons, by the strength of such a majority of class, is made to prevail against any of their member who oppose it." —*Holland*

हो और जिसका एक ऐसा संगठित शासन हो जिसके आदेशों का पालन नागरिकों का विशाल समुदाय स्वभावतः करता हो।"[1]

फिलीमोर के शब्दों में, "राज्य मनुष्यों का वह समुदाय है जो एक निश्चित भू-भाग पर स्थायी रूप से बसा हुआ हो और जो एक सुव्यवस्थित सरकार द्वारा उस भू-भाग की सीमा के अन्तर्गत व्यक्तियों तथा पदार्थों पर पूरा नियन्त्रण तथा प्रभुत्व रखता हो और जिसे विश्व के अन्य किसी भी राज्य से सन्धि या युद्ध करने अथवा अन्य किसी प्रकार से अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्ध स्थापित करने का अधिकार प्राप्त हो।"[2]

उपर्युक्त दोनों परिभाषाओं में राज्य के चारों अनिवार्य तत्वों—जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता का उल्लेख किया गया है इसलिए वे सर्वाधिक तर्कपूर्ण, स्पष्ट एवं पूर्ण हैं।

राज्य के आवश्यक तत्त्व
(ESSENTIAL ELEMENTS OF STATE)

उपर्युक्त परिभाषाओं के अध्ययनोपरान्त हम राज्य के निम्नलिखित चार अनिवार्य तत्त्व निर्धारित कर सकते हैं—

(1) जनसंख्या (Population)—जनसंख्या राज्य की प्राथमिक आवश्यकता है। यह राज्य का सर्वाधिक प्रमुख तत्त्व है। राज्य का निर्माण व्यक्तियों की सामाजिकता की भावना से होता है इसलिए व्यक्तियों के अभाव में राज्य का अस्तित्व असम्भव है। ब्लण्ट्शली के शब्दों में, "राज्य का मानवीय आधार जनता है।"[3] राज्य के गठन में जनसंख्या का उतना ही महत्त्व है जितना कि घड़े के निर्माण में मिट्टी अथवा वस्त्र के निर्माण में सूत का। यही कारण है कि राज्य के तत्त्वों में जनसंख्या को प्रधान स्थान दिया गया है।

राज्य के आवश्यक तत्त्व
* जनसंख्या
* निश्चित क्षेत्र अथवा भू-भाग
* सरकार अथवा शासन तन्त्र
* प्रभुसत्ता

राज्य की जनसंख्या कितनी हो, इस पर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है तथा यह मतभेद स्वाभाविक ही है क्योंकि राज्य की जनसंख्या निश्चित नहीं की जा सकती। यूनानी विचारक प्लेटो ने अपने आदर्श राज्य की जनसंख्या 5,040 निर्धारित की थी। रूसो ने आदर्श राज्य की जनसंख्या 10,000 बतायी थी। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्राचीन यूनान में छोटे-छोटे नगर-राज्य होते थे तथा प्राचीन यूनानी विचारक नगर-राज्य को ही आदर्श राज्य मानते थे। इसके ठीक विपरीत, अनेक आधुनिक राज्यों की जनसंख्या अत्यधिक विशाल है। वर्तमान में यहाँ एक ओर चीन, भारत एवं संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे विशाल देश हैं वहीं दूसरी ओर

1 "The state, as a concept of political science and public law, is a community of persons, more or less numerous, permanently occupying a definite portion of territory, independent or less nearly, so of external control and possessing an organized government to which the great body of inhabitants render habitual obedience." —Garner

2 "A people permanently occupying a fixed territory bound together by common laws, habits and customs in one body polity, exercising through the medium of an organised government, independent sovereignty and control over all persons and things whithin its boundaries, capable of making war and peace and of entry into interaction with the communities of the globe." —Phillimore

3 "The state has its personal basis in the peoples." —Bluntschlli

बैटिकन सिटी, नारू, पलाउ, सेन-मैरीनो तथा मोनाको जैसे अत्यन्त छोटे राज्य भी हैं। इस प्रकार जनसंख्या निश्चित नहीं की जा सकती। जनसंख्या इतनी ज्यादा नहीं होनी चाहिए कि लोग अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति भी न कर सकें तथा न ही इतनी कम होनी चाहिए कि लोग अपने राज्य की सीमाओं की एवं स्वयं की रक्षा भी न कर सकें। सौल्टाऊ का यह कथन उचित ही है कि **"किसी राज्य की जनसंख्या को आवश्यक वस्तुओं की पूर्ति, वांछित जीवन-स्तर तथा सुरक्षा एवं उत्पादन की स्थिति के अनुसार होना चाहिए।"**

(2) निश्चित क्षेत्र अथवा भू-भाग (Fixed Territory)—राज्य का दूसरा महत्त्वपूर्ण तत्त्व निश्चित क्षेत्र अथवा भू-भाग है। व्यक्तियों का समूह जब तक भूमि के किसी निश्चित क्षेत्र में निवास नहीं करता उसे राज्य नहीं कहा जा सकता। ऊपर वर्णित विभिन्न विद्वानों के विचार वर्तमान परिवेश में उचित नहीं माने जाते क्योंकि राज्य के निर्माण हेतु जनसंख्या का किसी निश्चित भू-भाग पर बसना परमावश्यक है। 1944 से पूर्व यहूदी सम्पूर्ण विश्व में फैले हुए थे परन्तु उनका कोई राज्य नहीं था। 1948 में जब से वह पश्चिमी एशिया में बसे तो इजराइल नाम का राज्य अस्तित्व में आया। भू-क्षेत्र कितना होना चाहिए, इस सम्बन्ध में भी विद्वानों के विचारों में मतभेद है। आज संसार में बड़े से बड़े तथा छोटे-से-छोटे राज्य भी हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा भारत का क्षेत्रफल क्रमशः 93,72,614 वर्ग किलोमीटर एवं 32,87,263 वर्ग किलोमीटर है। इसके विपरीत, छोटे राज्यों जैसे वैटिकन सिटी का क्षेत्रफल 0.44 वर्ग किलोमीटर, सेन-मैरीनो का क्षेत्रफल 61 वर्ग किलोमीटर है, लिचटैंन स्टील का क्षेत्रफल 160 वर्ग किलोमीटर तथा ग्रेनाडा गणराज्य का 344 वर्ग किलोमीटर है। विश्व का सबसे छोटा राज्य वैटिकन सिटी है जिसका क्षेत्रफल सिर्फ 0.44 वर्ग किलोमीटर है लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि से समस्त राज्य समान हैं।

कहा जा सकता है कि भू-क्षेत्र इतना होना चाहिए कि राज्य में निवास करने वाले लोगों का निर्वाह सरलता से हो सके अर्थात् वे अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति उचित प्रकार से कर सकें। दूसरी ओर राज्य इतना अधिक विस्तृत भी न हो कि लोग वाह्य आक्रमण की स्थिति में अपनी रक्षा भी न कर सकें।

राज्य के निश्चित क्षेत्र का भाग सिर्फ थल प्रदेश ही नहीं है अपितु उसके साथ लगता हुआ 12 मील का समुद्री तट, राज्य के ऊपर का वायुमण्डल, राज्य के पहाड़, नदियाँ, झीलें इत्यादि भी शामिल होते हैं।

(3) सरकार अथवा शासनतन्त्र (Government)—राज्य का तीसरा महत्त्वपूर्ण तत्व सरकार अथवा शासनतन्त्र है। सरकार वह यन्त्र अथवा मशीन है जिसके द्वारा राज्य की सामान्य नीतियों का निर्धारण, सामान्य कार्यों का नियमन तथा सामान्य हित में वृद्धि की जाती है। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, **"सरकार राज्य का संगठन है। यह वह उपकरण है जिसके द्वारा राज्य की इच्छा की अभिव्यक्ति होती है।"** राज्य के निर्माण हेतु सरकार न सिर्फ आवश्यक है अपितु उपयोगी भी है। इसके अभाव में राज्य का निर्माण तो होगा ही नहीं, सामूहिक जीवन भी अशान्तिपूर्ण होगा तथा कोई सामूहिक कार्य नहीं होगा। गैटिल के मतानुसार, **"सरकार के अभाव में व्यक्तियों का समूह उस भीड़ (mob) के समान है जो एक होकर कार्य नहीं कर सकती तथा जिसके कार्यों पर कोई नियन्त्रण नहीं होता।"**

सरकार का कोई ऐसा निश्चित रूप नहीं है जो सभी राज्यों को स्वीकार हो। सरकार अनेक प्रकार की हो सकती है जैसे कि राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र, तानाशाही, लोकतन्त्र, गणतन्त्र, एकात्मक, संघात्मक, संसदीय तथा अध्यक्षात्मक इत्यादि। प्रत्येक सरकार के तीन अंग होते हैं—

(क) व्यवस्थापिका—यह कानून निर्मित करती है, (ख) कार्यपालिका—यह कानून को लागू करती है तथा (ग) न्यायपालिका—यह कानून की व्याख्या करके विवादों का समाधान करती है।

(4) प्रभुसत्ता (Sovereignty)—प्रभुसत्ता अथवा सम्प्रभुता राज्य के निर्माण की दृष्टि से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। गैटिल की मान्यता है, **"प्रभुसत्ता ही राज्य का वह लक्षण है जो उसे अन्य समुदायों से अलग करता है।"** विलोबी के मतानुसार, **"प्रभुसत्ता राज्य की सर्वोच्च इच्छा है।"** डिग्विट के शब्दों में, **"प्रभुसत्ता राज्य की आज्ञा देने वाली शक्ति है।"**

प्रायः प्रभुसत्ता को राज्य की आत्मा कहा जाता है। एक निश्चित क्षेत्र में रहने वाले एवं सरकार से सम्पन्न व्यक्ति भी उस समय एक राज्य का निर्माण नहीं कर सकते, जब तक कि इनके हाथ में प्रभुसत्ता न हो। उदाहरणार्थ, 15 अगस्त 1947 से पूर्व भारत एक राज्य नहीं था क्योंकि जनसंख्या, निश्चित भू-भाग तथा सरकार के रहते हुए भी यह प्रभुसत्ता-सम्पन्न नहीं था। इसी कारण उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, पंजाब इत्यादि राज्य नहीं हैं क्योंकि अन्य तत्त्वों के रहने के बावजूद उनमें प्रभुसत्ता नहीं है।

प्रभुसत्ता के दो स्वरूप हैं—आन्तरिक तथा बाह्य। आन्तरिक प्रभुसत्ता का तात्पर्य है कि राज्य आन्तरिक रूप से उच्चतम हो अर्थात् अपने क्षेत्र में स्थित समस्त व्यक्तियों एवं समुदायों को आज्ञा प्रदान कर सके। बाह्य प्रभुसत्ता का यह तात्पर्य है कि राज्य बाहरी नियन्त्रण से मुक्त हो अर्थात् अन्य राज्यों के साथ अपनी इच्छानुसार सम्बन्ध स्थापित कर सके। परन्तु यदि कोई राज्य स्वेच्छापूर्वक अपने ऊपर किसी प्रकार का प्रतिबन्ध स्वीकार कर लेता है तो इससे राज्य की प्रभुसत्ता का अन्त नहीं हो जाता। उदाहरणस्वरूप, संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता से विभिन्न राज्यों की प्रभुसत्ता का हनन नहीं होता है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जनसंख्या, निश्चित भू-क्षेत्र, सरकार एवं प्रभुसत्ता राज्य के अनिवार्य तत्त्व हैं। किसी एक तत्त्व के अभाव में राज्य की स्थापना नहीं हो सकती। लेकिन कुछ विद्वानों का विचार है कि राज्य के निर्माण के लिए इन चारों तत्त्वों के साथ ही आज्ञापालन की भावना एवं सहजीवन के गुण भी होने चाहिए। राज्य के तत्त्वों में एकता, सर्वव्यापकता, निरन्तरता, स्थायित्व व समानता के साथ अन्तर्राष्ट्रीय मान्यता के गुण भी होने चाहिए परन्तु अधिकांश विद्वान इन विचारों से असहमत हैं तथा वे राज्य के निर्माण हेतु जनसंख्या, निश्चित भू-क्षेत्र, सरकार एवं प्रभुसत्ता को ही आवश्यक मानते हैं।

राज्य के आवश्यक तत्त्वों को निम्न प्रकार समझा जा सकता है—

जनसंख्या, निश्चित भू-भाग,
सम्प्रभुता, निश्चित सरकार।
विद्वानों ने किया विचार-
तत्त्व राज्य के हैं ये चार॥

क्या निम्नलिखित राज्य हैं?
(ARE THE FOLLOWING STATES ?)

(1) उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश एवं न्यूयार्क—उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश तथा न्यूयार्क को राज्य के नाम से सम्बोधित किया जाता है। सरकारी कार्यों में भी इन्हें राज्य कहा जाता है।

यहाँ तक कि भारतीय संविधान में भी उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश, राजस्थान, हरियाणा इत्यादि को राज्य कहा जाता है। इसी प्रकार अमेरिकी संविधान में न्यूयार्क, कैलिफोर्निया, अलास्का, टैक्सास इत्यादि को भी राज्य कहा जाता है लेकिन नागरिकशास्त्र के अनुसार यह अनुचित है। इन सभी के पास अपना निश्चित क्षेत्र, सरकार तथा जनसंख्या है लेकिन प्रभुसत्ता नहीं। इसलिए ये संघीय इकाइयाँ हैं, राज्य नहीं।

(2) **संयुक्त राष्ट्र**—संयुक्त राष्ट्र दूसरे विश्व युद्ध के पश्चात् विश्वशान्ति स्थापित करने के लिए अस्तित्व में आया जिसके वर्तमान में 188 राज्य सदस्य हैं। इसे राज्य की संज्ञा देना एक भूल है। यह स्वतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्यों का संघ है लेकिन राज्य नहीं। इसका न तो कोई निश्चित क्षेत्र है तथा न ही इसके पास प्रभुसत्ता है।

(3) **बांग्लादेश**—बांग्लादेश, जो कि पूर्व में पाकिस्तान का हिस्सा था, दिसम्बर 1971 को स्वतन्त्र राज्य के रूप में अस्तित्व में आया। इसके पास वे सब तत्त्व हैं जो राज्य बनने के लिए आवश्यक हैं।

(4) **सिक्किम**—सिक्किम कभी पूर्ण राज्य नहीं था। पहले यह भारत के संरक्षण में था तथा इसकी सुरक्षा, विदेशी मामले एवं आन्तरिक शान्ति इत्यादि की भारत की जिम्मेदारी थी। लेकिन 1975 में संविधान के 36वें संशोधन द्वारा सिक्किम को भारतीय संघ में 22वीं इकाई के रूप में सम्मिलित कर लिया गया। अब इसकी स्थिति भारतीय संघ के शेष राज्यों की भाँति है।

(5) **इजराइल**—यह यहूदी लोगों का राज्य है जो कि 1948 में अस्तित्व में आया। इससे पूर्व यहूदियों का अपना कोई राज्य नहीं था लेकिन 1948 के पश्चात् सभी यहूदी यहाँ आकर बस गये। इस प्रकार यह एक स्वतन्त्र प्रभुसत्ता-सम्पन्न राज्य के रूप में अस्तित्व में आया।

(6) **दिल्ली**—दिल्ली, जो कि भारत की राजधानी है, एक संघीय क्षेत्र है तथा इस प्रकार यह राज्य नहीं है। दिसम्बर, 1991 में संविधान में किये गये 69वें संशोधन के अनुसार दिल्ली को राष्ट्रीय राजधानी क्षेत्र (National Capital Territory) का स्तर दिया गया तथा दिल्ली के लिए 70-सदस्यीय विधान सभा तथा 7-सदस्यीय मन्त्रिपरिषद् की व्यवस्था की गई।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. प्राचीन काल में राज्य को क्या कहते थे?

उत्तर—'पोलिस' तथा 'सिविटास'।

प्रश्न 2. राज्य शब्द की उत्पत्ति किस शब्द से हुई?

उत्तर—लैटिन भाषा के शब्द 'स्टेट्स' से हुई जिसका आशय 'स्तर' से है।

प्रश्न 3. राज्य शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग किसने और कहाँ किया?

उत्तर—इटली के विद्वान मैकियावली ने अपनी पुस्तक 'द प्रिन्स' में किया।

प्रश्न 4. अरस्तू द्वारा दी गई राज्य की परिभाषा बताइए। (1995)

उत्तर—अरस्तू के शब्दों में, "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।"

प्रश्न 5. राज्य की सर्वश्रेष्ठ परिभाषा किस विद्वान ने व्यक्त की है?

उत्तर—गार्नर ने।

प्रश्न 6. प्लेटो के अनुसार एक आदर्श राज्य की जनसंख्या कितनी होनी चाहिए?

उत्तर—प्लेटो ने एक आदर्श राज्य की जनसंख्या 5,040 निर्धारित की थी।

प्रश्न 7. राज्य के किन्हीं दो तत्त्वों के नाम लिखिए। (1993, 97)

अथवा

राज्य के कौन-कौनसे तत्त्व होते हैं?

उत्तर—(1) जनसंख्या, (2) निश्चित भू-भाग, (3) सरकार तथा (4) प्रभुसत्ता।

प्रश्न 8. क्या संयुक्त राष्ट्र संघ को राज्य कहा जा सकता है?

उत्तर—संयुक्त राष्ट्र संघ को राज्य नहीं कहा जा सकता।

प्रश्न 9. नेपाल, बांग्लादेश, म्यांमार (बर्मा), श्रीलंका, पाकिस्तान तथा अफगानिस्तान इत्यादि को हम राज्य क्यों कहते हैं?

उत्तर—चूँकि इनमें राज्य का निर्माण करने वाले चारों प्रमुख तत्त्व विद्यमान हैं।

प्रश्न 10. राज्य तथा समुदाय में सरकार किसका आवश्यक तत्त्व है?

उत्तर—सरकार राज्य का आवश्यक तत्त्व है।

प्रश्न 11. वह कौन-सा तत्त्व है जो राज्य को अन्य सभी समुदायों से पृथक् करता है? (1986, 90)

अथवा

राज्य के सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व का नाम लिखिए। (1991, 96)

उत्तर—प्रभुसत्ता अथवा सम्प्रभुता राज्य का विशिष्ट तत्त्व है जो राज्य को अन्य सभी समुदायों से पृथक् करता है।

प्रश्न 12. राज्य का संगठनात्मक आधार किस तत्त्व को कहा जाता है?

उत्तर—सरकार को।

प्रश्न 13. राज्य में प्रभुसत्ता अथवा सम्प्रभुता का क्या महत्त्व है? (1986)

उत्तर—प्रभुसत्ता अथवा सम्प्रभुता राज्य की जीवन शक्ति है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य की परिभाषा कीजिए तथा उसके तत्त्वों का विश्लेषण कीजिए। (1975, 81, 91, 97)
2. "राज्य सभ्य जीवन की अनिवार्य दशा है।" इस कथन की व्याख्या कीजिए। (1972, 79)
3. "राज्य परिवारों तथा ग्रामों का एक समुदाय है जिसका उद्देश्य पूर्ण तथा आत्मनिर्भर जीवन की प्राप्ति है।" —व्याख्या कीजिए। (1994)
4. राज्य के तत्त्वों की विवेचना कीजिए। (1987, 93, 94)
5. "राज्य सभ्य जीवन की प्रथम दशा है" —समझाइए। (1988)
6. राज्य के आवश्यक तत्त्व क्या हैं? क्या 1947 से पूर्व भारत एक राज्य था? (1990)
7. राज्य का सामाजिक जीवन में क्या महत्त्व है? (1977, 90)
8. राज्य के तत्त्वों का उल्लेख करते हुए उसकी उपयोगिता बताइए। (1992)
9. राज्य के मुख्य तत्त्वों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिए। भारतीय संघ के सन्दर्भ में बिहार को राज्य कहना कहाँ तक समीचीन है? (2000)

● ●

8

राज्य के कार्यों का सिद्धान्त

[THEORY OF THE FUNCTIONS OF STATE]

"राज्य के पास पहले से ही बहुत से उत्तरदायित्व (सुरक्षा, शान्ति एवं न्याय सम्बन्धी) हैं। उस पर और अधिक उत्तरदायित्व लादने का अर्थ यह होगा कि बहुत से कार्य बुरे ढंग से किये जायेंगे, बहुत से किये ही नहीं जायेंगे, कारण यह है कि सरकार बिना देरी के कार्य करती ही नहीं है।" —*मिल*

राज्य के उद्देश्य

(OBJECTS OF STATE)

प्राचीन यूनानी दार्शनिक प्लेटो के मतानुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति की आवश्यकताओं की पूर्ति तथा सद्‌गुणों का विकास करना है। अरस्तू का विचार था कि राज्य का उद्देश्य मानव जीवन को सुन्दर एवं सम्पन्न बनाना तथा आत्म-निर्भर जीवन की प्राप्ति करना है। प्राचीन भारतीय विचारधारा के अनुसार राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को उसके पूर्ण विकास में सहायता देना है। महाभारत में भी राजा के उद्देश्य को अत्यधिक व्यापक माना गया है जिसके अन्तर्गत मानव-जीवन के समस्त पक्ष आ जाते हैं। बेन्थम के मतानुसार, **"राज्य का उद्देश्य अधिकतम व्यक्तियों के अधिकतम सुख की वृद्धि करना है।"** हरबर्ट स्पेंसर ने राज्य का उद्देश्य **'पुलिस कार्य'** बताया है लेकिन लॉक ने राज्य का उद्देश्य संम्पत्ति की रक्षा के अतिरिक्त मानव समाज का कल्याण भी माना है।

एडम स्मिथ के अनुसार राज्य के तीन उद्देश्य होते हैं—

(1) अन्य स्वतन्त्र राज्यों के आक्रमण से अपनी रक्षा करना, (2) राज्य के प्रत्येक सदस्य की राज्य के अन्य सदस्यों के अन्याय और अत्याचार से रक्षा करना तथा (3) जनहितकारी सार्वजनिक संस्थाओं का निर्माण तथा जनहितकारी कार्य करना।

बर्गेस ने भी राज्य के उद्देश्यों को तीन भागों में विभक्त किया है—(1) राज्य का प्राथमिक उद्देश्य शान्ति, सुव्यवस्था, सुरक्षा और न्याय की स्थापना के लिए परिस्थितियाँ उत्पन्न करना है, (2) राज्य का दूसरा उद्देश्य राष्ट्रीयता का विकास करना और उसकी शक्ति में वृद्धि करना है तथा (3) राज्य का अन्तिम उद्देश्य है कि सम्पूर्ण मानव समाज की सभ्यता का विकास हो और मनुष्य जाति पूर्णता की दशा को प्राप्त कर सके। रिची के मतानुसार, **"व्यक्ति द्वारा सर्वोत्तम जीवन की प्राप्ति ही राज्य का उद्देश्य है।"** प्रो. विलोबी ने राज्य के इन तीन उद्देश्यों का वर्णन किया है—(1) अपनी शक्ति से राज्य की स्वतन्त्रता और आन्तरिक शान्ति एवं

व्यवस्था बनाये रखना, (2) व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित में सरकार को मजबूत बनाना तथा (3) नागरिकों को सीमित करना और आर्थिक, नैतिक तथा बौद्धिक कल्याण की वृद्धि करना।

ब्लण्ट्शली ने राज्य के प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष उद्देश्यों में अन्तर किया है। राज्य का प्रत्यक्ष उद्देश्य राष्ट्रीय क्षमता का विकास और अप्रत्यक्ष उद्देश्य व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। लास्की के अनुसार, राज्य का उद्देश्य व्यक्ति को वे सभी सुविधाएँ उपलब्ध कराना है जिससे उसके व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास हो सके।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर राज्य के निम्नलिखित प्रमुख उद्देश्य हैं—

(1) राज्य एवं व्यक्ति के मध्य उचित सम्बन्धों की स्थापना—नागरिक जीवन की मूलभूत समस्या राज्य तथा व्यक्ति के मध्य उचित सम्बन्धों की स्थापना है। इस दृष्टिकोण से राज्य का प्रमुख उद्देश्य यह है कि वह अपनी प्रभुसत्ता तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता के मध्य ऐसा सामंजस्य स्थापित करे ताकि एक ओर व्यक्ति की स्वेच्छाचारी एवं असामाजिक प्रवृत्ति पर प्रतिबन्ध लगे तथा दूसरी ओर व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का स्वतन्त्रतापूर्वक विकास कर सके।

राज्य के प्रमुख उद्देश्य

* राज्य एवं व्यक्ति के मध्य उचित सम्बन्धों की स्थापना
* शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना
* सार्वजनिक हित के कार्य करना
* अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मानवीय सभ्यता का विकास

(2) शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा की स्थापना—राज्य का उद्देश्य शान्ति व्यवस्था तथा सुरक्षा का ऐसा वातावरण तैयार करना है जिसमें व्यक्ति सुचारु रूप से अपना जीवन व्यतीत कर सके।

(3) सार्वजनिक हित के कार्य करना—आधुनिक काल में मानव जीवन अत्यधिक ज़टिल हो गया है। ऐसी स्थिति में यातायात, डाक व्यवस्था मुद्रा चलन, उद्योगों की स्थापना तथा शिक्षा इत्यादि ऐसे कार्य हैं जिनका सार्वजनिक हित में निष्पादन करना राज्य हेतु आवश्यक हो गया है। इसके अलावा राज्य का उद्देश्य व्यक्तियों के शारीरिक एवं मानसिक स्तर की वृद्धि करना भी है। राज्य उन भौतिक परिस्थितियों का भी निर्माण करता है जिनमें नैतिक जीवन सम्भव हो सके।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मानवीय सभ्यता का विकास—वर्तमान काल में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा मानवीय सभ्यता का विकास करना भी राज्य का एक उद्देश्य है। विज्ञान की प्रगति तथा राजनीतिक चेतना के विकास ने संसार को एक इकाई के रूप में ढाल दिया है। इससे अलग रहकर किसी भी राज्य द्वारा अपना विकास करना कठिन है।

वास्तव में, सामाजिक आर्थिक तथा राजनीतिक परिस्थितियाँ राज्य को प्रभावित करती रहीं हैं। इनमें परिवर्तन होने पर राज्य के स्वरूप तथा संगठन में भी परिवर्तन हो जाता है। इसी प्रकार बदले हुए वातावरण तथा विचारधाराओं के कारण समय-समय पर राज्य के उद्देश्य से सम्बन्धित विचारों में भी बदलाव होते रहते हैं। आधुनिक काल में लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था को दृष्टिगत रखते हुए राज्य का उद्देश्य लोककल्याणकारी है।

राज्य के कार्य
(FUNCTIONS OF STATE)

प्रत्येक युग के विचारकों का ध्यान राज्य की प्रकृति तथा उसके कार्यक्षेत्र पर अवश्य गया है। सभी ने अपने समय की परिस्थितियों एवं ज्ञान के आधार पर राज्य के कार्यों का

वर्णन किया है। देशकाल की परिस्थितियों के अनुसार राज्य के कार्य परिवर्तित होते रहते हैं। प्रारम्भिक समय में राज्य के द्वारा सिर्फ वे ही कार्य किये जाते थे जिनको करना राज्य के अस्तित्व हेतु नितान्त आवश्यक होता था। लेकिन वर्तमान समय में राज्य द्वारा किये जाने वाले कार्यों में अत्यधिक वृद्धि हो गई है। उसके कार्यों को एक सीमा में बाँधकर उनकी सूची तैयार करना असम्भव है। फिर भी राज्य द्वारा वर्तमान समय में जो कार्य किये जाते हैं उन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) राज्य के आवश्यक अथवा अनिवार्य कार्य तथा

(ब) राज्य के ऐच्छिक अथवा सामाजिक कार्य।

(अ) राज्य के आवश्यक अथवा अनिवार्य कार्य—अनिवार्य कार्यों का तात्पर्य ऐसे कार्यों से है जिनका सम्पादन करना प्रत्येक राज्य के लिए नितान्त आवश्यक है। इन कार्यों को रोकने में असफल होने पर राज्य का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। राज्य के प्रमुख अनिवार्य कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा—देश की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का अनिवार्य कार्य है। यदि राज्य इस कार्य को नहीं करेगा तो उसका अस्तित्व समाप्त हो जायेगा। इस कार्य के लिए राज्य को जल, नभ तथा स्थल सेना रखनी पड़ती है। इसके साथ-साथ उसको अन्य राज्यों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध बनाने का प्रयास करना पड़ता है जिससे आपात समय में आवश्यकता पड़ने पर उनसे सहायता प्राप्त की जा सके।

राज्य के अनिवार्य कार्य

* बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा
* आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना
* न्याय का समुचित प्रबन्ध
* अधिकार तथा कर्त्तव्यों का निर्धारण
* परिवार में कानूनी सम्बन्ध स्थापित करना
* मुद्रा-व्यवस्था
* कर संग्रह करना

(2) आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना—राज्य का प्रमुख कार्य अपने क्षेत्राधिकार के अन्तर्गत शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना, नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा, आन्तरिक उपद्रव्यों का दमन और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की रक्षा करना है। मैकाइवर के शब्दों में, **"राज्य सिर्फ शान्ति एवं व्यवस्था का प्रबन्ध ही नहीं करता है। राज्य का कर्त्तव्य है कि वह सर्वसाधारण की रक्षा एवं उनके व्यक्तित्व के पूर्ण विकास में सहयोग दे।"** इसके लिए राज्य को अपराध निश्चित करने तथा दण्ड देने की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(3) न्याय का समुचित प्रबन्ध—देश में शान्ति की स्थापना सिर्फ पुलिस तथा सेना के बल पर ही नहीं हो सकती बल्कि इसके लिए राज्य को कानून का उल्लंघन करने वाले को उचित दण्ड देने के लिए एक कुशल एवं स्वतन्त्र न्यायपालिका की व्यवस्था करनी पड़ती है।

(4) अधिकार तथा कर्त्तव्यों का निर्धारण—नागरिक के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की सीमा का निर्धारण करना और उन्हें अनेक प्रकार की राजनीतिक सुविधाएँ प्रदान करना भी राज्य का अनिवार्य कार्य है। वर्तमान लोकतन्त्रीय युग में नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का अत्यधिक महत्त्व है।

(5) परिवार में कानूनी सम्बन्ध स्थापित करना—राज्य का यह भी कर्त्तव्य है कि वह कानून का निर्माण कर पारिवारिक जीवन को सुखी तथा सामुदायिक जीवन को सुसंगठित करे।

अतः पति-पत्नी, माता-पिता और बच्चों के बीच कानूनी सम्बन्ध स्थापित करना भी उसका अनिवार्य कार्य है। इसके अन्तर्गत सम्पत्ति के क्रय-विक्रय और ऋण के लेन-देन इत्यादि के कानून सम्मिलित हैं।

(6) मुद्रा-व्यवस्था—राज्य का एक आवश्यक कार्य मुद्रा की व्यवस्था करना है। किसी देश की अर्थव्यवस्था वहाँ की मुद्रा-व्यवस्था पर विशेष रूप से आधारित होती है। मुद्रा के बिना राज्य का कार्य नहीं चल सकता। वर्तमान समय में प्रत्येक देश में धन का अधिकांश लेन-देन बैंकों के द्वारा होता है और बैंकों पर सरकार का कठोर नियन्त्रण होता है।

(7) कर संग्रह करना—राज्यों के कार्यों को सम्पादित करने के लिए प्रचुर धनराशि की आवश्यकता होती है। धन के अभाव में राज्य एक क्षण भी नहीं चल सकता। धन प्राप्ति के लिए राज्य अनेक प्रकार के प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष कर लगाता है। इस प्रकार कर लगाना और वसूल करना राज्य का एक अनिवार्य कार्य है।

(ब) राज्य के ऐच्छिक अथवा सामाजिक कार्य—राज्य के ऐच्छिक कार्य वह कहलाते हैं जिनको राज्य यदि सम्पादित न भी करे तो राज्य का अस्तित्व समाप्त नहीं होगा लेकिन व्यक्तियों के नैतिक, सामाजिक, मानसिक एवं आर्थिक कल्याण की वृद्धि हेतु ऐसे कार्य परमावश्यक होते हैं। मानव जीवन को सुखी, सुन्दर एवं सुसंस्कृत बनाने हेतु राज्य निम्नलिखित ऐच्छिक अथवा सामाजिक कार्य करता है—

(1) शिक्षा की व्यवस्था—व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास में शिक्षा का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसके अभाव में व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास असम्भव है। अतः वर्तमान समय में शिक्षा का प्रबन्ध करना राज्य का महत्त्वपूर्ण कार्य समझा जाता है। इसी कारण अनेक राज्य प्रारम्भिक शिक्षा का संचालन करते हैं। अनेक राज्यों द्वारा निःशुल्क तथा अनिवार्य प्रारम्भिक शिक्षा की व्यवस्था भी की जाती है। नागरिकों के मानसिक विकास के लिए राज्य पुस्तकालयों तथा प्रयोगशालाओं इत्यादि की स्थापना करता है।

राज्य के ऐच्छिक अथवा सामाजिक कार्य

* शिक्षा की व्यवस्था
* सफाई एवं स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध
* सामाजिक सुधार
* बेकारी का उन्मूलन
* निर्धन, वृद्ध एवं अपाहिजों की रक्षा
* उद्योग-धन्धों का विकास
* कृषि का विकास
* श्रमिकों का कल्याण
* यातायात एवं संचार साधनों का विकास
* ललित कला, साहित्य एवं विज्ञान को प्रोत्साहन
* मनोरंजन का प्रबन्ध
* मादक पदार्थों पर नियन्त्रण
* राष्ट्रीय विकास योजनाओं का निर्माण

(2) सफाई एवं स्वास्थ्य रक्षा का प्रबन्ध—सार्वजनिक स्वास्थ्य की सुव्यवस्था, सफाई एवं चिकित्सा इत्यादि का प्रबन्ध राज्य ही करता है। संक्रामक रोग एवं महामारियों को रोकने के लिए राज्य कानून निर्मित करता है तथा नगरों एवं ग्रामों की सफाई का प्रबन्ध करता है। राज्य नागरिकों की चिकित्सा हेतु अस्पतालों की स्थापना करता है जहाँ निःशुल्क अथवा उचित मूल्य पर चिकित्सा का प्रबन्ध रहता है।

(3) सामाजिक सुधार—समाज सुधार हेतु प्रयास करना राज्य का एक नैतिक कर्त्तव्य है। प्रत्येक देश के सामाजिक जीवन में कुछ ऐसी कुरीतियाँ एवं रूढ़ियाँ रहती हैं जो सामाजिक

जीवन के विकास का मार्ग अवरुद्ध करती हैं। उदाहरणार्थ; भारत में कुछ समय पहले बाल-विवाह, छुआछूत तथा साम्प्रदायिकता इत्यादि का बोलबाला था लेकिन सरकार ने इन सामाजिक कुरीतियों को समाप्त करने की दिशा में कठोर प्रयास किये। इसके फलस्वरूप बाल-विवाह एवं छुआछूत को समाप्त करने में तो भारत सरकार सफल रही लेकिन साम्प्रदायिकता एवं जातीयता का जहर अभी तक समाज में व्याप्त है।

(4) **बेकारी का उन्मूलन**—बेकारी चोर, डाकू तथा अन्य असामाजिक तत्त्वों को जन्म देती है। अतः प्रत्येक राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अपने नागरिकों को रोजगार दे। इसके लिए राज्य नये कारखानों एवं उद्योगों की स्थापना करता है।

(5) **निर्धन, वृद्ध एवं अपाहिजों की रक्षा**—राज्य में कुछ ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो वृद्ध, रोगी, अपाहिज अथवा असहाय होने के कारण स्वयं अपनी आजीविका नहीं कमा सकते। राज्य का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह ऐसे लोगों की सहायता करे। इसी उद्देश्य को पूर्ण करने हेतु राज्य निर्धन-गृह, अन्धों के गृह, पागलखाने तथा अनाथालय इत्यादि का प्रबन्ध करता है। अनेक राज्यों में वृद्ध तथा असहायों को उनकी जीवन रक्षा हेतु आर्थिक सहायता प्रदान की जाती है।

(6) **उद्योग-धन्धों का विकास**—देश की आर्थिक स्थिति को मजबूती प्रदान करने के लिए आवश्यक है कि अधिकाधिक उद्योग-धन्धों का विकास हो। इस बारे में राज्य का यह कर्त्तव्य है कि बड़े उद्योगों को वह अपने हाथ में लेले तथा छोटे एवं कुटीर उद्योगों को आर्थिक सहायता प्रदान करके प्रोत्साहित करे। इसके लिए राज्य को वित्तीय सहायता, औद्योगिक अन्वेषण केन्द्रों की स्थापना तथा वैज्ञानिक शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना चाहिए।

(7) **कृषि का विकास**—कृषि-प्रधान देशों की उन्नति तब तक नहीं हो सकती जब तक कि कृषि का विकास न हो। अतः राज्य को कृषि की उन्नति की ओर भी ध्यान देना पड़ता है। इसके लिए सिंचाई का प्रबन्ध, श्रेष्ठ बीज, उत्तम खादें, कृषि सम्बन्धी नवीन मशीनें एवं उपकरणों की व्यवस्था तथा आपात काल में किसानों की आर्थिक सहायता इत्यादि की व्यवस्था राज्य ही करता है।

(8) **श्रमिकों का कल्याण**—श्रमिकों के हितों की रक्षा करना राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। पूंजीपति वर्ग श्रमिकों का शोषण न कर सके इसके लिए कारखाना कानून तथा श्रम-कानूनों द्वारा सरकार नियन्त्रण रखती है। काम के अधिकतम घण्टे, न्यूनतम पारिश्रमिक, श्रमिकों की दशा में सुधार तथा प्रबन्धक एवं श्रमिकों के मध्य होने वाले विवादों के निष्पादन हेतु राज्य नियमों का निर्माण करता है।

(9) **यातायात एवं संचार साधनों का विकास**—यातायात तथा संचार के साधनों के अभाव में कोई भी देश आर्थिक प्रगति नहीं कर सकता। यही कारण है कि प्रत्येक राज्य रेल, डाक एवं तार, टेलीफोन, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि साधनों का अधिकतम विकास करता है।

(10) **ललित कला, साहित्य एवं विज्ञान को प्रोत्साहन**—राष्ट्र के निर्माण में ललित कला, साहित्य एवं विज्ञान का महत्त्वपूर्ण स्थान है। अतः प्रत्येक राज्य उन्हें प्रोत्साहित करता है।

(11) **मनोरंजन का प्रबन्ध**—कहा जाता है कि श्रमोपरान्त आराम एवं मनोरंजन जीवन को दीर्घायु बनाते हैं। मनोरंजन से जहाँ एक ओर शिथिल अंगों में स्फूर्ति का संचार होता है वहीं दूसरी ओर शरीर के आवश्यक कार्य करने हेतु ऊर्जा प्राप्त होती है। अतः राज्य नागरिकों

के मनोरंजन के लिए समुचित व्यवस्था करता है। वर्तमान में नागरिकों के स्वस्थ मनोरंजन हेतु राज्य पार्क, सार्वजनिक स्थल, सिनेमा, चिड़ियाघर, साहित्य परिषद् एवं खेल मैदान इत्यादि की व्यवस्था करता है।

(12) **मादक पदार्थों पर नियन्त्रण**—मादक पदार्थों जैसे—शराब, गाँजा, भाँग, तम्बाकू, सिगरेट इत्यादि पर रोक लगाना भी राज्य का आवश्यक कर्त्तव्य है। जो राज्य इनकी उपेक्षा करते हैं वहाँ के नागरिकों के स्वास्थ्य एवं चरित्र पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और वह राज्य पतन की ओर उन्मुख हो जाता है। अतः राज्य को नागरिकों के कल्याणार्थ मादक पदार्थों की बिक्री पर पूर्ण नियन्त्रण रखना चाहिए।

(13) **राष्ट्रीय विकास योजनाओं का निर्माण**—वर्तमान काल में राज्य का एक महत्त्वपूर्ण ऐच्छिक कार्य राष्ट्रीय विकास की योजनाओं का निर्माण करके उन्हें क्रियान्वित करना है।

सभ्यता के विकास के साथ-साथ मानव जीवन की जटिलता बढ़ती जा रही है जिसके फलस्वरूप राज्य के कार्यों की सूची लम्बी तथा विशाल हो रही है। महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि राज्य के ऐच्छिक तथा अनिवार्य कार्यों में अन्तर सिर्फ मात्रा का है, प्रकार का नहीं। जो कार्य किसी राज्य द्वारा आज ऐच्छिक समझे जाते हैं वे ही कल अनिवार्य कार्यों की श्रेणी में आ सकते हैं। इस प्रकार राज्य के कार्यों का क्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है।

राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी सिद्धान्त
(PRINCIPLES RELATING TO THE FUNCTIONS OF THE STATE)

राज्य अपने उद्देश्यों की प्राप्ति अपने कार्यों द्वारा ही कर सकता है। अतः राज्य के उद्देश्यों में परिवर्तन के साथ उसके कार्य भी परिवर्तित होते रहते हैं। राज्य का कार्यक्षेत्र व्यापक होना चाहिए अथवा संकुचित, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद रहा है तथा अनेक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। इन सिद्धान्तों में व्यक्तिवाद, आदर्शवाद (प्रत्ययवाद), समाजवाद तथा लोककल्याणकारी राज्य की धारणाएँ प्रमुख हैं।

व्यक्तिवाद
(INDIVIDUALISM)

व्यक्तिवाद का प्रादुर्भाव यूरोप में 18वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में हुआ। यह विचारधारा व्यक्ति को महत्त्व प्रदान करती है। व्यक्तिवाद के अनुसार व्यक्ति उद्देश्य, साध्य अथवा लक्ष्य है तथा राज्य एवं समाज साधन मात्र हैं। व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देता है। वस्तुतः व्यक्तिवादी, राज्य के कार्य तथा व्यक्तियों की स्वतन्त्रता को एक-दूसरे का विरोधी मानते हैं और इस विचार पर जोर देते हैं कि व्यक्ति की स्वतन्त्रता के हित में राज्य द्वारा न्यूनतम कार्य किये जाने चाहिए। फ्रीमैन के शब्दों में, **"वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो सबसे कम शासन करती है।"**[1] व्यक्तिवाद के प्रमुख समर्थकों में जॉन स्टुअर्ट मिल, एडम स्मिथ, हरबर्ट स्पेन्सर, रिकार्डो तथा माल्थस थे।

व्यक्तिवादी विचारधारा के अनुसार, राज्य का अस्तित्व व्यक्तियों की असामाजिक एवं अपराधी प्रवृत्तियों को रोकने के लिए है। अतः राज्य का कार्यक्षेत्र निषेधात्मक अथवा

1 "That Government is best which governs the least." —*Freeman*

नकारात्मक है। उसका कार्य सिर्फ व्यक्ति के विकास में आने वाली रुकावटों को दूर करना है। वाहन के मतानुसार, "राज्य का कार्य सिर्फ पुलिस राज्य का काम होना चाहिए।" हमबोल्ट के शब्दों में, "राज्य को नागरिकों के कल्याण की चिन्ता से दूर रहना चाहिए तथा उसको पारस्परिक सुरक्षा एवं बाह्य आक्रमण से रक्षा के कार्य से आगे नहीं बढ़ना चाहिए।"[1]

व्यक्तिवादी विचारधारा के अन्तर्गत गिलक्राइस्ट ने राज्य का कार्यक्षेत्र निम्न प्रकार निर्धारित किया है—

(1) देश में शान्ति एवं व्यवस्था बनाये रखना, (2) राज्य एवं राज्य के नागरिकों की बाह्य शत्रुओं से सुरक्षा, (3) नागरिकों की मानहानि से रक्षा, (4) नागरिकों के जीवन, सम्पत्ति इत्यादि की सुरक्षा तथा (5) अपराधियों का पता लगाकर उन्हें दण्डित करना।

व्यक्तिवाद के पक्ष में तर्क—इसका समर्थन निम्नलिखित तर्कों के आधार पर किया जाता है—

व्यक्तिवाद के पक्ष में तर्क
* नैतिक तर्क
* अनुभव का तर्क
* आर्थिक तर्क
* राज्य की अयोग्यता का तर्क
* प्राणिवैज्ञानिक तर्क

(1) नैतिक तर्क—व्यक्तिवादियों की मान्यता है कि व्यक्ति अपना उच्चतम विकास तभी कर सकता है जब राज्य का हस्तक्षेप न्यूनतम हो। यदि राज्य व्यक्ति के कार्यों में हस्तक्षेप करेगा तो उसके आत्म-विश्वास एवं आत्म-निर्भरता का दमन होगा, नवीन कार्य के पहल करने की क्षमता नष्ट हो जायेगी और उत्तरदायित्व की भावना को चोट पहुँचेगी। इस सभी के परिणामस्वरूप व्यक्ति आलसी होकर दूसरों पर निर्भर हो जायेगा। इस बारे में मिल कहता है, "राजकीय सहायता व्यक्ति के आत्म-विश्वास के भाव को नष्ट कर देती है। यह उसके उत्तरदायित्व को कमजोर बनाकर चरित्र के विकास को कुंठित कर देती है।"

(2) अनुभव का तर्क—इतिहास इस बात का साक्षी है कि राज्य ने कभी भी व्यक्ति का सफल मार्ग-दर्शन नहीं किया। राज्य के व्यक्तिगत, सामाजिक अथवा आर्थिक जीवन में हस्तक्षेप के परिणाम घातक ही सिद्ध हुए हैं। राज्य के हस्तक्षेप की आलोचना करते हुए बकल ने कहा है, "शासक वर्ग ने जिस सीमा तक उद्योगों की स्वाधीनता में बाधा डाली तथा इसके फलस्वरूप जो क्षति हुई वह इतनी असाधारण थी कि विवेकी मनुष्य यह देखकर आश्चर्य करने लगे कि लगातार इतनी बाधाओं के बावजूद भी सभ्यता ने इतनी प्रगति किस प्रकार की।"

(3) आर्थिक तर्क—व्यक्ति अपने आर्थिक हितों को भली प्रकार समझता है, अतः राज्य को आर्थिक क्षेत्र में उसे स्वतन्त्र छोड़ देना चाहिए तथा हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए। आर्थिक प्रगति स्वतन्त्रता के वातावरण में ही हो सकती है। स्वतन्त्र प्रतियोगिता के वातावरण में ही व्यापार एवं व्यवसाय विकसित होते हैं। आर्थिक क्षेत्र के प्राकृतिक नियमों, मुक्त प्रतियोगिता तथा माँग एवं पूर्ति के नियम को स्वतन्त्रतापूर्वक कार्य करने दिया जाये तो सम्पूर्ण आर्थिक गतिविधियाँ सुचारु रूप से चलती रहेंगी। एडम स्मिथ एवं रिकार्डो के शब्दों में, "आर्थिक क्षेत्र में राज्य का हस्तक्षेप कम होने से न सिर्फ उत्पादन बढ़ेगा बल्कि इसके साथ-साथ

---

1 "State should abstain from the positive welfare of the citizens and ought not to proceed a step further than is necessary for their mutual security and protection against foreign enemies."
—*Humboldt*

उत्पादित वस्तुओं के गुण भी उच्चतर होंगे। ऐसा करने से पिछड़े देशों का आर्थिक विकास होगा तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार की उन्नति होगी।"

(4) **राज्य की अयोग्यता का तर्क**—राज्य व्यक्ति के समस्त कार्यों को सम्पादित नहीं कर सकता। यदि व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक सभी क्षेत्रों में राज्य सक्रिय हो जाये तो वह अपने शान्ति एवं व्यवस्था के आवश्यक कार्य को भी कुशलतापूर्वक पूर्ण नहीं कर पायेगा। इस तर्क को स्पष्ट करते हुए मिल ने लिखा है, "राज्य के पास पहले से ही अनेक उत्तरदायित्व हैं। उस पर और अधिक उत्तरदायित्व लादने का अर्थ यह होगा कि अनेक कार्य बुरे ढंग से किये जायेंगे तथा बहुत से किये ही नहीं जायेंगे।"

(5) **प्राणिवैज्ञानिक तर्क**—हरबर्ट स्पेंसर ने डार्विन की विकासवादी विचारधारा के आधार पर सामाजिक जीवन के क्षेत्र में 'अस्तित्व के लिए संघर्ष' एवं 'योग्यतम की विजय' (Survival of the fittest) के सिद्धान्त को लागू किया। उसकी मान्यता है कि राज्य को दुर्बल, बीमार, अपंग, वृद्ध एवं निराश्रित इत्यादि के कल्याणार्थ कार्य नहीं करना चाहिए। यदि राज्य इनकी सहायता करेगा तो ये अयोग्य व्यक्ति मानव समाज को कमजोर एवं अस्वस्थ बनाये रखेंगे। स्वयं स्पेंसर के शब्दों में, "यदि हम शक्तिशाली एवं कर्मठ सन्तति को विकसित करना चाहते हैं तो हमें व्यक्तियों को उनकी ही इच्छा पर छोड़ देना चाहिए जिससे शक्तिशाली व्यक्तियों की उन्नति तथा कमजोर व्यक्तियों की समाप्ति हो सके।"[1]

व्यक्तिवाद की विशेषताएँ—व्यक्तिवादी सिद्धान्त की प्रमुख विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(1) व्यक्तिवाद राज्य को एक आवश्यक बुराई मानता है।

(2) व्यक्तिवाद राज्य को साधन मानता है।

(3) यह व्यक्ति को साध्य अथवा लक्ष्य मानता है तथा व्यक्ति के व्यक्तित्व के विकास पर बल देता है।

(4) व्यक्तिवाद व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अत्यधिक बल देता है तथा

(5) व्यक्तिवाद राज्य के कार्यक्षेत्र को सीमित करना चाहता है।

व्यक्तिवाद की आलोचना—राज्य के कार्यों से सम्बन्धित व्यक्तिवादी सिद्धान्त की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है—

(1) **राज्य को एक बुराई मानना अनुचित**—व्यक्तिवादी मानते हैं कि राज्य एक बुराई है क्योंकि राज्य का हस्तक्षेप व्यक्ति के नैतिक विकास को अवरुद्ध कर देता है अतः ऐसी धारणा उचित नहीं है। वास्तव में राज्य व्यक्ति के नैतिक विकास के मार्ग में आने वाली रुकावटों को दूर करते हुए उन परिस्थितियों को प्रदान करता है जो नैतिकता की वृद्धि में सहायक होती हैं। इस सम्बन्ध में अरस्तू कहता है, "राज्य का प्रादुर्भाव मानव जीवन की रक्षार्थ हुआ था लेकिन उसका अस्तित्व मानव के कल्याणकारी जीवन हेतु है।"[2] बर्क ने तो यहाँ तक कहा है कि "राज्य समूचे विज्ञान, सम्पूर्ण कला तथा समस्त गुणों एवं सारी पूर्णता में साझेदारी है।"[3]

---

1 "If we are to evolve a race of strong able and virile human beings, we should leave the individuals to themselves. The strong will survive and unfit will we eliminated." —*Herbert Spencer*

2 "The state came into being for the sake of life and it continues to be for the sake of good life." —*Aristotle*

3 "State is partnership in all science, a partnership in all arts, a partnership in all virtues and in all perfection." —*Burke*

(2) अनैतिहासिक एवं अव्यावहारिक—व्यक्तिवाद अनैतिहासिक एवं अव्यावहारिक है क्योंकि इतिहास साक्षी है कि जब से राज्य व्यक्ति के आपसी सम्बन्धों का व्यापक नियमन करने लगा है तभी से व्यक्ति एवं समाज की प्रगति का मार्ग प्रशस्त हुआ है। वास्तव में, मानव जीवन की सफलता हेतु राज्य अनिवार्य है।

व्यक्तिवाद की आलोचना
* राज्य को एक बुराई मानना अनुचित
* अनैतिहासिक एवं अव्यावहारिक
* राज्य की अयोग्यता का तर्क अनुचित
* प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का उचित निर्णायक नहीं होता
* प्राणीवैज्ञानिक तर्क त्रुटिपूर्ण
* कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते
* प्रतियोगिता नुकसानदायक
* ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद के आर्थिक एवं राजनीतिक परिणाम भयंकर

(3) राज्य की अयोग्यता का तर्क अनुचित—व्यक्तिवादियों का यह कथन भी सर्वथा अनुचित है कि राज्य जिन कार्यों को सम्पादित करता है वे व्यक्तियों द्वारा किये गये कार्यों की अपेक्षा कम अच्छे होते हैं। इस सम्बन्ध में गिलक्राइस्ट का यह कथन उचित ही है, **"व्यक्तिवाद राजकीय नियन्त्रण की बुराइयों की अतिशयोक्ति करता है जबकि यह भूल जाता है कि बुरे की अपेक्षा राज्य के अच्छे कार्यों के अधिक उदाहरण मिलते हैं।"**

(4) प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का उचित निर्णायक नहीं होता—व्यक्तिवादियों की यह धारणा कि प्रत्येक व्यक्ति अपने हितों का सर्वोत्तम निर्णायक होता है इसलिए उसे अकेला छोड़ देना चाहिए, त्रुटिपूर्ण है। अनुभव बताता है कि समाज में समस्त व्यक्ति समान रूप से बुद्धिमान नहीं होते। अतः प्रत्येक व्यक्ति जटिल सामाजिक जीवन की समस्याओं को समझकर अपना मार्ग निर्धारित नहीं कर सकता। वस्तुतः राज्य ही मानव की भौतिक, नैतिक एवं बौद्धिक आवश्यकताओं को उनसे अधिक भली-भाँति समझकर उचित मार्ग-प्रदर्शन कर सकता है। इस सम्बन्ध में स्वयं मिल ने स्वीकारा है, **"राज्य को एक व्यक्ति की स्वयं उससे रक्षा करनी चाहिए, जब वह व्यक्ति अज्ञानतावश आत्महत्या करना चाहता है अथवा गुलाम बनना स्वीकार करता है।"**

(5) प्राणीवैज्ञानिक तर्क त्रुटिपूर्ण—हरबर्ट स्पेन्सर की यह मान्यता कि **"सिर्फ शक्तिशाली व्यक्तियों को ही जीवित रहने का अधिकार है"**, सही नहीं है क्योंकि निर्बलों को निःसहाय अवस्था में छोड़ देना मानवता के नियम विरुद्ध है। अतः व्यक्ति का यह पावन कर्त्तव्य है कि वह अपनी शक्ति का उपयोग निर्बल व्यक्तियों को समाप्त न करने में करके उनके उत्थान हेतु करे। राज्य को भी प्रत्येक निर्बल व्यक्ति की प्रत्येक सम्भव सहायता करनी चाहिए।

(6) कानून स्वतन्त्रता को सीमित नहीं करते—व्यक्तिवादियों द्वारा राज्य के कानून तथा व्यक्ति की स्वतन्त्रता को परस्पर विरोधी समझ लिया गया है जो आधारहीन है। राज्य स्वतन्त्रता का विरोधी न होकर उसका पोषक है। स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ हस्तक्षेप का अभाव न होकर हितकारी कार्य करने की सुविधा है। कानून व्यक्तियों की स्वतन्त्रता सीमित नहीं करते बल्कि सभी लोगों हेतु स्वतन्त्रता का उपभोग सम्भव बनाते हैं।

(7) प्रतियोगिता नुकसानदायक—व्यक्तिवादियों द्वारा आर्थिक क्षेत्र में प्रतिपादित स्वतन्त्र प्रतियोगिता पूँजीपति एवं श्रमिक के मध्य संघर्ष की स्थिति पैदा करती है जिसमें श्रमिक वर्ग को हानि उठानी पड़ती है। पूँजी पर एकाधिकार लाभ की प्रवृत्ति, माँग एवं पूर्ति के मध्य

असन्तुलन इस प्रतियोगिता के ही प्रमुख परिणाम हैं। सिजविक ने उचित ही कहा है, **"स्वतन्त्र प्रतियोगिता की धारणा व्यक्तिवादी विचारधारा की सबसे बड़ी दुर्बलता है।"**

(8) ऐतिहासिक दृष्टिकोण से व्यक्तिवाद के आर्थिक एवं राजनीतिक परिणाम भयंकर—व्यक्तिवादी विचारधारा ने पूँजीवाद को जन्म दिया जिसने व्यक्ति के नैतिक एवं सामाजिक मूल्यों पर चोट की। इस नीति को अपनाने के परिणामस्वरूप पूँजी का पूँजीपतियों के हाथों में केन्द्रीकरण हुआ, बहुत-से व्यक्ति असहाय हो गये तथा मानव का नैतिक पतन हो गया। गिलक्राइस्ट ने भी कहा है, **"व्यक्तिवाद के विरुद्ध सबसे बड़ा तर्क यह है कि इस नीति को अपनाने का राजनीतिक, सामाजिक एवं औद्योगिक जीवन पर बुरा प्रभाव पड़ा है।"**

उपर्युक्त के पश्चात् कहा जा सकता है कि व्यक्तिवादी सिद्धान्त वर्तमान समय में प्रभावहीन हो गया है तथापि इस सिद्धान्त का महत्त्व इस दृष्टिकोण से अवश्य है कि राज्य को व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को सुरक्षित रखना चाहिए। वस्तुतः व्यक्तिवाद व्यक्ति की गरिमा एवं स्वतन्त्रता पर बल देता है। यहाँ गार्नर का यह कथन उल्लेखनीय है, **"व्यक्तिवादियों ने व्यक्ति के महत्त्व को विश्व के समक्ष रखा है।"**

समाजवाद
(SOCIALISM)

समाजवाद वर्तमान में सर्वाधिक लोकप्रिय एवं महत्त्वपूर्ण विचारधारा है। इसकी लोकप्रियता ने ही इसे अनिश्चितता का रूप प्रदान किया है। यह व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक तीव्र प्रतिक्रिया है। समाजवाद एक राजनीतिक दर्शन और महान् आन्दोलन है। समाजवाद का प्रयोग एक विशेष व्यवस्था एवं जीवन प्रणाली हेतु किया जाता है। विद्वानों ने समाजवाद को अनेक अर्थों में प्रयुक्त किया है। इसी कारण जोड ने लिखा है, **"समाजवाद एक ऐसी टोपी बन गयी है जिसका रूप बिगड़ चुका है क्योंकि हर कोई उसे पहनता है।"**[1]

समाजवाद की उत्पत्ति 'सोश्यस' (Socius) शब्द से हुई है जिसका अर्थ समाज (Society) है। इस प्रकार समाजवाद मूलतः समाज से सम्बन्धित है तथा न्यायपूर्ण समाज की स्थापना करने के लिए प्रत्यत्नशील है। समाजवाद एक व्यापक विचारधारा है जिसकी कोई निश्चित परिभाषा करना कठिन है। कुछ विद्वान समाजवाद को एक ओर नैतिकता का आदर्श तथा समाज सुधारक सिद्धान्त मानते हैं तो दूसरी ओर कुछ विद्वान इसके क्रान्तिकारी स्वरूप में आस्था रखते हैं। समाजवाद के विषय में रैम्जे म्योर ने लिखा है, **"यह एक गिरगिट के समान है जो परिस्थितियों के अनुसार अपना रंग बदलता रहता है।"**[2]

रैमजे मैक्डोनल्ड के शब्दों में, **"साधारण भाषा में समाजवाद की सबसे अच्छी परिभाषा यही है कि उसका उद्देश्य समाज के आर्थिक एवं भौतिक साधनों का संगठन करना तथा मानव साधनों द्वारा उसका नियन्त्रण करना है।"**

अतः कहा जा सकता है कि समाजवाद 'पूँजीवाद एवं धार्मिक असमानता' के विरोध में विकसित हुआ। समाजवादी 'व्यक्ति' की अपेक्षा 'समाज' को अधिक महत्त्व देते हैं तथा मानव सभ्यता को अपना लक्ष्य मानते हैं। समाजवाद का उद्देश्य पूँजीवादी व्यवस्था के स्थान

---

1 "Socialism is like a hat which has lost its shape because everybody wears it." —*C. E. M. Joad*

2 "It is a chameleon like creed, it changes its colour according to its environment." —*Ramsay Muir*

पर एक ऐसी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्था की स्थापना करना है जिसमें उत्पादन के राष्ट्रीय साधनों पर प्रभुत्व किसी वर्ग विशेष का नहीं वरन् सम्पूर्ण समाज का हो।

समाजवाद के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र—राज्य के कार्यक्षेत्र का निर्धारण करने की दृष्टि से समाजवादी सिद्धान्त व्यक्तिवादी सिद्धान्त के ठीक विपरीत है। व्यक्तिवाद जहाँ राज्य के सीमित कार्यक्षेत्र पर बल देता है वहीं समाजवाद राज्य को उन समस्त कार्यों को सम्पादित करने को कहता है जिनसे समाज की उन्नति सम्भव है। इसके अलावा समाजवाद की मान्यता है कि राज्य को उत्पत्ति एवं वितरण के साधनों पर नियन्त्रण रखकर स्वयं ही सार्वजनिक हित के कार्यों का सम्पादन करना चाहिए। अतः कहा जा सकता है कि समाजवाद के अनुसार प्रायः सामाजिक जीवन के समस्त कार्य राज्य के कार्यक्षेत्र के अन्तर्गत आ जाते हैं। इस सम्बन्ध में गार्नर का यह कथन उचित ही है, **"राज्य मानव विकास की सर्वोच्च संस्था है। उसका कार्यक्षेत्र व्यापक है। वह व्यक्ति के सामाजिक, आर्थिक, बौद्धिक एवं नैतिक सभी क्षेत्रों के हितों की अभिवृद्धि करती है।"**

समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त—समाजवाद उत्पादन एवं वितरण की समस्याओं तक ही सीमित नहीं है वरन् शायद ही सामाजिक जीवन का कोई पहलू शेष बचा हो जिसके विषय में उसने प्रकाश नहीं डाला हो। समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त निम्नांकित हैं—

समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त
* व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व
* सहयोग पर आधारित
* समाज की आंगिक एकता पर बल
* लोकतन्त्र का पोषक
* समानता का समर्थक
* राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपना
* आर्थिक शोषण का विरोधी
* राष्ट्रीयकरण का समर्थक
* न्याय एवं अधिकार पर आधारित

(1) व्यक्ति की अपेक्षा समाज को अधिक महत्त्व—समाजवाद व्यक्तिगत हित की अपेक्षा सामूहिक हित को प्रधानता देता है। आवश्यकता पड़ने पर सामाजिक हित के लिए यदि व्यक्तिगत हित को त्यागना पड़े तो समाजवादी उसे अनुचित नहीं मानते। समाजवादियों के मतानुसार सामूहिक हित में व्यक्तिगत हित निहित होता है। सामूहिक हित की पूर्ति से व्यक्तिगत हित की पूर्ति स्वयं हो जाती है। फ्रेड ब्रेमले के अनुसार, **"समाजवाद व्यक्तिगत स्वार्थ को सामाजिक स्वार्थ के अधीन मानता है।"**[1]

(2) सहयोग पर आधारित—समाजवाद प्रतियोगिता का विरोध करता है तथा सहयोग में वृद्धि करने पर बल देता है। समाजवादियों के मतानुसार नागरिकों में सहयोग की भावना एकता पैदा करके वर्गभेद को समाप्त करती है जिससे शोषण का अन्त होता है। राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग करके अनावश्यक प्रतियोगिता को समाप्त किया जा सकता है। डॉ. हीडन गेस्ट का कथन है, **"मेरे विचार से समाजवाद का अर्थ स्थानीय, राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय सभी क्षेत्रों में प्रतियोगिता के स्थान पर सहयोग की स्थापना करना है। प्रतियोगिता से व्यक्ति के चरित्र का सामान्यतया पतन होता है। व्यक्तिगत लाभ के लिए प्रतियोगिता द्वारा उत्पादन की अनुचित मात्रा बढ़ जाती है।"**

---

1 "Socialism implies the subordination of the interest of the individual to the interest of the society."
—*Bramlay*

(3) **समाज की आंगिक एकता पर बल**—समाजवाद व्यक्ति को निरीह तथा अकेला प्राणी नहीं मानता। वह व्यक्ति को समाज से उसी प्रकार सम्बद्ध मानता है जिस प्रकार से कि एक अंग शरीर से सम्बद्ध होता है। जिस प्रकार शरीर के किसी भी अंग में कष्ट होने पर उसका प्रभाव पूरे शरीर पर पड़ता है ठीक उसी प्रकार किसी व्यक्ति को कष्ट होने पर उसका प्रभाव सम्पूर्ण समाज पर पड़ता है। कहने का तात्पर्य यह है कि मानव शरीर के अंग की भाँति व्यक्ति समाज का एक अभिन्न अंग है।

(4) **लोकतन्त्र का पोषक**—समाजवाद एक लोकतान्त्रिक विचारधारा है। यह आर्थिक क्षेत्र में लोकतन्त्र के सिद्धान्तों का विस्तार एवं प्रयोग मात्र है। वास्तविक लोकतन्त्र सिर्फ शासन का ही रूप नहीं है वरन् एक ऐसा सामाजिक ढाँचा भी है जिसमें उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर सामूहिक नियन्त्रण हो। समाजवादी पूँजीवादी व्यवस्था की नैतिकता की भावना को स्वीकारते हुए हिंसा के प्रयोग का भारी विरोध करते हैं तथा पूँजीवादी व्यवस्था में सन्निहित लोकतान्त्रिक प्रणाली एवं संवैधानिक साधनों के माध्यम से समाजवादी समाज की स्थापना करना चाहते हैं।

(5) **समानता का समर्थक**—समाजवाद का मौलिक ध्येय आर्थिक एवं सामाजिक क्षेत्र में समानता स्थापित करना है। हालांकि समाजवादी यह स्वीकार करते हैं कि पूर्ण समानता अनुचित एवं असम्भव है। लेकिन उनका उद्देश्य ऐसा वातावरण निर्मित करना है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति को अपना विकास करने हेतु समान सुविधाएँ एवं अवसर प्राप्त हों। यह विचारधारा असहनीय असमानताओं को दूर करना चाहती है। समाजवाद व्यक्तिवादी स्वतन्त्रता के स्थान पर आर्थिक एवं अवसर की समानता प्रदान करता है।

(6) **राज्य को अधिकाधिक कार्य सौंपना**—समाजवादी राज्य को एक कल्याणकारी संस्था मानते हैं। वे राज्य के कार्यक्षेत्र को अधिकाधिक व्यापक बनाकर व्यक्ति को स्वतन्त्रता एवं समानता प्रदान करना चाहते हैं। समाजवादियों के मतानुसार वर्तमान काल में राज्य को व्यक्ति की समस्याओं को हल करने में अधिक रुचि लेनी चाहिए। ऐसा करने से ही राज्य कल्याणकारी राज्य के दायित्वों का निर्वाह कर सकता है।

(7) **आर्थिक शोषण का विरोधी**—समाजवाद की प्रमुख विशेषता पूँजीवाद का विरोध है। समाजवादियों के मतानुसार पूँजीवाद, असमानता तथा जन-साधारण के शोषण पर आधारित है और ऐसी व्यवस्था कदापि समस्त जनता हेतु कल्याणकारी नहीं हो सकती। पूँजीवादी समाज में वर्ग व्यवस्था का उदय होता है। इससे सामाजिक एकता नष्ट होकर घृणा एवं वैमनस्य का वातावरण निर्मित होता है तथा व्यक्तियों का नैतिक पतन हो जाता है। चूँकि पूँजीवादी अर्थव्यवस्था आन्तरिक एवं अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अशान्ति पैदा करती है अतः समाजवाद पूँजीवाद का पतन करना चाहता है।

(8) **राष्ट्रीयकरण का समर्थक**—समाजवादी भूमि एवं उद्योगों पर व्यक्तिगत स्वामित्व का विरोध करते हैं तथा उत्पादन के समस्त साधनों पर समाज का अधिकार चाहते हैं। ऐसा होने से न सिर्फ पूँजीवादी प्रवृत्ति का अन्त होगा बल्कि श्रमिकों को वास्तविक अस्तित्व प्राप्त होगा। अतः कहा जा सकता है कि समाजवाद उत्पादन के साधनों का राष्ट्रीयकरण करने का हिमायती है।

(9) **न्याय एवं अधिकार पर आधारित**—समाजवाद न्याय एवं अधिकार पर आधारित विचारधारा है। पूँजीवादी व्यवस्था में श्रमिकों एवं ग्राहकों का शोषण होता है। उत्पादन में

पूँजी एवं पूँजीपतियों के प्रयासों के साथ श्रमिकों का भी अत्यधिक योगदान होता है लेकिन पूँजीवादी व्यवस्था में उन्हें उचित पारिश्रमिक नहीं मिलता तथा उनका शोषण होता है। समाजवाद में श्रमिकों को उनके श्रम का पारिश्रमिक मिलने के साथ उनके अधिकारों की रक्षा होती है। इस प्रकार यह व्यवस्था न्याय एवं अधिकार पर आधारित है।

समाजवाद के पक्ष में तर्क—जब मानव जीवन की जटिल गुत्थियों को सुलझाने में व्यक्तिवाद निष्फल हो गया तब आर्थिक विषमताओं से पीड़ित मानव जाति ने समाजवाद के रूप में एक नवीन जीवन-दर्शन को अपनाया। इसके समर्थन में अनेक तर्क दिये गये हैं। इनमें से प्रमुख निम्नलिखित हैं—

(1) **शोषण का अन्त**—समाजवाद श्रमिकों एवं गरीबों के शोषण का विरोध करता है। पहले यह मान्यता थी कि श्रमिकों का शोषित एवं गरीब होना उनकी नियति है लेकिन समाजवाद ने यह स्पष्ट कर दिया कि पूँजीवादी व्यवस्था में पूँजीपतियों के षड्यन्त्रों के कारण ही गरीबों एवं श्रमिकों का शोषण होता है। समाजवाद शोषण के अन्त में आस्था रखने वाली विचारधारा है। इसलिए विश्व के श्रमिक, किसान एवं अल्पसंख्यक गरीब इसका समर्थन करते हैं।

समाजवाद के पक्ष में तर्क
* शोषण का अन्त
* लोकतन्त्रीय विचारधारा
* समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होता
* सभी को उन्नति के समान अवसर
* साम्राज्यवाद का विरोधी
* श्रम तथा समाज पर अत्यधिक जोर

(2) **लोकतन्त्रीय विचारधारा**—समाजवाद पूँजी के समान तथा न्यायोचित वितरण पर अत्यधिक बल देता है और समाज में सामाजिक एवं आर्थिक समानता स्थापित करके नागरिकों के सामाजिक तथा राजनीतिक अधिकारों को मान्यता प्रदान करता है। इस प्रकार समाजवाद और लोकतन्त्र एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। दोनों का लक्ष्य मानव-कल्याण एवं समानता है तथा समानता, समाजवाद और लोकतन्त्र का मूलमन्त्र है। अतः समाजवाद एक लोकतन्त्रीय विचारधारा है।

(3) **समाजवाद में सम्पत्ति का अपव्यय नहीं होता**—व्यक्तिवादी एवं पूँजीवादी व्यवस्था में खुली प्रतियोगिता होती है जिसमें प्रचार, विज्ञापन तथा अन्य बातों पर अत्यधिक धनराशि व्यय करनी पड़ती है जिससे वस्तु के लागत मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। समाजवादी व्यवस्था में खुली प्रतियोगिता के स्थान पर सहकारिता पर विशेष जोर दिया जाता है। अतः प्रचार इत्यादि पर होने वाले व्यय की आवश्यकता नहीं होती तथा मितव्ययिता आ जाती है।

(4) **सभी को उन्नति के समान अवसर**—समाज सभी लोगों को उन्नति हेतु समान अवसर प्रदान करने का पक्षपाती है। इस व्यवस्था में कोई विशेष सुविधासम्पन्न वर्ग नहीं होगा। सभी लोगों को समान रूप से अपनी उन्नति एवं विकास के अवसर प्राप्त होंगे। इस प्रकार समाजवादी व्यवस्था स्वाभाविक एवं न्यायोचित है।

(5) **साम्राज्यवाद का विरोधी**—समाजवाद औपनिवेशिक परतन्त्रता, शोषण एवं साम्राज्यवाद का विरोधी एवं राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का समर्थक है। लेनिन के मतानुसार, "साम्राज्यवाद पूँजीवाद का अन्तिम चरण है।"

समाजवादियों की मान्यता है कि जिस प्रकार पूँजीवाद में व्यक्तिगत शोषण होता है, ठीक उसी प्रकार साम्राज्यवाद में राज्य अथवा राज्यों को राजनीतिक एवं आर्थिक रूप से परतन्त्र

बनाकर शोषित किया जाता है। इसलिए समाजवादी सम्पूर्ण संसार के शोषण को समाप्त करना चाहते हैं।

(6) श्रम तथा समाज पर अत्यधिक जोर—समाजवाद श्रम तथा समाज सेवा पर अत्यधिक जोर देता है। समाजवाद व्यक्ति हित के स्थान पर सामाजिक सेवा चाहता है। इस विचारधारा के अनुयायियों के मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति को उसके श्रम के अनुरूप उचित पारिश्रमिक तथा प्रोत्साहन मिलना चाहिए। समाजवाद में आलस्य एवं अकर्मण्यता हेतु कोई स्थान नहीं है। समाजवादी विचारधारा 'जो कार्य नहीं करेगा, वह खायेगा भी नहीं' सिद्धान्त पर आधारित है। इसके विपरीत, पूँजीवादी व्यवस्था अकर्मण्यता की जननी है।

अन्त में निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि समाजवाद राज्य के कार्यक्षेत्र की दृष्टि से सर्वोत्तम सिद्धान्त है। यह एक न्यायपूर्ण तथा लोकतान्त्रिक विचारधारा है। समाजवाद का विश्लेषण करते हुए हेर बेब्ले कहता है, **"समाजवाद वस्तुतः दर्शन का एक पूरा संसार है। यह धर्म-क्षेत्र में नागरिकता का, राज्य के क्षेत्र में लोकतन्त्रात्मक गणराज्य का, उद्योग के क्षेत्र में औद्योगिक समष्टिवाद का, नैतिकता के क्षेत्र में एक अनन्त आशावाद का, अध्यात्मवाद के क्षेत्र में एक प्रकृतिवादी वस्तुवाद का तथा पारिवारिक एवं वैवाहिक बन्धनों के लगभग पूर्ण अन्त का सूचक है।"**

समाजवाद की आलोचना—यद्यपि समाजवाद वर्तमान काल की एक महत्त्वपूर्ण आर्थिक विचारधारा रही है तथा उसने सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक ढाँचे को प्रभावित किया है फिर भी इसकी निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की जाती है—

समाजवाद की आलोचना
* व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त
* पूर्ण समानता असम्भव
* कार्य करने की प्रेरणा का अन्त
* नौकरशाही का महत्त्व
* समाजवाद से हिंसा को बढ़ावा
* उत्पादन का श्रेय श्रमिकों को देना त्रुटिपूर्ण
* समाजवाद लोकतन्त्र विरोधी
* उग्र राष्ट्रीयता का विकास

(1) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का अन्त—राज्य के कार्यक्षेत्र का विस्तार व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के अन्त का परिचायक है। योजनाबद्ध अर्थव्यवस्था में सभी वस्तुएँ राज्य द्वारा नियन्त्रित होती हैं। ऐसी स्थिति में व्यक्ति स्वतन्त्र होने के स्थान पर 'राज्य का गुलाम' बन जाता है। वास्तव में, समाजवादी व्यवस्था में व्यक्ति राज्य रूपी मशीन का छोटा पुर्जा मात्र बनकर रह जाता है। हेयक ने उचित ही कहा है, **"पूर्ण नियोजन का आशय पूर्ण गुलामी है।"**[1]

(2) पूर्ण समानता असम्भव—समाजवाद समानता पर आधारित विचारधारा है। प्रकृति ने समस्त व्यक्तियों को समान उत्पन्न नहीं किया। जन्म से कुछ व्यक्ति बुद्धिमान तो कुछ मूर्ख, कुछ स्वस्थ तो कुछ अस्वस्थ, कुछ परिश्रमी तो कुछ आलसी होते हैं। इन सभी को समान समझना प्राकृतिक सिद्धान्त की अवहेलना करना है। अतः पूर्ण समानता स्थापित नहीं की जा सकती।

(3) कार्य करने की प्रेरणा का अन्त—व्यक्तियों को श्रम करने की प्रेरणा इस भावना से मिलती है कि वे व्यक्तिगत सम्पत्ति का संचार कर सकेंगे। समाजवादी व्यवस्था में उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर राजकीय नियन्त्रण का परिणाम यह होता है कि व्यक्तियों में कार्य करने की प्रेरणा का अन्त हो जाता है।

1 "Total planning is total serfdom." —Hayek

(4) **नौकरशाही का महत्त्व**—समाजवाद में राज्य के कार्यों में बढ़ोत्तरी होने के कारण नौकरशाही का महत्त्व बढ़ता है तथा समस्त फैसले शासकीय कर्मचारियों द्वारा लिये जाते हैं। वह जन-इच्छाओं एवं आवश्यकताओं की इतनी चिन्ता नहीं करते जितनी अपने स्वार्थों की। ऐसी परिस्थिति में भ्रष्टाचार बढ़ता है। उत्पादन की मात्रा भी जनसाधारण की आवश्यकतानुसार न होकर सरकारी कर्मचारियों की इच्छानुसार निश्चित की जाती है।

(5) **समाजवाद से हिंसा को बढ़ावा**—समाजवाद अपने लक्ष्य की प्राप्ति हेतु क्रान्तिकारी तथा हिंसात्मक माँग को अपनाता है। वह शान्तिपूर्ण तरीकों में आस्था नहीं रखता। समाजवाद के द्वारा वर्ग संघर्ष पर बल देने के परिणामस्वरूप समाज में विभाजन एवं वैमनस्यता की भावना फैलती है।

(6) **उत्पादन का श्रेय श्रमिकों को देना त्रुटिपूर्ण**—उत्पादन का श्रेय सिर्फ श्रमिकों को देना न्यायसंगत नहीं है। उत्पादन में श्रम के अलावा पूँजी तथा संसाधन इत्यादि भी आवश्यक होते हैं तथा स्थूल रूप में इन सभी को पूँजी ही कहा जा सकता है।

(7) **समाजवाद लोकतन्त्र विरोधी**—समाजवाद की प्रवृत्ति जहाँ व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर अंकुश लगाती है, वहीं लोकतन्त्र का आधार ही व्यक्ति की स्वतन्त्रता है। लोकतन्त्र में व्यक्ति के अस्तित्व को अत्यन्त उत्तम स्थान प्राप्त है जबकि समाजवाद में वह राज्य रूपी विशाल मशीन में एक निर्जीव पुर्जा बन जाता है।

(8) **उग्र राष्ट्रीयता का विकास**—समाजवाद किसी राष्ट्रीय सीमा पर विश्वास नहीं करता। वह विश्व के सर्वहारा वर्ग को एक झण्डे के नीचे इकट्ठा करना चाहता है तथा राष्ट्रीयता की भावना से ऊपर उठाकर श्रमिकों को राज्य से लड़ाना चाहता है। मार्क्स के अनुसार राज्य ने सदैव ही पूँजीपतियों, सामन्तों तथा शोषक वर्ग का साथ दिया है। आज 'राष्ट्रवाद' प्रधान एवं 'समाजवाद' गौण है।

लोककल्याणकारी राज्य
(WELFARE STATE)

वर्तमान काल में राज्य के उद्देश्यों एवं कार्यों के सम्बन्ध में एक नवीन एवं सर्वाधिक लोकप्रिय अवधारणा का प्रतिपादन किया गया है। यह अवधारणा 'लोककल्याणकारी राज्य' है। हैरल्ड लॉस्की ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **'ग्रामर ऑफ पालिटिक्स'** में लिखा है, **"आधुनिक युग की एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि अब राज्य को रात्रि के पहरेदार की बजाय कल्याणकारी राज्य के रूप में स्वीकार कर लिया गया है।"**

लोककल्याणकारी राज्य का आशय ऐसे राज्य से होता है जिसमें शासन की शक्ति का प्रयोग किसी वर्ग विशेष के कल्याणार्थ न होकर सम्पूर्ण जन-साधारण के कल्याणार्थ होता है। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि वह राज्य जो सम्पूर्ण जनता को आधार मानकर लोकतन्त्रीय व्यवस्था द्वारा सम्पूर्ण जनसाधारण के कल्याण हेतु समस्त प्रकार के कार्य करता है, लोककल्याणकारी राज्य कहलाता है।

लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा अति प्राचीन है। प्रसिद्ध यूनानी दार्शनिकों, प्लेटो एवं अरस्तू ने भी लोककल्याणकारी राज्य के स्वरूप को महत्त्व दिया। रामराज्य की कल्पना भी लोककल्याण पर ही आधारित थी। बेन्थम का यह कथन कि राज्य का उद्देश्य **'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख'** है, परोक्ष रूप से कल्याणकारी राज्य के सिद्धान्त का ही प्रतिपादन है। ग्रीन का यह विचार कि राज्य का उद्देश्य **'बाधाओं को बाधित' (To hinder the hindrances)** करना है, लोककल्याणकारी राज्य का पूर्वानुमान था।

व्यक्तिवाद के उदय के कारण 18वीं एवं 19वीं शताब्दी में अधिकांश राज्यों द्वारा व्यक्तिवादी 'यथेच्छाचारिता' (*Laissez faire*) की नीति को अपना लिया गया। इस नीति के भयावह परिणाम निकले। पूँजीवाद का उदय हुआ तथा सिर्फ कुछ ही व्यक्तियों के हाथों में सम्पत्ति का केन्द्रीयकरण होने लगा। फलस्वरूप शोषक एवं शोषित वर्ग का प्रादुर्भाव हुआ। पूँजीपतियों द्वारा श्रमिक वर्ग का शोषण किया जाने लगा। इन अनिष्टकारी परिणामों के फलस्वरूप प्रतिक्रियाएँ एवं असन्तोष पैदा हुआ। पूँजीवादी व्यवस्था को समाप्त करने तथा श्रमिक वर्ग के हितार्थ **कार्ल मार्क्स** एवं **ऐंजिल्स** ने अपनी क्रान्तिकारी साम्यवादी विचारधारा प्रस्तुत की। तदुपरान्त समाजवादी लोकतान्त्रिक विचारधाराओं का प्रादुर्भाव हुआ जिसके परिणामस्वरूप आधुनिक कल्याणकारी राज्य की विचारधारा का उदय हुआ।

लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषाएँ—लोककल्याणकारी राज्य को विभिन्न विचारकों ने अनेक प्रकार से परिभाषित किया है। इनमें से कुछ प्रमुख परिभाषाएँ निम्नांकित हैं—

जवाहरलाल नेहरू ने कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की व्याख्या करते हुए कहा था, "सभी के लिए समान अवसर प्रदान करना, अमीरों एवं गरीबों के बीच अन्तर मिटाना तथा जीवन-स्तर को ऊपर उठाना लोककल्याणकारी राज्य के आधारभूत तत्त्व हैं।"

आर्थर स्लेशिंगर के शब्दों में, "कल्याणकारी राज्य वह व्यवस्था है जिसके अन्तर्गत शासन अपने समस्त नागरिकों हेतु रोजगार, आय, चिकित्सा, शिक्षा, सहायता, सामाजिक सुरक्षा एवं आवास के कुछ स्तर स्थापित करने हेतु तैयार रहता है।"

गार्नर के मतानुसार, "कल्याणकारी राज्य का उद्देश्य राष्ट्रीय जीवन, राष्ट्रीय सम्पत्ति तथा जीवन में भौतिक तथा नैतिक स्तर को विस्तृत करना है।"

'एनसाइक्लोपीडिया ऑफ सोशल साइन्सेज' में लोककल्याणकारी राज्य की परिभाषा करते हुए कहा गया है, "लोककल्याणकारी राज्य का आशय एक ऐसे राज्य से है जो अपने समस्त नागरिकों को न्यूनतम जीवन-स्तर प्रदान करना अपना अनिवार्य उत्तरदायित्व समझता है।"

जी. डी. एच. कोल के शब्दों में, "कल्याणकारी राज्य एक ऐसा समुदाय है जिसमें जीवन का न्यूनतम स्तर प्राप्त करने का विश्वास तथा अवसर प्रत्येक नागरिक के अधिकार में होते हैं।"

लोककल्याणकारी राज्य को परिभाषित करते हुए डॉ. अब्राहम ने कहा है कि "कल्याणकारी राज्य वह है जो अपनी आर्थिक व्यवस्था का संचालन आय के अधिकाधिक समान वितरण के उद्देश्य से करता है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं के विश्लेषण से स्पष्ट है कि विद्वानों द्वारा लोककल्याण के आर्थिक पक्ष पर अत्यधिक जोर दिया गया है लेकिन आर्थिक कल्याण से ही लोककल्याण की धारणा पूर्ण नहीं हो जाती। लोककल्याण में समस्त नागरिकों की सुरक्षा, उनका सामाजिक, बौद्धिक, नैतिक, शैक्षणिक एवं सांस्कृतिक विकास करना और उन्हें स्वास्थ्य सम्बन्धी सेवाएँ प्रदान करना भी सम्मिलित है। लोककल्याणकारी राज्य किसी वर्ग विशेष का ही कल्याण नहीं

1 "A welfare state is a community where states power is deliberately used to modify the normal play of economic forces so as to obtain a more equal distribution of income for every citizen." —*Dr. Abraham*

करता अपितु वह तो समस्त नागरिकों को समान रूप में अवसरों की समानता तथा अधिक-से-अधिक सुविधाएँ प्रदान करके लोकहित करता है अर्थात् लोकहित पर आधारित राज्य को ही लोककल्याणकारी राज्य कहा जाता है।

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण (Characteristics of Welfare State)

लोककल्याणकारी राज्य की पूर्वोक्त धारणा के आधार पर उसके लक्षणों की निम्न प्रकार से विवेचना की जा सकती है—

लोककल्याणकारी राज्य के लक्षण
* आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था
* राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था
* सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था
* राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि
* अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना

(1) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था—बुनियादी रूप से लोककल्याणकारी राज्य आर्थिक सुरक्षा के विचार पर आधारित है। जब तक आर्थिक सुरक्षा नहीं होगी तब तक राजसत्ता जनसाधारण के हित में कार्य करने वाली स्वीकार नहीं बन सकती। किसी भी राज्य के संविधान में वर्णित स्वतन्त्रता के लुभावने आश्वासन उस देश की भूखी तथा अभावग्रस्त जनता की उदरपूर्ति में सहायक नहीं हो सकते। अतः लोककल्याणकारी राज्य आर्थिक सुरक्षा पर ही विशेष ध्यान केन्द्रित करता है। आर्थिक सुरक्षा का तात्पर्य निम्नांकित तीन बातों से है—

(i) सबके लिए रोजगार—शारीरिक एवं मानसिक रूप से कार्य करने की योग्यता रखने वाले समस्त व्यक्तियों हेतु रोजगार की व्यवस्था होनी चाहिए। किसी भी प्रकार का कार्य करने की योग्यता अथवा क्षमता न रखने वाले व्यक्तियों के जीवन-यापन हेतु राज्य की ओर से 'बेरोजगारी बीमे' की व्यवस्था होनी चाहिए।

(ii) न्यूनतम जीवन-स्तर की गारण्टी—प्रत्येक व्यक्ति को इतना पारिश्रमिक तो अवश्य ही मिलना चाहिए कि वह न्यूनतम जीवन-स्तर के अनुसार अपने जीवन-यापन हेतु आवश्यक सामग्री तथा सुविधाएँ प्राप्त कर सके। इस सम्बन्ध में अर्थशास्त्री क्राउथर ने लिखा है, **"नागरिकों को स्वस्थ जीवन व्यतीत करने हेतु पर्याप्त भोजन व्यवस्था होनी चाहिए। निवास, वस्त्र इत्यादि के न्यूनतम जीवन-स्तर की ओर से उन्हें चिन्ता रहित होना चाहिए। शिक्षा का उन्हें पूर्ण तथा समान अवसर प्राप्त होना चाहिए। उन्हें जीवन का आनन्द भोगने हेतु अवकाश एवं साधन मिलने चाहिए। बेरोजगारी तथा वृद्धावस्था के दुःख से उनकी रक्षा करनी चाहिए।"**

(iii) अधिकतम आर्थिक समानता—हालांकि सम्पत्ति एवं आय का वितरण पूर्णरूपेण समानता के आधार पर किया जाना असम्भव है लेकिन फिर भी यथासम्भव ऐसी व्यवस्था की जानी चाहिए कि आय के 'न्यूनतम' एवं 'अधिकतम' स्तर के मध्य कम-से-कम अन्तर हो जिससे कोई भी व्यक्ति अपनी सम्पत्ति के बल पर किसी अन्य व्यक्ति का शोषण करने योग्य न बन सके।

(2) राजनीतिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य का दूसरा लक्षण यह है कि वह ऐसी व्यवस्था करे कि राजनीतिक शक्ति सम्पूर्ण जनसाधारण में निहित हो जिससे समस्त व्यक्ति अपनी योग्यता एवं क्षमता के अनुसार देश के राजनीतिक जीवन में उचित योगदान कर सकें। इस लक्ष्य को पूर्ण करने हेतु निम्न दो व्यवस्थाएँ होना आवश्यक है—

(i) लोकतन्त्रीय शासन—कल्याणकारी राज्य अधिनायकतन्त्र अथवा कुलीनतन्त्र जैसी शासन व्यवस्थाओं में नहीं पनप सकता। इन शासन व्यवस्थाओं के अन्तर्गत व्यक्ति द्वारा अपने

विवेक के आधार पर राजनीतिक कर्त्तव्यों का सम्पादन करना सम्भव नहीं क्योंकि इनमें नागरिकों को किसी प्रकार के राजनीतिक अधिकार नहीं दिये जाते हैं। लोकतन्त्रात्मक शासन व्यवस्था में नागरिक सभी अधिकारों का उपभोग करते हैं। अतः वहाँ कल्याणकारी भावनाओं को विकसित होने के समुचित अवसर मिलते हैं।

(ii) नागरिक स्वतन्त्रताएँ—जो राज्य नागरिकों को 'रोटी के साथ-साथ स्वतन्त्रता' भी प्रदान करता है वही एक सच्चा लोककल्याणकारी राज्य होता है। नागरिक स्वतन्त्रताएँ जहाँ एक ओर व्यक्तित्व के विकास में सहायक होती हैं वहीं दूसरी ओर कल्याणकारी समाज के निर्माण में सहयोग प्रदान करती हैं। विचारों की अभिव्यक्ति तथा राजनीतिक दलों के संगठन की स्वतन्त्रता के आधार पर वास्तविक राजनीतिक स्वतन्त्रता की छाप (मुहर) लगती है।

(3) सामाजिक सुरक्षा की व्यवस्था—लोककल्याणकारी राज्य को सामाजिक समानता की स्थापना करनी चाहिए क्योंकि सामाजिक समानता ही सामाजिक सुरक्षा है। समाज में रंग, जाति, सम्प्रदाय, धर्म, वंश एवं लिंग के आधार पर कोई भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में डॉ. बेनी प्रसाद ने लिखा है, **"सामाजिक समानता का सिद्धान्त इस मान्यता पर आधारित है कि प्रत्येक व्यक्ति के सुख का महत्त्व हो सकता है तथा किसी को भी अन्य किसी के सुख का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता है।"**

(4) राज्य के कार्यक्षेत्र में वृद्धि—कल्याणकारी राज्य की एक प्रमुख विशेषता है कि इसमें राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यन्त व्यापक होता है। वस्तुतः यह सिद्धान्त व्यक्तिवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया है और इस आदर्श पर आधारित है कि राज्य को वह समस्त कार्य करने चाहिए जिनके करने से व्यक्ति की स्वतन्त्रता नष्ट अथवा कम नहीं होती। इसी आधार पर एम. जी. हॉब्सन ने लिखा है, **"राज्य ने एक डाक्टर, एक नर्स, स्कूल मास्टर, व्यापारी, उत्पादक, बीमा एजेण्ट, मकान बनाने वाले मिस्त्री, नगर योजना तैयार करने वाले, रेलवे नियन्त्रक इत्यादि सैकड़ों अन्य लोगों के कार्यों के उत्तरदायित्व को स्वीकार कर लिया है।"**[1]

(5) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग की भावना—कल्याणकारी राज्य 'वसुधैव कुटुम्बकम्' अर्थात् 'सम्पूर्ण विश्व मेरा परिवार है' की धारणा में विश्वास करता है। संचार तथा यातायात के साधनों ने विश्व की दूरी को कम कर दिया है जिसके फलस्वरूप सम्पूर्ण विश्व एक परिवार के समान हो गया है। अतः एक कल्याणकारी राज्य सिर्फ अपने ही हितों को ध्यान में न रखकर सम्पूर्ण मानवता के हितों से भी सम्बन्ध रखता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय संस्कृति को भी विकसित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार उसका स्वरूप सिर्फ राष्ट्रीय न होकर अन्तर्राष्ट्रीय भी है।

लोककल्याणकारी राज्य के कार्य (Functions of Welfare State)

परम्परागत विचारधारा के अनुसार राज्य के कार्यों को अनिवार्य तथा ऐच्छिक दो वर्गों में विभाजित किया जाता है। लेकिन कल्याणकारी राज्य की अवधारणा में अब यह माना जाने लगा है कि ऐच्छिक कार्यों का सम्पादन करना भी राज्य के लिए अनिवार्य है। कल्याणकारी राज्य के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं—

(1) बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा—बाह्य आक्रमणों से राज्य की रक्षा करना प्रत्येक राज्य का अनिवार्य कार्य है। इसके लिए राज्य नियमित जल, थल तथा वायु सेना रखने के साथ-साथ अन्य विभिन्न प्रकार के सैन्य उपकरणों एवं साधनों की व्यवस्था भी करता है।

---

1 "The state has assumed the duties of a doctor, a nurse, school master, trader, manufacturer, insurance agent, house-builder, town-planner, railway controller and a hundred other functions." —M. G. Hobson

(2) आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था—राज्य का द्वितीय अनिवार्य कार्य राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था स्थापित करके नागरिकों को लोककल्याणकारी कानून तथा सुशासन प्रदान करना है। नागरिकों के जीवन तथा सम्पत्ति की रक्षा करना भी राज्य का ही दायित्व है। राज्य ही नागरिकों के अधिकारों तथा कर्त्तव्यों का नियमन करता है। लोककल्याणकारी राज्य में कारागारों को अब 'बन्दी सुधार-गृह' का रूप दिया जा रहा है जिससे वे सुधरकर समाजोपयोगी नागरिक बन सकें।

लोककल्याणकारी राज्य के कार्य

* बाह्य आक्रमणों से सुरक्षा
* आन्तरिक शान्ति एवं सुव्यवस्था
* स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्याय व्यवस्था
* आपसी सम्बन्धों का नियमन
* आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था
* विदेश नीति का संचालन
* सार्वजनिक शिक्षा
* सार्वजनिक स्वास्थ्य
* कृषि की उन्नति
* उद्योग एवं व्यापार पर नियन्त्रण
* श्रमिकों के हितों की रक्षा
* यातायात एवं संचार व्यवस्था
* असहाय एवं अपाहिजों की सहायता
* साहित्य, कला एवं विज्ञान को प्रोत्साहन
* आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ
* प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा एवं विकास
* सामाजिक सुधार

(3) स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्याय व्यवस्था—चूँकि राज्य में शान्ति एवं व्यवस्था स्थापित करने का कार्य पुलिस द्वारा ही नहीं किया जा सकता अतः राज्य के कानूनों का उल्लंघन करने वाले व्यक्तियों को दण्डित करने और नागरिकों के मौलिक अधिकारों की रक्षा हेतु स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका की स्थापना करना राज्य का ही एक अनिवार्य कार्य है। इसके लिए राज्य दीवानी एवं फौजदारी न्यायालयों की स्थापना करता है जो स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष होकर नागरिकों को न्याय प्रदान करती हैं।

(4) आपसी सम्बन्धों का नियमन—लोककल्याणकारी राज्य महिला, पुरुष तथा बच्चों एवं उनके माता-पिता के आपसी सम्बन्धों का नियमन करने हेतु ऐसी व्यवस्था करता है कि उनके मध्य वैधानिक सम्बन्ध ही स्थापित रहें जिससे संघर्ष की स्थिति पैदा न हो। इसके अतिरिक्त राज्य एवं नागरिक के सम्बन्धों को नियमित करने का दायित्व भी राज्य का ही है क्योंकि आपसी सम्बन्ध ही नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा राज्य की सत्ता का मूल आधार हैं।

(5) आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था—प्रत्येक राज्य की आर्थिक सम्पन्नता उसकी मुद्रा व्यवस्था पर निर्भर करती है तथा आर्थिक दृष्टिकोण से सम्पन्न राज्य ही लोककल्याण सम्बन्धी अपने दायित्वों को पूर्ण कर सकता है। इसलिए राज्य मुद्रा की श्रेष्ठ व्यवस्था करके करारोपण द्वारा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु धन इकट्ठा करता है तथा विदेशी मुद्रा विनिमय की व्यवस्था भी करता है। सभी व्यक्तियों को योग्यतानुसार रोजगार दिलाना तथा अधिकतम आर्थिक समानता के आधार पर आर्थिक सुरक्षा व्यवस्था करना भी लोककल्याणकारी राज्य का ही कार्य है।

(6) विदेश नीति का संचालन—अपने हितार्थ संसार के अन्य राष्ट्रों से मैत्रीपूर्ण सम्बन्धों की स्थापना हेतु विदेश नीति का संचालन करना भी राज्य का एक अनिवार्य कार्य है। इसके लिए राज्य अन्य राज्यों में अपने राजदूतों की नियुक्ति तथा अन्य राज्यों के राजदूतों के लिए अपने यहाँ व्यवस्था करता है। लोककल्याणकारी राज्य अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर सहयोग

एवं सद्भावना के साथ कार्य करके 'विश्वशान्ति' तथा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को बल प्रदान करता है।

(7) **सार्वजनिक शिक्षा**—मानव की उन्नति तथा विकास में शिक्षा का प्रमुख स्थान है अतः कल्याणकारी राज्य प्राथमिक शिक्षा को निःशुल्क तथा अनिवार्य करने के साथ विश्वविद्यालय तक की शिक्षा की समुचित व्यवस्था करता है।

(8) **सार्वजनिक स्वास्थ्य**—कल्याणकारी राज्य महामारी की रोकथाम तथा अन्य बीमारियों से नागरिकों को बचाने हेतु सफाई एवं सार्वजनिक चिकित्सालयों की स्थापना करता है। नागरिकों के स्वास्थ्य रक्षा हेतु सड़ी-गली, नशीली एवं हानिकारक वस्तुओं को कल्याणकारी राज्य द्वारा प्रतिबन्धित कर दिया जाता है।

(9) **कृषि की उन्नति**—कृषि की उन्नति हेतु राज्य उत्तम बीज, खाद एवं सिंचाई के साधनों की समुचित व्यवस्था करता है। इसके साथ ही कल्याणकारी राज्य कृषकों को उनकी उपज का उचित मूल्य दिलाने की व्यवस्था के अतिरिक्त सूखा, बाढ़ इत्यादि की स्थिति में आर्थिक सहायता भी दिलाता है। किसानों को कृषि कार्यों हेतु न्यूनतम ब्याज दर पर ऋण की व्यवस्था भी राज्य ही करवाता है।

(10) **उद्योग एवं व्यापार पर नियन्त्रण**—राज्य जनहित में बड़े एवं भारी उद्योगों को अपने स्वामित्व में लेकर उनका उचित रूप में संचालन करता है। आवश्यक होने पर जनोपयोगी सेवाओं का राष्ट्रीयकरण भी उसी के द्वारा किया जाता है। आयात-निर्यात एवं व्यापार पर भी राज्य का ही नियन्त्रण होता है।

(11) **श्रमिकों के हितों की रक्षा**—श्रमिकों के हितों की रक्षार्थ कल्याणकारी राज्य श्रमिकों के कार्य करने के घण्टे निश्चित करके उन्हें उचित पारिश्रमिक दिलाने की व्यवस्था करता है। इसके साथ ही उनकी सुरक्षा एवं निवास की व्यवस्था का उत्तरदायित्व भी राज्य का ही होता है। श्रमिकों को पूँजीपतियों के शोषण से मुक्ति दिलाने हेतु राज्य श्रम-हितकारी कानूनों का निर्माण करता है।

(12) **यातायात एवं संचार व्यवस्था**—कल्याणकारी राज्य यातायात एवं संचार हेतु सड़कों, रेलों, जल एवं वायु मार्गों, डाक-तार, दूरसंचार, रेडियो, दूरदर्शन इत्यादि की समुचित व्यवस्था करता है।

(13) **असहाय एवं अपाहिजों की सहायता**—कल्याणकारी राज्य शारीरिक रूप से अपंग, असहाय एवं वृद्ध व्यक्तियों हेतु इस प्रकार की शिक्षा एवं प्रशिक्षण की व्यवस्था करता है जिससे कि वे अपनी आजीविका स्वयं अर्जित कर सकें। इसके अलावा वृद्धों एवं अपंगों हेतु राज्य पेंशन की व्यवस्था भी करता है।

(14) **साहित्य, कला एवं विज्ञान को प्रोत्साहन**—प्रत्येक राज्य की उन्नति में कला, साहित्य एवं विज्ञान का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है अतः प्रत्येक कल्याणकारी राज्य इन्हें समुचित प्रोत्साहन देता है।

(15) **आमोद-प्रमोद की सुविधाएँ**—कल्याणकारी राज्य अपने नागरिकों के मनोरंजन हेतु समय-समय पर खेलों, मेलों एवं प्रदर्शनियों के आयोजन के साथ-साथ चिड़ियाघर, सिनेमा, नाटक, रेडियो एवं टेलीविजन इत्यादि की व्यवस्था करता है।

(16) **प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा एवं विकास**—कल्याणकारी राज्य ऐसी व्यवस्था करता है जिससे वनों, नदियों, खनिजों, पर्वतों तथा समुद्रों इत्यादि प्राकृतिक साधनों की सुरक्षा

होती है। जनहित में अधिकाधिक प्राकृतिक सम्पदाओं का संरक्षण करना लोककल्याणकारी राज्य का प्रमुख कर्त्तव्य होता है।

(17) सामाजिक सुधार—समाज को सामाजिक कुरीतियों, दहेज प्रथा, पर्दा प्रथा, मृत्यु भोज, धार्मिक कट्टरता, जातीय भेदभाव एवं अस्पृश्यता इत्यादि सामाजिक कुरीतियों को समाप्त कराने में राज्य ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह किया है। लोककल्याणकारी राज्य को शराब, भाँग, गाँजा तथा अफ़ीम जैसे मादक पदार्थों के सेवन एवं बिक्री पर प्रतिबन्ध लगा देना चाहिए।

वस्तुतः लोककल्याणकारी राज्य के कार्य अनन्त हैं तथा उनके कार्यों की एक सर्वमान्य सूची तैयार नहीं की जा सकती। बर्न्स ने लिखा है, **"राज्य को राष्ट्रीय जीवन को पूर्ण बनाने तथा राज्य के विकास में उसके हित तथा उसकी नैतिकता की ओर उसकी बुद्धि के विकास में अधिकाधिक योगदान देना चाहिए। वास्तव में, राज्यों के कार्यों की कोई एक सूची तैयार नहीं की जा सकती क्योंकि प्रत्येक राज्य अपनी परिस्थितियों के अनुरूप अपने कर्त्तव्य निर्धारित करता है।"**

लोककल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन (Evaluation of Welfare State)

हालांकि आज लोककल्याण की प्रवृत्ति विश्व के विभिन्न राज्यों ने अपना ली है फिर भी लोककल्याणकारी राज्य के विरुद्ध निम्नांकित तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) अत्यन्त खर्चीला—लोक-कल्याणकारी राज्य अपने उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए विभिन्न उपायों तथा रचनात्मक कार्यों को सम्पादित करता है जिसके लिए उसे अपार धनराशि की आवश्यकता पड़ती है। गरीब अथवा सामान्य आर्थिक संसाधनों वाला राज्य इस प्रकार का व्यय-भार वहन नहीं कर सकता। इस वात को लक्ष्य करते हुए सिनेटर टाफ्ट ने कहा है कि **"लोककल्याण की नीति राज्य को दिवालियेपन की ओर ले जायेगी।"**

लोककल्याणकारी राज्य का मूल्यांकन
* **अत्यन्त खर्चीला**
* **नौकरशाही का भय**
* **व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन**
* **पूँजीवाद का समर्थन**
* **ऐच्छिक समुदायों पर आघात**

(2) नौकरशाही का भय—लोककल्याण की प्रवृत्ति अपना लेने पर नौकरशाही को प्रोत्साहन मिलता है क्योंकि राज्य अपने व्यापक कार्यों को नौकरशाहों द्वारा ही सम्पन्न कराता है। नौकरशाही में अभिवृद्धि के परिणामस्वरूप लालफीताशाही, भ्रष्टाचार एवं भाई-भतीजावाद इत्यादि का उदय होता है।

(3) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन—लोककल्याणकारी राज्य में शासन का कार्यक्षेत्र अत्यधिक विस्तृत हो जाता है जिससे शासन की शक्तियों में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। अत्यधिक शक्तियों का प्रयोग करने वाला शासन निरंकुश एवं सर्वाधिकारवादी हो जाता है तथा व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का हनन करता है।

(4) पूँजीवाद का समर्थन—कल्याणकारी अवधारणा का प्रतिपादन अपनी व्यवस्था को साम्यवादी आक्रमणों से बचाने हेतु उदारवादियों द्वारा किया गया था। यह पूँजीवाद की रक्षा का कवच है। कोई भी राज्य जो शोषणवादी पूँजीवाद का समर्थन करता है वह कल्याणकारी राज्य हो ही नहीं सकता।

(5) ऐच्छिक समुदायों पर आघात—व्यक्ति के सर्वांगीण विकास हेतु लोक-कल्याणकारी राज्य के अनेक कार्य सम्पादित करने होते हैं। राज्य अनेक ऐसे कार्य भी करने लगता है जो ऐच्छिक समुदायों द्वारा सम्पन्न किये जाते हैं। इस प्रकार कल्याणकारी राज्य

ऐच्छिक समुदायों हेतु घातक होते हैं। इस आशंका को व्यक्त करते हुए बैन तथा पीटर्स ने कहा है, "राज्य का उद्देश्य भले ही जनसाधारण को लाभ पहुँचाने तथा सामान्य हित को प्रोत्साहित करने का रहा हो लेकिन इसका यह आशय नहीं है कि वह शेष सभी संस्थाओं एवं समुदायों के अधिकारों को कुचल दे।"[1]

लोककल्याणकारी राज्य के विरोध में दिये जाने वाले तर्क उचित नहीं हैं। आलोचकों द्वारा बताये गये दोष लोककल्याणकारी राज्य के नहीं अपितु मानव की चारित्रिक कमजोरियों के हैं। अतः लोककल्याणकारी राज्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। प्रसिद्ध अर्थशास्त्री गुन्नार मिर्डल के मतानुसार, "पिछले 50 वर्षों में सभी सम्पन्न पाश्चात्य देशों में लोकतन्त्र पर आधारित कल्याणकारी राज्य बन गये हैं। इनका उद्देश्य आर्थिक विकास, सभी नागरिकों हेतु रोजगार, युवाओं हेतु समानताओं के अवसर, सामाजिक सुरक्षा और न्यूनतम जीवन-स्तर को संरक्षण देना है जिसके अन्तर्गत आय के अतिरिक्त समुचित खुराक, मकान, स्वास्थ्य एवं शिक्षा भी सम्मिलित है। हालांकि अभी तक कल्याणकारी राज्य कहीं नहीं बन पाये तथापि इस दिशा में सतत् प्रयास किये जा रहे हैं।"

भारत में लोककल्याणकारी राज्य
(WELFARE STATE IN INDIA)

भारत में कल्याणकारी राज्य की भावना अत्यन्त प्राचीन काल से चली आ रही है। स्वतन्त्रता की प्राप्ति से पूर्व भारत का स्वरूप चाहे जैसा रहा हो लेकिन 1947 में स्वतन्त्रता प्राप्ति के उपरान्त जिस संविधान को अपनाया गया तथा उसके द्वारा जिस सरकार की स्थापना की गई उसका स्वरूप कल्याणकारी ही है। डॉ. भीमराव अम्बेदकर के शब्दों में, "संविधान का उद्देश्य सिर्फ राजनीतिक लोकतन्त्र की स्थापना करना ही नहीं है अपितु उस कल्याणकारी राज्य की स्थापना करना है जिसमें आर्थिक तथा सामाजिक लोकतन्त्र का भी समावेश हो। निर्देशक सिद्धान्त इस आदर्श की पूर्ति के साधन हैं। वे इस बात का भी विश्वास दिलाते हैं कि यदि इनको शासन का मूलभूत आधार बनाया जाय तो देश में कल्याणकारी राज्य की स्थापना हो सकती है।"

भारतीय संविधान में नागरिकों के मूलाधिकारों के अन्तर्गत समस्त नागरिकों को समानता का अधिकार दिया गया है। संविधान में राज्य के नीति निर्देशक तत्त्वों का भी वर्णन है जिनमें समाजवादी तथा साम्यवादी सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। संविधान में अस्पृश्यता के उन्मूलन तथा पिछड़ी जातियों के उत्थान का भी निर्देश है। यह सभी कल्याणकारी राज्य के प्रमुख लक्ष्य हैं।

कल्याणकारी राज्य की स्थापना हेतु भारत में अनेक कार्य किये गये हैं। 1955 में तत्कालीन शासक दल कांग्रेस द्वारा 'समाजवादी प्रकार के समाज की व्यवस्था' का लक्ष्य घोषित किया गया। भारतीय सरकार ने नियोजन की नीति अपनाई तथा अब तक नौ पंचवर्षीय योजनाओं के आधार पर अनेक लोककल्याणकारी योजनाएँ निर्मित एवं क्रियान्वित की गयीं। वर्तमान में 10वीं पंचवर्षीय योजना के आधार पर आर्थिक विकास का कार्य सम्पादित किया जा रहा है।

शिक्षा के क्षेत्र में अधिकाधिक विकास करने का लक्ष्य निर्धारित किया गया है। राज्य 14 वर्ष की आयु तक के समस्त बालकों हेतु निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा लागू करने हेतु

---

1 "Even where the major objective is of general benefit, a truly 'common good', it does not follow that it should, therefore, override all other associations."—*Benns and Peters*

संकल्पित है। 2 अक्टूबर, 1978 से प्रौढ़ शिक्षा का राष्ट्रव्यापी कार्यक्रम चलाया जा रहा है। भारत में तकनीकी शिक्षा के विकास हेतु भी प्रयत्न किये जा रहे हैं।

आर्थिक क्षेत्र में कृषि की उन्नति, औद्योगिक प्रगति, लघु एवं कुटीर उद्योगों की उन्नति, जमींदारी प्रथा का अन्त, सहकारी खेती, श्रमिक कल्याण के विभिन्न कार्य, चकबन्दी, सामुदायिक योजनाएँ, औद्योगिक कर्मचारियों हेतु पारिवारिक पेंशन, 'राष्ट्रीय विस्तार सेवा खण्ड' की योजना इत्यादि हमारी सरकार के कल्याणकारी स्वरूप को प्रकट करते हैं।

भारत सरकार ने 1975 में महिला एवं पुरुष को समान वेतन दिलाने का अध्यादेश निर्गत किया। 1976 में संसद ने शहरी भूमि सीमांकन कानून पारित किया। भारत सरकार ने 1978 में पेय जल समस्या के समाधान के प्रयास किये। 26 अगस्त, 1995 को संविधान की 9वीं अनुसूची में 'भूमि सुधार' को सम्मिलित किया गया।

सामाजिक क्षेत्र में विस्थापित व्यक्तियों की पुनर्स्थापना, पिछड़ी जातियों के उद्विकास, सामाजिक कुप्रथाओं के निवारण, सार्वजनिक स्वास्थ्य एवं चिकित्सा सेवाओं के विस्तार, सफाई की व्यवस्था, सामाजिक न्याय की योजनाएँ निर्मित करके भारत सरकार जो कार्य कर रही है वह सर्वविदित है। सामाजिक क्षेत्र में 1954 में 'हिन्दू विवाह अधिनियम' तथा 1956 में 'हिन्दू उत्तराधिकार अधिनियम' पारित किये गये।

अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में गुटनिरपेक्षता की नीति, पंचशील के सिद्धान्त एवं विश्व-शान्ति की स्थापना भारत के प्रमुख सिद्धान्त रहे हैं। वस्तुतः हमारे देश ने हमेशा 'वसुधैव कुटुम्बकम्' तथा 'जीओ और जीने दो' को आदर्श माना है।

वास्तव में, लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना आकर्षक नारेबाजी अथवा औपचारिक घोषणाओं द्वारा असम्भव है। सिर्फ कानून बना देने से भी आर्थिक एवं सामाजिक परिवर्तन नहीं आ सकता। प्रसिद्ध कानूनवेत्ता बी. एम. तारकुण्डे के अनुसार, "समाज के उत्तराधिकार में मिली जाति-पाँति पद्धति, वर्तमान शैक्षिक विषमताओं तथा जनसंख्या वृद्धि की गम्भीर सामाजिक समस्याओं पर कानून कोई अधिक प्रभाव नहीं डाल सकते। इसके लिए तो जनमानस को पूर्णरूपेण जागरूक करना आवश्यक है।" निःसन्देह हम लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना के मार्ग पर अग्रसर हो रहे हैं लेकिन वास्तविक लोककल्याणकारी राज्य के लक्ष्य से अभी कोसों दूर हैं।

राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में भारतीय विचारकों (मनु तथा कौटिल्य) का दृष्टिकोण

(VIEWS OF INDIAN THINKERS, PARTICULARLY MANU AND KAUTILYA, ON FUNCTIONS OF THE STATE)

पाश्चात्य विद्वानों मैक्समूलर तथा ब्लूमफील्ड की मान्यता है कि प्राचीन भारतीय आचार्यों एवं मनीषियों का ध्येय मात्र आध्यात्मिक चिन्तन-मनन था। राजनीतिक चिन्तन की ओर उनका ध्यान नहीं गया। परिणामस्वरूप प्राचीनकाल में भारतीयों द्वारा राजनीतिक ग्रन्थों की रचना नहीं की गई। विद्वान द्वय द्वारा प्रतिपादित उक्त विचार भ्रामक एवं आधारहीन हैं। वास्तव में भारतीय राजनीतिक चिन्तन की अपनी एक सुदीर्घ परम्परा रही है जो पाश्चात्य राजदर्शन की अपेक्षा अति प्राचीन सुव्यवस्थित एवं निश्चित रूप से श्रेष्ठ है। प्राचीन भारतीय विचारकों—मनु, भीष्म, कौटिल्य, कामन्दक, शुक्र, सोमदेव, सूर, चण्डेश्वर, बृहस्पति तथा

रामायण एवं महाभारत जैसे महाकाव्यों में राज्य के कार्य तथा राजा के कर्त्तव्यों का गहन विवेचन किया गया है।

भारत में प्राचीन काल में 'रामराज्य' की जो धारणा प्रचलित रही है उसका सम्बन्ध एक ऐसे राज्य से है जिसका कर्त्तव्य उन समस्त कार्यों को करना है जिनके किये जाने से प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व का सर्वांगीण विकास हो सके। वेदव्यास द्वारा रचित महाभारत में इस बात का उल्लेख है, "जो राजा अपनी प्रजा को पुत्र के समान समझकर उसकी चतुर्मुखी उन्नति का प्रयास नहीं करता वह नरक का भागी होता है" अथवा "राजा को पृथ्वी को मनुष्य के लिए निवास योग्य एवं सुखदायिनी बनाना चाहिए।"

मनु के राज्य के कार्यक्षेत्र सम्बन्धी विचार

मनु ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'मनुस्मृति' में राज्य के कार्यों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उसने राज्य एवं राज्य के शासक के रूप में राजा को व्यापक कार्यक्षेत्र प्रदान किया है। मनु के अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं—

राज्य के कार्य

* बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा
* आन्तरिक शान्ति की स्थापना
* विवादों का निर्णय अथवा न्यायिक कार्य
* राज्य का आर्थिक विकास तथा समृद्धि
* शिक्षा का प्रबन्ध
* असहायों की सहायता करना

(1) बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा—राजा को युद्ध से कदापि भयभीत नहीं होना चाहिए। प्रजा का उचित ध्यान रखने वाले राजा को युद्ध हेतु सदैव तैयार रहना चाहिए। अप्राप्त को प्राप्त करने, प्राप्त की रक्षा करने तथा रक्षित को बढ़ाने हेतु राजा को सदैव उत्सुक रहना चाहिए। राजा को चाहिए कि सम्पूर्ण व्यवहार को गोपनीय रखते हुए दुश्मन की कमजोरियों का गुप्तचरों की सहायता से पता लगाता रहे। राज्य की सुरक्षा हेतु राजा को स्वयं पहाड़ी दुर्ग में रहना चाहिए क्योंकि वह सभी दुर्गों में श्रेष्ठ होता है। दुर्ग के बीच में एक बड़ा सुरक्षित महल बनवाना चाहिए। स्वयं मनु के शब्दों में, **"जिस प्रकार किसान भूमि की रक्षा करता है तथा तृणों को उखाड़ फेंकता है वैसे ही राज्य को शत्रुओं का अन्त करके देश की बाह्य आक्रमण से रक्षा करनी चाहिए।"**

(2) आन्तरिक शान्ति की स्थापना—मनु यह मानते थे कि समाज के अराजक तत्त्व आन्तरिक शान्ति भंग करने का कारण बन सकते हैं। अतः दुष्टों के प्रति राज्य तथा राजा द्वारा आवश्यकतानुसार कठोर व्यवहार किया जाना चाहिए। राज्य को वस्तुओं के मूल्य पर नियन्त्रण रखने हेतु कठोर कानून निर्मित करने चाहिए। भ्रष्ट आचरण करने वाले व्यक्तियों, जुआरियों, धोखेबाजों तथा गलत ढंग से चिकित्सा करने वालों से भारी जुर्माना वसूल करना चाहिए। मनु के अनुसार वैश्यों को व्यापार, कृषि एवं पशुपालन तथा शूद्रों को अपने कर्त्तव्यों का पालन करने हेतु वाध्य करना भी राज्य का कार्य है। मनु ने इस बात पर विशेष जोर दिया है कि महिलाओं की सम्पत्ति का अपहरण करने वाले व्यक्ति हेतु राज्य की ओर से कठोर सजा की व्यवस्था की जानी चाहिए।

(3) विवादों का निर्णय अथवा न्यायिक कार्य—नागरिकों के आपसी विवादों का फैसला और विभिन्न समुदायों के मध्य होने वाले विवादों का निस्तारण करना राज्य का एक महत्त्वपूर्ण कार्य है। मनु के अनुसार न्याय करने में राज्य द्वारा किसी प्रकार की सद्भावना अथवा

दुर्भावना नहीं अपनाई जानी चाहिए। न्यायाधीशों को सम्पूर्ण विवादों का निर्णय निष्पक्षतापूर्वक करना चाहिए। मनु के अनुसार, "जिस न्यायालय में सत्य असत्य से पीड़ित होता है, उसके सदस्य ही पाप से नष्ट हो जाते हैं।"

(4) **राज्य का आर्थिक विकास तथा समृद्धि**—मनु के मतानुसार राज्य को आर्थिक विकास एवं समृद्धि का प्रयत्न करना राज्य का एक प्रमुख कार्य है। इसके लिए शासन को निम्नलिखित चार सूत्रों पर चलना चाहिए—

(i) शक्ति तथा वैध उपायों द्वारा धन संग्रह करना, (ii) अर्जित की रक्षा करना, (iii) अर्जित की वृद्धि करना तथा (iv) अर्जित में से सुपात्रों को दान देना।

राज्य की शासन व्यवस्था के संचालन हेतु धन की आवश्यक व्यवस्था हेतु मनु ने चार प्रकार के करों को निर्धारित किया है—(i) बलि (विभिन्न प्रकार के कर), (ii) शुल्क (बाजार अथवा हाट में व्यापारियों द्वारा ब्रिक्री हेतु लायी गई वस्तुओं पर चुंगी), (iii) दण्डकर (जुर्माने) तथा (iv) भाग (लगान)।

मनु की कर सम्बन्धी व्यवस्था से उनकी बुद्धिमत्ता, प्रगतिशीलता तथा लोककल्याण के प्रति उनकी निष्ठा स्पष्ट होती है। इस सम्बन्ध में स्वयं उन्होंने कहा है, "कर न लेने से राज्य के और अत्यधिक कर लेने से प्रजा के जीवन का अन्त हो जाता है।" अधिक कर का निषेध करते हुए मनु लिखते हैं, **"जिस प्रकार जोंक, बछड़ा तथा मधुमक्खी थोड़े-थोड़े खाद्य, क्रमशः रक्त, दूध एवं शहद ग्रहण करते हैं उसी प्रकार राजा को प्रजा से थोड़ा-थोड़ा वार्षिक कर ग्रहण करना चाहिए।"**

मनु की स्पष्ट मान्यता है कि कर इस प्रकार निर्धारित किये जाने एवं वसूल करने चाहिए कि निर्धन जनता पर कर का भार कम तथा समृद्धशाली लोगों पर कर-भार अधिक पड़े। मनु ने वस्तुओं के मूल्य को नियन्त्रित करना भी राज्य का ही कर्त्तव्य माना है।

(5) **शिक्षा का प्रबन्ध**—मनु के मतानुसार शिक्षा की व्यवस्था करना भी राज्य का एक कार्य है। इसके लिए राज्य को शिक्षकों का समुचित ध्यान रखना चाहिए। वेदों का अध्ययन तथा अध्यापन करने वाले ब्राह्मणों को दान राज्य द्वारा ही दिया जाना चाहिए जिससे वे अपनी जीविका से निश्चित होकर अध्ययन एवं अध्यापन कर सकें।

(6) **असहायों की सहायता करना**—मनु के मतानुसार समस्त असहाय व्यक्तियों की सहायता करना राज्य का प्रमुख कार्य है। राज्य के द्वारा निःसन्तान महिलाओं, विधवाओं एवं रोग से पीड़ित महिलाओं की देखभाल की जानी चाहिए तथा अवयस्कों की सम्पत्ति की विशेष रूप से रक्षा की जानी चाहिए। जो व्यक्ति कहीं चले गये हैं, राज्य को चाहिए कि उनकी सम्पत्ति अपने संरक्षण में रख ले तथा ऐसे व्यक्तियों के वापस लौटने पर उनकी सम्पत्ति उन्हें लौटा दे।

राज्य के कार्यक्षेत्र तथा राज्य की शक्तियों के सन्दर्भ में मनु ने अपने राजनीतिक चिन्तन में जो कुछ प्रतिपादित किया है उसकी दो बातें प्रमुख हैं—

(अ) मनु ने राजा को धर्म के अधीन रखा है तथा इस बात पर बल दिया है कि राजा को हमेशा प्रजापालन एवं उसकी रक्षा हेतु तत्पर रहना चाहिए।

(ब) मनु ने राजा को निरंकुश राजसत्ता प्रदान नहीं की बल्कि राज्यसत्ता के ऊपर धर्म एवं दण्ड के बन्धन लगाये हैं।

इस प्रकार मनु के मतानुसार राज्य के कार्यों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। केवल मोटवानी ने ठीक ही कहा है, "मनु के निर्देशन में राज्य द्वारा निर्मित अनेक कानून वर्तमानकालीन राजशास्त्र के छात्रों को समाजवादी प्रतीत होंगे।"

कौटिल्य के अनुसार राज्य का कार्यक्षेत्र

मनु के समान कौटिल्य ने भी अपने ग्रन्थ 'अर्थशास्त्र' में राज्य के कार्यों एवं राजा के कर्त्तव्यों पर विचार किया है। हालांकि कौटिल्य राज्यहित को सर्वोपरि बताता था लेकिन उसने राज्य का उद्देश्य व्यक्ति का हित तथा उसका पूर्ण विकास माना है। राज्य के उद्देश्य पर प्रकाश डालते हुए कौटिल्य लिखता है, "प्रजा के सुख में ही राज्य का सुख है, प्रजा हित में ही राजा का हित है। राजा के लिए प्रजा के सुख से अलग अपना कोई सुख नहीं है।" राजा एवं प्रजा में पिता-पुत्र के सम्बन्धों की चर्चा करते हुए कौटिल्य कहता है, "राजा एवं प्रजा में पिता एवं पुत्र का सम्बन्ध होना चाहिए।"

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्य—कौटिल्य ने राज्य के कार्यक्षेत्र अथवा राजा के कर्त्तव्यों की जो विवेचना की है उसके अनुसार राज्य के प्रमुख कार्य निम्नांकित हैं—

(1) राज्य की सुरक्षा—राज्य का प्रथम प्रमुख कार्य यह है कि वह स्वयं अपनी रक्षा करे। यदि राज्य अपनी सुरक्षा न कर सकेगा तो वह स्वयं नष्ट हो जायेगा तथा जिस उद्देश्य हेतु उसका उदय हुआ है वह कल्पना की वस्तु बन जायेगा।

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य के कार्य

* राज्य की सुरक्षा
* राज्य की शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाए रखना
* प्राकृतिक आपदाओं से राज्य की सुरक्षा
* प्रजा की रक्षा
* पशुधन की सुरक्षा एवं सम्बर्द्धन
* शिक्षा व्यवस्था
* सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था की सुनिश्चितता
* नैतिक कार्य
* कृषि की व्यवस्था
* व्यापार एवं वाणिज्य की प्रगति
* राज्य का विस्तार
* सुदृढ़ एवं सुनिश्चित अर्थव्यवस्था
* लोककल्याणकारी कार्य

(2) राज्य की शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखना—राज्य का दूसरा कार्य राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना है। राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था बनाये रखने हेतु गुप्तचरों का महत्त्वपूर्ण योगदान रहता है। कौटिल्य गुप्तचरों पर काफी विश्वास रखते थे। गुप्तचरों की मदद से ही उन्होंने अपने शत्रु महापद्मनन्द को वंश सहित नष्ट किया था।

(3) प्राकृतिक आपदाओं से राज्य की सुरक्षा—कौटिल्य के अनुसार प्राकृतिक शत्रुओं से अपनी रक्षा करना राज्य का ही कार्य है। उसने राज्य के आठ प्राकृतिक शत्रु—(i) जल, (ii) अग्नि, (iii) दुर्भिक्ष, (iv) व्याधि (महामारी), (v) चूहे, (vi) हिंसक जन्तु, (vii) सर्प तथा (viii) राक्षस बताये हैं। कौटिल्य कहता है कि इन शत्रुओं से राज्य को सावधान रहना चाहिए।

(4) प्रजा की रक्षा—कौटिल्य ने प्रजा की रक्षा के विषय में राज्य के कर्त्तव्य बताते हुए लिखा है कि राज्य को अपने कर्मचारियों, साहूकारों, चोर-डाकुओं तथा जादूगरों इत्यादि से प्रजा की रक्षा करनी चाहिए। कौटिल्य ने अपराधियों को कठोर सजा देने का राजा को उपदेश दिया।

(5) पशुधन की सुरक्षा एवं सम्बर्द्धन—कौटिल्य के मतानुसार, राज्य को पशुधन के संरक्षण तथा सम्बर्द्धन में भी दिलचस्पी रखनी चाहिए। पशुधन की देखभाल करने हेतु एक

'गौ अध्यक्ष' का होना 'अर्थशास्त्र' में आवश्यक बताया गया है। 'गौ अध्यक्ष' का कर्त्तव्य गाय, भैंस, बैल तथा बकरी इत्यादि की देखभाल एवं नस्ल-सुधार का प्रबन्ध करना होना चाहिए। उक्त पशुओं की विषैले तथा बनैले पशुओं से रक्षा करने के लिए कौटिल्य ने एक और अधिकारी 'विक्ताध्यक्ष' का उल्लेख किया है।

(6) **शिक्षा व्यवस्था**—कौटिल्य राज्य शिक्षा को अत्यधिक महत्त्व देता है। वह कहता है कि शिक्षा के अभाव में कोई भी राष्ट्र 'महान' नहीं बन सकता। उसका राज्य सैद्धान्तिक एवं व्यवहारिक दोनों प्रकार की शिक्षा पर जोर देता है।

(7) **सामाजिक एवं धार्मिक व्यवस्था की सुनिश्चितता**—कौटिल्य का राज्य वर्ण-व्यवस्था को बनाये रखने में सहायक था। वह प्रत्येक समुदाय की रक्षा करके उसे प्रोत्साहित करता है। कौटिल्य जहाँ राज्य को विजित प्रदेशों के उचित रीति-रिवाजों को बनाये रखने की बात करता है वहीं वहाँ के निवासियों के जीवन-यापन के ढंग, पहनावे एवं भाषा को अपना लेने की बात भी करता है।

(8) **नैतिक कार्य**—कौटिल्य का राज्य एक नैतिक संस्था है। कौटिल्य नागरिकों में सद्‌गुणों का विकास करके उन्हें सदाचारी बनाता है। कौटिल्य के राज्य में शराब, जहरीली वस्तुओं, जुआरियों तथा वेश्याओं पर नियन्त्रण लगाया गया है।

(9) **कृषि की व्यवस्था**—कौटिल्य ने अपने 'अर्थशास्त्र' में कृषि की व्यवस्था पर बल दिया है। उसके मतानुसार कृषि का प्रधान अधिकारी 'मीताध्यक्ष' होना चाहिए जो एक अनुभवी एवं योग्य व्यक्ति हो। इस अधिकारी का यह पुनीत कर्त्तव्य है कि वह अन्य अनुभवी एवं योग्य कर्मचारियों की सहायता लेकर खाद्य-पदार्थों इत्यादि की उन्नति हेतु उनके श्रेष्ठ बीजों का संग्रह करे।

(10) **व्यापार एवं वाणिज्य की प्रगति**—व्यापार तथा वाणिज्य की रक्षा एवं विकास राज्य का एक प्रमुख कर्त्तव्य है। कौटिल्य के अनुसार व्यापार एवं वाणिज्य का कार्य 'पण्याध्यक्ष' के हाथ में होना चाहिए। व्यापार में किन वस्तुओं से अधिक तथा किन से कम लाभ होता है, इसकी जानकारी पण्याध्यक्ष को रहनी चाहिए। यदि राज्य को किसी व्यापार से अधिक लाभ होता है तथा व्यापारी को कम तो कौटिल्य के मतानुसार राज्य को ऐसे व्यापार का त्याग कर देना चाहिए।

(11) **राज्य का विस्तार**—कौटिल्य के अनुसार राज्य का एक कार्य राज्य विस्तार भी है। उसके अनुसार राज्य को विस्तार की एक योजना तैयार करके शत्रु देश पर आक्रमण करके उसे अपने राज्य में मिला लेना चाहिए।

(12) **सुदृढ़ एवं सुनिश्चित अर्थव्यवस्था**—कौटिल्य का राज्य सुदृढ़ एवं सुनिश्चित अर्थव्यवस्था की स्थापना करता है। इसके लिए वह धर्मपूर्वक संचित कोष पर जोर देता है।

(13) **लोककल्याणकारी कार्य**—कौटिल्य ने राज्य को लोकहित तथा सामाजिक कल्याण के कार्य सौंपे हैं। लोककल्याण सम्बन्धी जिन कार्यों को राजा सम्पन्न करता है उनमें प्रमुख निम्नांकित हैं—

(i) जीविकोपार्जन के साधनों का नियमन।
(ii) चिकित्सालयों का निर्माण।
(iii) वृद्ध, असहाय, अनाथ, विधवा, दुःखियों तथा रोगियों की सहायता।
(iv) कृषि, पशुपालन, उद्योग, वाणिज्य इत्यादि का विकास।

(v) बाँधों का निर्माण, जलमार्ग, जलाशय, स्थलमार्ग एवं बाजार बनाना।
(vi) दुर्भिक्ष के समय जन-साधारण की सहायता।
(vii) पण्डितों का आदर एवं सम्मान।
(viii) ज्ञान के अनुसंधान कार्य में लगे आश्रमवासियों एवं विद्यार्थियों की रक्षा।
(ix) आवश्यक होने पर धनवानों से अधिक कर वसूल कर गरीबों में वितरित करना।
(x) जंगलों की रक्षा करना।
(xi) मानव के चारों उद्देश्यों अर्थात् धर्म, काम, मोक्ष एवं अर्थ की सिद्धि में सहायता करना।

उपर्युक्त के आधार पर कहा जा सकता है कि कौटिल्य व्यावहारिक राजनीतिज्ञ था। उसने अपने सिद्धान्तों का प्रयोग एवं परीक्षण भी करके देखा। मौर्य साम्राज्य में जब तक कौटिल्य के सिद्धान्तों का पालन होता रहा, वह उन्नति की चरम सीमा पर चढ़ता रहा। कौटिल्य कल्याणकारी राज्य का पोषक था। वह निरंकुश राज्य नहीं चाहता था। उसके राज्य के उद्देश्य तथा कार्य से सम्बन्धित विचार बहुत ही उच्च कोटि के माने जाते हैं।

क्या कौटिल्य का राजा निरंकुश है? (Is the King of Kautilya a Tyrant ?)

निःसन्देह कौटिल्य राजतन्त्र को ही शासन का श्रेष्ठ स्वरूप मानता है। वह राज्य के सात अंगों में से राज्य को सर्वोच्च स्थान प्रदान करता है। कौटिल्य व्यक्तियों को राजाज्ञाओं की अवज्ञा न करने पर बल देता है तथा राजतन्त्र विरोधी समस्त प्रवृत्तियों के दमन का विचार प्रकट करता है। इन तथ्यों के बावजूद भी उसका राजा निरंकुश नहीं है। उस पर कुछ ऐसे प्रतिबन्ध हैं जिनके कारण वह अपनी मनमानी नहीं कर सकता। जिस रूप में कौटिल्य ने राजा तथा उसकी शक्तियों को प्रस्तुत किया है तथा धर्म, कर्म एवं नैतिकता की जो अपेक्षाएँ उससे की हैं उनमें वह निरंकुश हो ही नहीं सकता। ये प्रतिबन्ध मुख्यतया निम्नांकित हैं—

(1) **अनुबन्धवाद**—राजा की शक्ति पर प्रथम प्रतिबन्ध अनुबन्धवाद का था। कौटिल्य के मतानुसार मनुष्यों ने राजा की आज्ञाओं के पालन की जो प्रतिज्ञा की उसके बदले में राजा ने अपने प्रजाजन के धन-जन की रक्षा का वचन दिया था। राजा की स्थिति वेतनभोगी सैनिकों के समान ही होती है। कौटिल्य के राजा को मनमाने ढंग से राज्य की सम्पत्ति को खर्च करने का अधिकार नहीं है।

(2) **मन्त्रिपरिषद् की शक्ति**—राजा की शक्ति पर महत्त्वपूर्ण प्रतिबन्ध 'मन्त्रिपरिषद्' का था। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजा को एक स्थान पर सिर्फ 'नाममात्र के शासक' की उपमा दी है तथा 'आमात्यों' को 'वास्तविक प्रबन्धकर्त्ता' कहा है। वस्तुतः मन्त्रिपरिषद् राजा की शक्ति पर नियन्त्रण रख उसे मर्यादित रखती थी।

(3) **ब्राह्मणों की शक्ति**—प्राचीन भारत में पुरोहितों एवं ब्राह्मणों की अत्यधिक शक्ति होती थी जो राजा की शक्ति पर अंकुश का कार्य करती थी।

(4) **जन असन्तोष का डर**—राजा की शक्ति पर एक प्रतिबन्ध जन असन्तोष का भय भी था। कौटिल्य के अनुसार, "जब प्रजा असन्तुष्ट हो जाती है तो वह स्वेच्छा से शत्रु के साथ मिल जाती है तथा अपने स्वामियों को नष्ट कर देती है।" कौटिल्य आगे कहता है, "जब राजा दण्ड देने में कमी करता है तो लोग उसका तिरस्कार कर देते हैं। गृहस्थों की तो बात ही क्या, साधु एवं संन्यासी तक नाराज होकर क्रान्ति कर देते हैं।"

(5) **धार्मिक नियम, रीति-रिवाज एवं सामाजिक रूढ़ियाँ**—राज्य के अधिकार धर्म एवं रीति-रिवाजों से सीमित थे तथा वह इनका पालन करने हेतु बाध्य था। उसे सामाजिक परम्पराओं एवं रूढ़ियों का आदर करना पड़ता था अन्यथा जनअसन्तोष का डर रहता था।

(6) **न्यायालयों द्वारा न्याय वितरण**—हालांकि राज्य न्याय का अन्तिम स्रोत था लेकिन न्याय प्रायः न्यायालयों द्वारा ही वितरित किया जाता था। इससे शोषण का एक शक्तिशाली मन्त्र राजा के हाथ से निकल जाता था।

(7) **राजा का प्रशिक्षण**—कौटिल्य ने राजा हेतु अनेक मानसिक एवं नैतिक गुण आवश्यक बताये हैं। इस प्रकार का सर्वगुण-सम्पन्न राजा अपने स्वभाव से ही निरंकुश नहीं हो सकता। इसके अतिरिक्त, कौटिल्य ने राजा की शिक्षा पर बल देकर उस पर ऐसे संस्कार डालने चाहे हैं कि वह निरंकुशता का मार्ग न अपनाकर लोकहित के कार्यों में ही लग रहे।

श्री कृष्णाराव ने लिखा है कि "कौटिल्य का राजा अत्याचारी नहीं हो सकता, चाहे वह कुछ बातों में स्वेच्छाचारी रहे क्योंकि वह धर्मशास्त्र एवं नीतिशास्त्र के सुस्थापित नियमों के अधीन रहता है।"

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. राज्य के कार्यों को कितने भागों में विभाजित किया जा सकता है?

उत्तर—दो भागों में—(i) अनिवार्य कार्य तथा (ii) ऐच्छिक कार्य।

प्रश्न 2. राज्य के कोई दो अनिवार्य कार्य लिखिए। (1984, 86, 90, 91)

उत्तर—(i) राज्य में शान्ति एवं सुव्यवस्था की स्थापना करना तथा (ii) बाह्य आक्रमणों से देश की सुरक्षा।

प्रश्न 3. राज्य का कोई एक ऐच्छिक कार्य लिखिए। (1990)

उत्तर—शिक्षा की व्यवस्था करना।

प्रश्न 4. राज्य के कोई दो उद्देश्य लिखिए। (1992)

उत्तर—(i) शान्ति एवं व्यवस्था की स्थापना तथा (ii) राजसत्ता एवं वैयक्तिक स्वतन्त्रता के बीच सामंजस्य स्थापित करना।

प्रश्न 5. राज्य के कार्यों सम्बन्धी कौन-कौनसी विचारधाराएँ हैं?

उत्तर—(i) व्यक्तिवादी विचारधारा, (ii) समाजवादी विचारधारा, (iii) आदर्शवादी विचारधारा तथा (iv) लोककल्याणकारी विचारधारा।

प्रश्न 6. व्यक्तिवादी सिद्धान्त के समर्थक सर्वाधिक किस बात पर जोर देते हैं?

उत्तर—व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर।

प्रश्न 7. व्यक्तिवादी विचारधारा का प्रतिपादन कहाँ एवं कब हुआ?

उत्तर—यूरोप में 18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में हुआ।

प्रश्न 8. व्यक्तिवाद के समर्थन में कोई दो तर्क दीजिए। (1986)

उत्तर—(i) आर्थिक तर्क तथा (ii) प्राणिवैज्ञानिक तर्क।

प्रश्न 9. किस सिद्धान्त के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है? (1997)

उत्तर—व्यक्तिवाद के अनुसार राज्य एक आवश्यक बुराई है।

प्रश्न 10. वैज्ञानिक समाजवाद का जनक कौन है? (1986, 90)

उत्तर—वैज्ञानिक समाजवाद का जनक जर्मनी का दार्शनिक कार्ल मार्क्स है।

प्रश्न 11. समाजवादी सिद्धान्त के कोई दो दोष लिखिए। (1991)

उत्तर—(i) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता की समाप्ति तथा (ii) कार्य करने की प्रेरणा का अन्त।

प्रश्न 12. व्यक्तिवाद एवं समाजवाद के मध्य कोई एक अन्तर बताइए। (1986)

उत्तर—व्यक्तिवाद जहाँ व्यक्ति के हित पर बल देता है वहीं समाजवाद समाज के हित पर जोर देता है।

प्रश्न 13. समाजवाद के किसी एक समर्थक का नाम लिखिए। (1995)

उत्तर—कार्ल मार्क्स।

प्रश्न 14. समाजवाद की कोई एक परिभाषा लिखिए। (1992)

उत्तर—रॉबर्ट ब्लैकफोर्ड के अनुसार, "समाजवाद के अनुसार-भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधन सबकी सम्पत्ति रहें तथा उनका प्रयोग और संचालन जनता द्वारा जनता के लिए ही हो।"

प्रश्न 15. कल्याणकारी राज्य किस सिद्धान्त पर आधारित है?

उत्तर—कल्याणकारी राज्य इस सिद्धान्त पर आधारित है कि सामूहिक कल्याण करना राज्य का मुख्य दायित्व है।

प्रश्न 16. कल्याणकारी राज्य के दो प्रमुख कार्य बताइए। (1992, 94)

उत्तर—(i) आर्थिक सुरक्षा की व्यवस्था तथा (ii) सामाजिक सुरक्षा।

प्रश्न 17. कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्य बढ़ते हैं अथवा घटते हैं? (1988)

उत्तर—कल्याणकारी राज्य में राज्य के कार्यों में अत्यधिक वृद्धि होती है।

प्रश्न 18. कल्याणकारी राज्य के दो दोष बताइए। (1992)

उत्तर—(i) व्यक्ति की स्वतन्त्रता कम हो जाती है तथा (ii) ऐच्छिक समुदायों का महत्त्व कम हो जाता है।

प्रश्न 19. लोककल्याणकारी राज्य के दो उदाहरण दीजिए। (1990)

उत्तर—(i) भारत तथा (ii) ब्रिटेन।

प्रश्न 20. लोककल्याणकारी राज्य की कोई एक परिभाषा दीजिए। (1997)

उत्तर—प्रो. एच. जे. लॉस्की के शब्दों में, "कल्याणकारी राज्य लोगों का ऐसा संगठन है जिसमें सबका सामूहिक रूप में अधिकाधिक हित निहित है।"

प्रश्न 21. मनु द्वारा लिखित ग्रन्थ का नाम लिखिए। (1993)

उत्तर—मनुस्मृति।

प्रश्न 22. प्रसिद्ध प्राचीन ग्रन्थ अर्थशास्त्र का लेखक कौन था?

उत्तर—कौटिल्य।

प्रश्न 23. मनु के अनुसार राज्य के दो कार्य क्या हैं? (1998)

उत्तर—(i) बाह्य आक्रमण से देश की रक्षा तथा (ii) असहायों की सहायता करना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राज्य के कार्यों की विवेचना कीजिए। कल्याणकारी राज्य से आप क्या समझते हैं?
2. लोककल्याणकारी राज्य की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए और बताइए कि इसमें तथा समाजवादी राज्य में क्या भेद है? (1998)
3. राज्य के आवश्यक कार्यों का विवरण दीजिए तथा लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। (1981)

4. लोककल्याणकारी राज्य का क्या अर्थ है ? इसके मुख्य कार्यों का वर्णन कीजिए। (1983)
5. राज्य की परिभाषा कीजिए। उसके अनिवार्य तथा ऐच्छिक कार्यों का उल्लेख कीजिए। (1983, 84)
6. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। उसके गुण-दोषों पर भी प्रकाश डालिए। (1984)
7. लोककल्याणकारी राज्य का उद्देश्य तथा कार्य समझाइए। भारत में लोककल्याणकारी राज्य की स्थापना की दिशा में अब तक क्या कार्य हुए हैं ? (1989)
8. राज्य के कार्यों का व्यक्तिवादी सिद्धान्त क्या है ? इसके गुण-दोषों पर प्रकाश डालिए। (1989, 91)
9. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में समाजवादी सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए। (1976, 80, 83, 84, 91)
10. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मनु के दृष्टिकोण की विवेचना कीजिए।
11. "प्राचीन भारतीय राजनीतिक चिन्तन में लोककल्याणकारी राज्य के तत्त्व विद्यमान हैं", राज्य के कार्यों के सम्वन्ध में मनु तथा कौटिल्य के दृष्टिकोण के आधार पर इस कथन की विवेचना कीजिए।
12. लोककल्याणकारी राज्य की अवधारणा पर निबन्ध लिखिए। (1987, 92, 97)
13. राज्य के कार्यों के व्यक्तिवादी सिद्धान्त का परीक्षण कीजिए। व्यक्तिवाद आधुनिक युग के लिए कहाँ तक उपयुक्त है ? (1981, 86, 92, 93)
14. समाजवाद से आप क्या समझते हैं ? समाजवाद के मूल तत्त्वों की व्याख्या कीजिए। (1993, 2000)
15. प्राचीन भारतीय विचारकों—मनु तथा कौटिल्य ने राज्य के किन कार्यों का उल्लेख किया है ? संक्षेप में लिखिए। (1993)
16. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मनु तथा कौटिल्य के विचारों अथवा दृष्टिकोणों का विवेचन कीजिए। (1991)
17. राज्य व्यवस्था के सम्बन्ध में कौटिल्य के विचारों का वर्णन कीजिए। (1993)
18. व्यक्तिवाद की विशेषताओं का वर्णन कीजिए। (1995)
19. राज्य के कार्यों से सम्बन्धित कौटिल्य के विचारों का उल्लेख कीजिए। (1995)
20. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
    (i) कल्याणकारी राज्य (1974, 82)
    (ii) राज्य के कार्यों का व्यक्तिवादी सिद्धान्त (1985, 2000)
    (iii) राज्य के कार्यों पर मनु के विचार (1993, 96)
    (iv) राज्य के अनिवार्य कार्य (1995)
    (v) व्यक्तिवाद की अवधारणा (2000)
    (vi) समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त। (2000)

● ●

9

स्वतन्त्रता तथा समानता

[LIBERTY AND EQUALITY]

"स्वतन्त्रता की समस्या का सिर्फ एक ही समाधान है और वह यह कि इसका निवास समानता में है।"[1] —पोलार्ड

वर्तमान में स्वतन्त्रता शब्द अत्यन्त लोकप्रिय है फिर भी असंख्य व्यक्ति इसका सही अर्थ नहीं समझते। अनेक लोग स्वतन्त्रता का आशय मनमानी करने अथवा बिना किसी दूसरे व्यक्ति के हस्तक्षेप के अपनी इच्छानुसार कार्य करने से लगाते हैं। पूँजीपति अधिकतम लाभ अर्जित करने एवं श्रमिकों के शोषण को ही स्वतन्त्रता मानते हैं। स्वतन्त्र विचारक स्वतन्त्रता का आशय प्राचीन परम्पराओं एवं बन्धनों से मुक्त होने से लेते हैं। आध्यात्मिक संत हेतु सांसारिक मोह-माया के बन्धनों से मुक्ति ही स्वतन्त्रता है तथा गुलाम देश के नागरिक साम्राज्यवाद को नष्ट करना ही स्वतन्त्रता समझते हैं। लेकिन नागरिकशास्त्र में स्वतन्त्रता का तात्पर्य प्रत्येक कार्य को सम्पादित करने की वह शक्ति अथवा अधिकार है जिससे किसी दूसरे को हानि पहुँचे।

स्वतन्त्रता का अर्थ
(MEANING OF LIBERTY)

'स्वतन्त्रता' शब्द अँग्रेजी भाषा के 'लिबर्टी' (Liberty) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। लिबर्टी शब्द की उत्पत्ति लैटिन भाषा के 'लिबर' (Liber) शब्द से हुई है जिसका शाब्दिक अर्थ 'बन्धनों का न होना' होता है। अर्थात् शाब्दिक दृष्टिकोण से प्रत्येक व्यक्ति को अपनी इच्छानुसार समस्त कार्यों को करने की सुविधा प्राप्त होना ही स्वतन्त्रता है। लेकिन स्वतन्त्रता के इस अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता।

मानव एक सामाजिक प्राणी है। समाज में रहकर वह कुछ अधिकारों की माँग करता है। अधिकारों के लिए उसे कुछ कर्त्तव्यों का पालन करना होता है। कर्त्तव्यों के रूप में उस पर अनेक प्रतिबन्ध लग जाते हैं। इस सम्बन्ध में बार्कर लिखता है, "जिस प्रकार बदसूरती का न होना खूबसूरती नहीं है उसी प्रकार बन्धनों का न होना स्वतन्त्रता नहीं है।" निःसन्देह किसी भी सभ्य समाज में व्यक्ति को मनमाने कार्य करने की स्वतन्त्रता नहीं दी जा सकती। ऐसा होने पर तो यह सिर्फ चन्द लोगों तक ही सीमित हो जायेगी। लास्की के मतानुसार, "स्वतन्त्रता उस वातावरण की स्थापना है जिसमें लोगों को अपने पूर्ण विकास के अवसर प्राप्त

1 "There is only one solution of the problem of liberty, it lies in equality." —*Pollard*

होते हैं।"[1] अतः इस प्रकार का वातावरण बनाने हेतु व्यक्तियों के ऐसे स्वेच्छाचारितापूर्ण अथवा मनमाने कार्यों पर प्रतिबन्ध लगाने आवश्यक हैं जिनसे दूसरे व्यक्तियों की स्वतन्त्रता समाप्त होती है। महात्मा गाँधी के शब्दों में, "स्वतन्त्रता का आशय नियन्त्रण का अभाव न होकर व्यक्तियों के विकास की आवश्यकताओं की प्राप्ति है।"

स्वतन्त्रता की परिभाषा
(DIFINITION OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता की परिभाषा के बारे में जोबेनील का विचार है कि "स्वतन्त्रता एक जादू भरा शब्द है जिसका प्रयोग पश्चिम में प्रारम्भ हुआ लेकिन पश्चिम के लोगों ने ही इसे विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त किया है।" मॉण्टेस्क्यू ने भी कहा है, "स्वतन्त्रता के अतिरिक्त शायद ही ऐसा कोई शब्द हो जिसके इतने अधिक अर्थ होते हों तथा जिसने नागरिकों के मस्तिष्क पर इतना अधिक प्रभाव डाला हो।" यद्यपि स्वतन्त्रता की परिभाषा के सम्बन्ध में विद्वान एकमत नहीं हैं फिर भी इसकी प्रमुख परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

बोसाँके के अनुसार, "स्वतन्त्रता अन्य व्यक्ति द्वारा दमन शक्ति का अभाव है।"[2]

मैकेंजी के शब्दों में, "स्वतन्त्रता सब प्रकार के प्रतिबन्धों के अभाव को नहीं कहते बल्कि अनुपयुक्त प्रतिबन्धों के स्थान पर उपयुक्त प्रतिबन्धों की स्थापना को कहते हैं।"[3]

जी. डी. एच. कोल के मतानुसार, "किसी भी व्यक्ति द्वारा बिना उसके व्यक्तित्व में बाह्य बाधाएँ प्राप्त हुए अपने को अभिव्यक्त करने की इच्छा को स्वतन्त्रता कहा जाता है।"[4]

हरबर्ट स्पेंसर के शब्दों में, "प्रत्येक मनुष्य वह करने को स्वतन्त्र है जिसे वह करने की इच्छा करता है, यदि वह किसी दूसरे मनुष्य की समान स्वतन्त्रता का हनन नहीं करता हो।"[5]

स्वतन्त्रता को परिभाषित करते हुए ग्रीन कहता है कि "स्वतन्त्रता उन कार्यों को करने अथवा बन्धनों के उपयोग करने की शक्ति है जो करने तथा उपयोग करने योग्य हैं।"[6]

अरबिन्द घोष के मतानुसार, "अपने जीवन के आन्तरिक नियमों अर्थात् स्वधर्म पालन करना, विकसित होकर अपनी स्वाभाविक पूर्णता को प्राप्त करना तथा स्वाभाविक रूप से अपने वातावरण के साथ सामंजस्य स्थापित करना ही स्वतन्त्रता है।"

स्वतन्त्रता के सम्बन्ध में रैम्जे म्योर कहता है कि "स्वतन्त्रता का अर्थ है व्यक्तियों तथा समुदायों द्वारा अपने विचारों के अनुसार सोचने, प्रकट करने तथा उसके अनुसार कार्य करने का सुरक्षित उपभोग, उन्हें कानून की रक्षा के अन्दर अपनी प्राकृतिक शक्तियों को अपनी

---

1 "Liberty is the eager maintenance of that atmosphere in which men have opportunity of their best selves." —*Laski*

2 "Liberty is absence of physical menace or coercion on the part of other persons." —*Bosanquet*

3 "Freedom is not the absence of all restraints but rather the substitution of rational ones for the irrational." —*Mackenzie*

4 "Liberty is the freedom of the individual to express without external hindrance to his personality." —*G. D. H. Cole*

5 "Every man is free to do that which the wills, provided he infringes not the equal freedom of any other man." —*Herbert Spencer*

6 "Freedom is the positive power or capacity of doing or enjoying something worth doing or enjoying." —*T. H. Green*

इच्छा के अनुसार प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त हो बशर्ते वे दूसरों के समान अधिकारों का हनन न करते हों।"[1]

जॉन स्टुअर्ट मिल के मतानुसार, "व्यक्ति के अपने व्यक्तित्व को विकसित करने, प्रसारित करने तथा भय बनाने वाली परिस्थितियों का ही नाम स्वतन्त्रता है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर स्वतन्त्रता के बारे में महात्मा गाँधी के ये विचार सत्य के पर्याप्त निकट हैं, "व्यक्तिगत स्वतन्त्रता एक निश्चित सीमा तक ही जाने की आज्ञा देती है। कोई भी यह नहीं भूल सकता कि वह एक सामाजिक प्राणी है तथा उसकी व्यक्तिगत स्वतन्त्रता प्रत्येक कदम पर प्रतिबन्धित है।"[2]

स्वतन्त्रता के विभिन्न पहलू (पक्ष)
(DIFFERENT ASPECTS OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता की परिभाषाओं से स्पष्ट होता है कि स्वतन्त्रता के निम्नलिखित दो पहलू (पक्ष) हैं—

(1) स्वतन्त्रता का नकारात्मक अथवा निषेधात्मक पहलू—निषेधात्मक रूप में स्वतन्त्रता का अभिप्राय सम्पूर्ण तथा बाधा रहित स्वतन्त्रता से लिया जाता है और व्यक्ति बिना किसी बाधा की चिन्ता किये जो चाहे कर सकता है। साधारण शब्दों में, हम इसी को बाधा रहित स्वतन्त्रता कहते हैं। स्वतन्त्रता के इस पहलू के विचारकों में हॉब्स, रूसो, कोल तथा सीले का नाम उल्लेखनीय है।

मानव स्वभाव को देखते हुए स्वतन्त्रता का निषेधात्मक रूप सभ्य समाज में सम्भव नहीं है। व्यक्ति सामाजिक प्राणी है। वह समाज में रहते हुए कोई ऐसा कार्य नहीं कर सकता जो अन्य लोगों को हानि पहुँचाता हो अथवा उनकी स्वतन्त्रता में रुकावट पैदा करता हो। इस सम्बन्ध में लास्की ने ठीक ही कहा है कि **"समाज में रहते हुए मनुष्य जो चाहे नहीं कर सकता। स्वतन्त्रता कभी भी आज्ञा-पत्र नहीं बन सकती।"**[3] किसी व्यक्ति को चोरी करने अथवा किसी की हत्या करने की छूट नहीं दी जा सकती।

(2) स्वतन्त्रता का सकारात्मक अथवा वास्तविक पहलू—स्वतन्त्रता के सकारात्मक पहलू से अभिप्राय है, व्यक्ति को ऐसे कार्य करने देना जो उसकी प्रगति हेतु अत्यावश्यक हैं किन्तु समाज के हितों को किसी प्रकार की हानि नहीं पहुँचाते हैं। स्वतन्त्रता के इस पहलू के विचारकों में ग्रीन, गाँधी, मैकेन्जी तथा लास्की इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है। मैक्फरसन के अनुसार, **"सकारात्मक स्वतन्त्रता एक पूर्ण मानव के रूप में कार्य करने की स्वतन्त्रता है। यह मानव को अपना विकास करने की शक्ति है। एक व्यवस्थित समाज की अव्यवस्थित सामाजिक परिस्थितियों में स्वतन्त्रता की कल्पना नहीं की जा सकती।"** इस प्रकार सकारात्मक स्वतन्त्रता का तात्पर्य उस वातावरण से है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति सामाजिक हितों को समझते हुए अपने जीवन का आर्थिक, सामाजिक एवं आध्यात्मिक विकास कर सके।

---

1 "Liberty means the secure injoyment by individuals and by associations, of the power to think their own thought and to express and act upon them, using their own gifts in their own way under the shelter of the law, provided they do not impair the corresponding rights of others." —*Ramsay Muir*

2 "Individual liberty is allowed to man only to certain extent. He can not forget that he is a social being and his individual liberty has to be curtailed at every step." —*Mahatma Gandhi*

3 "Man can not do whatever he wants to do in society, liberty is not a licence." —*Laski*

वर्तमान में स्वतन्त्रता के निषेधात्मक स्व रूप को स्वीकार नहीं किया जाता तथा स्वतन्त्रता के सकारात्मक स्वरूप को ही उचित माना जाता है।

स्वतन्त्रता के प्रकार (रूप)
(KINDS OF LIBERTY)

स्वतन्त्रता का प्रयोग विभिन्न अर्थों में किया जाता है। अतः उसके अनेक प्रकार हैं जिनमें निम्नांकित प्रमुख हैं—

(1) **प्राकृतिक स्वतन्त्रता**—प्राकृतिक स्वतन्त्रता का आशय मनुष्यों को अपनी इच्छानुसार कार्य करने की स्वतन्त्रता से है। इस स्वतन्त्रता का प्रचार समझौतावादियों (Contractualists) ने किया। समझौतावादियों के मतानुसार राज्य के अस्तित्व में आने से पूर्व व्यक्ति प्रकृति के राज्य में रहता था जहाँ कि वह पूरी तरह स्वतन्त्र था। रूसो के शब्दों में, "मनुष्य जन्मतः स्वतन्त्र है परन्तु सर्वत्र जंजीरों में जकड़ा हुआ है।"[1]

स्वतन्त्रता के प्रकार (रूप)
* प्राकृतिक स्वतन्त्रता
* नागरिक स्वतन्त्रता
* राजनीतिक स्वतन्त्रता
* आर्थिक स्वतन्त्रता
* व्यक्तिगत स्वतन्त्रता
* धार्मिक स्वतन्त्रता
* सामाजिक स्वतन्त्रता
* नैतिक स्वतन्त्रता

वर्तमान काल में सभ्य समाज में प्राकृतिक स्वतन्त्रता के विचार को स्वीकार नहीं किया जाता क्योंकि यह स्वतन्त्रता न होकर आज्ञा-पत्र है। उचित स्वतन्त्रता सिर्फ राज्य द्वारा निर्धारित अवरोधों में रहकर ही भोगी जा सकती है। यदि प्राकृतिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाये तो इससे **'जिसकी लाठी उसकी भैंस'** के सिद्धान्त को बल मिलेगा तथा शक्तिहीन की स्वतन्त्रता छिन जायेगी।

(2) **नागरिक स्वतन्त्रता**—समाज का सदस्य होने के कारण व्यक्ति को जो स्वतन्त्रता प्राप्त होती है उसको नागरिक स्वतन्त्रता की उपमा दी जाती है। नागरिक स्वतन्त्रता की रक्षा राज्य करता है। इसमें नागरिकों की निजी स्वतन्त्रता, धार्मिक स्वतन्त्रता, सम्पत्ति का अधिकार, विचार अभिव्यक्ति करने की स्वतन्त्रता, इकट्ठे होने तथा संघ इत्यादि बनाने की स्वतन्त्रता सम्मिलित हैं। गैटिल ने नागरिक स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट करते हुए कहा है, **"नागरिक स्वतन्त्रता का तात्पर्य उन अधिकारों एवं विशेषाधिकारों से है जिन्हें राज्य अपनी प्रजा हेतु उत्पन्न करता है तथा उन्हें सुरक्षा प्रदान करता है।"**[2]

नागरिक स्वतन्त्रता विभिन्न राज्यों में अलग-अलग होती है। जहाँ लोकतन्त्रीय राज्यों में यह स्वतन्त्रता अधिक होती है वहीं तानाशाही राज्यों में कम। भारत के संविधान में नागरिक स्वतन्त्रता का वर्णन किया गया है।

(3) **राजनीतिक स्वतन्त्रता**—राजनीतिक स्वतन्त्रता का आशय नागरिकों के राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की स्वतन्त्रता से है। लास्की ने राजनीतिक स्वतन्त्रता में स्पष्ट करते हुए कहा है, **"राज्य के कार्यों में सक्रिय भाग लेने की शक्ति ही राजनीतिक स्वतन्त्रता**

---
1 "Man is born free, but everywhere he is in chains." —*Rousseau*
2 "Civil Liberty consists of the rights and privileges which the state creates and protects for its subjects." —*Gettell*

है।"[1] गिलक्राइस्ट के कथनानुसार, राजनीतिक स्वतंन्त्रता वास्तव में लोकतन्त्र का ही दूसरा नाम है। इसके द्वारा व्यक्तियों को सरकार की शक्ति में हिस्सेदारी प्राप्त होती है। राजनीतिक स्वतन्त्रता के अन्तर्गत मताधिकार, निर्वाचित होने का अधिकार, शासकीय पद प्राप्त करने का अधिकार तथा विचार अभिव्यक्त करने का अधिकार इत्यादि सम्मिलित किये जाते हैं।

व्यक्ति के लिए राजनीतिक स्वतन्त्रता का काफी महत्त्व है। इसके अभाव में नागरिक स्वतन्त्रता का कोई मूल्य नहीं रह जाता क्योंकि राजनीतिक स्वतन्त्रता के उपयोग से ही ऐसे समाज का अस्तित्व सम्भव होता है जिसमें नागरिक स्वतन्त्रताएँ अक्षुण्ण रह सकें।

(4) आर्थिक स्वतन्त्रता—आर्थिक स्वतन्त्रता का आशय आर्थिक सुरक्षा सम्बन्धी उस स्थिति से है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति अपनी अनिवार्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते हुए अपना जीवन-यापन कर सके। लास्की के शब्दों में, **"आर्थिक स्वतन्त्रता का यह अभिप्राय है कि प्रत्येक व्यक्ति को अपनी जीविका अर्जित करने की समुचित सुरक्षा तथा सुविधा प्राप्त हो।"**[2]

जिस राज्य में भूख, गरीबी, दीनता, नग्नता तथा आर्थिक अन्याय होगा वहाँ व्यक्ति कभी भी स्वतन्त्र नहीं होगा। व्यक्ति को पेट की भूख, अपने बच्चों की भूख तथा भविष्य में दिखाई देने वाली आवश्यकताएँ प्रत्येक पल दुःखी करती रहेंगी। व्यक्ति कभी भी स्वयं को स्वतन्त्र अनुभव नहीं करेगा तथा न ही वह नागरिक एवं राजनीतिक स्वतन्त्रता का भली-भाँति उपभोग कर सकेगा। अतः राजनीतिक एवं नागरिक स्वतन्त्रता को हासिल करने के लिए आर्थिक स्वतन्त्रता का होना परमावश्यक है। लेनिन ने उचित ही कहा है कि **"आर्थिक स्वतन्त्रता के अभाव में राजनीतिक अथवा नागरिक स्वतन्त्रता अर्थहीन है।"**[3]

(5) व्यक्तिगत स्वतन्त्रता—व्यक्तिगत स्वतन्त्रता से अभिप्राय है—व्यक्ति को ऐसे कार्य करने की स्वतन्त्रता प्रदान करना जो सिर्फ उसी तक सीमित हैं तथा अन्य लोगों पर उसके इन कार्यों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। यहाँ यह स्मरणीय है कि आज व्यक्ति का कोई कार्य ऐसा नहीं है जो अन्य लोगों को प्रभावित न करता हो। इसलिए व्यक्तिगत स्वतन्त्रता भी कुछ सीमाओं में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। इस प्रकार की स्वतन्त्रता के अन्तर्गत भोजन, वस्त्र, धर्म तथा पारिवारिक जीवन को सम्मिलित किया जाता है।

(6) धार्मिक स्वतन्त्रता—व्यक्ति धर्म पर किसी प्रकार का बन्धन स्वीकार नहीं करता। यही कारण है कि आज अनेक राज्यों में व्यक्ति को कोई भी धर्म मानने, प्रचार करने तथा धारण करने की स्वतन्त्रता प्रदान की गई है। भारतीय संविधान में भी धार्मिक स्वतन्त्रता का अधिकार प्रदान किया गया है।

धर्मतन्त्र राज्यों में राज्य का एक धर्म होता है तथा उसी धर्म के अनुयायियों को विशेष सुविधाएँ प्राप्त होती हैं जबकि धर्मनिरपेक्ष राज्य में व्यक्ति को अपनी इच्छा का कोई भी धर्म धारण करने की स्वतन्त्रता होती है तथा सभी धर्म एकसमान होते हैं।

(7) सामाजिक स्वतन्त्रता—इस स्वतन्त्रता का तात्पर्य समस्त व्यक्तियों को समाज में अपना विकास करने की सुविधा प्राप्त होने से है।

---

1 "Political liberty is the power to be active in the affairs of the state." —Laski
2 "Security and opportunity do find reasonable singificance in the earning of daily bread." —Laski
3 "Political or civil liberty is meaningless without economic liberty." —Lenin

(8) **नैतिक स्वतन्त्रता**—नैतिक स्वतन्त्रता का आशय अन्तरात्मा के अनुसार सत्य का पालन करते हुए आचरण करने की स्वतन्त्रता से है। यह स्वतन्त्रता सत्य, परोपकार, अहिंसा तथा नैतिक आचरण पर बल देती है। इस स्वतन्त्रता के समर्थक काण्ट के अनुसार, **"इस प्रकार आचरण करो कि तुम्हारी इच्छा से सार्वजनिक नियमों का प्रतिपादन किया जा सके।"**

नैतिक दृष्टि से परतन्त्र व्यक्ति को स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता तथा इसके अभाव में मानव व्यक्तित्व का विकास भी असम्भव है। अतः समाज में प्रत्येक व्यक्ति के साथ सहयोग, सद्भावना तथा विनम्रतापूर्वक व्यवहार करना ही नैतिक स्वतन्त्रता है।

(9) **राष्ट्रीय स्वतन्त्रता**—यह स्वतन्त्रता सभी प्रकार की स्वतन्त्रताओं तथा अधिकारों की आधारशिला है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता का तात्पर्य राष्ट्र की स्वतन्त्रता से है। जिस प्रकार व्यक्ति को स्वतन्त्रता प्राप्त होनी चाहिए ठीक उसी प्रकार से एक राष्ट्र को भी अपने पूर्ण विकास के लिए स्वतन्त्र होना आवश्यक है। राष्ट्रीय स्वतन्त्रता राज्य की आन्तरिक एवं बाह्य स्वाधीनता है। जो राष्ट्र अपने आन्तरिक प्रशासन तथा वाह्य सम्बन्धों के स्थापन में स्वतन्त्र होता है, किसी दूसरे देश के अधीन नहीं होता वह स्वतन्त्र और सम्प्रभु राष्ट्र होता है। लेकिन अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों तथा नियमों के अधीन प्रत्येक राष्ट्र की स्वतन्त्रता पर कुछ प्रतिबन्ध रहता है।

स्वतन्त्रता का महत्त्व
(IMPORTANCE OF LIBERTY)

मनुष्य का सम्पूर्ण सामाजिक, आर्थिक, नैतिक, राजनीतिक तथा मानसिक विकास स्वतन्त्रता के वातावरण में ही सम्भव है। जे. एस. मिल ने अपनी पुस्तक *'On Liberty'* में स्वतन्त्रता को मानव जीवन का मूलाधार बताया है। स्वतन्त्रता के अत्यधिक महत्त्व के कारण ही विभिन्न देशों में लाखों व्यक्तियों द्वारा इसकी रक्षार्थ अपने प्राणों को न्यौछावर किया गया। स्वतन्त्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति हेतु आवश्यक है। स्वतन्त्रता के महत्त्व को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) **स्वतन्त्रता नैतिक गुणों के विकास में सहायक**—स्वतन्त्रता व्यक्ति में प्रेम, दया, सहानुभूति, त्याग एवं सहयोग इत्यादि नैतिक गुणों को विकसित करके सामाजिक सभ्यता का विकास करती है जो मानवीय मूल्यों के लिए परमावश्यक हैं।

स्वतन्त्रता का महत्त्व

* स्वतन्त्रता नैतिक गुणों के विकास में सहायक
* स्वतन्त्रता व्यक्तित्व के विकास में सहायक
* स्वतन्त्रता अधिकार दिलाने में सहायक
* स्वतन्त्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति में सहायक
* स्वतन्त्रता आर्थिक प्रगति में सहायक
* स्वतन्त्रता राष्ट्रीय सम्मान में सहायक

(2) **स्वतन्त्रता व्यक्तित्व के विकास में सहायक**—स्वतन्त्रता के बिना व्यक्ति के व्यक्तित्व का पूर्ण विकास नहीं हो सकता। स्वतन्त्रता के माध्यम से ही वह साधन उपलब्ध कराये जाते हैं जिनसे व्यक्ति के व्यक्तित्व विकास का मार्ग प्रशस्त होता है।

(3) **स्वतन्त्रता अधिकार दिलाने में सहायक**—व्यक्ति के सम्पूर्ण विकास के लिए अनेक परिस्थितियाँ आवश्यक होती हैं। यह समस्त परिस्थितियाँ ही वास्तव में अधिकार हैं जिन्हें स्वतन्त्रता के द्वारा ही निर्मित किया जाता है।

(4) स्वतन्त्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति में सहायक—जब व्यक्ति स्वतन्त्र होता है तो उसके मस्तिष्क में नवीन विचारों का उदय होता है जिनके आधार पर नये-नये आविष्कार होते हैं जिससे राष्ट्र की वैज्ञानिक प्रगति होती है। अतः कहा जा सकता है कि स्वतन्त्रता समाज एवं राष्ट्र की प्रगति में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है।

(5) स्वतन्त्रता आर्थिक प्रगति में सहायक—व्यक्ति की आर्थिक प्रगति में भी स्वतन्त्रता का महत्त्वपूर्ण योगदान है। स्वतन्त्रता के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति को अपनी प्रतिदिन की जीविका उपार्जित करने की सुरक्षा प्राप्त होती है।

(6) स्वतन्त्रता राष्ट्रीय सम्मान में सहायक—स्वतन्त्रता राष्ट्र के सम्मान एवं गौरव में अभिवृद्धि करती है। इसी कारण अनेक देशों में लाखों देशभक्तों ने स्वतन्त्रता प्राप्त करने हेतु अपने प्राणों का बलिदान दिया तथा देश को स्वतन्त्र कराया। इटली के देशभक्त मैजिनी ने कहा है, "स्वतन्त्रता के अभाव में आप अपना कोई कर्त्तव्य पूरा नहीं कर सकते। अतः आपको स्वतन्त्रता का अधिकार दिया जाता है तथा जो भी शक्ति आपको इस अधिकार से वंचित रखना चाहती है कि उससे जैसे भी बने, अपनी स्वतन्त्रता छीन लेना आपका कर्त्तव्य है।" विधिवेत्ता पालकीवाला के कथनानुसार, "व्यक्ति सदैव स्वतन्त्रता की बलिवेदी पर सर्वाधिक मूल्यवान बलिदान देते रहे हैं। वे भाषण तथा अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता और आत्मा एवं धर्म की स्वतन्त्रता के लिए अपने प्राणों को न्यौछावर करते रहे हैं।"

स्वतन्त्रता तथा कानून का सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN LIBERTY AND LAW)

कानून एवं स्वतन्त्रता दोनों शब्द एक-दूसरे के परस्पर विरोधी प्रतीत होते हैं क्योंकि कानून व्यक्ति की कार्यशीलता को नियमित करता है तथा उसको मनमानी करने से रोकता है। इसलिए कुछ विद्वानों की मान्यता है कि कानून सत्ता, प्रभुसत्ता इत्यादि स्वतन्त्रता के शत्रु हैं। इसके विपरीत, कुछ विद्वानों का मत है कि कानून एवं स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी न होकर सहयोगी हैं क्योंकि स्वतन्त्रता अवरोध में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। राज्य के कानून स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु उचित वातावरण तैयार करते हैं। इस प्रकार कानून व्यक्ति तथा स्वतन्त्रता के सम्बन्धों के सन्दर्भ में अलग-अलग विचार हैं तथा वास्तविकता जानने के लिए दोनों पक्षों का अध्ययन आवश्यक है।

(अ) स्वतन्त्रता तथा कानून परस्पर विरोधी हैं—कुछ विद्वानों का विचार है कि स्वतन्त्रता तथा कानून परस्पर विरोधी हैं क्योंकि कानून स्वतन्त्रता पर अनेक प्रकार के बन्धन लगाता है। इस विचार को मान्यता देने वालों में व्यक्तिवाद, अराजकतावादी, श्रमसंघवादी तथा कुछ अन्य विद्वान हैं। इस मत के अलग-अलग विचार निम्नांकित हैं—

(1) व्यक्तिवादियों के विचार—व्यक्तिवादी विचारधारा राज्य के कार्यों को सीमित करने के पक्ष में है। व्यक्तिवादियों के अनुसार, "वही शासन प्रणाली श्रेष्ठ है जो सबसे कम शासन करती है।" जितने कम कानून होंगे, उतनी ही अधिक स्वतन्त्रता होगी।

(2) अराजकतावादियों के विचार—अराजकतावादियों की मान्यता है कि राज्य अपनी शक्ति के प्रयोग से व्यक्ति की स्वतन्त्रता को नष्ट करता है। इसीलिए अराजकतावादी राज्य को समाप्त कर देने के समर्थक हैं। अराजकतावादी विचारक विलियम गाडविन के मतानुसार,

"कानून सर्वाधिक घातक प्रकृति की संस्था है।"[1] वह आगे कहता है, "राज्य का कानून दमन तथा उत्पीड़न का एक नवीन यन्त्र है।"

(3) श्रम संघवादियों के विचार—मजदूर संघवादियों की मान्यता है कि राज्य के कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करते हैं। इन कानूनों का प्रयोग सदैव ही पूँजीपतियों के हितों को बढ़ावा देने हेतु किया गया है। इससे मजदूरों की स्वतन्त्रता नष्ट होती है। चूँकि राज्य के कानून मजदूरों के हितों का विरोध कर पूँजीपतियों का समर्थन करते हैं इसलिए मजदूर संघवादी भी राज्य को समाप्त करने के पक्षधर हैं।

(4) बहुलवादियों के विचार—बहुलवादियों की मान्यता है कि राज्य के पास जितनी अधिक सत्ता होगी, व्यक्ति को उतनी ही कम स्वतन्त्रता होगी। इसलिए राज्य सत्ता को अलग-अलग समूहों में विभाजित कर दिया जाना चाहिए।

उपर्युक्त विभिन्न विचारों के अध्ययनोपरान्त हम यह निष्कर्ष निकालते हैं कि कानून एवं स्वतन्त्रता में कोई सम्बन्ध नहीं है अर्थात् यह परस्पर विरोधी हैं।

(ब) स्वतन्त्रता एवं कानून परस्पर विरोधी नहीं हैं—वास्तव में, स्वतन्त्रता एवं कानून परस्पर विरोधी न होकर सहयोगी हैं। जो लोग इनको परस्पर विरोधी मानते हैं वे स्वतन्त्रता का उचित अर्थ नहीं जानते। स्वतन्त्रता का तात्पर्य कभी भी प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति नहीं होता। स्वतन्त्रता प्रतिबन्धों में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। लॉक ने उचित ही कहा है, **"जहाँ कानून नहीं, वहाँ स्वतन्त्रता नहीं।"**[2] इसी प्रकार प्रो. विलोबी ने भी कहा है, **"प्रतिबन्धों के कारण ही स्वतन्त्रता का अस्तित्व है।"**[3]

प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति अर्थात् कानूनों की अनुपस्थिति में सिर्फ बलशाली ही स्वतन्त्रता प्राप्त कर सकेंगे। स्वतन्त्रता से अभिप्राय व्यक्ति पर अनुचित, अनैतिक तथा अन्यायपूर्ण प्रतिबन्धों का न होना है। स्वतन्त्रता एवं कानून के परस्पर सम्बन्धों के प्रकट करने हेतु निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) स्वतन्त्रता का अभिप्राय प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति नहीं—स्वतन्त्रता का अभिप्राय प्रतिबन्धों की अनुपस्थिति नहीं है बल्कि यह तो प्रतिबन्धों में रहकर ही प्राप्त की जा सकती है। हार्किन्ज के कथनानुसार, **"व्यक्ति जितनी अधिक स्वतन्त्रता चाहता है उसको उतना ही राज्य सत्ता के सम्मुख झुकना पड़ता है।"**[4]

(2) कानून के अभाव में अराजकता का राज्य होगा—राज्य कानूनों द्वारा ही व्यक्ति के जीवन को नियमबद्ध करता है। कानून के अभाव में प्रत्येक व्यक्ति मनमानी करेगा जिसके परिणामस्वरूप अराजकता वाली स्थिति पैदा हो जायेगी।

(3) स्वतन्त्रता के लिए कानून परमावश्यक है—कानून प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को नियमित करता है तथा एक-दूसरे को दखल-अंदाजी से बचाता है। इसलिए कानून स्वतन्त्रता की प्रथम शर्त है।

(4) कानून, स्वतन्त्रता की प्राप्ति हेतु उचित वातावरण निर्मित करता है—कानून एक ऐसा वातावरण तैयार करता है जो व्यक्ति की प्रगति हेतु परमावश्यक है। उदाहरणार्थ, राज्य कानून द्वारा श्रमिकों के कार्य करने के घण्टे निश्चित करता है, मजदूरी निश्चित करता है तथा

---

1 "Law is an institution of the most pernicious type." —*William Godwin*
2 "Where there is no law, there is no liberty." —*Locke*
3 "Freedom exists only because there are restraints." —*Willoughby*
4 "The greater the liberty a person desires, the greater is the authority to which he should submit himself." —*Hockings*

उनके स्वास्थ्य की रक्षा हेतु कानून निर्मित करता है। इसके फलस्वरूप श्रमिकों की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है।

(5) कानून सरकार की शक्तियों को भी सीमित करते हैं—कानून द्वारा सरकार की शक्तियों को भी सीमित किया जाता है और उसे मनमानी करने से रोका जाता है। इससे भी व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा होती है।

यहाँ यह बात उल्लेखनीय है कि प्रत्येक कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता की रक्षा नहीं करता। तानाशाही राज्यों में कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता को कुचलने हेतु निर्मित किये जाते हैं। 1947 से पूर्व अँग्रेजों द्वारा कानूनों के द्वारा ही भारतीयों की स्वतन्त्रता का गला दबाया जाता था। अर्थात् कहा जा सकता है कि सिर्फ लोकतन्त्रीय राज्यों में ही कानून व्यक्ति की स्वतन्त्रता के प्रहरी होते हैं।

उपर्युक्त दोनों पक्षों के विचारों के अध्ययनोपरान्त हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कानून एवं स्वतन्त्रता में गहरा सम्बन्ध है। एक-दूसरे की अनुपस्थिति में दोनों निरर्थक हैं। यहाँ गैटिल का यह कथन उचित प्रतीत होता है, **"अकेली प्रभुसत्ता निरंकुशता के समान है तथा स्वतन्त्रता को नष्ट करती है जबकि अकेली स्वतन्त्रता अराजकता है तथा प्रभुसत्ता का नाश करती है।"**[1]

समानता का अर्थ
(MEANING OF EQUALITY)

समानता लोकतन्त्रीय प्रणाली के स्तम्भों में से एक है। यह एक ऐसा आदर्श है जिसको प्राप्त करने हेतु मनुष्य ने अनेक संघर्ष किए हैं तथा अनेक लोगों ने अपने जीवन की आहुतियाँ दी हैं। 1779 में अमेरिका की स्वतन्त्रता की घोषणा में स्वतन्त्रता सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण घोषणा की गयी तथा कहा गया कि "हम इस सत्य को पूरी तरह से स्वीकार करते हैं कि सभी मानव समान बनाये गये हैं।"[2] इसी प्रकार की 1789 की फ्रांस की क्रान्ति के पश्चात् फ्रांस की राष्ट्रीय असेम्बली ने मानव अधिकारों की जो घोषणा की उसमें कहा गया था कि **"मानव स्वतन्त्र पैदा हुआ है तथा वह अधिकारों के सम्बन्ध में सदैव स्वतन्त्र और समान रहते हैं।"**[3] 19वीं, 20वीं तथा 21वीं शताब्दी में लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों की प्रगति से समानता का महत्त्व और भी अधिक बढ़ा है।

साधारण भाषा में समानता का अर्थ यह लगाया जाता है कि सभी व्यक्तियों का स्तर समान है तथा सबको समान वेतन मिले अथवा सभी की आय एक जैसी हो। समाज में ऊँच-नीच, शिक्षित-अशिक्षित व गरीब-अमीर इत्यादि के भेदभाव को समाप्त करके वास्तविक समानता की स्थापना होनी चाहिए लेकिन यह एक अव्यावहारिक आदर्श है। इस त्रुटिपूर्ण दृष्टिकोण की ओर संकेत करते हुए लास्की ने कहा है कि **"समानता का यह अर्थ नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति के साथ एक जैसा व्यवहार किया जाय अथवा प्रत्येक व्यक्ति को समान वेतन दिया जांय। यदि ईंट ढोने वाले का वेतन एक गणितज्ञ अथवा वैज्ञानिक के बराबर कर दिया गया तो समाज का उद्देश्य ही नष्ट हो जायेगा।"**[4]

---

1 "Sovereignty alone is despotism and destroys liberty, while liberty alone is anarchy and destroys sovereignty." —*Gettell*

2 "We hold those truths to be self-evident that all man are created equal." —*American Declaration of Independence*

3 "Men are born free and always continue to be free and equal in respect of their rights." —*National Assembly of France*

4 "Equality does not mean the identity of treatment or the sameness of award. If a brickayer gets the same reward as a mathematician or a scientist, the purpose of the society will be defeated." —*Laski*

नागरिकशास्त्र के अन्तर्गत समानता का तात्पर्य ऐसी परिस्थितियों के अस्तित्व से है जिनमें सभी व्यक्तियों को अपने व्यक्तित्व के विकास हेतु समान अवसर प्राप्त हो सकें तथा जिनके द्वारा व्यक्तित्व के विकास के मार्ग में आने वाली रुकावटें तथा सामाजिक-आर्थिक विषमताओं को दूर किया जा सके। जाति, धर्म, लिंग इत्यादि के आधार पर नागरिकों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए अर्थात् व्यक्ति को उसकी क्षमतानुसार प्रगति के समान अवसर प्रदान करना ही समानता है।

समानता की परिभाषाएँ
(DEFINITIONS OF EQUALITY)

लास्की के मतानुसार, "समानता प्रत्येक व्यक्ति को अपनी शक्तियों का उपयोग करने हेतु यथाशक्ति समान अवसर प्रदान करने का प्रयत्न है।"[1]

बार्कर के शब्दों में, "समानता के सिद्धान्त का अभिप्राय है कि अधिकारों के रूप में जो सुविधाएँ मुझे प्राप्त हैं, वे उसी रूप में अन्यों को प्राप्त होंगी तथा जो अधिकार अन्य लोगों को प्रदान किये गए हैं वे मुझे भी दिये जायेंगे।"[2]

रशदल के अनुसार, "समानता का अर्थ है कि बराबर वालों में समानता तथा असमान स्तर के व्यक्तियों में असमानता। अर्थात् अन्य बातों के समान होने पर मेरा हित उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि किसी अन्य व्यक्ति का हित।"

डॉ. वी. पी. सिंह के शब्दों में, "समानता का वास्तविक अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियों को अपने विकास हेतु समान सुअवसर मिलें। जन्म, जाति, धर्म तथा सम्पत्ति इत्यादि जो सामाजिक जीवन के कृत्रिम आधार हैं, इनके आधार पर व्यक्ति-व्यक्ति में भेद न किया जाय...आशंका तथा योग्यता के रहते किसी व्यक्ति के विकास में रुकावट नहीं पड़नी चाहिए।"

समानता की विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF EQUALITY)

समानता की निम्नलिखित विशेषताएँ होती हैं—

(1) **आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति**—समानता की यह विशेषता है कि व्यक्ति कम से कम आवश्यकताओं की पूर्ति कर सके तथा अपने जीवन का निर्वाह कर सके।

(2) **प्रगति के समान अवसर**—समानता का एक सकारात्मक पक्ष है जिसका अर्थ यह है कि सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के उनके व्यक्तित्व विकास के लिए समान अवसर सुलभ होने चाहिए।

(3) **विशेष अधिकारों की अनुपस्थिति**—समानता में यह निहित है कि किसी भी वर्ग विशेष के व्यक्ति को लिंग, वंश, जन्म-स्थान, धर्म तथा राजनीतिक पद के आधार पर ऐसे कुछ विशेष अधिकार नहीं मिलने चाहिए जिनसे कि अन्य व्यक्ति वंचित हों।

---

1 "Equality is an attempt to give similar chance possible to utilise what he may possess." —Laski

2 "The principle of equality accordingly means that whatever conditions are guaranteed to me in the form of rights shall also and in the same measure, be guaranteed to others and that whatever rights are given to others shall also be given to me." —Barker

समानता के प्रकार अथवा भेद
(KINDS OF EQUALITY)

समानता के प्रमुख प्रकार अथवा भेद निम्नांकित हैं—

(1) सामाजिक समानता—सामाजिक समानता का अभिप्राय है कि समाज से विशेष अधिकारों का अन्त हो जाना चाहिए तथा सामाजिक दृष्टिकोण से समस्त व्यक्ति समान समझे जाने चाहिए। समाज में जाति, वंश, नस्ल, लिंग तथा सम्प्रदाय के आधार पर भेदभाव नहीं होना चाहिए। उदाहरणार्थ, भारत में जाति प्रथा, अस्पृश्यता, अमेरिका एवं अफ्रीका के कुछ देशों में रंग के आधार पर भेदभाव सामाजिक विषमता के ही प्रतीक हैं।

समानता के प्रकार अथवा भेद
* सामाजिक समानता
* नागरिक समानता
* प्राकृतिक समानता
* धार्मिक समानता
* राजनीतिक समानता
* सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी समानता
* आर्थिक समानता

(2) नागरिक समानता—नागरिक समानता का तात्पर्य है, "कानून के समक्ष सभी लोग समान हैं।" राज्य का सदस्य होने के कारण प्रत्येक नागरिक को समुचित विकास हेतु नागरिक सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। शिक्षा, सम्पत्ति, भाषण की स्वतन्त्रता इत्यादि को प्रदान करने में राज्य को जाति, धर्म, लिंग तथा सम्पत्ति इत्यादि के आधार पर कोई भेदभाव नहीं करना चाहिए। हॉब्स ने तो नागरिक समानता को 'मूलभूत अधिकारों तथा कर्त्तव्यों की समानता' कहा है।

(3) प्राकृतिक समानता—इस प्रकार की समानता का आशय यह है कि मानव जन्म से ही समान है तथा उनमें किसी प्रकार की असमानता स्वीकार नहीं की जानी चाहिए। संविदावादी विचारकों ने प्राकृतिक समानता पर अत्यधिक जोर दिया लेकिन वर्तमान में इसे काल्पनिक माना जाता है। विचारकों की मान्यता है कि प्रकृति स्वयं मनुष्यों को असमान बुद्धि, बल, प्रतिभा इत्यादि प्रदान करती है, अतः यह सिद्धान्त अनुचित है। यह सिद्धान्त अपने आदर्श रूप में इस बात पर जोर देता है कि समस्त व्यक्तियों के व्यक्तित्व को समान समझा जाना चाहिए।

(4) धार्मिक समानता—धार्मिक समानता का अभिप्राय यह है कि सभी धर्म समान हैं तथा सभी व्यक्तियों को समान रूप से अपने-अपने धर्म का पालन करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होनी चाहिए। राज्य के द्वारा धार्मिक आधार पर किसी व्यक्ति या सम्प्रदाय के साथ भेदभाव नहीं किया जाना चाहिए। उल्लेखनीय है कि धर्मनिरपेक्ष राज्य में ही धार्मिक समानता सम्भव होती है। इस दृष्टि से भारतीय समाज आदर्श है क्योंकि यहाँ पूर्ण धार्मिक समानता है।

(5) राजनीतिक समानता—इस समानता का तात्पर्य यह है कि सभी व्यक्तियों को समान राजनीतिक अधिकार प्राप्त होने चाहिए। वोट देने, संसद तथा विधानमण्डलों में निर्वाचित होने तथा शासकीय पद प्राप्त करने इत्यादि क्षेत्रों में सभी को समान अवसर और सुविधाएँ प्राप्त होनी चाहिए। राज्य को इन अधिकारों को प्रदान कराने में किसी भी आधार पर पक्षपात नहीं करना चाहिए। लेकिन इन अधिकारों की प्राप्ति में पागल, कोढ़ी, दिवालिया एवं अपराधी अपवाद होते हैं। आधुनिक लोकतान्त्रिक देशों में राजनीतिक समानता पर विशेष जोर दिया जाता है।

(6) सांस्कृतिक एवं शिक्षा सम्बन्धी समानता—इसका तात्पर्य यह है कि सांस्कृतिक दृष्टि से समाज के समस्त वर्गों को अपनी भाषा, लिपि तथा संस्कृति को सुरक्षित बनाये रखने का अधिकार प्राप्त होना चाहिए। इसके साथ ही सभी व्यक्तियों को बिना किसी भेदभाव के शिक्षा प्राप्त करने का अधिकार होना चाहिए।

(7) आर्थिक समानता—आर्थिक समानता का आशय यह है कि व्यक्तियों की आय में बहुत अधिक असमानता नहीं होनी चाहिए। उनकी आय के मध्य इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि एक व्यक्ति अपने धन के आधार पर दूसरे का शोषण करे। समाज में धन का उचित वितरण होना चाहिए तथा समाज में रहने वाले प्रत्येक व्यक्ति की न्यूनतम आवश्यकताओं की पूर्ति होनी चाहिए। इस सम्बन्ध में लास्की का कथन है, **"मुझे केक खाने का कोई अधिकार नहीं है जब मेरे पड़ौसी को बिना रोटियों के गुजारा करना पड़ता है।"** लास्की आगे चलकर कहता है, **"कुछ व्यक्तियों के पास आवश्यकता से अधिक वस्तुएँ होने से पूर्व सभी व्यक्तियों के पास आवश्यक पदार्थ हो जाने चाहिए।"**

स्वतन्त्रता एवं समानता का सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN LIBERTY AND EQUALITY)

स्वतन्त्रता एवं समानता के आपसी सम्बन्धों के सन्दर्भ में विभिन्न विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ विद्वानों की मान्यता है कि स्वतन्त्रता एवं समानता परस्पर विरोधी हैं तथा समानता स्थिर करने के लिए किये गये प्रत्यनों द्वारा स्वतन्त्रता नष्ट होती है। दूसरी ओर अन्य विद्वानों का मत है कि स्वतन्त्रता तथा समानता एक-दूसरे के सहयोगी हैं। इनको एक-दूसरे से पृथक् नहीं किया जा सकता। दोनों मतों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(अ) स्वतन्त्रता तथा समानता परस्पर विरोधी हैं—इस विचारधारा के समर्थकों में डी टॉकविल, लॉर्ड एक्टन तथा क्रोचे प्रमुख हैं। इनके अनुसार स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे के विरोधी हैं। स्वतन्त्रता समानता को नष्ट करती है तथा समानता स्वतन्त्रता का विनाश करती है। इस विचारधारा के अनुसार स्वतन्त्रता का अर्थ व्यक्ति की इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति है। व्यक्ति के ऊपर सभी प्रकार के बन्धनों तथा नियन्त्रणों का अभाव ही स्वतन्त्रता है। समानता का आशय सभी क्षेत्रों में बराबरी से है। अतः स्वतन्त्रता से समानता का हनन होता है तथा समानता से स्वतन्त्रता का अन्त हो जाता है क्योंकि पूर्ण-समानता राज्य के नियन्त्रण से ही सम्भव है तथा राज्य का नियन्त्रण स्वतन्त्रता को समाप्त कर देता है। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्रता एवं समानता में से एक की स्थापना ही सम्भव है अतः ये दोनों परस्पर विरोधी हैं। लॉर्ड ऐक्टन के कथनानुसार, **"समानता की अभिलाषा ने स्वतन्त्रता की आशा को व्यर्थ कर दिया है।"**[1] इस मत के समर्थक इसके पक्ष में निम्नलिखित तर्क देते हैं—

(1) प्रकृति ने सभी मानवों को समान नहीं बनाया है—समाज में असमानता प्रकृति की ही देन है क्योंकि प्रकृति ने सभी लोगों को समान नहीं बनाया। कुछ लोग बुद्धिमान होते हैं तथा कुछ बुद्धिहीन, कुछ सुन्दर होते हैं तो कुछ कुरूप। इसके विरुद्ध हम शक्ति प्रयोग द्वारा बुद्धिहीनों तथा विवेकशीलों में समानता स्थापित करने का प्रयास करते हैं तो प्रकृति के असमानता के सिद्धान्त के विरुद्ध कार्य करते हैं।

---

1 **"The passion for equality has made vain the hope of liberty."** —*Lord Acton*

(2) आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता विरोधी हैं—व्यक्तिवादियों की मान्यता है कि आर्थिक क्षेत्र में खुली प्रतियोगिता एवं स्वतन्त्र व्यापार होना चाहिए जिससे प्रत्येक व्यक्ति स्वतन्त्रता से अपनी आर्थिक प्रगति कर सके। लेकिन आज जब हम आर्थिक क्षेत्र में समानता स्थापित करने का प्रयत्न करते हैं तो इससे हम आर्थिक स्वतन्त्रता के मार्ग में बाधक बनते हैं जिसके फलस्वरूप व्यक्ति की आर्थिक स्वतन्त्रता सीमित हो जाती है।

स्वतन्त्रता एवं समानता का सम्बन्ध

(अ) स्वतन्त्रता तथा समानता परस्पर विरोधी हैं
* प्रकृति ने सभी मानवों को समान नहीं बनाया है
* आर्थिक स्वतन्त्रता एवं समानता विरोधी हैं
* योग्य व्यक्तियों को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता
* समान स्वतन्त्रता का सिद्धान्त गलत

(ब) स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे के पूरक हैं
* दोनों का उद्देश्य समान
* स्वतन्त्रता के उपभोग हेतु समानता की आवश्यकता
* नागरिक स्वतन्त्रता हेतु कानून के समक्ष समानता आवश्यक है
* राजनीतिक स्वतन्त्रता हेतु समान अवसर आवश्यक हैं
* स्वतन्त्रता एवं समानता का विकास साथ-साथ हुआ है

(3) योग्य व्यक्तियों को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता—जब हम योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति को समान अधिकार एवं अवसर देते हैं तो इससे योग्य व्यक्ति को अपनी क्षमता प्रदर्शित करने का अवसर नहीं मिलता। उदाहरणार्थ, लोकतन्त्र में योग्य तथा अयोग्य व्यक्ति को समान राजनीतिक अधिकार प्रदान किये जाते हैं तो यह भेद करना कि कौन योग्य है तथा कौन अयोग्य, कठिन हो जाता है।

(4) समान स्वतन्त्रता का सिद्धान्त गलत—सभी व्यक्तियों को एक ही स्तर पर रखना, एक जैसी समानता देना गलत ही नहीं बल्कि अनैतिक भी है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति समान नहीं होता। बुद्धिमान, मूर्ख, ज्ञानी, अज्ञानी, देशद्रोही, देशभक्त इत्यादि सभी को समान पद देना मौलिक रूप से त्रुटिपूर्ण है। डॉक्टर, इंजीनियर, प्रोफेसर, वैज्ञानिक, मजदूर तथा बेकारों को समान समझना अन्याय ही होगा।

(ब) स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे के पूरक हैं—इस विचारधारा के अनुसार स्वतन्त्रता एवं समानता एक-दूसरे के पूरक हैं तथा दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस मत के समर्थक लास्की, सी. ई. एम. जोड, पोलार्ड, आर. एच. टोनी तथा जी. ए. स्मिथ हैं। इन विद्वानों का विचार है कि स्वतन्त्रता एवं समानता को परस्पर विरोधी मानने वाले इनका गलत अर्थ समझते हैं। स्वतन्त्रता वास्तव में बन्धनों तथा नियन्त्रणों का अभाव नहीं अपितु समाज तथा राज्य के विवेकशील कानूनों का पालन है। स्वतन्त्रता व्यक्तित्व विकास के लिए उचित अवसर की प्राप्ति है तथा समानता का भी यही उद्देश्य है। समानता व्यक्ति के विकास हेतु समान अवसर प्रदान करती है। इस प्रकार स्वतन्त्रता और समानता का लक्ष्य एक है। व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक समानता के अभाव में असम्भव है। टॉनी के शब्दों में, "समानता की प्रचुर मात्रा स्वतन्त्रता की विरोधी नहीं है बल्कि उसके

1 "The french revolutionaries were neither mad nor stupid when they made liberty, equality and fraternity their war cry." —*Dr. E. Asirvatham*

लिए आवश्यक है।" पोलार्ड के अनुसार, "स्वतन्त्रता की समस्या का सिर्फ एक समाधान है और वह यह है कि इसका निवास समानता में है।" इस मत के समर्थन में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) दोनों का उद्देश्य समान—यदि सूक्ष्म रूप में अध्ययन किया जाये तो ज्ञात होगा कि स्वतन्त्रता एवं समानता का उद्देश्य व्यक्ति की प्रगति हेतु उचित वातावरण तैयार करना है। जब दोनों के उद्देश्य समान हैं तो विरोध किस प्रकार हो सकता है? डॉ. आशीर्वादम् के अनुसार, "फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जब स्वतन्त्रता, समानता तथा भ्रातृत्व का उद्घोष किया तब वे न तो मूर्ख थे और न ही पागल।"[1]

(2) स्वतन्त्रता के उपभोग हेतु समानता की आवश्यकता—समानता की अनुपस्थिति में स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं किया जा सकता। अतः स्वतन्त्रता के लिए समानता का स्थापित किया जाना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है।

(3) नागरिक स्वतन्त्रता हेतु कानून के समक्ष समानता आवश्यक है—नागरिक स्वतन्त्रता से अभिप्राय वह स्वतन्त्रता होती है जिसका उपभोग व्यक्ति राज्य का सदस्य होने के कारण उपभोग करता है। ऐसी स्वतन्त्रता का उपभोग तभी किया जा सकता है जबकि प्रत्येक व्यक्ति को कानून के सम्मुख समान पद दिया जाय। यदि ऐसा नहीं होता तो नागरिक स्वतन्त्रता निरर्थक बन जाती है।

(4) राजनीतिक स्वतन्त्रता हेतु समान अवसर आवश्यक हैं—इससे हमारा अभिप्राय यह है कि प्रत्येक नागरिक को राज्य के कार्य में भाग लेने के समान अवसर दिये जायें। यदि ऐसा नहीं होगा तो राजनीतिक स्वतन्त्रता का कोई अर्थ नहीं होगा। आज निर्धन व्यक्ति पूँजीपति की तुलना में राजनीतिक स्वतन्त्रता का उपभोग नहीं कर सकता। इसलिए प्रत्येक क्षेत्र में समानता आवश्यक है।

(5) स्वतन्त्रता एवं समानता का विकास साथ-साथ हुआ है—यदि हम दोनों के इतिहास का अध्ययन करें तो इस परिणाम पर पहुँचते हैं कि दोनों की प्राप्ति हेतु मानव ने समान प्रयत्न किये हैं। फ्रांस के क्रान्तिकारियों ने जहाँ स्वतन्त्रता की माँग की थी वहीं उन्होंने समानता की भी माँग की थी क्योंकि उनको यह पता था कि इनमें से किसी एक की कमी में दूसरी निरर्थक बन जायेगी।

उपर्युक्त अध्ययन करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि दोनों का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। ये आपस में एक-दूसरे की विरोधी न होकर पूरक हैं। हर्ण्ट डीन के शब्दों में, "स्वतन्त्रता में समानता निहित है, स्वतन्त्रता एवं समानता में परस्पर कोई द्वन्द्व नहीं और न वे एक-दूसरे से पृथक् हैं वरन् एक ही आदर्श के दो तथ्य हैं।"

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ क्या है?

उत्तर—स्वतन्त्रता का वास्तविक अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्ति को बिना रोक-टोक के अपने स्वविवेक तथा इच्छानुसार कार्य करने की आजादी होनी चाहिए।

प्रश्न 2. सकारात्मक स्वतन्त्रता का क्या आशय है?

उत्तर—सकारात्मक स्वतन्त्रता का तात्पर्य ऐसे वातावरण एवं परिस्थितियों की विद्यमानता से है जिसमें व्यक्ति अपने व्यक्तित्व का सम्पूर्ण विकास कर सके।

प्रश्न 3. स्वतन्त्रता की संक्षिप्त परिभाषा दीजिए। (1987, 91)

उत्तर—सीले के अनुसार, "स्वतन्त्रता अतिशासन की विरोधी है।"

प्रश्न 4. किन्हीं दो राजनीतिक स्वतन्त्रताओं का उल्लेख कीजिए। (1997)

उत्तर—(i) निर्वाचित होने की स्वतन्त्रता तथा (ii) सरकार की आलोचना करने की स्वतन्त्रता।

प्रश्न 5. स्वतन्त्रता के कोई दो रूप या प्रकार (भेद) लिखिए। (1987, 97)

उत्तर—(i) नागरिक स्वतन्त्रता तथा (ii) राष्ट्रीय स्वतन्त्रता।

प्रश्न 6. 'स्वतन्त्रता' नामक पुस्तक किसने लिखी? (1994)

उत्तर—जे. एस. मिल ने।

प्रश्न 7. स्वतन्त्रता की उपयोगिता (महत्व) के कोई दो बिन्दु बताइए।

उत्तर—(i) स्वतन्त्रता नैतिक गुणों के विकास में सहायक है तथा (ii) स्वतन्त्रता अधिकार दिलाने में सहायक है।

प्रश्न 8. समानता का वास्तविक अर्थ क्या है?

उत्तर—समानता का वास्तविक अर्थ है कि समाज के सभी व्यक्तियों का समान दर्जा हो तथा सभी को एक-समान सुविधाएँ प्राप्त हों।

प्रश्न 9. समानता के कोई दो प्रकार अथवा भेद लिखिए।

उत्तर—(i) राजनीतिक समानता तथा (ii) आर्थिक समानता।

प्रश्न 10. आर्थिक समानता से आपका क्या आशय है?

उत्तर—आर्थिक समानता का तात्पर्य है कि व्यक्ति की आय में इतना अधिक अन्तर नहीं होना चाहिए कि वह अपने धन के बल पर दूसरे लोगों के जीवन पर आधिपत्य जमा ले।

प्रश्न 11. छुआछूत के विरोधी किस प्रकार की समानता के पक्षधर हैं?

उत्तर—सामाजिक समानता के।

प्रश्न 12. कानून के समक्ष समानता से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—जब सभी के लिए बिना किसी भेद-भाव के समान कानून तथा समान न्यायालय होते हैं तब नागरिकों को कानूनी समानता प्राप्त होती है।

प्रश्न 13. समानता के अभाव में व्यक्तिगत स्वतन्त्रता के महत्त्वहीन होने के किसी एक कारण को लिखिए।

उत्तर—यदि समाज में असमानता होगी तो स्वतन्त्रता का उपयोग पूँजीपति तथा शक्तिशाली व्यक्ति ही कर सकेंगे। निर्बल व्यक्तियों की स्वतन्त्रता समाप्त हो जायेगी। इस आधार पर कहा जा सकता है कि समानता स्वतन्त्रता के अभाव में महत्त्वहीन है।

प्रश्न 14. समानता की किन्हीं दो विशेषताओं को इंगित कीजिए।

उत्तर—(i) आधारभूत आवश्यकताओं की पूर्ति तथा (ii) विशेष अधिकारों की अनुपस्थिति।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है? इसके विभिन्न प्रकारों का उल्लेख कीजिए। (1984, 2000)

2. "स्वतन्त्रता नियन्त्रणों का अभाव है।" इस कथन पर टिप्पणी लिखकर समझाइए। (1978, 85)
3. स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकारों का सविस्तार वर्णन कीजिए। (1998)
4. स्वतन्त्रता का अर्थ तथा उसके प्रकार बताइए। व्यक्ति एवं समाज के जीवन में स्वतन्त्रता का क्या महत्त्व है? (1989)
5. स्वतन्त्रता पर एक संक्षिप्त निबन्ध अथवा लेख लिखिए। (1990, 2000)
6. स्वतन्त्रता की परिभाषा कीजिए तथा विधि के साथ उसका सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
7. स्वतन्त्रता एवं समानता में सम्बन्धों की व्याख्या कीजिए। (1983)
8. स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट कीजिए। समानता से इसका क्या सम्बन्ध है? (1983)
9. स्वतन्त्रता की अवधारणा की व्याख्या कीजिए तथा स्वतन्त्रता एवं समानता के सम्बन्धों का परीक्षण कीजिए। (1988, 93)
10. स्वतन्त्रता से आप क्या समझते हैं? क्या स्वतन्त्रता और समानता परस्पर विरोधी हैं? विवेचना कीजिए। (1997)
11. समानता का अर्थ स्पष्ट कीजिए। इसके कितने प्रकार होते हैं? (1976)
12. समानता क्या है? अवसर की समानता का क्या अर्थ है? (1996)
13. समानता की परिभाषा कीजिए तथा स्वतन्त्रता से इसका सम्बन्ध बताइए। (1997)
14. टिप्पणी लिखिए—
    (i) आर्थिक स्वतन्त्रता (1973, 91)
    (ii) समानता (1975)
    (iii) स्वतन्त्रता,
    (iv) आर्थिक समानता (1987)
    (v) स्वतन्त्रता की आवश्यकता और रूप (2000)
    (vi) समानता के विविध रूप (2000)
    (vii) लोकतन्त्र और समानता। (2000)

●●

10

संविधान तथा उसका वर्गीकरण

[CONSTITUTION AND ITS CLASSIFICATION]

"संविधान वह आधारभूत कानून है जिसमें सरकार के स्वरूप का उल्लेख होता है, उसके विविध अंगों के बीच सम्बन्धों एवं सरकार तथा नागरिकों के बीच सम्बन्धों का निरूपण किया जाता है और नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया जाता है।" —*ऑग एवं जिंक*

संविधान की आवश्यकता

(NECESSITY OF CONSTITUTION)

प्रत्येक देश की शासन व्यवस्था कुछ आधारभूत नियमों और सिद्धान्तों पर आधारित होती है। इन नियमों एवं सिद्धान्तों के संग्रह को ही संविधान कहते हैं। किसी भी देश का शासन बिना संविधान के सुचारु रूप से संचालित नहीं हो सकता। जेलीनेक के अनुसार, **"संविधान विहीन राज्य, राज्य नहीं है, उसे तो अराजकता का साम्राज्य कहना उचित होगा।"**

वर्तमान समय में प्रत्येक राज्य में संविधान को परमावश्यक समझा जाता है। विशेषतया, प्रजातन्त्रात्मक शासन-प्रणाली के लिए संविधान अनिवार्य है। यह शासन के ऊपर एक अंकुश है। इसकी आवश्यकता को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) संविधान सरकार के विभिन्न अंगों पर नियन्त्रण स्थापित करता है तथा उन्हें निरंकुश होने से रोकता है।

(2) किसी भी राज्य के स्वरूप को संविधान के अस्तित्व से ही निश्चित किया जा सकता है।

(3) संविधान एक दर्पण के समान है जिसमें उस देश की समस्त परिस्थितियों की झलक दिखाई देती है।

(4) संविधान के होने से जनता एवं शासक वर्ग का प्रत्येक सदस्य अपने कर्त्तव्यों और अधिकारों का ज्ञान रखता है।

(5) संविधान एक अटल नक्षत्र के समान है क्योंकि यह शासक वर्ग को निरन्तर दिशा-निर्देश देता है तथा उसका मार्ग-दर्शन करता है।

संविधान : अर्थ और परिभाषा

(CONSTITUTION : MEANING AND DEFINITION)

'संविधान' अँग्रेजी भाषा के 'कॉन्स्टीट्यूशन' (Constitution) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अँग्रेजी भाषा में 'कॉन्स्टीट्यूशन' शब्द का प्रयोग मानव-शरीर के ढाँचे या उसकी

बनावट के लिए किया जाता है। जिस प्रकार मानव-शरीर के सम्बन्ध में 'कॉन्स्टीट्यूशन' का अर्थ शरीर के ढाँचे एवं संगठन से होता है, उसी प्रकार नागरिकशास्त्र में 'कॉन्स्टीट्यूशन' का अर्थ राज्य के ढाँचे तथा संगठन से होता है। विभिन्न विद्वानों ने संविधान की परिभाषाएँ दी हैं जिनमें से कुछ महत्त्वपूर्ण परिभाषाएँ निम्नलिखित हैं—

ब्राइस के अनुसार, "संविधान ऐसे निश्चित नियमों का संग्रह होता है जिनमें सरकार की कार्यप्रणाली का उल्लेख और निर्देशन होता है।"[1]

लास्की के शब्दों में, "नियमों का वह भाग संविधान है जिसके द्वारा यह निश्चित होता है कि (अ) ऐसे नियम कैसे बनाये जायें, (ब) कैसे बदले जायें, और (स) उन्हें कौन बनाये।"[2]

ऑस्टिन का विचार है कि "संविधान उन नियमों को कहते हैं जो सर्वोच्च संगठन के गठन को निर्धारित करते हैं।"[3]

डायसी के अनुसार, "संविधान उन समस्त नियमों का संग्रह है जिनका राज्य की प्रभुत्व सत्ता के प्रयोग अथवा वितरण पर प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से प्रभाव पड़ता है।"[4]

गैटिल के शब्दों में, "वे मौलिक सिद्धान्त जिनके द्वारा किसी राज्य का स्वरूप निर्धारित होता है, संविधान कहलाते हैं।"[5]

गिलक्राइस्ट के अनुसार, "संविधान उन लिखित या अलिखित नियमों अथवा कानूनों का समूह होता है जिनके द्वारा सरकार का गठन, सरकार की शक्तियों का विभिन्न अंगों में वितरण और इन शक्तियों के प्रयोग के सामान्य सिद्धान्त निश्चित किये जाते हैं।"[6]

लेविस के शब्दों में, "संविधान से तात्पर्य राज्य के ढाँचे से अथवा राज्य में राज्य सत्ता के प्रबन्ध अथवा वितरण से है।"[7]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर 'संविधान' से निम्न बातें प्रकट होती हैं—

(1) संविधान लिखित अथवा अलिखित नियमों एवं कानूनों का संग्रह है।

(2) संविधान द्वारा स्पष्ट होता है कि सरकार के विभिन्न अंगों की शक्तियाँ, कार्यप्रणाली और उनका पारस्परिक सम्बन्ध क्या होगा।

(3) संविधान राज्य में प्रभुसत्ता की स्थिति का परिचय देता है।

(4) यह राज्य एवं व्यक्ति के सम्बन्धों, अधिकारों तथा स्वतन्त्रताओं को निश्चित करता है।

---

1 "A constitution is a set of established rules embodying and directing practice of government." —Bryce

2 "That portion of the rules, which settles (a) how such rules are to be made, (b) the manner in which they are to be changed and (c) who are to make them, is called the constitution of the state." —Laski

3 "The constitution is that which fixes the structure of the supreme government." —Austin

4 "All rules which directly or indirectly affect the distribution or the exercise of sovereign power in the state, make up the constitution of the state." —Dicey

5 "The fundamental principles that determine the form of a state are called constitution." —Gettell

6 "The constitution is that body of rules or laws, written or unwritten, which determines the organisation of governments, the distribution of the powers of the various organs of government and the general principles on which these powers are to be exercised." —Gilchrist

7 "The term 'constitution' signifies the arrangement and distribution of powers in community or form of government." —Lewis

इस प्रकार सरकार के विभिन्न अंगों के संगठन और शासक वर्ग के अधिकारों और कर्त्तव्यों के सम्बन्ध में निश्चित नियमों की आवश्यकता होती है। साधारणतया इस प्रकार की नियमावली को ही संविधान कहते हैं।

संविधानों का वर्गीकरण
(CLASSIFICATION OF CONSTITUTION)

अनेक विद्वानों ने विभिन्न आधारों पर संविधानों का वर्गीकरण किया है। इनका संक्षिप्त विवरण निम्नलिखित है—

(अ) प्रथाओं और कानूनों के अस्तित्व के आधार पर—इस आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं—लिखित संविधान तथा अलिखित संविधान।

> **संविधानों का वर्गीकरण**
> * प्रथाओं और कानूनों के अस्तित्व के आधार पर
> * संविधान की उत्पत्ति के आधार पर
> * संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर

लिखित संविधान—लिखित संविधान वह होता है जिसमें शासन सम्बन्धी अधिकांश नियम एक अथवा अनेक लेख-पत्रों में संकलित होते हैं। यह संविधान जनता के प्रतिनिधियों द्वारा निर्मित किया जाता है और एक निश्चित प्रक्रिया के आधार पर उसमें संशोधन भी किये जा सकते हैं। भारत, अमेरिका, फ्रांस एवं चीन के संविधान सहित विश्व के अधिकांश देशों के संविधान लिखित हैं। अप्पादोराय के शब्दों में, **"एक लिखित संविधान उसे कहा जा सकता है जिसमें शासन के संगठन, उसकी विभिन्न शाखाओं की शक्तियों के मूलभूत सिद्धान्त किसी लेख में लिखे जाते हैं।"**

अलिखित संविधान—इस संविधान में अधिकांश नियम अलिखित होते हैं। अलिखित संविधान अभिसमयों, परम्पराओं तथा न्यायालय के निर्णयों के आधार पर विकसित होते हैं। इस प्रकार के संविधान का विकास धीरे-धीरे होता है। अलिखित संविधान का महत्त्वपूर्ण उदाहरण **ब्रिटिश संविधान** है।

लिखित संविधान के गुण—लिखित संविधान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

(1) निश्चित और स्पष्ट—लिखित संविधान निश्चित और स्पष्ट होता है। यह सुनिर्धारित चिन्तन का परिणाम होते हैं तथा इसका मूल एवं अधिकांश भाग एक आलेख के रूप में होता है। लिखित होने के कारण अधिक विवाद और जटिलताएँ उत्पन्न नहीं होती हैं।

> **लिखित संविधान के गुण**
> * निश्चित और स्पष्ट
> * अधिकारों की रक्षा
> * सम्मान का पात्र
> * सुस्थिरता
> * संघात्मक शासन हेतु उपयुक्त

(2) अधिकारों की रक्षा—इसके अन्तर्गत नागरिकों के अधिकार सुरक्षित रहते हैं तथा नागरिक शासन की निरंकुशता एवं अत्याचार से बच जाते हैं। इसके अलावा नागरिक संविधान के प्रति निष्ठा की भावना रखते हैं।

(3) सम्मान का पात्र—लिखित संविधान के प्रति नागरिकों में श्रद्धा, भावात्मक लगाव एवं सम्मान की भावना रहती है तथा वह आसानी से संविधान के विरुद्ध कार्य नहीं करते।

(4) सुस्थिरता—लिखित संविधान में सुगमता से परिवर्तन नहीं होता अतः इसमें सुस्थिरता होती है। इसके फलस्वरूप राजनीतिक जीवन में होने वाली अनावश्यक उथल-पुथल की सम्भावनाएँ नहीं रहती हैं।

(5) संघात्मक शासन हेतु उपयुक्त—संघात्मक राज्यों हेतु लिखित संविधान अनिवार्य होता है क्योंकि इसके द्वारा संघ सरकार तथा उसकी इकाइयों के मध्य शक्तियों का विभाजन कर दिया जाता है। संविधान के लिखित होने से संघ सरकार एवं राज्यों के बीच विवाद की सम्भावनाएँ कम ही रहती हैं।

लिखित संविधान के दोष—इस संविधान में निम्न दोष पाये जाते हैं—

(1) देश की प्रगति में बाधक—लिखित संविधान प्रायः जटिल होता है और समय की गति के अनुसार उसमें सुगमतापूर्वक परिवर्तन नहीं किये जा सकते। प्रत्येक राज्य के सामाजिक और आर्थिक जीवन तथा राजनीतिक और नैतिक आदर्श तीव्रगति से परिवर्तित होते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि आवश्यकतानुसार संविधान में परिवर्तन नहीं हो पाता। इससे देश के विकास में अवरोध उत्पन्न हो जाता है।

लिखित संविधान के दोष
* देश की प्रगति में बाधक
* संकटकाल हेतु अनुपयुक्त
* वाद-विवाद का विषय
* क्रान्ति की सम्भावना
* अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक नहीं

(2) संकटकाल हेतु अनुपयुक्त—लिखित संविधान संकटकाल हेतु अनुपयुक्त है क्योंकि इसमें शीघ्र संशोधन नहीं किया जा सकता तथा इस प्रकार संकटकाल का सामना करने में बाधा उत्पन्न होती है।

(3) वाद-विवाद का विषय—लिखित संविधान में आसानी से परिवर्तन नहीं हो पाते। इस कारण संविधान के किसी पहलू को लेकर विवाद खड़े हो जाते हैं तथा संविधान वाद-विवाद का विषय बन जाता है।

(4) क्रान्ति की सम्भावना—इस संविधान में लचीलेपन का अभाव होता है तथा यह संकटकाल के लिए अनुपयुक्त होता है। अतः यह जनता में असन्तोष को जन्म देता है तथा इसके फलस्वरूप क्रान्ति अथवा विद्रोह की सम्भावना बन जाती है।

(5) अधिकारों की रक्षा के लिए आवश्यक नहीं—नागरिकों के अधिकारों की रक्षा के लिए यह संविधान आवश्यक नहीं है। इंग्लैण्ड में अलिखित संविधान है लेकिन वहाँ के व्यक्ति अपने अधिकारों का समुचित रूप से उपयोग करते हैं अर्थात् उनके अधिकार सुरक्षित हैं। वास्तव में, नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए लिखित संविधान की अपेक्षा स्वतन्त्र न्यायपालिका राजनीतिक चेतना, सशक्त विरोधी दल तथा निर्भीक प्रेस की आवश्यकता अधिक होती है।

अलिखित संविधान के गुण—अलिखित संविधान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

(1) परिवर्तनशीलता—अलिखित संविधान परिस्थिति, एवं आवश्यकतानुसार सरलता से परिवर्तित किये जा सकते हैं। अतः यह राष्ट्र की प्रगति में सहायक होते हैं। ब्राइस के अनुसार, "अलिखित संविधान बिना उसके ढाँचे को नष्ट किये इच्छानुसार झुकाये या खींचे जा सकते हैं।"

(2) बुद्धि एवं अनुभव का संग्रह—अलिखित संविधान विकास की एक लम्बी प्रक्रिया का परिणाम होते हैं इस कारण उनमें अनेक पीढ़ियों की राजनीतिक सूझ-बूझ एवं अनुभवों का संग्रह होता है।

(3) संकट का सामना करने में सफल—अलिखित संविधान संकटकाल में अत्यन्त उपयोगी होते हैं क्योंकि संकट के समय संविधान के नियमों को संकट के अनुरूप सरलता से बदला जा सकता है। गार्नर के शब्दों में, "ऐसा संविधान आघातों से हानि के बिना शीघ्र सँभल जाता है। यदि लिखित संविधान को इतनी चोट पहुँचती है तो उसका सँभलना कठिन हो जाता है।"

अलिखित संविधान के गुण
* परिवर्तनशीलता
* बुद्धि एवं अनुभव का संग्रह
* संकट का सामना करने में सफल
* क्रान्ति से रक्षा
* प्रगतिशील संविधान

(4) क्रान्ति से रक्षा—अलिखित संविधान देश की विद्रोहों तथा क्रान्ति से रक्षा करता है क्योंकि इसे जनमत के अनुसार परिवर्तित किया जा सकता है।

(5) प्रगतिशील संविधान—अलिखित संविधान अपेक्षाकृत अधिक प्रगतिशील होता है। यह देश के राजनीतिक जीवन को प्रगति के मार्ग की ओर ले जाकर गतिशील बनाये रखता है। यह संविधान जन-भावनाओं के अनुरूप चलता है और राष्ट्र की प्रगति में सहायक होता है।

अलिखित संविधान के दोष—अलिखित संविधान के निम्न दोष हैं—

(1) अनिश्चित एवं अस्पष्ट—यह संविधान परम्पराओं पर आधारित होता है। अतः यह अनिश्चित एवं अस्पष्ट रहता है तथा इसकी व्याख्या में कठिनाई उत्पन्न होती है। उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में अलिखित संविधान में यह परम्परा तो है कि संसद के कुछ विशेषाधिकार होते हैं। लेकिन ये अधिकार कौन-से हैं, यह कोई नहीं जानता क्योंकि वे कहीं भी व्यवस्थित रूप से लिखे नहीं गये।

अलिखित संविधान के दोष
* अनिश्चित एवं अस्पष्ट
* मौलिक अधिकारों का अभाव
* न्यायालयों के हाथों का खिलौना
* बहुमत दल की निरंकुशता
* संघात्मक राज्यों हेतु अनुपयुक्त

(2) मौलिक अधिकारों का अभाव—अलिखित संविधान के अन्तर्गत नागरिकों के अधिकारों की कोई निश्चित व्यवस्था नहीं होती है। इस प्रकार के संविधान के अन्तर्गत जनता अपने अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं को असुरक्षित समझती है।

(3) न्यायालयों के हाथों का खिलौना—इस संविधान को न्यायालयों के हाथों का खिलौना भी कहा गया है क्योंकि संविधान अलिखित होने के कारण न्यायाधीशों को संविधान की व्याख्या करने में बहुत अधिक स्वतन्त्रता प्राप्त हो जाती है।

(4) बहुमत दल की निरंकुशता—साधारणतया अलिखित संविधान में बहुमत से परिवर्तन हो जाते हैं। अतः यह आशंका सदैव बनी रहती है कि बहुमत दल संविधान में इच्छानुसार परिवर्तन करके अपनी निरंकुशता स्थापित न कर ले।

(5) संघात्मक राज्यों हेतु अनुपयुक्त—यह संविधान संघ शासन के लिए पूर्णतया अनुपयुक्त होता है क्योंकि संघ राज्यों में केन्द्र एवं इकाइयों के बीच शक्ति का स्पष्ट विभाजन बहुत आवश्यक है और वह सिर्फ लिखित संविधान के द्वारा ही सम्भव है।

(ब) संविधान की उत्पत्ति के आधार पर—उत्पत्ति के आधार पर संविधान दो प्रकार के होते हैं—विकसित तथा निर्मित संविधान।

विकसित संविधान—विकसित संविधान किसी निश्चित समय पर किसी सभा अथवा व्यक्ति द्वारा नहीं बनाया जाता है वरन् इसका विकास ऐतिहासिक आधारों पर होता है। इसके विकास में देश की परम्पराओं, अभिसमयों इत्यादि का विशेष योगदान रहता है। जेम्स माकिन्तोश के शब्दों में, **"संविधान बनाये नहीं जाते बल्कि उनका विकास होता है।"** ब्रिटिश संविधान इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है।

निर्मित संविधान—यह वह संविधान है जिसका निर्माण एक निश्चित समय पर संविधान सभा अथवा संविधानवेत्ताओं द्वारा किया जाता है। यह संविधान लिखित एवं कठोर होते हैं। लेकिन इनका भी निर्माण के बाद विकास होता है। भारत एवं अमेरिका का संविधान इसका अच्छा उदाहरण हैं।

(स) संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर—इस आधार पर भी संविधान दो प्रकार के होते हैं—लचीला अथवा नमनीय संविधान एवं कठोर अथवा अनमनीय संविधान।

लचीला अथवा नमनीय अथवा परिवर्तनशील संविधान—लचीला संविधान वह होता है जिसमें सामान्य प्रक्रिया के आधार पर ही संशोधन किये जा सकते हैं। यह संविधान लिखित भी हो सकता है तथा अलिखित भी। डायसी के शब्दों में, **"लचीला संविधान वह है जिसमें प्रत्येक प्रकार के कानून में एक ही प्रक्रिया तथा एक संस्था द्वारा सुगमता के साथ कानूनी परिवर्तन लाया जा सकता है।"** गार्नर ने कहा है, **"लचीला संविधान वह है जिसको साधारण कानून से अधिक शक्ति एवं सत्ता प्राप्त नहीं है और जो साधारण कानून की भाँति ही बदला जा सकता है, चाहे वह एक प्रलेख या अधिकांशतः परम्पराओं के रूप में हो।"**

कठोर अथवा अनमनीय अथवा अपरिवर्तनशील संविधान—कठोर संविधान में परिवर्तन अथवा संशोधन एक निश्चित एवं विशेष प्रक्रिया के आधार पर ही किया जाता है। डायसी के शब्दों में, **"कठोर संविधान वह है जिसमें कुछ कानूनों में, जिन्हें संवैधानिक कानून कहते हैं, साधारण कानून की तरह परिवर्तन नहीं लाया जा सकता।"** गार्नर के अनुसार, **"जो संविधान साधारण कानून के विपरीत किसी पृथक् स्रोत से उत्पन्न होते हैं और कानूनी दृष्टि से उच्च होते हैं और जिनके संशोधन की प्रक्रिया भी भिन्न प्रकार की होती है वे कठोर संविधान कहलाते हैं।"** अमेरिका का संविधान इसका सर्वोत्तम उदाहरण है।

लचीले संविधान के गुण—लचीले अथवा नमनीय संविधान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

(1) संकटकाल हेतु उपयुक्त—इस संविधान में आपातकाल में सरलता एवं शीघ्रतापूर्वक परिवर्तन किये जा सकते हैं। इसका उल्लेख करते हुए लॉर्ड ब्राइस ने लिखा है, **"लचीले संविधान बिना उसके ढाँचे का विनाश किये इच्छा के अनुसार झुकाये या खींचे जा सकते हैं और जब संकट टल जाता है तो वे अपने पुराने रूप को उस वृक्ष की भाँति प्राप्त कर लेते हैं जिसकी बाहरी शाखाओं को ऊँचे वाहन को निकलने देने के लिए एक ओर खींच दिया गया हो।"**[1]

---

1 "Flexible constitution can be stretched or bent so as to meet emergencies without breaking their framework and when the emergency has passed they slip back into their old form like a tree whose outer branches have been pulled aside to let a vehicle pass."
—*Lord Bryce*

(2) परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन—इस संविधान का सबसे बड़ा गुण यह है कि परिस्थितियों एवं आवश्यकताओं के अनुरूप उसे सरलता से परिवर्तित किया जा सकता है। इस प्रकार राष्ट्रीय जीवन में जैसे-जैसे सामाजिक एवं धार्मिक परिवर्तन होते हैं वैसे-वैसे राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप संविधान में भी परिवर्तन कर दिये जाते हैं।

लचीले संविधान के गुण
* संकटकाल हेतु उपयुक्त
* परिस्थितियों के अनुरूप परिवर्तन
* विद्रोह का भय नहीं
* राष्ट्र की चेतना का दर्पण

(3) विद्रोह का भय नहीं—इस संविधान में विद्रोह का भय नहीं रहता। संविधान में परिवर्तन लाने हेतु हिंसा अथवा रक्तपात का सहारा नहीं लेना पड़ता। इस सम्बन्ध में फ्रीमैन ने ब्रिटिश संविधान की प्रशंसा करते हुए कहा है कि **"व्यक्तियों का राष्ट्रीय जीवन चौदह सौ वर्षों से निरन्तर क्रमिक रूप से प्रवाहित हो रहा है। विदेशी विजयों तथा आन्तरिक विप्लवों का भी इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा है। अतीत से वर्तमान के निरन्तर प्रवाह में किसी भी समय सम्पूर्ण रूप से बाधा नहीं पड़ी है।"**

(4) राष्ट्र की चेतना का दर्पण—यह संविधान जनता के बौद्धिक एवं भावात्मक विकास के साथ स्वतः ही परिवर्तित होता रहता है। इस प्रकार वह राष्ट्रीय विचारों एवं भावनाओं का प्रभावशाली प्रतिनिधित्व करता है। इस गुण के कारण इसे राष्ट्र की चेतना का दर्पण कहते हैं।

लचीले संविधान के दोष—लचीले संविधान में कुछ दोष भी होते हैं जो इस प्रकार से हैं—

(1) अनिश्चित एवं अस्पष्ट—लचीले संविधान अनिश्चित एवं अस्पष्ट होते हैं। इनमें बड़ी जल्दी-जल्दी परिवर्तन होते हैं। कभी-कभी तो परिवर्तन के कारण संविधान की मूल भावना ही नष्ट हो जाती है।

लचीले संविधान के दोष
* अनिश्चित एवं अस्पष्ट
* नागरिक अधिकार अपेक्षाकृत कम सुरक्षित
* राजनीतिक दलों के हाथ का खिलौना
* संघात्मक शासन हेतु उपयुक्त नहीं

(2) नागरिक अधिकार अपेक्षाकृत कम सुरक्षित—इस संविधान के कारण नागरिकों के अधिकार अपेक्षाकृत कम सुरक्षित होते हैं क्योंकि अधिकारी वर्ग कानूनों का मनमाना अर्थ निकालकर नागरिक अधिकारों को कुचल सकते हैं।

(3) राजनीतिक दलों के हाथ का खिलौना—संविधान में बार-बार परिवर्तन के परिणामस्वरूप देश में राजनीतिक दलबन्दी को बढ़ावा मिलता है जो राष्ट्रहित के लिए घातक सिद्ध हो सकती है। इसके अतिरिक्त, लचीला संविधान प्रायः राजनीतिक दलों के हाथ का खिलौना बन जाता है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, **"लचीला संविधान सदैव परिवर्तित होने की दिशा में रहता है।"** हरमन फाइनर ने कहा है कि **"लचीला संविधान राजनीतिक दलों और प्रभावशाली राजनीतिक नेताओं के हाथ का ख़िलौना बन जाता है।"**

(4) संघात्मक शासन हेतु उपयुक्त नहीं—लचीला संविधान संघात्मक शासन हेतु उपयुक्त नहीं है। संघात्मक शासन की मूलभूत विशेषता केन्द्र एवं राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का विभाजन है। इस संविधान में इस प्रकार के शक्ति विभाजन की सुरक्षा सम्भव नहीं है।

कठोर संविधान के गुण—कठोर संविधान में निम्नलिखित गुण पाये जाते हैं—

(1) स्थायी एवं निश्चित—कठोर संविधान स्थायी एवं निश्चित होता है जिसमें सरलतापूर्वक संशोधन नहीं किया जा सकता और यदि इसमें संशोधन की आवश्यकता हो तो संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया अपनायी जाती है।

कठोर संविधान के गुण
* स्थायी एवं निश्चित
* अधिकारों की सुरक्षा
* संविधान के सम्मान में वृद्धि
* संघात्मक राज्यों के लिए आवश्यक
* अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त

(2) अधिकारों की सुरक्षा—कठोर संविधान आवश्यक रूप से लिखित होता है तथा नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों का इसमें स्पष्ट उल्लेख रहता है। कोई भी शासन अपनी महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति के लिए इन अधिकारों का हनन नहीं कर सकता।

(3) संविधान के सम्मान में वृद्धि—जिन देशों में कठोर संविधान पाया जाता है उनमें राजनीतिक स्थायित्व, नागरिक अधिकारों की सुरक्षा, न्यायालय द्वारा संरक्षण आदि विशेषताएँ होती हैं जिसके परिणामस्वरूप इस संविधान के प्रति नागरिकों में पवित्रता तथा सम्मान का भाव पाया जाता है।

(4) संघात्मक राज्यों के लिए आवश्यक—संघात्मक राज्यों के लिए कठोर संविधान आवश्यक होता है क्योंकि इसमें केन्द्र सरकार और राज्य सरकारों के मध्य शक्ति वितरण को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त होता है।

(5) अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त—कठोर संविधान में संशोधन के लिए एक विशेष प्रक्रिया होती है। अतः यह राजनीतिक दलों के अनावश्यक हस्तक्षेप से मुक्त रहता है। इस प्रकार कठोर संविधान के फलस्वरूप देश के राजनीतिक जीवन में स्थिरता रहती है।

कठोर संविधान के दोष—कठोर संविधान में निम्नलिखित दोष पाये जाते हैं—

(1) प्रगति में बाधक—इस संविधान का प्रमुख दोष यह है कि यह प्रगति के मार्ग में बाधक सिद्ध होता है क्योंकि इसमें प्रगतिशील परिस्थितियों के अनुकूल सरलतापूर्वक परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार यह संविधान व्यक्तित्व के भावी विकास में बाधक सिद्ध होता है। गार्नर ने लिखा है कि **"कठोर संविधान व्यक्ति के उज्ज्वल भविष्य एवं उसके चतुर्मुखी विकास का ध्यान किये बिना ही हमेशा के लिए एक पोशाक फिट कर देने के समान है।"**

कठोर संविधान के दोष
* प्रगति में बाधक
* संकटकाल में उपयोगी नहीं
* क्रान्ति का भय
* न्यायपालिका की निरंकुशता
* जटिलता

(2) संकटकाल में उपयोगी नहीं—आपातकाल में किसी समय संविधान में परिवर्तन की आवश्यकता पड़ सकती है। लेकिन कठोर संविधान में शीघ्रता से परिवर्तन नहीं किया जा सकता है। इस प्रकार यह संविधान संकटकाल में उपयोगी नहीं है।

(3) क्रान्ति का भय—इस संविधान में क्रान्ति की सम्भावनाएँ बनी रहती हैं क्योंकि इसे जनता की इच्छाओं के अनुरूप परिवर्तित नहीं किया जा सकता। लॉर्ड मैकाले ने लिखा है, **"क्रान्ति का एक महान् कारण यह है कि राष्ट्र बहुत आगे बढ़ते जाते हैं परन्तु संविधान स्थिर रहते हैं।"**

(4) **न्यायपालिका की निरंकुशता**—कठोर संविधान में न्यायपालिका के अधिकार विस्तृत होते हैं। अतः इसके फलस्वरूप न्यायपालिका के निरंकुश बनने की आशंका रहती है। कठोर संविधान के सम्बन्ध में लास्की का विचार है कि "न्यायाधीश इतने शक्तिशाली तथा सशक्त बन जाते हैं कि जनता का प्रतिनिधित्व करने वाली व्यवस्थापिका की इच्छाओं को भी पैरो तले रौंद सकते हैं।"

(5) **जटिलता**—कठोर संविधान की भाषा दुरूह तथा जटिल होती है, जिसके कारण साधारण जनता संविधान के नियमों को समझने में असमर्थ रहती है तथा इस प्रकार का संविधान वकीलों के हाथों की कठपुतली बन जाता है।

लचीले एवं कठोर संविधान में अन्तर
(DISTINCTION BETWEEN FLEXIBLE AND RIGID CONSTITUTION)

सी. एफ. स्ट्रांग ने लचीले एवं कठोर संविधान में अन्तर करते हुए लिखा है, "दोनों प्रकार के संविधानों में वास्तविक अन्तर इस बात पर निर्भर करता है कि संवैधानिक कानून बनाने की प्रक्रिया में तथा साधारण कानून बनाने की प्रक्रिया में कोई अन्तर है या नहीं।"[1] दोनों संविधानों में अन्तर को निम्न प्रकार स्पष्ट कर सकते हैं—

(1) **साधारण कानून एवं संवैधानिक कानून की स्थिति में अन्तर**—कठोर संविधान में साधारण कानून एवं संवैधानिक कानून की स्थिति में अन्तर किया जाता है। इसमें साधारण कानून की तुलना में संवैधानिक कानून को उच्च स्थिति प्राप्त होती है एवं ऐसा कोई भी कानून नहीं बनाया जा सकता जो संवैधानिक कानून के विरुद्ध हो। लेकिन लचीले संविधान में साधारण कानून एवं संवैधानिक कानून दोनों को ही एक जैसी स्थिति तथा महत्त्व प्राप्त होता है।

लचीले एवं कठोर संविधान में अन्तर
* साधारण कानून एवं संवैधानिक कानून की स्थिति में अन्तर
* संशोधन प्रक्रिया में अन्तर
* प्रभुसत्ता के निवास का अन्तर
* न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार में अन्तर
* लेखबद्धता का अन्तर

(2) **संशोधन प्रक्रिया में अन्तर**—लचीले संविधान में संसद को संविधान में संशोधन करने का अधिकार होता है तथा यह सामान्य कानून द्वारा ही संविधान में किसी भी प्रकार का संशोधन कर सकती है जबकि कठोर संविधान में संवैधानिक संशोधन का अधिकार संसद सभा से किसी उच्चतर संस्था को प्राप्त होता है तथा वह सामान्य कानून पारित करने की प्रक्रिया से भिन्न कठोर प्रक्रिया का प्रयोग करके संविधान में संशोधन कर सकती है।

(3) **प्रभुसत्ता के निवास का अन्तर**—लचीले संविधान में प्रभुसत्ता का निवास संसद में होता है तथा संसद की सर्वोच्चता स्वीकार की जाती है जबकि कठोर संविधान में प्रभुसत्ता का निवास सदैव संविधान में होता है तथा संविधान की सर्वोच्चता स्वीकार की जाती है।

(4) **न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार में अन्तर**—कठोर संविधान में सामान्यतया न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त होता है परन्तु लचीले संविधान में संसद सर्वोच्च होती है तथा न्यायपालिका को न्यायिक पुनरावलोकन का अधिकार प्राप्त नहीं होता।

---

1 "The real basis of distinction between the two types is whether the process of constitutional law-making is or is not identical with the process of ordinary law-making." —*C. F. Strong*

(5) लेखबद्धता का अन्तर—कठोर संविधान आवश्यक रूप से लिखित एवं निर्मित होते हैं जबकि लचीले संविधान अलिखित एवं विकसित होते हैं।

आदर्श अथवा उत्तम संविधान के लक्षण
(CHARACTERISTICS OF AN IDEAL CONSTITUTION)

साधारणतया संविधान वही श्रेष्ठ है जो अपने देश की आवश्यकताओं की अधिक से अधिक पूर्ति करे। एक आदर्श संविधान में निम्नलिखित गुणों का होना आवश्यक है—

(1) स्पष्टता—एक उत्तम संविधान का पहला गुण यह है कि वह इतनी सरल एवं स्पष्ट भाषा में लिखा हो कि उसे प्रत्येक व्यक्ति पढ़ सके तथा समझ सके। संविधान जितना अधिक स्पष्ट एवं निश्चित होगा वह उतना ही अधिक श्रेष्ठ होगा।

आदर्श संविधान के लक्षण
* स्पष्टता
* लचीलापन
* संक्षिप्तता
* व्यापकता
* मौलिक अधिकारों की घोषणा
* सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल

(2) लचीलापन—संविधान को लचीला होना चाहिए ताकि समय एवं आवश्यकतानुसार उसमें सरलतापूर्वक संशोधन किया जा सके।

(3) संक्षिप्तता—एक अच्छा संविधान लिखित एवं संक्षिप्त भी होना चाहिए। उसमें अनावश्यक बातों का उल्लेख नहीं होना चाहिए। लेकिन संविधान इतना संक्षिप्त भी नहीं होना चाहिए कि उसमें वांछित गुणों का अभाव प्रकट होने लगे।

(4) व्यापकता—संविधान व्यापक होना चाहिए। उसमें नागरिकों के मूल अधिकारों की स्पष्टता के साथ ही साथ शासन के विभिन्न अंगों—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका इत्यादि के संगठन, उनके कार्य एवं शक्तियों का भी विस्तृत वर्णन होना चाहिए। **गैटिल के अनुसार, "संविधान को व्यापक होना चाहिए अर्थात् सम्पूर्ण सरकारी क्षेत्र इसके अन्दर आ जाये, कम से कम समस्त राजनीतिक शक्तियों के प्रयोग का प्रबन्ध तथा राज्य के मूलभूत संगठन का खाका तैयार कर लेना चाहिए।"**

(5) मौलिक अधिकारों की घोषणा—संविधान में नागरिकों के मौलिक अधिकारों का पर्याप्त स्पष्टीकरण होना चाहिए। अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या होने से सरकार का कोई भी अंग नागरिकों के अधिकारों का अपहरण नहीं कर सकता। गिलक्राइस्ट के अनुसार, **"जिन संविधानों में स्वतन्त्रता सम्बन्धी मौलिक अधिकारों का उल्लेख किया जाता है, साथ ही उनके संरक्षण की न्यायिक व्यवस्था भी कर दी जाती है, वे संविधान 'सर्वश्रेष्ठ' हैं।"**

(6) सामाजिक परिस्थितियों के अनुकूल—प्रत्येक देश की शासन-प्रणाली अपनी सामाजिक एवं आर्थिक परिस्थितियों से प्रभावित होती है। इस प्रकार संविधान नागरिकों की सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक दशाओं के अनुकूल होना चाहिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. उत्पत्ति के आधार पर संविधानों का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—(1) विकसित संविधान तथा (2) निर्मित संविधान।

प्रश्न 2. संविधान की कोई एक परिभाषा लिखिए। *(1992)*

उत्तर—ब्राइस के शब्दों में, **"संविधान निश्चित नियमों का वह संग्रह है जो शासन के स्वरूप तथा तत्सम्बन्धी नागरिकों के अधिकारों तथा कर्तव्यों को निश्चित करते हैं।"**

प्रश्न 3. संविधान की परिवर्तनशीलता के आधार पर संविधान का वर्गीकरण कीजिए।

उत्तर—(1) कठोर संविधान एवं (2) लचीला संविधान।

प्रश्न 4. संविधान में प्रथाओं तथा कानूनों के अनुपात के आधार पर संविधानों का वर्गीकरण बताइए।

उत्तर—(1) लिखित संविधान तथा (2) अलिखित संविधान।

प्रश्न 5. अलिखित संविधान के दो गुणों के सिर्फ नाम बताइए।

उत्तर—(1) क्रान्ति की सम्भावना नहीं तथा (2) संकटकाल के लिए उत्तम।

प्रश्न 6. अच्छे संविधान के चार आवश्यक लक्षण बताइए। (1989, 90)

उत्तर—(1) स्पष्टता, (2) निश्चितता, (3) संक्षिप्तता तथा (4) व्यापकता।

प्रश्न 7. अपरिवर्तनशील संविधान के किसी एक गुण का वर्णन कीजिए।

उत्तर—अनावश्यक परिवर्तनों से रहित।

प्रश्न 8. संघात्मक संविधान का एक लक्षण बताइए।

उत्तर—दोहरी सरकारें होना—प्रथम, केन्द्र की तथा द्वितीय, राज्यों की।

प्रश्न 9. लचीले एवं कठोर संविधान में दो अन्तर स्पष्ट कीजिए। (1997, 98)

उत्तर—(1) संशोधन प्रक्रिया में अन्तर तथा (2) न्यायिक पुनरावलोकन के अधिकार में अन्तर।

प्रश्न 10. लचीले संविधान के दो प्रमुख गुण बताइए। (1989, 92, 93, 95)

उत्तर—(1) लचीला संविधान प्रगतिशील होता है तथा (2) लचीले संविधान में परिस्थितियों के अनुरूप संशोधन किया जा सकता है।

प्रश्न 11. लिखित संविधान का एक दोष लिखिए।

उत्तर—लिखित संविधान देश की प्रगति में बाधक होता है।

प्रश्न 12. विकसित तथा अलिखित संविधान का नमूना किस देश का संविधान है?

उत्तर—इंगलैण्ड का संविधान विकसित तथा अलिखित एवं लचीले संविधान का अच्छा नमूना है।

प्रश्न 13. किस राज्य में कठोर संविधान लागू है? (1988)

उत्तर—संयुक्त राज्य अमेरिका में।

प्रश्न 14. दुष्परिवर्तनशील (कठोर) संविधान किसे कहते हैं? (1989)

उत्तर—वह संविधान जिसमें संशोधन सरलतापूर्वक सम्भव न हो, दुष्परिवर्तनशील संविधान कहलाता है।

प्रश्न 15. अरस्तू द्वारा बताये गये संविधान के दो शुद्ध रूप लिखिए। (1995)

उत्तर—(1) राजतन्त्र तथा (2) संवैधानिक लोकतन्त्र।

प्रश्न 16. अलिखित संविधान के दो दोष लिखिए। (1992, 96)

उत्तर—(1) अस्पष्ट एवं अनिश्चित तथा (2) अधिकारों की रक्षा असम्भव।

प्रश्न 17. "लचीला संविधान राजनीतिक दलों और प्रभावशाली राजनीतिक नेताओं के हाथों का खिलौना बन जाता है", यह कथन किसका है?

उत्तर—यह कथन हरमन फाइनर का है।

प्रश्न 18. कठोर (अनमनीय) संविधान के दो गुण बताइए। (2000)

उत्तर—(1) स्थायित्व एवं निश्चितता तथा (2) अधिकारों की सुरक्षा।

प्रश्न 19. संविधान के दो मुख्य प्रकार क्या हैं? (2000)

उत्तर—(1) लिखित संविधान तथा (2) अलिखित संविधान।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संविधान की परिभाषा कीजिए तथा कठोर एवं लचीले संविधानों में अन्तर स्पष्ट कीजिए। (1974, 80, 97)
2. लचीले और कठोर संविधानों के गुण-दोषों पर प्रकाश डालते हुए दोनों में अन्तर स्पष्ट कीजिए। (1986, 91)
3. संविधान की परिभाषा कीजिए और संविधान के विभिन्न प्रकार बताइए। (1983, 84)
4. संविधान से आप क्या समझते हैं? अच्छे संविधान में किन बातों की आवश्यकता होती है? (1985)
5. संविधान की परिभाषा बताइए तथा उदाहरण देते हुए नमनीय और अनमनीय संविधान की व्याख्या कीजिए। (1991)
6. परिवर्तनशील और अपरिवर्तनशील संविधानों का अन्तर बताइए। इनके गुण तथा दोषों का वर्णन कीजिए। (1988)
7. संविधानों से आप क्या समझते हैं? उदाहरण संहित संविधानों का वर्गीकरण कीजिए। (1985)
8. लचीले संविधान के गुण एवं दोषों की व्याख्या कीजिए। (1994)
9. अच्छे संविधान में क्या-क्या गुण होने चाहिए? वर्णन कीजिए। (1995)
10. लिखित संविधान का क्या अर्थ है? इसके गुण एवं दोषों का विवेचन कीजिए। (1995)
11. संविधान के वर्गीकरणों के आधारों की व्याख्या कीजिए। (1997)
12. संघात्मक तथा एकात्मक संविधानों के बीच अन्तर स्पष्ट कीजिए तथा इन दोनों के गुणों का वर्णन कीजिए। (1997)
13. टिप्पणी लिखिए—
    (i) लिखित संविधान (1973, 2000)
    (ii) लचीला संविधान (1976, 2000)
    (iii) अच्छे संविधान के गुण (1977)
    (iv) लिखित या अलिखित संविधान (1978, 2000)
    (v) कठोर संविधान। (1981, 2000)

● ●

11

सरकार के प्रकार

[FORMS OF GOVERNMENT]

"राज्य का आवश्यक लक्षण उसका राजनीतिक एवं कानूनी स्वरूप होता है। इसकी अभिव्यक्ति उसकी सरकार के संगठन द्वारा होती है। अतः सर्वाधिक सन्तोषप्रद वर्गीकरण सरकारों के रूप की समानताओं तथा असमानताओं के आधार पर ही हो सकता है।" —*गैटिल*

राज्यों का वर्गीकरण

(CLASSIFICATION OF STATES)

राज्यों का वर्गीकरण सिर्फ सरकार के प्रकार के आधार पर ही किया जा सकता है। इसलिए राज्यों का वर्गीकरण वास्तव में सरकारों का ही वर्गीकरण है। प्राचीनकाल में राज्य, सरकार, राष्ट्र तथा समाज इत्यादि शब्दों को एक-दूसरे के स्थान पर प्रयुक्त कर लिया जाता था। इसलिए सरकारों के वर्गीकरण के लिए अनेक विद्वानों ने राज्यों का वर्गीकरण शीर्षक का प्रयोग किया है।

जनसंख्या, निश्चित भू-भाग, सरकार तथा सम्प्रभुता—इन आधारभूत निर्माणक तत्त्वों की दृष्टि से समस्त राज्य एकसमान होते हैं। लेकिन राज्यों में इस प्रकार की समानता होते हुए भी उनमें राजनीतिक एवं आर्थिक आधार पर असमानता होती है। इस असमानता में शासन व्यवस्था की असमानता विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसे राज्यों के वर्गीकरण का तर्कसंगत एवं विवेकपूर्ण आधार माना जा सकता है।

हालांकि इस आधार पर किये गये वर्गीकरण के सम्बन्ध में यह आपत्ति की जाती है कि राज्य तथा सरकार में अन्तर है। इस आधार पर किया गया वर्गीकरण सरकारों का वर्गीकरण होगा, राज्यों का नहीं। वास्तव में, अरस्तू से लेकर वर्तमान समय तक विद्वानों ने राज्यों के जो भी वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं वे सरकारों के अन्तर (भेद) पर ही आधारित रहे हैं।

अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण

(ARISTOTLE'S CLASSIFICATION OF THE STATES)

अरस्तू से पहले हैरोडॉट्स ने राज्य का वर्गीकरण किया लेकिन अरस्तू ही वह प्रथम राजनीतिक वैज्ञानिक था जिसने सुव्यवस्थित तथा वैज्ञानिक रूप से राज्यों का वर्गीकरण किया। उसने निम्नलिखित दो आधारों पर राज्यों को वर्गीकृत किया—

(1) संख्या का आधार—संख्या के आधार का तात्पर्य यह है कि राज्य की प्रभुत्व-शक्ति का प्रयोग कितने व्यक्तियों द्वारा किया जाता है। इस आधार पर शासन को तीन भागों

में विभाजित किया गया है। यदि शासन सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में है तो वह एकतन्त्र अथवा राजतन्त्र है। यदि शासन सत्ता समाज के उन व्यक्तियों में निहित है जो धन, बुद्धि एवं राजनीतिक दक्षता के कारण श्रेष्ठ हैं तो वह कुलीनतन्त्र है। यदि शासन सत्ता जन-साधारण में निहित है तो वह जनतन्त्र है।

(2) **नैतिक आधार**—नैतिक आधार शासन करने वाले व्यक्तियों के लक्ष्य को बताता है। इस आधार पर अरस्तू ने शासन को निम्नलिखित दो भागों में विभाजित किया है—

(i) **स्वाभाविक शासन**—जब शासक अथवा शासकगण समाज के हित में शासन करते हैं तो वह स्वाभाविक शासन होता है। अरस्तू के अनुसार राजतन्त्र (Monarchy), कुलीनतन्त्र (Aristocracy) तथा बहुतन्त्र (Polity) स्वाभाविक शासन हैं।

(ii) **विकृत शासन**—जब शासन का लक्ष्य समाज का हित न होकर शासक अथवा शासकों के हितों की पूर्ति होता है तो स्वाभाविक शासन विकृत शासन में परिवर्तित हो जाता है। अरस्तू के मतानुसार निरंकुश राजतन्त्र (Tyranny), वर्गतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र (Oligarchy) तथा भीड़तन्त्र (Democracy) विकृत शासन के रूप हैं।

अरस्तू का वर्गीकरण निम्नलिखित तालिका द्वारा और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है—

प्रथम आधार (शासकों की संख्या)	द्वितीय आधार (शासन सत्ता के संचालन का लक्ष्य)	
	स्वाभाविक शासन (राज्य का शुद्ध रूप)	**विकृत शासन** (राज्य का भ्रष्ट अथवा अशुद्ध रूप)
एक व्यक्ति का शासन	राजतन्त्र अथवा एकतन्त्र	निरंकुश राजतन्त्र अथवा अत्याचारी शासन
कुछ व्यक्तियों का शासन	कुलीनतन्त्र	वर्गतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र अथवा अल्पतन्त्र
बहुसंख्यक व्यक्तियों का शासन	बहुतन्त्र अथवा राज-व्यवस्था का वैधानिक जनतन्त्र	भीड़तन्त्र अथवा भ्रष्ट लोक-तन्त्र

अरस्तू द्वारा वर्गीकृत शासन प्रणालियों का विवरण निम्न प्रकार है—

राजतन्त्र (Monarchy)—यदि राज्य प्रबन्ध की शक्ति एक व्यक्ति के हाथों में हो तथा वह अपनी शक्ति का प्रयोग जन-साधारण के हित के लिए करता है तो ऐसे राज्य का रूप राजतन्त्र होगा।

निरंकुश राजतन्त्र अथवा आततायीतन्त्र (Tyranny)—यह राजतन्त्र का विकृत रूप है। इसमें राज्य सत्ता एक व्यक्ति के हाथों में होती है लेकिन वह इसका प्रयोग निजी स्वार्थों के लिए करता है और जन-साधारण पर अत्याचार करता है।

कुलीनतन्त्र (Aristocracy)—कुलीनतन्त्र में राज्य प्रबन्ध की शक्ति समाज के उच्च कोटि के कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों के हाथों में होती है। इस शक्ति का प्रयोग जन-साधारण के हितार्थ किया जाता है। यह राज्य का प्राकृतिक रूप है।

वर्गतन्त्र अथवा धनिकतन्त्र अथवा अल्पतन्त्र (Oligarchy)—जब शासन चलाने वाले व्यक्ति शक्ति का प्रयोग अपने स्वार्थों के लिए करने लगते हैं तब यह अल्पतन्त्र बन जाता है।

बहुतन्त्र अथवा राज्य-व्यवस्था का वैधानिक जनतन्त्र (Polity)—जब राज्य सत्ता अधिक व्यक्तियों के हाथों में हो तथा इसका प्रयोग जन-साधारण के हितार्थ किया जाय तो इसे बहुतन्त्र कहा जायेगा।

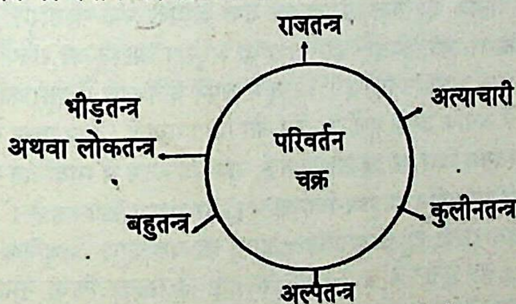
भीड़तन्त्र अथवा भ्रष्ट लोकतन्त्र (Mobocracy or Prevented Democracy)—जब राज्य सत्ता बहुत अधिक लोगों के हाथों में होती है तथा वे इसका प्रयोग अनुचित प्रकार से करते हैं और राज्य में अराजकता वाली स्थिति हो जाती है तो इसको अरस्तू भीड़तन्त्र अथवा भ्रष्ट लोकतन्त्र का नाम देता है।

राज्य का सर्वश्रेष्ठ रूप

अरस्तू बहुतन्त्र राज्य को सर्वोत्तम राज्य मानते हैं। उनके स्वयं के कथनानुसार, "बहुत अधिक व्यक्तियों के विचार, जिसमें प्रत्येक व्यक्ति बुद्धिमान नहीं होता, एक अथवा कुछ श्रेष्ठ व्यक्तियों के विचारों से हमेशा उत्तम एवं श्रेष्ठ होते हैं।"[1]

अरस्तू का परिवर्तन चक्र
(ARISTOTLE'S CYCLE OF CHANGE)

अरस्तू ने सिर्फ राज्यों का वर्गीकरण ही नहीं किया अपितु उन्होंने इनमें आने वाले परिवर्तन चक्र का भी वर्णन किया है। उनका मत है कि शासन के ढाँचे तथा रूप में स्वाभाविक परिवर्तन होते हैं तथा ये साइकिल के पहिये के समान घूमते रहते हैं। यह चक्र भिन्न-भिन्न स्थानों को स्पर्श करता है तथा पुनः उसी स्थान पर वापस आ जाता है। राजतन्त्र में राजा शासन सम्बन्धी शक्ति का प्रयोग जन-साधारण के हितार्थ करता है।



अरस्तू इस परिवर्तन चक्र को राजतन्त्र से प्रारम्भ करते हैं। कुछ समय के बाद राजा स्वार्थी हो जाता है तथा जन-साधारण पर अत्याचार करने लग जाता है और उसका शासन अत्याचारी शासन में परिवर्तित हो जाता है। कुछ योग्य व्यक्ति अत्याचारों से तंग आकर एवं सार्वजनिक हितों से प्रेरित होकर अत्याचारी शासन का अन्त कर देते हैं। इस प्रकार कुलीनतन्त्र की स्थापना हो जाती है। धीरे-धीरे कुलीनतन्त्र भी भ्रष्ट हो जाता है तथा यह अल्पतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। फिर लोग अल्पतन्त्र के विरुद्ध आवाज उठाते हैं तथा शक्ति अधिक लोगों के हाथ में आ जाती है जिसे अरस्तू बहुतन्त्र का नाम देता है। कुछ समय के बाद जब प्रत्येक व्यक्ति मनमानी करनी प्रारम्भ कर देता है तो यह बहुतन्त्र भीड़तन्त्र अथवा लोकतन्त्र में परिवर्तित हो जाता है। कुछ समयावधि के पश्चात् कोई शक्तिशाली व्यक्ति भ्रष्ट लोकतन्त्र

1 "Opinion of many, out of which everyone is not wise, is always better than the opinion of one or a few able persons." —*Aristotle*

को समाप्त करके राज्य सत्ता अपने हाथ में ले लेता है तथा फिर राजतन्त्र स्थापित कर लेता है। इस प्रकार यह परिवर्तन चक्र निरन्तर चलता रहता है।

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना

अरस्तू द्वारा राज्यों के वर्गीकरण की निम्नलिखित आधारों पर आलोचना की गयी है—

(1) अरस्तू सरकार एवं राज्य में कोई भेद नहीं करते—राज्यों का वर्गीकरण करते समय अरस्तू ने सरकार एवं राज्यों में मध्य कोई भेद नहीं किया जबकि सरकार एवं राज्य में व्यापक अन्तर पाये जाते हैं। यहाँ गार्नर का यह कथन उल्लेखनीय है, "उन्होंने (अरस्तू ने) राज्य तथा सरकार में कोई अन्तर नहीं माना है तथा अन्तिम विश्लेषण में यह वर्गीकरण राज्यों का वर्गीकरण नहीं अपितु सरकारों का वर्गीकरण है और इसलिए राज्यों के रूप में विवेचना में उसका कोई उचित स्थान नहीं हो सकता है।"

अरस्तू के वर्गीकरण की आलोचना
* अरस्तू सरकार एवं राज्य में कोई भेद नहीं करते
* यह वर्गीकरण आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं होता
* वर्गीकरण अवैज्ञानिक
* मिश्रित राज्यों हेतु अनुपयुक्त
* लोकतन्त्र की उपेक्षा
* अरस्तू का परिवर्तन चक्र ऐतिहासिक नहीं है
* प्रजातन्त्र की उपेक्षा

(2) यह वर्गीकरण आधुनिक राज्यों पर लागू नहीं होता—आधुनिक राज्यों में, सरकार के अनेक ऐसे प्रकार हैं जिनका वर्णन अरस्तू द्वारा किये गये वर्गीकरण में नहीं आता है। उदाहरणार्थ संघात्मक, एकात्मक, संसदात्मक तथा अध्यक्षात्मक सरकार।

(3) वर्गीकरण अवैज्ञानिक—डॉ. गार्नर के अनुसार अरस्तू का राज्यों का वर्गीकरण वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर आधारित नहीं है। अरस्तू ने अपने वर्गीकरण में शासकों की संख्या पर अधिक बल दिया है जबकि उनके गुणों पर कम जोर दिया गया है। वान महल के कथनानुसार, "उस सिद्धान्त का स्वरूप जिस पर यह आधारित है, राज्य के गठन से सम्बन्धित न होकर गणित से सम्बन्धित है तथा यह वर्गीकरण गुण-विषयक न होकर संख्या-विषयक है।"

(4) मिश्रित राज्यों हेतु अनुपयुक्त—अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक मिश्रित राज्यों हेतु अनुपयुक्त है। यह यूनान के नगर-राज्यों को दृष्टिगत रखकर किया गया था। इंग्लैण्ड जैसे राज्य जहाँ वैधानिक राजतन्त्र है तथा इसके साथ ही लोकतन्त्र भी, उसे अरस्तू के वर्गीकरण में किस श्रेणी में रखा जाय, यह एक विवादात्मक प्रश्न है।

(5) लोकतन्त्र की उपेक्षा—आधुनिक काल में लोकतन्त्र पर आधारित शासन प्रणाली को शासन का सर्वश्रेष्ठ रूप माना गया है लेकिन अरस्तू के वर्गीकरण में प्रजातन्त्र को शुद्ध जनतन्त्र का भ्रष्ट स्वरूप माना गया है। इससे यह प्रमाणित होता है कि अरस्तू द्वारा प्रस्तुत शासन प्रणाली का वर्गीकरण जनतन्त्र की उपेक्षा करता है।

(6) अरस्तू का परिवर्तन चक्र ऐतिहासिक नहीं है—अरस्तू के मतानुसार विभिन्न शासन प्रणालियाँ एक चक्र के रूप में एक-दूसरे के पश्चात् आती रहती हैं लेकिन शासन प्रणालियों का परिवर्तन एक सामाजिक घटना है। इसमें यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि प्रजातन्त्र के पश्चात् राजतन्त्र की ही स्थापना अनिवार्य रूप से होगी। यह भी सम्भव है कि प्रजातन्त्र के पश्चात् कुलीनतन्त्र स्थापित हो जाय। यदि गत वर्षों में घटित घटनाओं

को देखा जाय तो अधिकांश देशों में जो परिवर्तन आय हैं वे अरस्तू द्वारा प्रदत्त परिवर्तन चक्र के अनुसार नहीं हैं। इस अनिश्चितता के कारण अरस्तू द्वारा प्रस्तुत राज्यों की शासन-प्रणाली का वर्गीकरण आधुनिक युग में अमान्य है।

(7) प्रजातन्त्र की उपेक्षा—अरस्तू ने प्रजातन्त्र को बहुतन्त्र अथवा संवैधानिक तन्त्र का विकृत रूप माना है जबकि आधुनिक समय में प्रजातन्त्र को सर्वश्रेष्ठ शासन माना जाता है।

अरस्तू के वर्गीकरण का महत्त्व

(IMPORTANCE OF ARISTOTLE'S CLASSIFICATION)

हालांकि अरस्तू का वर्गीकरण आधुनिक राज्यों की दृष्टि से अनुपयुक्त है, फिर भी इसके महत्त्व से इन्कार नहीं किया जा सकता। इस वर्गीकरण का ऐतिहासिक दृष्टि से विशेष महत्त्व है। अरस्तू ने उत्कृष्ट तथा निकृष्ट सरकारों को परखने हेतु एक पैमाना दिया है जिसके आधार पर हम देख सकते हैं कि कौन-सी सरकार श्रेष्ठ है। अरस्तू का परिवर्तन चक्र वर्तमान शासकों के लिए एक चेतावनी का काम करता है। शासकों को यह कदापि नहीं भूलना चाहिए कि यदि जन-साधारण की भलाई का ध्यान नहीं रखा गया तो उनके विरुद्ध क्रान्ति हो सकती है। अरस्तू के वर्गीकरण के महत्त्व को स्पष्ट करते हुए रॉबर्ट डहल कहता है, "अरस्तू का वर्गीकरण पृथक्-पृथक् कारणों से इतना उपयोगी रहा है कि यह राजनीतिक उतार-चढ़ाव तथा परिवर्तन की पच्चीस शताब्दियों के बाद भी आज जीवित है। यह अथवा इसी तरह का कोई वर्गीकरण आज भी नागरिकशास्त्र के छात्रों के चिन्तन का उतना ही महत्त्वपूर्ण अंग है जितना कि वह अरस्तू के समय में यूनानी छात्रों के लिए रहा होगा।"

अन्य वर्गीकरण—अरस्तू के पश्चात् अनेक सुप्रसिद्ध विद्वानों ने राज्यों के वर्गीकरण प्रस्तुत किये हैं। उदाहरणार्थ—मॉण्टेस्क्यू, ब्लण्ट्शली, जैलीनेक, बर्गेस, वॉन महल, मैरियट तथा लीकॉक इत्यादि ने राज्यों को वर्गीकृत किया है। वर्तमान में ये समस्त वर्गीकरण अमान्य हैं।

सरकारों का आधुनिक वर्गीकरण

(MODERN CLASSIFICATION OF THE GOVERNMENTS)

अभी तक आधुनिक राज्यों के सम्बन्ध में एक मान्य वर्गीकरण उपलब्ध नहीं है। इसका कारण यह है कि वर्तमान राज्यों के अनेक प्रकार तथा इतने मिश्रित रूप प्रचलित हैं कि एक उचित वर्गीकरण करना अत्यधिक कठिन कार्य है तथापि हम निम्नलिखित आधारों पर राज्यों को वर्गीकृत कर सकते हैं—

सर्वप्रथम राज्य तथा धर्म के सम्बन्ध के आधार पर राज्यों के दो भेद किये जा सकते हैं—

(अ) धार्मिक राज्य तथा

(ब) धर्मनिरपेक्ष राज्य।

धार्मिक राज्य का आशय उस राज्य से है जिसका अपना एक विशेष धर्म होता है और जो उसके अनुसार राज्य की नीति का संचालन करता है। धर्मनिरपेक्ष राज्य में राज्य को धर्म से अलग रखा जाता है तथा राज्य समस्त धर्मों को एकसमान समझता है। ऐसे राज्यों के अन्तर्गत जन-साधारण को धर्म सम्बन्धी स्वतन्त्रता प्राप्त होती है। इसके पश्चात् धार्मिक तथा धर्मनिरपेक्ष राज्यों को निरंकुश व्यवस्था के राजतन्त्र और अधिनायकतन्त्र में विभाजित

किया गया है। ऐसे राज्य जिनमें शासक वंश परम्परागत होता है, राजतन्त्र कहे जाते हैं। वे राज्य जिनमें शासक निर्वाचन अथवा क्रान्ति के आधार पर सत्तारूढ़ होते हैं, अधिनायकतन्त्र (तानाशाही) कहलाते हैं।

लोकतन्त्रात्मक राज्यों को निम्न पाँच आधारों पर वर्गीकृत किया जा सकता है—

(1) **प्रतिनिधित्व की व्यवस्था**—ऐसे लोकतन्त्र जिनमें जन-साधारण प्रत्यक्ष रूप से शासन के कार्यों में हिस्सा लेता है, प्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहलाता है। जब जन-साधारण अपने निर्वाचित प्रतिनिधियों के माध्यम से शासन के कार्यों को संचालित करता है तो उसे अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र कहते हैं।

(2) **कार्यपालिका का संगठन**—ऐसे लोकतन्त्र जिनमें राज्य का प्रधान वंश-परम्परागत होता है लेकिन व्यवहार में अपनी सम्पूर्ण शक्तियों का प्रयोग लोकप्रिय मन्त्रियों के परामर्श से करता है, इंग्लैण्ड की तरह वैधानिक राजतन्त्र कहे जाते हैं। वे लोकतन्त्र जिनमें राज्य का प्रधान प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष जन-साधारण द्वारा निर्वाचित होता है, भारत की तरह गणतन्त्र कहलाते हैं।

(3) **व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका के आपसी सम्बन्ध**—ऐसे लोकतन्त्र जिनमें कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका एक-दूसरे से पूरी तरह अलग-अलग होती हैं, अमेरिका की तरह अध्यक्षात्मक लोकतन्त्र कहलाते हैं। ऐसे लोकतन्त्र जिनमें व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होती हैं एवं कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है, भारत की तरह संसदात्मक लोकतन्त्र कहे जाते हैं।

(4) **राज्य के संगठन की प्रकृति**—ऐसे लोकतन्त्र जिनमें राज्य-शक्ति इकाई राज्यों की सरकारों में न होकर पूर्णरूपेण केन्द्र में निहित होती है, इंग्लैण्ड की तरह एकात्मक लोकतन्त्र कहे जाते हैं। ऐसे लोकतन्त्र जिनमें राज्य-शक्ति का केन्द्रीय सरकार एवं इकाई राज्यों की सरकारों में विभाजन होता है, इकाई राज्यों का स्वतन्त्र कार्यक्षेत्र होता है, अमेरिका की तरह संघात्मक लोकतन्त्र कहे जाते हैं।

(5) **राज्यों में प्रचलित अर्थव्यवस्था**—ऐसे राज्य जिनमें उत्पादन एवं वितरण के साधनों पर व्यक्तिगत स्वामित्व होता है, पूँजीवादी लोकतन्त्र कहे जाते हैं। जिन राज्यों में उत्पादन के साधनों पर राज्य का स्वामित्व एवं नियन्त्रण होता है, समाजवादी लोकतन्त्र कहे जाते हैं। ऐसे लोकतन्त्र जिनमें उत्पादन एवं वितरण के समस्त साधनों पर राज्य एवं व्यक्तियों का सामूहिक स्वामित्व एवं नियन्त्रण रहता है, भारत की तरह मिश्रित अर्थव्यवस्था वाले लोकतन्त्र कहलाते हैं।

आधुनिक शासन प्रणालियाँ
(MODERN SYSTEMS OF GOVERNMENT)

पारम्परिक दृष्टिकोण से शासन व्यवस्था के तीन रूप—राजतन्त्र, कुलीनतन्त्र तथा लोकतन्त्र हैं। इनमें राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र को आधुनिक शासन प्रणाली नहीं कहा जा सकता। वर्तमान में विश्व के किसी भी देश में कुलीनतन्त्र प्रचलित नहीं है। राजतन्त्र के दो प्रकार—वैधानिक राजतन्त्र अथवा सीमित राजतन्त्र तथा निरंकुश राजतन्त्र हैं। ब्रिटेन, जापान इत्यादि देशों में प्रचलित शासन प्रणाली को वैधानिक राजतन्त्र के नाम से पुकारा जाता है लेकिन यह एक सैद्धान्तिक तथ्य है तथा व्यवहारिकता यह है कि इन देशों में शासन का प्रचलित रूप राजतन्त्रीय न होकर लोकतन्त्रीय है।

वर्तमान में सऊदी अरब में निरंकुश राजतन्त्र प्रचलित है। व्यावहारिक दृष्टि से निरंकुश राजतन्त्र अधिनायवाद का ही एक रूप है। अतः अधिनायकवादी शासन तथा लोकतन्त्रीय शासन के रूप में दो ही आधुनिक शासन प्रणालियाँ हैं जबकि लोकतन्त्रीय शासन के विभिन्न रूप प्रचलित हैं।

अधिनायकवाद अथवा तानाशाही
(DICTATORSHIP)

हालांकि आधुनिक युग को लोकतन्त्र का युग कहा जाता है लेकिन सच्चाई यह है कि यह युग धीरे-धीरे अधिनायक तन्त्र में परिवर्तित होता जा रहा है। एशिया, अफ्रीका तथा लैटिन अमेरिका के अनेक राज्यों में निरंकुश शासन व्यवस्थाओं का वर्चस्व होता जा रहा है। इन महाद्वीपों के राज्यों में जहाँ लोकतान्त्रिक व्यवस्थाएँ प्रचलित हैं, उनमें भी निरंकुशता के अंकुर फूटते जा रहे हैं।

अधिनायकतन्त्र का अर्थ तथा परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF DICTATORSHIP)

अधिनायकतन्त्र उस शासन व्यवस्था को कहते हैं जिसमें एक व्यक्ति गैर-संवैधानिक तरीकों के आधार पर निरंकुश शासन की स्थापना करता है। यह व्यक्ति पूर्ण सत्ताधारी होता है तथा किसी के प्रति उत्तरदायी नहीं होता। उसके आदेश ही कानून होते हैं तथा उसके समस्त आदेशों का पालन करना नागरिकों का कर्त्तव्य होता है।

अधिनायकतन्त्र को परिभाषित करते हुए फोर्ड ने कहा है, "राज्याध्यक्ष द्वारा गैर-कानूनी शक्ति प्राप्त करना ही अधिनायकतन्त्र है।"[1]

कैनन के अनुसार, "अधिनायकतन्त्र एक व्यक्ति की सरकार होती है जो अपना पद उत्तराधिकार में प्राप्त न करके अपनी शक्ति की स्थापना बल द्वारा करता है। उसकी प्रभुता निरंकुश होती है अर्थात् सम्पूर्ण राजनीतिक शक्ति उसकी इच्छा से उत्पन्न होती है।"

अल्फ्रेड कॉबन ने अधिनायकतन्त्र को परिभाषित करते हुए लिखा है, "अधिनायकतन्त्र उस व्यक्ति का शासन है जिसने अपना पद मुख्यतया पैतृक विरासत अथवा परम्परा से प्राप्त न करके शक्ति अथवा स्वीकृति से तथा साधारणतया दोनों के मिश्रण से प्राप्त किया हो। उसके पास निरंकुश प्रभुत्व शक्ति होनी चाहिए।"

अधिनायकतन्त्र के प्रकार अथवा भेद
(KINDS OF DICTATORSHIP)

अधिनायकतन्त्र के मुख्यतया दो प्रकार—प्राचीन अधिनायकतन्त्र तथा आधुनिक अधिनायकतन्त्र हैं।

प्राचीन अधिनायकतन्त्र—यह एक प्राचीन प्रणाली है। यूनान तथा रोमन साम्राज्य में आपातकाल का सामना करने हेतु अस्थायी रूप से अधिनायकतन्त्र की स्थापना की परम्परा थी। आपातकाल के दौरान कानून एवं व्यवस्था बनाये रखने हेतु विशेष अधिकारियों को नियुक्त किया जाता था जिन्हें 'अधिनायक' कहकर सम्बोधित किया जाता था। आगे चलकर शासकों ने परिस्थितियों का अनुचित लाभ उठाकर अधिनायकतन्त्र को स्थायी रूप प्रदान किया।

---

1 "Dictatorship is the assumption of extra-legal authority by the head of the state." —Ford

प्राचीन अधिनायकतन्त्र उसको कहा जा सकता है जिसमें सत्ताधारी व्यक्ति सैनिक शक्ति की योग्यता के आधार पर अधिनायक बन जाते थे। ब्रिटेन में क्रामवेल तथा फ्रांस में नैपोलियन बोनापार्ट का अधिनायकतन्त्र इसके उदाहरण हैं।

आधुनिक अधिनायकतन्त्र—आधुनिक युग में अधिनायकवाद का रूप अधिनायक द्वारा सत्ता प्राप्त करने की दृष्टि से परिवर्तित हो गया है। अब अधिनायक जन-साधारण अथवा सत्तारूढ़ दल की पसन्द के आधार पर पदारूढ़ होते हैं।

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् अधिनायकवाद तेजी से पनपा। सर्वप्रथम इटली में फासिस्ट दल के नेता बेनिटो मुसोलिनी ने शासन का तख्ता पलटकर सत्ता अपने हाथ में ले ली। तत्पश्चात् जर्मन में एडॉल्फ हिटलर भी तानाशाह बना। 1917 में सोवियत रूस (अब विघटित) में तथा द्वितीय विश्व युद्ध के पश्चात् मिस्र, म्यांमार (बर्मा), इण्डोनेशिया, चीन तथा पूर्वी यूरोप के विभिन्न देशों में अधिनायकतन्त्र की स्थापना हुई।

आधुनिक युग में अधिनायकतन्त्र के प्रमुखतया निम्न तीन रूप देखने को मिलते हैं—

(1) **फासिस्टवादी अधिनायकतन्त्र**—द्वितीय विश्व युद्ध से पहले इटली तथा जर्मनी में इस प्रकार की तानाशाही की स्थापना हुई। जर्मनी में हिटलर तथा इटली में मुसोलिनी ने क्रमशः नाजीवाद तथा फासीवादी तानाशाही को स्थापित किया।

(2) **साम्यवादी अधिनायकतन्त्र**—1917 की क्रान्ति के परिणामस्वरूप सोवियत संघ में सर्वहारा वर्ग की साम्यवादी तानाशाही स्थापित हुई थी तथा 1949 के पश्चात् चीन में साम्यवादी तानाशाही स्थापित हुई। सोवियत संघ के विघटन के बाद वहाँ की साम्यवादी तानाशाही समाप्त हो गयी है लेकिन चीन में साम्यवादी तानाशाही अभी भी अस्तित्व में बनी हुई है।

(3) **सैनिक अधिनायकतन्त्र**—एशिया तथा अफ्रीका के कुछ देशों में निरंकुश सैनिक अधिनायकतन्त्र है जिनमें इराक, युगाण्डा, मिस्र तथा सीरिया प्रमुख हैं।

अधिनायकतन्त्र के लक्षण
(FEATURES OF DICTATORSHIP)

अधिनायकतन्त्र के प्रमुख लक्षण निम्नांकित हैं—

(1) **अनुशासन पर बल**—इस शासन प्रणाली में अनुशासन पर विशेष जोर दिया जाता है। अधिनायकतन्त्र में समस्त व्यक्तियों को अनुशासन में रखा जाता है तथा अनुशासन तोड़ने पर उन्हें कठोर सजा दी जाती है।

अधिनायकतन्त्र के लक्षण
* अनुशासन पर बल
* नियन्त्रणहीन शासक
* एकदलीय शासन प्रणाली
* संस्थाओं इत्यादि के निर्माण का अभाव
* व्यावसायिक प्रतिनिधित्व पर बल
* व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन
* मौलिक अधिकारों का अभाव

(2) **नियन्त्रणहीन शासक**—इस शासन प्रणाली में शासक पर किसी भी प्रकार का दबाव अथवा नियन्त्रण नहीं होता है। शासक की इच्छा ही कानून होता है। अतः अधिनायकतन्त्र में शासक नियन्त्रणहीन एवं निरंकुश होता है।

(3) **एकदलीय शासन प्रणाली**—अधिनायकतन्त्र में एकदलीय शासन व्यवस्था होती है अतः अन्य राजनीतिक दलों को पनपने का अवसर नहीं दिया जाता है।

(4) संस्थाओं इत्यादि के निर्माण का अभाव—इस शासन प्रणाली में किसी भी प्रकार के संघों अथवा संस्थाओं का निर्माण अधिनायक की आज्ञा के बिना नहीं किया जा सकता। यही कारण है कि विभिन्न संघों को इस शासन प्रणाली में आगे बढ़ने का अवसर नहीं मिलता है।

(5) व्यावसायिक प्रतिनिधित्व पर बल—शासन की इस प्रणाली में प्रादेशिक प्रतिनिधित्व की अपेक्षा व्यावसायिक प्रतिनिधित्व पर ही विशेष बल दिया जाता है।

(6) व्यक्ति की स्वतन्त्रता का हनन—अधिनायकतन्त्र में राज्य की इच्छा सर्वोपरि होती है। व्यक्ति की स्वतन्त्रता का कोई भी ध्यान नहीं रखा जाता है। प्रायः राज्य की रक्षार्थ व्यक्ति के हितों को बलिदान कर दिया जाता है।

(7) मौलिक अधिकारों का अभाव—अधिनायकतन्त्र पर आधारित शासन प्रणाली में संगठन, प्रचार तथा भाषण की मौलिक स्वतन्त्रता किसी भी व्यक्ति को प्रदत्त नहीं की जाती है।

अधिनायकतन्त्र के गुण
(MERITS OF DICTATORSHIP)

अधिनायकतन्त्र पर आधारित शासन प्रणाली के प्रमुख गुण निम्नांकित हैं—

(1) राष्ट्रीय एकता की स्थापना में सहायक—इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता स्थापित होती है। देशवासी 'वीर पूजा' के आधार पर अधिनायक को ही राष्ट्र का मूर्तिमान स्वरूप स्वीकारते हैं। इस प्रकार अधिनायकतन्त्र नागरिकों में देश-प्रेम, त्याग तथा सहयोग की भावनाएँ पैदा करके उन्हें एकता के सूत्र में बाँधता है। जर्मनी तथा इटली इसके श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

अधिनायकतन्त्र के गुण
* राष्ट्रीय एकता की स्थापना में सहायक
* आपातकाल हेतु सर्वाधिक उपयुक्त
* तीव्र गति से विकास
* कुशलता एवं दक्षता
* समाज सुधार में तीव्रता
* दलबन्दी के अवगुणों से मुक्त
* मितव्ययी शासन

(2) आपातकाल हेतु सर्वाधिक उपयुक्त—अधिनायक किसी भी प्रकार की आपात स्थिति का सामना अधिक दृढ़ता से कर सकता है क्योंकि सम्पूर्ण शक्तियाँ उसी में निहित होने के कारण त्वरित फैसले किये जा सकते हैं। सिर्फ एक अधिनायक ही आन्तरिक प्रशासन एवं विदेश सम्बन्धों का कार्य ठीक प्रकार से करते हुए अपने देश के सम्मान में वृद्धि कर सकता है।

(3) तीव्र गति से विकास—अधिनायकतन्त्र के अन्तर्गत एक ही नेता, एक ही योजना तथा एक ही लक्ष्य होने के कारण देश का विकास तेजी से होता है।

(4) कुशलता एवं दक्षता—इस प्रणाली में शासन कुशलता से होता है। सम्पूर्ण शासन-शक्ति एक ही अनुभवी एवं कुशल व्यक्ति के हाथों में निहित होने के कारण न सिर्फ निर्णय शीघ्रता से लिये जा सकते हैं बल्कि निर्णयों का शीघ्रता से क्रियान्वयन भी होता है।

(5) समाज सुधार में तीव्रता—इस शासन प्रणाली में समाज सुधार अधिक शीघ्रता से सम्भव होता है। कोई भी रूढ़िवादी विचार अथवा सामाजिक कुरीति जो समाज की उन्नति में बाधक हो उसे कानून एवं शक्ति द्वारा समाप्त कर दिया जाता है।

(6) दलबन्दी के अवगुणों से मुक्त—अधिनायकतन्त्र में सिर्फ अधिनायक का समर्थक दल ही मान्य होता है तथा अन्य दलों का कोई अस्तित्व नहीं होता। (अर्थात् यह शासन दलबन्दी के दोषों से मुक्त रहता है।)

(7) मितव्ययी शासन—अधिनायकतन्त्र बहुत ही मितव्ययी शासन है क्योंकि आये दिन चुनाव नहीं होते तथा यह केन्द्रीकरण में विश्वास रखता है अतः प्रशासन में अपव्यय नहीं होता।

अधिनायकतन्त्र के दोष अथवा अवगुण
(DEMERITS OF DICTATORSHIP)

अधिनायकतन्त्र में गुणों की अपेक्षा दोषों की संख्या अधिक है। जिस देश में अधिनायकतन्त्र अस्तित्व में आया वह लम्बे समय तक प्रचलन में नहीं रह सका। इसके प्रमुख दोष निम्नांकित हैं—

(1) युद्ध को प्रोत्साहन—अधिनायक अपनी शान तथा शक्ति को बनाये रखने हेतु सदैव युद्ध का सहारा लेता है। वह अपना यश फैलाने हेतु दूसरे राज्यों के क्षेत्र अपने अधीन करना चाहता है। जब उसकी स्थिति अस्थिर होती है तो वह किसी पड़ोसी देश के साथ युद्ध प्रारम्भ कर देता है लेकिन इससे जानमाल की अपार हानि होती है। पाकिस्तान के तानाशाहों ने इसी नीति का अनुसरण करते हुए भारत पर तीन बार आक्रमण किए। फ्रैडमेन के अनुसार, **"अब तक का मानव इतिहास इस बात का स्पष्ट परिचायक है कि मानव जाति के मध्य हुए भीषण युद्ध किसी न किसी रूप में अधिनायकवादी राज्यों द्वारा ही प्रारम्भ किये गये।"**

अधिनायकतन्त्र के दोष
* युद्ध को प्रोत्साहन
* निरंकुश एवं अस्थायी शासन
* स्वयं को योग्यतम समझना मूर्खता है
* लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध
* व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता
* उत्तराधिकार की समस्या
* नैतिक मूल्यों का ह्रास
* क्रान्ति की सम्भावना

(2) निरंकुश एवं अस्थायी शासन—अधिनायकतन्त्र का प्रमुख अवगुण यह है कि इसमें शासन की सम्पूर्ण शक्ति एक ही व्यक्ति के हाथ में निहित होती है अतः वह निरंकुश तथा स्वेच्छाचारी हो जाता है। शक्ति एवं कठोरता पर आधारित शासन कदापि स्थायी नहीं होता। राज्य का स्थायी आधार जनसाधारण की सहमति है न कि पाशविक बल। टी. एच. ग्रीन ने उचित ही कहा है, **"राज्य का आधार शक्ति नहीं, बल्कि इच्छा है।"**[1]

(3) स्वयं को योग्यतम समझना मूर्खता है—अधिनायकवादी शासन में अधिनायक एकमात्र अपने को ही योग्य, सर्वगुण-सम्पन्न तथा त्रुटिहीन मानता है जो कि उसकी मूर्खता का परिचायक है। इस सम्बन्ध में लिप्सन कहता है कि **"समस्त अधिनायकतन्त्रीय व्यवस्थाओं का दोष यह है कि वे यह मानकर चलती हैं कि जिसके हाथों शासन की सत्ता है वे सर्वश्रेष्ठ हैं तथा कोई भूल नहीं करते हैं।"**

(4) लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों के विरुद्ध—अधिनायकवाद में लोकतन्त्रीय मूल्यों को कोई सम्मान नहीं दिया जाता। राज्य प्रबन्ध में हिस्सेदारी, सरकार की आलोचना, उत्तरदायी सरकार का होना, नागरिकों को अधिकार एवं स्वतन्त्रताएँ देना इत्यादि लोकतन्त्र के मूल्य हैं।

---

1 "Will, not force is the basis of state." —*T. H. Green*

(5) व्यक्ति को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता—अधिनायकतन्त्र में व्यक्ति के अस्तित्व को कोई महत्त्व नहीं दिया जाता। व्यक्ति का अस्तित्व एक मशीन के पुर्जे की तरह बन जाता है तथा व्यक्ति को वही कार्य करने पड़ते हैं जो अधिनायक चाहता है। अधिनायकतन्त्र में राज्य को साध्य तथा व्यक्ति को साधन माना जाता है।

(6) उत्तराधिकार की समस्या—अधिनायक अपने जीवित रहते हुए किसी दूसरे व्यक्ति को अपने समकक्ष देखना नहीं चाहता। उसकी अचानक मृत्यु होने अथवा उसके विरुद्ध जन-विद्रोह होने पर यह निर्णय करना कठिन हो जाता है कि सत्ता का वास्तविक हकदार कौन हो। पद सँभालने हेतु अनेक बार बहुत-से व्यक्ति मैदान में आते हैं तथा उनमें युद्ध भी हो जाते हैं जिससे अराजकता फैल जाती है।

(7) नैतिक मूल्यों का ह्रास—इस शासन प्रणाली में प्रायः जनता अशिक्षित तथा अयोग्य बनी रहती है जिसके परिणामस्वरूप उसके नैतिक स्तर का ह्रास होता है।

(8) क्रान्ति की सम्भावना—साधारणतया अधिनायक अत्याचारी होते हैं तथा जन-साधारण पर शक्ति से अंकुश रखते हैं। जन-साधारण के पास सरकार को परिवर्तित करने के लिए कोई संवैधानिक तरीका नहीं होता। अतः उसे सरकार को बदलने के लिए क्रान्ति का रास्ता अपनाना पड़ता है। राज्य प्रबन्ध का लोगों की इच्छा पर आधारित न होना ही क्रान्ति को उत्साहित करता है।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि अधिनायकतन्त्र में जन-साधारण के हितों की उपेक्षा होती है। जन-साधारण को उसके मौलिक अधिकारों एवं स्वतन्त्रताओं से भी वंचित कर दिया जाता है। अतएव अधिनायकतन्त्र पर आधारित शासन प्रणाली आधुनिक लोकतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के विरुद्ध है। गार्नर के शब्दों में, "कोई भी सरकार जो लोकप्रियता पर आधारित नहीं है, जो व्यक्तियों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति लगन पैदा नहीं कर सकती तथा जो सजग, सक्रिय एवं बुद्धिमान नागरिक उत्पन्न नहीं कर सकती, आदर्श नहीं कही जा सकती।" इसलिए अधिनायकतन्त्र को लोकतन्त्र का उपयुक्त विकल्प नहीं माना जा सकता है।

लोकतन्त्र
(DEMOCRACY)

लोकतन्त्र का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है किन्तु लोकतन्त्र का प्रारम्भिक स्वरूप वर्तमान जैसा नहीं था। प्लेटो से लेकर 18वीं शताब्दी तक लोकतन्त्र शब्द घृणित एवं निन्दनीय रहा है। लोकतान्त्रिक सरकारों को अपने आधुनिक स्वरूप तक पहुँचने में अत्यधिक समय लगा। 19वीं शताब्दी के प्रारम्भ में लोकतन्त्र अत्यधिक लोकप्रिय हो गया। राजतन्त्र एवं अधिनायकतन्त्र लुप्त होते गये तथा उनका स्थान लोकतन्त्र ने ले लिया। वर्तमान में लोकतन्त्र शासन का श्रेष्ठतम रूप बन गया है।

लोकतन्त्र का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF DEMOCRACY)

'लोकतन्त्र' अथवा 'प्रजातन्त्र' शब्द अँग्रेजी भाषा के 'डेमोक्रेसी' (Democracy) शब्द का हिन्दी अनुवाद है। अँग्रेजी भाषा का 'डेमोक्रेसी' शब्द दो ग्रीक शब्दों—'डिमास' (Demos) तथा 'क्रैशिया' (Kratia) से मिलकर बना है। इन दोनों शब्दों का अर्थ क्रमशः 'जनता' तथा 'शासन' होता है। अतः शब्द व्युत्पत्ति के दृष्टिकोण से लोकतन्त्र का अर्थ 'जनता की शक्ति' है। इस प्रकार कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र शासन का ऐसा रूप है जिसमें

शासन-सत्ता स्वयं जनता के हाथों में रहती है जिसका प्रयोग जनता प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से करती है।

लोकतन्त्र के अर्थ के सम्बन्ध में विद्वानों में भारी मतभेद हैं। जहाँ कुछ विद्वान इसे आडम्बरमय व्यवस्था कहते हैं वहीं कुछ इसे शासन प्रणाली का श्रेष्ठतम रूप स्वीकार करते हैं। विभिन्न विद्वानों ने लोकतन्त्र को निम्न प्रकार से परिभाषित किया है—

ऑस्टिन के शब्दों में, "लोकतन्त्र वह शासन है जिसमें जनता का अपेक्षाकृत बड़ा भाग शासन करता है।"

हॉल के मतानुसार, "लोकतन्त्र राजनीतिक संगठन का वह स्वरूप है जिसमें जनमत का नियन्त्रण रहता है।"[1]

लोकतन्त्र को परिभाषित करते हुए गैटिल कहता है, "वह राज्य शासन जिसमें सर्वोच्च सत्ता में हिस्सेदारी का अधिकार सिर्फ जनता को ही प्राप्त हो, लोकतन्त्र शासन कहलाता है।"[2]

लास्की के शब्दों में, "लोकतन्त्र सरकार का वह रूप है जिसके अन्तर्गत व्यक्तियों को उस सरकार का निर्माण करने का अवसर प्राप्त होता है जिसके अधीन उन्हें रहना पड़ता है तथा जिसके अन्तर्गत सरकार द्वारा निर्मित कानून सबसे ऊपर समान रूप से लागू होते हैं।"[3]

लेविस के अनुसार, "लोकतन्त्र अथवा प्रजातन्त्र मुख्य रूप से वह सरकार है जिसमें सम्पूर्ण राष्ट्र की बहुसंख्यक जनता सम्प्रभु-शक्ति के प्रयोग में भाग लेती है।"[4]

डायसी के शब्दों में, "लोकतन्त्र शासन का वह प्रकार है जिसमें शासक समुदाय सम्पूर्ण राष्ट्र का अपेक्षाकृत एक बड़ा भाग हो।"[5]

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर लोकतन्त्र की निम्नांकित तीन विशेषताएँ मानी जा सकती हैं—

(i) शासन का उद्देश्य नागरिकों के सार्वजनिक हितों की रक्षा करना है,
(ii) लोकतन्त्र के अन्तर्गत जनता की प्रतिनिधि सरकार द्वारा ही शासन किया जा सकता है तथा
(iii) सरकार जन-साधारण के प्रति उत्तरदायी होती है।

लोकतन्त्र के प्रकार अथवा भेद
(KINDS OF DEMOCRACY)

लोकतन्त्र निम्नलिखित दो प्रकार का होता है—

(1) **प्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Direct Democracy)**—यह लोकतन्त्र का प्राचीन रूप है। इसमें लोग प्रत्यक्ष रूप में राज्य प्रबन्ध में भाग लेते हैं। ऐसा यूनान के नगर-राज्यों में हुआ करता था। पहले नगर-राज्यों की जनसंख्या कम थी तथा प्रत्येक व्यक्ति का राज्य प्रबन्ध में

---

1 "Democracy is that form of political organisation in which public opinion has control." —*Hall*

2 "Democracy is that form of government in which the mass of the population possesses the right to share in the exercise of sovereign power." —*Gettell*

3 "It (democracy) involves a frame of government in which first, men are given the chance of making the government under which they live in which also, the laws that government promulgates are binding equally on all." —*Laski*

4 "Democracy properly signifies a government in which the majority of the whole nation or community partakes of the sovereign powers." —*Lewis*

5 "Democracy is form of government in which governing body is comparatively large fraction of the entire nation." —*Dicey*

भाग लेना सम्भव था। लेकिन आजकल नगर-राज्यों का स्थान राष्ट्रीय राज्यों ने ले लिया है और राज्यों की जनसंख्या बहुत बढ़ गयी है इसलिए प्रत्यक्ष लोकतन्त्र लोकप्रिय नहीं रहा है। वर्तमान में सिर्फ स्विट्जरलैण्ड के पाँच कैण्टनों (राज्यों) में ही प्रत्यक्ष लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली प्रचलित है।

(2) **अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र (Indirect Democracy)**—अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र में जनता शासन में प्रत्यक्ष रूप से भाग न लेकर उसका संचालन अपने प्रतिनिधियों द्वारा करती है अतः अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में प्रतिनिधियों का निर्वाचन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण कार्य है। जनता वयस्क मताधिकार के आधार पर अपने कुछ प्रतिनिधि चुन लेती है जिनसे व्यवस्थापिका का गठन होता है। यह व्यवस्थापिका जनता की ओर से कानून पारित करती है तथा शासन पर नियन्त्रण रखती है। इस प्रकार अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता अपनी इच्छा की अभिव्यक्ति निर्धारित प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है। वर्तमान में भारत, इंग्लैण्ड, अमेरिका, फ्रांस तथा जापान इत्यादि राज्यों में अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र प्रचलित है।

लोकतन्त्र के गुण
(MERITS OF DEMOCRACY)

अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि शासन के रूप में लोकतन्त्र सर्वश्रेष्ठ है। लोकतन्त्र के गुण निम्नलिखित हैं—

(1) **जन-कल्याण की भावना**—इस शासन प्रणाली का विकास जन-कल्याण के लक्ष्यों को दृष्टिगत रखते हुए किया गया। राजतन्त्र तथा कुलीनतन्त्र में व्यक्ति विशेष अथवा वर्ग विशेष के हितों को ध्यान में रखा जाता है जबकि लोकतन्त्र में बिना किसी भेदभाव के समस्त जन-साधारण का हित साधन किया जाता है।

(2) **जनता की इच्छा पर आधारित**—लोकतन्त्रीय सरकार जनता की इच्छा पर आधारित होती है तथा राज्य-प्रबन्ध जन-साधारण की इच्छानुसार चलाया जाता है। जनता को यह अधिकार होता है कि उसके हित का समुचित ध्यान न रखने वाले दल एवं प्रतिनिधियों को चुनने से इन्कार कर दे। जन-साधारण के पास निर्वाचन रूपी अस्त्र होता है जो निरंकुश शासकों को भी परास्त कर सकता है। यह शासन जनता के प्रति उत्तरदायी होता है। फ्रैंक ने उचित ही कहा है, "लोकतन्त्र के एजेण्ट पूर्णरूपेण समाज के प्रति उत्तरदायी होते हैं।"

लोकतन्त्र के गुण

* जन-कल्याण की भावना
* जनता की इच्छा पर आधारित
* सर्वाधिक कार्यकुशल शासन
* उच्चादर्शों पर आधारित
* जनसाधारण का नैतिक उत्थान
* समस्त वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व
* व्यक्तित्व विकास के समुचित अवसर
* देशभक्ति को प्रोत्साहन
* क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती
* विश्व-शान्ति का समर्थन
* राजनीतिक शिक्षा की प्राप्ति
* कला, साहित्य, विज्ञान एवं संस्कृति की प्रगति में सहायक
* राजनीतिक जागृति एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास
* परिवर्तनशील शासन प्रणाली
* लोकप्रिय शासन
* स्थायी स्वशासन की स्थापना

(3) **सर्वाधिक कार्यकुशल शासन**—लोकतन्त्र को सर्वाधिक कार्यकुशल शासन प्रणाली कहा जा सकता है तथा इसकी विशेषता यह है कि कार्यकुशलता शक्ति के द्वारा न



होकर सहयोग के द्वारा प्राप्त की जाती है। इस सम्बन्ध में गार्नर कहता है, "लोकप्रिय निर्वाचन, लोकप्रिय नियन्त्रण तथा लोकप्रिय उत्तरदायित्व की व्यवस्था के कारण दूसरी किसी भी शासन-प्रणाली की अपेक्षा यह शासन अधिक कार्यकुशल होता है।"

(4) उच्चादर्शों पर आधारित—स्वतन्त्रता, समानता एवं भ्रातृत्व लोकतन्त्र के आधार तथा लक्ष्य हैं। इसका सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें नागरिकों को अनेक प्रकार की महत्त्वपूर्ण स्वतन्त्रताएँ प्राप्त रहती हैं जो अन्य प्रकार की शासन प्रणालियों में उपलब्ध नहीं होती हैं। लोकतन्त्र ही एकमात्र ऐसा शासन है जो समानता के सिद्धान्त पर आधारित है तथा राजनीतिक, धार्मिक, सामाजिक एवं आर्थिक समानता की स्थापना करता है। गैटिल के कथनानुसार, "चूँकि लोकतन्त्र समानता के सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है, अतः इससे न्याय की वृद्धि होना सम्भव है जो कि राज्य के अस्तित्व के प्रधान लक्ष्यों में से एक है।"

(5) जन-साधारण का नैतिक उत्थान—शासन की कुशलता की कसौटी सिर्फ यह नहीं है कि वह किस सीमा तक शान्ति तथा सुव्यवस्था की स्थापना कर सकती है बल्कि यह भी है कि वह नागरिकों के चरित्र का किस सीमा तक विकास कर सकती है। इस दृष्टिकोण से लोकतन्त्र का अत्यधिक महत्त्व है। जनता को राजनीतिक शक्ति प्रदत्त कर लोकतन्त्र उसमें आत्म-सम्मान के भाव पैदा करता है। जॉन स्टुअर्ट मिल ने ठीक ही कहा है, "यह किसी भी अन्य शासन प्रणाली की अपेक्षा उच्च एवं श्रेष्ठ राष्ट्रीय चरित्र का विकास करता है।"[1] लॉवेल ने तो यहाँ तक कहा है, "वही सरकार सर्वश्रेष्ठ है जो व्यक्ति की नैतिकता, साहस, आत्मबोध एवं पवित्रता को मजबूत बनाये।"

(6) समस्त वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व—लोकतन्त्र में बहुसंख्यक, अल्पसंख्यक, निम्न तथा पिछड़े सभी वर्गों को प्रतिनिधित्व एवं सुविधाएँ मिलती हैं। इस सम्बन्ध में लॉवेल कहता है, "पूर्ण लोकतन्त्र में कोई भी यह शिकायत नहीं कर सकता कि उसे अपनी बात कहने का अवसर नहीं मिला।"

(7) व्यक्तित्व विकास के समुचित अवसर—लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति के व्यक्तित्व की गरिमा का सम्मान किया जाता है। सभी लोगों को चुनाव में हिस्सा लेने तथा सार्वजनिक पद ग्रहण करने का अधिकार प्राप्त होता है। विल्सन के कथनानुसार, "मैं लोकतन्त्र में इस कारण से आस्था रखता हूँ कि यह प्रत्येक व्यक्ति की शक्ति को उन्मुक्त कर देता है।"[2]

(8) देशभक्ति को प्रोत्साहन—इस शासन प्रणाली में जन-साधारण को राजनीतिक शक्ति प्राप्त होने के कारण नागरिक शासन व्यवस्था से जुड़े होते हैं। उनमें यह विचार उत्पन्न हो जाता है कि राज्य उनका अपना है। इस विचार से देशभक्ति की भावना का उदय होता है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि फ्रांसीसी जनता क्रान्ति के बाद से ही फ्रांस से प्रेम करने लगी थी जबकि उन्हें देश की शासन व्यवस्था में भाग मिला। इस सम्बन्ध में जे. एस. मिल ने अपने विचार प्रकट करते हुए कहा है, "लोकतन्त्र नागरिकों की देश भक्ति को बढ़ाता है क्योंकि नागरिक यह अनुभव करते हैं कि सरकार उन्हीं की उत्पन्न की हुई वस्तु है तथा अधिकारी उसके स्वामी न होकर सेवक हैं।"

---

1 "It promotes a better and higher form of national character than any other polity whatever." —J. S. Mill

2 "I belive in democracy, because it releases the energy of every human being." —Wilson

(9) **क्रान्ति की सम्भावना नहीं रहती**—लोकतन्त्रीय सरकार में क्रान्ति की सम्भावना भी कम होती है क्योंकि राज्य प्रबन्ध जनता की इच्छानुसार चलाया जाता है तथा आवश्यकता पड़ने पर लोग संवैधानिक प्रकार से सरकार को बदल सकते हैं। गिलक्राइस्ट के मतानुसार, **"लोकप्रिय सरकार सर्वसम्मति की सरकार है इसलिए स्वभाव से ही उसमें क्रान्ति नहीं होती है।"**

(10) **विश्व-शान्ति का समर्थन**—आधुनिक काल में विश्व शान्ति मानवता का स्वर्णिम स्वप्न है। इसको मानव मूल्यों एवं भ्रातृत्व की भावना पर आधारित लोकतन्त्र द्वारा ही साकार किया जा सकता है। राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र तथा साम्यवादी तानाशाही सरकारों ने समय-समय पर विश्व-शान्ति को क्षति पहुँचायी है लेकिन लोकतन्त्रीय सरकारें सह-अस्तित्व तथा विश्व-शान्ति में विश्वास रखती हैं। यहाँ बर्न्स का यह कथन उल्लेखनीय है, **"लोकतन्त्रीय आन्दोलन शान्ति का आन्दोलन रहा है।"**

(11) **राजनीतिक शिक्षा की प्राप्ति**—लोकतन्त्रीय सरकार में नागरिकों को अपने विचार प्रकट करने, सरकार की आलोचना करने, राज्य प्रवन्ध के कार्यों में हिस्सा लेने इत्यादि की स्वतन्त्रता होती है। इन सभी के परिणामस्वरूप जनसाधारण को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है। लोकतन्त्र के इसी गुण के कारण गैटिल ने इसको नागरिकता की शिक्षा प्रदान करने वाला स्कूल कहा है।

(12) **कला, साहित्य, विज्ञान एवं संस्कृति की प्रगति में सहायक**—लोकतन्त्र कला, साहित्य, विज्ञान एवं संस्कृति के उन्मुक्त विकास में आस्था रखता है अतः इसकी पर्याप्त प्रगति होती है। इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत समाज में स्वतन्त्रता का वातावरण रहता है जो इसकी प्रगति में सहायक सिद्ध होता है। मेयो ने उचित ही कहा है, **"एक स्वतन्त्र समाज में वैज्ञानिक विकास की अत्यधिक सम्भावनाएँ हैं।"**

(13) **राजनीतिक जागृति एवं उत्तरदायित्व की भावना का विकास**—शासन की यह प्रणाली जन-साधारण में राजनीतिक जागृति उत्पन्न करने में सहायक होती है। निर्वाचन में भाग लेने तथा शासन कार्यों में योगदान देने के कारण जनता में राजनीतिक जागृति एवं चेतना उत्पन्न हो जाती है। जनता को अनेक प्रकार के अधिकार प्राप्त होने से उनमें उत्तरदायित्व की भावना विकसित होती है। अप्पादोराय के शब्दों में, **"लोकतन्त्र प्रणाली शासन की जिम्मेदारी जनता के जिम्मे करके उनमें बुद्धिमत्ता, आत्म-निर्भरता, नवीन कार्यों को करने की प्रवृत्ति तथा सार्वजनिक भावना को प्रोत्साहित करती है।"**[1]

(14) **परिवर्तनशील शासन-प्रणाली**—लोकतन्त्र एक ऐसा प्रयोग है जिसमें शासन प्रणाली को तब तक बदलते रहने की छूट है जब तक वह लोकमत के अनुकूल न हो जाय। इसमें शासन ऊपर से लादा नहीं जाता बल्कि विकसित किया जाता है। निर्वाचन के द्वारा इसमें सरकार बदलती रहती है। वस्तुतः यह गतिशील शासन प्रणाली है। इसमें शान्तिपूर्ण परिवर्तन अथवा संशोधन किये जा सकते हैं तथा प्रगति सरलतापूर्वक हो सकती है।

(15) **लोकप्रिय शासन**—इस शासन को सर्वाधिक लोकप्रिय माना जाता है क्योंकि इसमें जनता की और जनता के लिए बनी सरकार होती है। अतः इसका लोकप्रिय होना

---

1 "Democracy encourages intelligence, self-reliance and social sense of free men by placing the ultimate responsibility for government on the citizens themselves." —*Appadorai*

स्वाभाविक ही है। पिनॉक एवं स्मिथ के कथनानुसार, "1950 के बाद लोकतन्त्र का एक भी विरोधी दिखाई नहीं दिया।"

(16) स्थायी स्वशासन की स्थापना—लोकतन्त्र में स्थानीय संस्थाओं; जैसे—नगरपालिका, जिला पंचायत तथा 'ग्राम पंचायत' इत्यादि को विशेष अधिकार प्राप्त होते हैं। जनता के प्रतिनिधि स्वयं इनका प्रबन्ध करते हैं। अतः जनता को भविष्य के लिए प्रशासन का प्रशिक्षण प्राप्त हो जाता है।

लोकतन्त्र के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF DEMOCRACY)

लोकतन्त्र की भर्त्सना एवं उपासना दोनों ही की गयी हैं। प्लेटो ने इसे सरकार का विकृत रूप माना है। टेलीरेण्ड, कार्लाइल, एच. जी. वेल्स तथा लुडोविसी इत्यादि विद्वानों ने इस शासन व्यवस्था की कड़ी आलोचना की है। उनके मतानुसार लोकतन्त्र जनता की, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए सरकार नहीं है बल्कि यह साधन-सम्पन्न व्यक्तियों की सरकार है। आलोचकों के अनुसार लोकतन्त्र शासन प्रणाली के प्रमुख दोष निम्नलिखित हैं—

(1) गुणों से अधिक संख्या को महत्त्व—लोकतन्त्रीय सरकार में यदि 51 मूर्ख एक तरफ हों तथा 50 बुद्धिमान एक तरफ हों तो बुद्धिमानों की बात अनसुनी कर दी जायेगी। मुहम्मद इकबाल ने ठीक ही कहा है, "इस सरकार में सिरों को गिना जाता है, तौला नहीं जाता।"

लोकतन्त्र के अवगुण अथवा दोष

* गुणों से अधिक संख्या को महत्त्व
* अप्राकृतिक समानता पर आधारित
* अज्ञानी एवं अयोग्य लोगों का शासन
* अनुत्तरदायी शासन
* खर्चीली सरकार
* राजनीतिक दलों का कुप्रभाव
* बहुमत की तानाशाही
* अनैतिकता का उदय
* पूँजीपतियों का शासन
* राजनीतिक व्यवसायीकरण
* आपातकाल में कमजोर सरकार
* राष्ट्रीय एकता का अभाव
* उत्तेजना की प्रबलता
* लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता भ्रमपूर्ण
* भ्रष्ट शासन व्यवस्था
* सर्वतोन्मुखी उन्नति की असम्भावना
* राजनीतिक शिक्षा का दम्भ
* मतदाताओं की उदासीनता

(2) अप्राकृतिक समानता पर आधारित—प्रत्येक व्यक्ति समान पैदा नहीं होता। कोई व्यक्ति अधिक बुद्धि वाला होता है और कोई कम बुद्धि वाला। लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को समान दर्जा दिया जाता है जबकि यह गलत है। एक शिक्षित एवं अशिक्षित को भी एक ही मत डालने का अधिकार देना असमानता है।

(3) अज्ञानी एवं अयोग्य लोगों का शासन—संगीत, नौका चालन, चिकित्सा एवं शिक्षण इत्यादि के समान ही शासन भी एक कला है। इसके संचालन के लिए योग्यता एवं विशेषज्ञता की आवश्यकता होती है। लेकिन लोकतन्त्र शासन प्रणाली में योग्यता एवं विशेषज्ञता की उपेक्षा होती है। यह प्रणाली सभी व्यक्तियों को चाहे वे मूर्ख हों अथवा बुद्धिमान, शासन में हिस्सा लेने का समान अवसर प्रदान करती है। अतः इसे अज्ञानी एवं अयोग्य लोगों का शासन कहा जाता है। सर सिडनी लो का कहना है, "एक नवयुवक के लिए वित्त मन्त्रालय में दूसरे दर्जे का क्लर्क बनने हेतु गणित की परीक्षा पास करना आवश्यक होता है लेकिन वित्तमन्त्री एक अनपढ़ भी हो सकता है जो वह शिक्षा भूल चुका

हो जो कुछ उसने ईटन अथवा ऑक्सफोर्ड में पढ़ी थी।" इसी प्रकार लेकी ने कहा है, "लोकतन्त्र वह शासन है जिसका संचालन सबसे अधिक दरिद्र, सबसे अधिक अज्ञानी व्यक्तियों द्वारा होता है जिनकी संख्या स्वाभाविक रूप से सबसे अधिक होती है।"

(4) **अनुत्तरदायी शासन**—इस शासन को सिद्धान्त रूप में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन कहा जाता है लेकिन व्यवहार में यह अनुत्तरदायी शासन होता है। इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत प्राप्त होने वाली असफलताओं का उत्तरदायित्व उठाने के लिए कोई तैयार नहीं होता। आरोप-प्रत्यारोपों का एक ऐसा दौर चलता है कि साधारण व्यक्ति के लिए यह पता लगाना कठिन हो जाता है कि असफलता के लिए असल में कौन उत्तरदायी है। फैगेट के अनुसार, "लोकतन्त्र शासन के अन्तर्गत शासन सत्ता एक अव्यवस्थित भीड़ के हाथ में रहती है। अतः यदि किसी को कोई शिकायत करनी हो अथवा विरोध करना हो तो वह किससे करे, यह बहुत कठिन होता है।"[1]

(5) **खर्चीली सरकार**—लोकतन्त्रीय सरकार एक खर्चीली व्यवस्था है। आये दिन होने वाले चुनावों तथा मन्त्रियों इत्यादि के वेतन तथा भत्तों इत्यादि पर करोड़ों रुपये खर्च करने पड़ते हैं जो जनता पर अतिरिक्त भार होता है। इस सम्बन्ध में गैटिल कहता है, "लोकतन्त्र में न केवल अपव्यय होता है बल्कि इसके अतिरिक्त निरर्थक वाद-विवाद, समिति प्रणाली द्वारा विचार-विमर्श इत्यादि के कारण समय भी नष्ट होता है।"

(6) **राजनीतिक दलों का कुप्रभाव**—वर्तमान लोकतन्त्रीय प्रणाली राजनीतिक दलों के अभाव में नहीं चलायी जा सकती। राजनीतिक दल कुप्रचार करते हैं, साम्प्रदायिकता, प्रान्तवाद, जातिवाद इत्यादि की भावना को प्रोत्साहित करते हैं तथा देशभक्ति के स्थान पर दलीय भक्ति को बढ़ावा देते हैं। इसी कारण ब्राइस ने कहा है कि "राजनीतिक दल अज्ञानता तथा कपट को उत्साहित करते हैं, स्वाभाविक आदर्शों को हीन बताते हैं तथा राष्ट्र के जीवन में फूट डालकर लूट का माल बाँट खाते हैं।"[2]

(7) **बहुमत की तानाशाही**—लोकतन्त्र में बहुमत की तानाशाही स्थापित हो जाती है। चुनावों में जिस दल को बहुमत प्राप्त हो जाता है वह अल्पसंख्यकों के हितों की अवहेलना करता है तथा स्वेच्छा से शासन चलाने हुए अपनी तानाशाही स्थापित कर लेता है। बार्कर के शब्दों में, "लोकतन्त्र एक ऐसी सरकार है जिसमें थोड़े से चतुर व्यक्ति चुनावों के समय सम्पूर्ण जन समूह को अपने पक्ष में ले आते हैं।"

(8) **अनैतिकता का उदय**—लोकतन्त्र में नैतिक मूल्यों की उपेक्षा होती है। चुनावों में सत्यता एवं ईमानदारी के स्थान पर भ्रष्ट, अनैतिक तथा घृणित साधनों का उपयोग करके 'येन केन प्रकारेण' विजयी होने का प्रयास करते हैं। अतः लोकतन्त्र से अनैतिकता का उदय होता है।

(9) **पूँजीपतियों का शासन**—लोकतन्त्र सभी की सरकार न होकर धनिक वर्ग की सरकार है। धनी व्यक्ति ही चुनाव लड़ते हैं तथा धन के बल से विजयश्री प्राप्त करते हैं। चुनावों में सफलता प्राप्त करने के उपरान्त धनी लोग पूँजीपतियों के हितों की रक्षा करते हैं।

1 "In democracy the sole government power resides in a confused mass which offers no point to which a man can address himself if he has a complaint, claim or an indignant protest." —Faguest

2 "Political parties encourage hollowness and in sincerity create cleavage in the life of the nation, debase normal standards and distribute the spoils." —Bryce

(10) राजनीतिक व्यवसायीकरण—लोकतन्त्र में राजनीति कुछ लोगों का व्यवसाय बन जाती है। वह जनता की सेवा करने की बजाय अपने तथा परिवार के हितों को ऊँचा उठाने की तरफ अधिक ध्यान देते हैं। जो लोग झूठ बोलकर तथा ऊँचे हाथ उठाकर भाषण दे सकते हैं वहीं लोगों को अपने पीछे लगा सकते हैं। प्रो बार्कर के शब्दों में, "लोकतन्त्र में शासन की शक्ति उन व्यक्तियों के हाथों में पहुँच जाती है जो राजनीति को अपना पेशा बना लेते हैं। वे अपनी भाषण शक्ति से जन-साधारण को प्रभावित कर निर्वाचित हो जाते हैं। लेकिन उनमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वे देश की उन्नति हेतु रचनात्मक कार्य कर सकें। इसलिए उनसे लोकहित की उम्मीद नहीं की जा सकती।"

(11) आपातकाल में कमजोर सरकार—आपातकाल में निर्णय काफी वाद-विवाद के पश्चात् लिये जाते हैं तथा शासन शक्ति किसी एक व्यक्ति के हाथों में नहीं होती। इस कारण आपातकाल का दृढ़ता से सामना नहीं किया जा सकता।

(12) राष्ट्रीय एकता का अभाव—लोकतन्त्र में प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाती है। अनेक गलत लोग प्रान्तवाद, साम्प्रदायिकता एवं भाषावाद इत्यादि की भावना का प्रचार करते रहते हैं जिससे देश की एकता एवं अखण्डता कमजोर होती है।

(13) उत्तेजना की प्रबलता—लोकतन्त्र में प्रायः व्यक्ति तर्क एवं विवेक के आधार पर विचार न करके भावनाओं में बह जाते हैं जिसके परिणाम अत्यधिक भयानक होते हैं। इसी कारण ली बान ने कहा है, "लोकप्रिय सरकार उत्तेजना के हिंडोले में झूलती रहती है तथा प्रायः भीड़ की सरकार बन जाती है।"[1]

(14) लोकतान्त्रिक स्वतन्त्रता भ्रमपूर्ण—लोकतन्त्र व्यक्ति को राजनीतिक स्वतन्त्रता तो प्रदान करता है लेकिन आर्थिक स्वतन्त्रता नहीं देता। इस स्थिति में पूँजीपति वर्ग को गरीबों के प्रति अमानवीय तथा अनैतिक आचरण करने का मौका मिल जाता है। आलोचकों का यह भी कहना है कि लोकतन्त्र में न तो श्रेष्ठ शासन ही प्राप्त होता है तथा न अधिक स्वतन्त्रता ही मिलती है। हेनरीमैन एवं लेकी के शब्दों में, "लोकतन्त्र तथा स्वतन्त्रता एक-दूसरे के विरोधी हैं।" अतः लोकतन्त्र की स्वतन्त्रता की धारणा एक कागजी एवं खोखली स्वतन्त्रता है।

(15) भ्रष्ट शासन व्यवस्था—लोकतान्त्रिक शासन व्यवस्था में व्यावहारिक रूप से शासन एक राजनीतिक दल विशेष की इच्छानुसार ही किया जाता है। सत्तारूढ़ दल अपने दानदाताओं, समर्थकों तथा सहायकों को अनुचित प्रकार से आर्थिक लाभ पहुँचाता है। इस प्रकार लोकतन्त्र में भ्रष्टाचार का एक घृणित चक्र प्रारम्भ हो जाता है। 'द मनी पावर इन पॉलिटिक्स' में ब्राइस ने लिखा है, "ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि निर्वाचकों, विधायकों, प्रशासकीय अधिकारियों तथा न्यायाधिकारियों तक ने धन के लालच के सामने सिर झुका दिया।"

(16) सर्वतोन्मुखी उन्नति की असम्भावना—लोकतन्त्र को कला, साहित्य, सभ्यता, संस्कृति तथा विज्ञान का शत्रु कहा जाता है। सामान्य जनता रूढ़िवादी होती है जो प्रगतिशील कदमों का सदैव विरोध करती है। बर्न्स के शब्दों में, "लोकतन्त्र जिस सभ्यता को जन्म देता है वह दूषित, साधारण एवं मन्द होती है।"[2]

---

1 "Popular government is too much swayed by emotionalism and tends to become government by crowds." —*Le Ban*

2 "The civilization, which a democracy produces, is said to be banal, mediocre or dull." —*C. D. Burns*

(17) **राजनीतिक शिक्षा का दम्भ**—यह कथन कि इस प्रणाली में व्यक्ति को नागरिक शिक्षा, नैतिक शिक्षा तथा राष्ट्र-प्रेम की शिक्षा मिलती है, नितान्त भ्रमपूर्ण है। चुनावों के समय समस्याओं को अत्यन्त विकृत रूप में जनसाधारण के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है जिससे स्वार्थ, कपट तथा असामाजिकता की शिक्षा प्राप्त होती है। ऐसी शिक्षा प्राप्त होने से तो यही अच्छा है कि राजनीतिक शिक्षा ग्रहण ही न की जाए।

(18) **मतदाताओं की उदासीनता**—लोकतन्त्र का एक दोष यह है कि मतदाताओं में अपने दायित्वों के प्रति उदासीनता रहती है। लोकतन्त्र मतदाताओं की सक्रिय रुचि पर आधारित व्यवस्था है लेकिन व्यवहार में सामान्य मतदाताओं की उदासीनता ही पायी जाती है।

लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग में बाधाएँ

लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग की प्रमुख बाधाएँ निम्नांकित हैं—

(1) **अशिक्षा**—लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग की सबसे बड़ी रुकावट नागरिकों का अशिक्षित होना है। अशिक्षित नागरिक चुनाव के महत्त्व को समझ नहीं पाता है तथा न ही उसे लोकतन्त्र की वास्तविकता का ही ज्ञान हो पाता है।

(2) **आर्थिक बाधा**—आर्थिक विषमता सफल लोकतन्त्र हेतु बाधक सिद्ध होती है। आर्थिक समानता के अभाव में समाज दो वर्गों—निर्धन तथा धनिक—में विभाजित हो जाता है। इस प्रकार आर्थिक विषमता लोकतन्त्र की सफलता में रुकावट पैदा करती है।

(3) **राजनीतिक दलबन्दी**—राजनीतिक दलों की संकुचित दृष्टि भी लोकतन्त्र की सफलता में बाधक है। राजनीतिक दलों द्वारा राष्ट्रीय हितों की अवहेलना करने पर देश की राष्ट्रीय एकता नष्ट हो जाती है तथा चारों ओर अराजकता के चिह्न प्रकट होने लगते हैं।

(4) **पेशेवर राजनीतिज्ञों का जन्म**—वर्तमान में अनेक पेशेवर राजनीतिज्ञों का उदय हुआ है। ये पेशेवर राजनीतिज्ञ, राजनीति को अपनी आजीविका का साधन मानते हैं। इसी कारण वे सदैव राजनीति से चिपके रहना चाहते हैं। ये राजनीतिज्ञ सदैव देश हित की उपेक्षा करके अपने हितों का ध्यान रखते हैं। ऐसे राजनीतिज्ञों के न तो अपने विचार होते हैं और न ही कोई सिद्धान्त।

(5) **युद्ध**—युद्ध लोकतन्त्र के सबसे बड़े शत्रु हैं। रक्तपात मानव के संकुचित विचारों का फल है। जब तक युद्धों की प्रधानता रहेगी, लोकतन्त्र सफल नहीं हो पायेगा। इस प्रकार युद्ध भी लोकतन्त्र की सफलता में बाधक की भूमिका का निर्वाह करते हैं।

(6) **सत्ता का केन्द्रीकरण**—लोकतन्त्र की सफलता में एक बाधा सत्ता का केन्द्रीकरण भी है। जब शासन सत्ता का कुछ लोगों में केन्द्रीकरण हो जाता है तब वे जनहित की उपेक्षा करके स्वयं अपनी हित पूर्ति में लग जाते हैं जिसके फलस्वरूप भ्रष्टाचार एवं अनैतिकता का राज्य कायम हो जाता है।

(7) **साम्प्रदायिकता**—लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग में सबसे बड़ी बाधा साम्प्रदायिकता की भावना है। संकीर्ण विचारधारा वाले व्यक्ति अपनी जाति, धर्म एवं सम्प्रदाय का ध्यान रखते हैं तथा राष्ट्रीय हित की उपेक्षा करते हैं। इस प्रकार साम्प्रदायिकता को ज़हर किसी भी समय लोकतन्त्र के लिए घातक सिद्ध हो सकता है।

(8) **प्रेस का स्वतन्त्र न होना**—लोकतन्त्र की सफलता में एक बाधा प्रेस पर अंकुश लगाना भी है। सफल लोकतन्त्र के लिए प्रेस की स्वतन्त्रता अनिवार्य दशा है।

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक दशाएँ अथवा शर्तें
(CONDITIONS NECESSARY FOR THE SUCCESS OF DEMOCRACY)

लोकतन्त्रीय सरकार जहाँ सबसे उत्तम है वहाँ जटिल भी है। इसकी सफलता के लिए एक विशेष प्रकार का वातावरण आवश्यक है। प्रतिकूल परिस्थितियों में लोकतन्त्र अनेक देशों में असफल सिद्ध हुआ है। लोकतन्त्र की सफलता हेतु निम्नलिखित परिस्थितियाँ प्रमुख रूप से आवश्यक हैं—

(1) **लोकतान्त्रिक आदर्शों में आस्था**—नागरिकों में लोकतान्त्रिक भावना का होना लोकतन्त्र की सफलता की आवश्यक शर्त है। लोकतन्त्र का आधार जनता है। अतः जनता में लोकतान्त्रिक व्यवस्था अथवा मान्यता में आस्था न होने पर लोकतन्त्र टिक नहीं सकता। आइवर ब्राउन के शब्दों में, **"नागरिकों को लोकतन्त्र में सिर्फ आस्था ही नहीं रखनी चाहिए बल्कि उसकी रक्षार्थ सतत् प्रयत्नशील भी रहना चाहिए।"**

लोकतन्त्र की सफलता के लिए आवश्यक दशाएँ अथवा शर्तें

* लोकतान्त्रिक आदर्शों में आस्था
* स्वतन्त्र प्रेस
* स्थानीय स्वशासन
* प्रभावशाली विपक्ष
* सामाजिक न्याय
* शिक्षित एवं जागरूक जनता
* नागरिकों का उच्च चरित्र
* आर्थिक असमानता
* सहयोग एवं सहनशीलता की भावना
* स्वतन्त्र न्यायपालिका
* स्वतन्त्र चुनाव प्रबन्ध
* सेना पर जनता की सर्वोच्चता

(2) **स्वतन्त्र प्रेस**—जिस देश में समाचार-पत्रों पर प्रतिबन्ध लगा रहता है, उस देश में लोकतंत्र की असफलता निश्चित मानी जा सकती है। स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस ही जन-साधारण को तथ्यों एवं घटनाओं से अवगत कराता है। वह जन-समस्याओं को सरकार के सम्मुख रखने में भी सहायक होता है। अतः प्रेस प्रतिबन्ध रहित होने चाहिए तथा उस पर राज्य का भय एवं अंकुश नहीं होना चाहिए। ब्राइस का भी मानना है, **"बड़े देशों में समाचार-पत्रों द्वारा ही लोकतन्त्र सम्भव हो पाता है।"**[1]

(3) **स्थानीय स्वशासन**—लोकतन्त्र के समस्त रोगों का निदान अधिक लोकतन्त्र द्वारा ही सम्भव है। अतः लोकतन्त्र की सफलता हेतु स्थानीय क्षेत्रों में लोकतन्त्र की स्थापना की जानी चाहिए जिसका दूसरा नाम ही स्थानीय स्वशासन है। स्थानीय स्वशासन में जन-साधारण को शासन के कार्यों में भाग लेने का अवसर मिलता है। जिससे उनमें राजनीतिक जागृति आती है। लोकतन्त्र में स्थानीय स्वशासन के महत्त्व को स्वीकारते हुए लैक कहता है, **"स्थानीय स्वशासन लोकतन्त्र का आधार एवं प्रशिक्षण है।"**[2]

(4) **प्रभावशाली विपक्ष**—लोकतन्त्र में विपक्षी दल की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। चुनावों में विजयी दल सरकार का गठन करता है तथा विरोधी दल लोकतन्त्र के प्रहरी की भूमिका का निर्वाह करता है। एक शक्तिशाली विरोधी दल के अभाव में लोकतन्त्रात्मक सरकार निरंकुश एवं निकम्मी हो जाती है तथा सत्ता का दुरुपयोग करने लगती है। सरकार के भ्रष्ट

1 "It is the newspaper press that has made democracy possible in large countries." —*Bryce*

2 "Local Government is the basis and training of democracy." —*Lack*

होने, कार्यों में असफल सिद्ध होने तथा गलत नीतियाँ लागू करने पर विरोधी दल आलोचना के द्वारा सरकार को सावधान करता है।

(5) **सामाजिक न्याय**—लोकतन्त्र को सफल बनाने हेतु यह आवश्यक है कि लोगों के मध्य धर्म, जाति, रंग, भाषा, लिंग तथा जन्म-स्थान इत्यादि के आधार पर भेदभाव न किया जाय। सभी लोगों को प्रगति के समान अवसर उपलब्ध हों तथा कानून के समक्ष सभी समान माने जायें। अन्य शब्दों में कहा जा सकता है कि सामाजिक समानता सफल लोकतन्त्र के संचालन हेतु आवश्यक है।

(6) **शिक्षित एवं जागरूक जनता**—लोकतन्त्र की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनता कितनी शिक्षित एवं जागरूक है। इंग्लैण्ड जैसे देश में मूलाधिकार संविधान में उल्लिखित नहीं हैं फिर भी वहाँ की जनता इतनी जागरूक है कि उनके हनन पर संगठित रूप से सशक्त आवाज लगाती है तथा सरकार को गलती सुधारने हेतु मजबूर होना पड़ता है। उचित शिक्षा के द्वारा ही व्यक्ति इस योग्य होता है कि वह देश की राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक समस्याओं को उचित प्रकार से समझ सके तथा उसके सम्बन्ध में स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय ले सके। लोकतन्त्र में नागरिकों को अपने अधिकारों तथा कर्त्तव्यों के प्रति सदैव जागरूक रहना चाहिए। इस सम्बन्ध में फिलिप ने उचित ही कहा है, **"सतत् जागरूकता ही लोकतन्त्र का मूल्य है।"**[1] इसी प्रकार महात्मा गाँधी ने भी कहा है, **"लोकतन्त्र ऐसा राज्य नहीं होता जिसमें जनता भेड़ों के समान कार्य करे इसमें जनसाधारण को जागरूक रहना होता है।"**[2]

(7) **नागरिकों का उच्च चरित्र**—किसी देश में लोकतन्त्र की सफलता हेतु वहाँ के नागरिकों का चरित्र ऊँचा होना चाहिए। जन-साधारण में सत्यता, ईमानदारी, सार्वजनिक कार्यों के प्रति रुचि, निःस्वार्थता तथा उत्तरदायित्व की भावना का होना जरूरी है। इन सभी के अभाव में राजनीतिक अधिकार भ्रष्टाचार को बढ़ावा देते हैं तथा मानव मूल्यों का ह्रास होता है।

(8) **आर्थिक असमानता**—साधारणतया हम देखते हैं कि लोग मत बेच देते हैं तथा पैसे लेकर अपने मताधिकार का प्रयोग करते हैं। आर्थिक असमानता इसका प्रमुख कारण है। प्रो. लास्की ने उचित ही कहा है, **"आर्थिक समानता की अनुपस्थिति में राजनीतिक स्वतन्त्रता व्यर्थ है।"** इससे यह सिद्ध होता है कि जिस समाज में अमीर एवं गरीब में अन्तर हो वहाँ लोकतन्त्र सफल नहीं हो सकता। इसलिए आर्थिक समानता लाने की आवश्यकता है। हॉब्सन के शब्दों में **"धनिकों का धन तथा निर्धनों की निर्धनता लोकतन्त्र को नष्ट कर देते हैं।"**

(9) **सहयोग एवं सहनशीलता की भावना**—लोकतंत्रीय सरकार में सभी नागरिकों को राज्य प्रबन्ध चलाने में भाग मिलता है। लेकिन इस उद्देश्य की प्राप्ति तभी हो सकती है जब एक व्यक्ति दूसरे को सहयोग दे। इस शासन में आलोचना करने का अधिकार प्राप्त होता है लेकिन यह अधिकार तभी माना जा सकता है जब दूसरों में सहनशीलता हो।

(10) **स्वतन्त्र न्यायपालिका**—लोकतन्त्र की रक्षा एवं सफलता हेतु एक निष्पक्ष और स्वतन्त्र न्यायपालिका आवश्यक है। स्वतन्त्र न्यायपालिका लोकतन्त्र की रीढ़ है। स्वतन्त्र न्यायपालिका ही संविधान एवं नागरिकों के अधिकारों की रक्षक होती है। ब्राइस के अनुसार, **"यदि न्याय का दीपक अँधेरे में बुझ जाये तो वह अँधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती।"**

1 "Eternal vigilance is the price of democracy." —*D. Phillip*
2 "Democracy is not a state in which people act like sheep. The public is to be alert." —*M. Gandhi*

(11) स्वतन्त्र चुनाव प्रबन्ध—लोकतन्त्र में चुनावों द्वारा प्रतिनिधियों का चयन किया जाता है। अतः स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष चुनाव कराने हेतु एक ऐसी चुनाव एजेन्सी होनी चाहिए जो उचित प्रकार से चुनावों का संचालन कर सके।

(12) सेना पर जनता की सर्वोच्चता—लोकतन्त्र की सफलता हेतु सेना को असैनिक अंगों के नियन्त्रण में कर दिया जाना चाहिए। ऐसा न करने पर सैनिक तानाशाही कायम होने का भय रहता है।

भारत में लोकतन्त्र
(DEMOCRACY IN INDIA)

सैकड़ों वर्ष की पराधीनता के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतन्त्र हुआ। 26 जनवरी, 1950 को भारत ने अपना संविधान लागू किया। संविधान द्वारा भारत में पूर्ण प्रभुत्व सम्पन्न लोकतान्त्रिक गणराज्य की स्थापना की गयी तथा लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्त 'वयस्क मताधिकार' को अपनाया गया। इसी आधार पर अभी तक ग्यारह आम-चुनाव सम्पन्न हो चुके हैं। इन आम-चुनावों में भारतीय अशिक्षित जनता ने जिस राजनीतिक सूझ-बूझ का परिचय दिया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि भारतीय नागरिकों में एक लोकतान्त्रिक देश के सुयोग्य नागरिकों के समान आचरण की प्रवृत्ति विद्यमान है।

भारत का मतदाता राजनीतिक रूप से काफी जागरूक है और लोकतन्त्र की रक्षार्थ वह दृढ़प्रतिज्ञ है। मार्च, 1977 के आम चुनाव शासक वर्ग के लिए एक सबक है कि यदि वे निरंकुश कानूनी व्यवस्थाओं तथा तानाशाही प्रवृत्तियों का सहारा लेंगे तो भारतीय मतदाता उन्हें उखाड़ फेंकेंगे। 1989 में सम्पन्न 9वीं लोकसभा के चुनावों में भी जनता ने अकुशल शासन तथा अविश्वसनीय नेतृत्व को नकार दिया। मई-जून, 1991 के 10वीं लोकसभा के चुनावों में जन-साधारण ने विवादास्पद नेतृत्व एवं राजनीतिक अस्थायित्व को अस्वीकार कर दिया। अप्रैल-मई, 1996 के 11वीं लोकसभा के चुनावों में लगभग सभी राजनीतिक दलों को अस्वीकार करके भारतीय जनता ने उन्हें अपनी नीतियों, कार्यक्रमों तथा सोचने-समझने की शैली पर पुनः विचार करने का सन्देश दिया है। 12वीं लोकसभा में भी जनता ने अपना पुराना फैसला दोहराया।

सितम्बर-अक्टूबर 1999 में हुए 13वीं लोकसभा के चुनावों में जनता ने एक बार फिर अपना फैसला बदलकर राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन को बहुमत दिलाया। हालांकि वर्तमान 13वीं लोकसभा में राष्ट्रीय जनतान्त्रिक गठबन्धन को बहुमत प्राप्त है लेकिन इतने अधिक दलों के गठबन्धन की वजह से सरकार का रास्ता आसान नहीं है।

भारतीय आम चुनावों से स्पष्ट होता है कि भारत की जनता ने लोकतन्त्र में गहरी आस्था प्रकट करते हुए अपनी सूझ-बूझ का परिचय दिया है। भारतीय जनता ने यह सिद्ध कर दिया है कि भारत वास्तव में विश्व का सबसे बड़ा लोकतान्त्रिक देश है।

भारत विदेशी आक्रमणों के संकटों का सामना कर चुका है। अन्तर्राष्ट्रीय दबावों के बावजूद भी भारत अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति से पीछे नहीं हटा है। विघटनकारी तत्त्वों के बार-बार षड्यन्त्र करते रहने पर भी भारतीय लोकतान्त्रिक संस्थाएँ संकटों को पार करते हुए प्रगति की ओर अग्रसर होती रही हैं। बाधाओं एवं संघर्षों पर अंकुश लगाते हुए देश में आर्थिक नियोजन, सार्वजनिक सेवाओं तथा सामुदायिक विकास के कार्यक्रम लगातार चल रहे हैं। अतः कहा जा सकता है कि भारतीय वातावरण लोकतन्त्र के अनुकूल है।

लेकिन भारत में लोकतन्त्र की सफलता पूर्णरूपेण नहीं हुई है। इसका कारण यह है कि भारतीय लोकतन्त्र के सफल संचालन के मार्ग में निम्न बाधाएँ आड़े आ रही हैं—

(1) **अशिक्षा**—अनेक प्रयासों के बावजूद भारत में काफी लोग अशिक्षित हैं जो भारतीय लोकतन्त्र के लिए गम्भीर चुनौती है।

(2) **आर्थिक समानता**—भारत की आर्थिक स्थिति अत्यन्त दयनीय है। आज भारत को स्वतन्त्र हुए 53 वर्ष हो चुके हैं। सरकार द्वारा 'समाजवादी ढाँचे के समाज' अथवा आर्थिक-सामाजिक न्याय की घोषणा करने के बावजूद आर्थिक विकास की प्रगति असन्तोषजनक है। प्रति व्यक्ति आय तथा राष्ट्रीय आय का औसत अत्यधिक निम्न है।

(3) **राजनीतिक दलों की दयनीय स्थिति**—भारत में प्रारम्भ से ही काँग्रेस दल का शासन रहा तथा अन्य सभी दल विरोधी पक्ष में रहे। जब कभी काँग्रेस के अलावा अन्य दलों को मिली-जुली सरकार बनाने के अवसर मिले, वे दुःखद अनुभव सिद्ध हुए। 1977 में ऐसा लगा था कि दो सुदृढ़ एवं सन्तुलित दलीय व्यवस्था का उदय हो रहा है लेकिन घटनाचक्र से स्पष्ट हो गया कि राजनीतिक ध्रुवीकरण एक स्वप्न मात्र ही था। 11वीं लोकसभा में राजनीतिक दलों में हो रही उठा-पटक, हमें नई शंकाओं में घेरती है।

(4) **साम्प्रदायिकता**—साम्प्रदायिकता का जहर दिन-प्रतिदिन भारत में फैल रहा है जो कि लोकतन्त्र के लिए भारी खतरा है।

(5) **हिंसा एवं भ्रष्टाचार की राजनीति**—दिन-प्रतिदिन भारत में हिंसा एवं भ्रष्टाचार की राजनीति अपनी जड़ें गहरी जमाती जा रही है। भारत में व्यापक स्तर पर भ्रष्टाचार फैल चुका है जो कि लोकतन्त्र के लिए खतरा है।

(6) **विदेशी शक्तियों द्वारा हस्तक्षेप**—जम्मू-कश्मीर तथा उत्तर-पूर्वी भारत के राज्यों—नागालैण्ड, मिजोरम इत्यादि में विदेशी शक्तियाँ आतंकवाद को पैदा करके देश की एकता को लगातार चुनौती दे रही हैं। यह स्थिति भारतीय लोकतन्त्र के समक्ष नई चुनौती के रूप में अपने पैर पसारती जा रही है।

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि भारतीय लोकतन्त्र की तुलना सैकड़ों वर्ष पुराने इंग्लैण्ड अथवा अमेरिकी लोकतन्त्रों से न की जाय। इसकी तुलना अफ्रीका तथा एशिया के देशों से की जानी चाहिए। इस दृष्टि से भारत का लोकतन्त्र न सिर्फ सुदृढ़ है बल्कि अन्य लोकतन्त्रों हेतु प्रेरणा-स्रोत भी है।

लोकतन्त्र तथा आतंकवाद

(DEMOCRACY AND TERRORISM)

आतंकवाद तबाही तथा हिंसा का व्यवस्थित प्रयोग है। यह अपनी माँगों को मनवाने हेतु व्यक्तियों, समुदायों तथा सरकारों इत्यादि को रक्तपात एवं तबाही की धमकी देता है। रॉबर्ट बी. ओकले के शब्दों में, "आतंकवाद से सम्बन्धित कार्य न तो शानदार होते हैं और न ही स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु अद्भुत युद्ध कौशल से युक्त, वरन् केवल अपराध से सम्बन्धित होते हैं।"

वर्तमान लोकतान्त्रिक युग में आतंकवाद भय तथा हिंसा का प्रतीक बन गया है। लोकतन्त्र तथा आतंकवाद में कोई साम्य नहीं है। लोकतन्त्र स्वतन्त्रता, समानता तथा बन्धुत्व का पोषक है। इसके ठीक विपरीत, आतंकवाद तबाही, अशान्ति तथा विनाश का पर्याय है। लोकतन्त्र की सफलता के मार्ग में आतंकवाद सबसे बड़ा खतरा है।

वर्तमान में विश्व के विभिन्न देशों में आतंकवाद लगातार बढ़ता जा रहा है। लोकतान्त्रिक सरकारें इस राक्षस पर अंकुश लगाने में अभी तक पूर्णरूपेण सफल नहीं हो पायी हैं। लोकतन्त्र की सफलता हेतु आतंकवाद के प्रसार पर रोक लगाना जरूरी है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. राज्य के वर्गीकरण के प्रसिद्ध प्राचीन लेखक का नाम लिखिए। (1993)

उत्तर—अरस्तू।

प्रश्न 2. राजतन्त्र के कोई दो गुण लिखिए। (1993)

उत्तर—(i) आपात काल में उपयोगी तथा (ii) शासन में स्थायित्व।

प्रश्न 3. राजतन्त्र के किन्हीं दो दोषों का उल्लेख कीजिए। (1992, 93)

उत्तर—(i) निरंकुशता को प्रोत्साहन तथा (ii) जनता के अधिकार सीमित।

प्रश्न 4. संवैधानिक राजतन्त्र की एक प्रमुख विशेषता लिखिए। (1993)

उत्तर—शासन की वास्तविक शक्ति जनता के हाथों में रहती है।

प्रश्न 5. उस देश का नाम लिखिए जहाँ राजतन्त्र तो राज्य का स्वरूप है लेकिन संसदीय लोकतन्त्र शासन का। (1996)

उत्तर—इंग्लैण्ड।

प्रश्न 6. तानाशाही अथवा अधिनायकतन्त्र का एक गुण लिखिए। (1985, 87)

उत्तर—यह आपातकाल के लिए सर्वाधिक उपयुक्त शासन प्रणाली है।

प्रश्न 7. अधिनायकतन्त्र के दो दोष लिखिए। (1988, 93, 94)

उत्तर—(i) युद्ध को प्रोत्साहन तथा (ii) व्यक्ति की स्वतन्त्रता का अन्त।

प्रश्न 8. प्रजातन्त्र अथवा लोकतन्त्र को परिभाषित कीजिए। (1991, 94)

उत्तर—अब्राहम लिंकन के अनुसार, "लोकतन्त्र जनता का, जनता के द्वारा तथा जनता के लिए शासन है।"

प्रश्न 9. "लोकतन्त्र शासन का वह स्वरूप है जिसमें प्रत्येक व्यक्ति का भाग हो," यह परिभाषा किस विद्वान ने दी है?

उत्तर—सीले ने।

प्रश्न 10. लोकतन्त्र के दो रूप कौन-कौनसे हैं?

उत्तर—(i) प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तथा (ii) अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र।

प्रश्न 11. प्रत्यक्ष लोकतन्त्र से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—इस प्रकार के लोकतन्त्र में जनता नीतियों के निर्धारण एवं कानून निर्माण में प्रत्यक्ष रूप से हिस्सा लेती है।

प्रश्न 12. अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र किसे कहते हैं?

उत्तर—अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता शासन-कार्यों में प्रत्यक्ष भाग न लेकर शासन का संचालन अपने प्रतिनिधियों के माध्यम से करती है।

प्रश्न 13. लोकतन्त्र के कोई दो गुण लिखिए। (1991)

उत्तर—(i) जनमत पर आधारित तथा (ii) सभी लोगों के व्यक्तित्व के विकास का अवसर।

प्रश्न 14. लोकतन्त्र के कोई दो दोष लिखिए। (1983, 87, 88, 89, 94)

उत्तर—(i) अयोग्य व्यक्तियों का शासन तथा (ii) गुणों की अपेक्षा संख्या को महत्त्व।

प्रश्न 15. लोकतन्त्र की सफलता हेतु कोई दो आवश्यक शर्तें बताइए।

उत्तर—(i) स्वतन्त्र न्यायपालिका तथा (ii) शिक्षित तथा जागरूक जनता।

प्रश्न 16. लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का संगठित होना क्यों आवश्यक है?

उत्तर—क्योंकि सरकार का निर्माण तथा संचालन राजनीतिक दलों के द्वारा ही किया जा सकता है।

प्रश्न 17. भारत में सफल लोकतन्त्र की विद्यमान परिस्थितियों में से किसी एक का उल्लेख कीजिए।

उत्तर—जनसाधारण की लोकतन्त्र के प्रति आस्था।

प्रश्न 18. भारतीय लोकतन्त्र के सफल संचालन के मार्ग में आने वाली कोई तीन बाधाएँ बताइए।

उत्तर—(i) अशिक्षा, (ii) आर्थिक असमानता तथा (iii) साम्प्रदायिकता।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. अरस्तू के राज्यों के वर्गीकरण का परीक्षण कीजिए। (1990, 92)
2. सरकार के वर्गीकरण से सम्बन्धित अरस्तू के विचारों को स्पष्ट कीजिए। (1994)
3. अरस्तू के संविधान वर्गीकरण की समीक्षा कीजिए। (1997)
4. अधिनायकतन्त्र किसे कहते हैं? इस शासन प्रणाली के गुण एवं दोषों को बताइए। (1989, 92)
5. लोकतन्त्र के गुण एवं दोषों की समीक्षा कीजिए। यह अधिनायकतन्त्र से क्यों श्रेष्ठ माना जाता है? (1993)
6. लोकतन्त्र पर एक निबन्ध लिखिए। (1993)
7. लोकतन्त्रीय शासन की सफलता की आवश्यक दशाएँ क्या हैं? भारत में ये दशाएँ कहाँ तक विद्यमान हैं? (1984)
8. लोकतन्त्र की व्याख्या कीजिए। इसकी अन्तर्निहित समस्याओं की ओर संकेत कीजिए। (1995)
9. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) अधिनायकतन्त्र (1989, 90, 91, 97)
   (ii) "लोकतन्त्र शासन की सर्वोत्तम व्यवस्था है" (1997)
   (iii) राजतन्त्र (1989)
   (iv) भारत में लोकतन्त्र।

●●

12

एकात्मक एवं संघात्मक शासन

[UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT]

"शक्ति के केन्द्रीकरण एवं वितरण तथा केन्द्रीय एवं स्थानीय शक्तियों के सम्बन्ध की दृष्टि से विचार करने पर शासनों का वर्गीकरण एकात्मक और संघात्मक शासनों के रूप में किया जा सकता है।" —प्रो. गार्नर

देश में शासन-शक्ति के स्तरों की संख्या के आधार पर शासन के दो प्रकार पाये जाते हैं—(1) एकात्मक शासन तथा (2) संघात्मक शासन। ब्रिटेन एकात्मक शासन का तथा संयुक्त राज्य अमेरिका संघात्मक शासन का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है। इन दोनों शासन-प्रणालियों का वर्णन निम्न प्रकार है—

एकात्मक सरकार
(UNITARY GOVERNMENT)

एकात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जिसमें संविधान के अनुसार शासन की समस्त शक्ति एक ही सरकार के हाथ में होती है अर्थात् सम्पूर्ण राज्य हेतु एक कार्यपालिका, एक विधायिका तथा एक ही न्यायपालिका होती है। शासन की अन्य इकाइयाँ (प्रान्तीय एवं अन्य स्थानीय सरकारें) अपने अधिकार एवं शक्तियाँ उससे प्राप्त करती हैं। इन इकाइयों का अपना कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है तथा संविधान भी उनको कोई स्वतन्त्र शक्ति प्रदान नहीं करता है। केन्द्रीय सरकार का इन पर पूर्णरूपेण नियन्त्रण होता है। केन्द्र सरकार इनकी सीमाओं में परिवर्तन भी कर सकती है और इन्हें समाप्त भी कर सकती है। एकात्मक सरकार के अन्तर्गत स्थानीय सरकारें केन्द्रीय सरकार की अंगमात्र होती हैं तथा वे शासन का संचालन केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि के रूप में करती हैं। फ्रान्स, जर्मनी, इटली एवं इंग्लैण्ड इसी प्रकार की सरकारों के उदाहरण हैं।

एकात्मक सरकार को परिभाषित करते हुए गार्नर ने कहा है, "एकात्मक सरकार वह शासन प्रणाली है जहाँ सरकार की प्रभुसत्ता संविधान के अनुसार एक केन्द्रीय अंग अथवा अंगों को दे दी जाये तथा स्थानीय सरकारें जो भी शक्तियाँ, अधिकार एवं अपना अस्तित्व रखती हैं, वे सभी के केन्द्रीय अंग से प्राप्त करती हैं।"[1]

1 "Unitary Government is that system of government where the whole power of the government is conferred by the constitution upon a single central organ or organs which the local government derives whatever authority or autonomy they may possess and indeed their very existence." —Garner

डॉ. फाइनर के शब्दों में, "एकात्मक सरकार वह सरकार है जिसमें समस्त शक्तियाँ तथा अधिकार एक केन्द्र के पास होती हैं तथा जिसकी इच्छा और प्रतिनिधित्व कानूनी रूप से सम्पूर्ण क्षेत्र पर सर्वशक्तिमान होते हैं।"[1]

विलोबी के शब्दों में, "एकात्मक सरकार में शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ सर्वप्रथम केन्द्रीय सरकार को प्रदान की जाती हैं तथा वह सरकार जैसा भी उचित समझे अपने प्रदेशों में इन शक्तियों का विभाजन स्वतन्त्रता से करती है।"[2]

एकात्मक सरकार की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(CHARACTERISTICS OR FEATURES OF UNITARY GOVERNMENT)

उपर्युक्त परिभाषाओं के आधार पर एकात्मक सरकार की निम्न विशेषताएँ अथवा लक्षण स्पष्ट होते हैं—

(1) इकहरा शासन—इस शासन प्रणाली में सम्पूर्ण शक्तियाँ एक केन्द्रीय सरकार के पास होती हैं। इसमें एक ही संसद, एक ही कार्यपालिका तथा एक ही न्यायपालिका होती है।

(2) विषयों के विभाजन की अनुपस्थिति—इस शासन प्रणाली में विषयों का केन्द्र एवं प्रादेशिक सरकारों में विभाजन नहीं होता। सम्पूर्ण विषय केन्द्रीय सरकार के नियन्त्रण में ही रहते हैं। कानून निर्माण करने की शक्ति भी केन्द्र को ही प्राप्त होती है।

एकात्मक सरकार की विशेषताएँ अथवा लक्षण
* इकहरा शासन
* विषयों के विभाजन की अनुपस्थिति
* एक ही संविधान
* इकहरी नागरिकता
* स्थानीय सरकारों की शक्ति मौलिक नहीं होती

(3) एक ही संविधान—सरकार के इस रूप में सम्पूर्ण राष्ट्र का एक ही संविधान होता है। इकाई राज्यों का पृथक् संविधान नहीं होता तथा न ही उन्हें अलग संविधान बनाने का अधिकार होता है। समस्त राज्य इकाइयों को एक ही संविधान की व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता है।

(4) इकहरी नागरिकता—एकात्मक सरकार में इकहरी नागरिकता के सिद्धान्त को अपनाया जाता है। प्रत्येक व्यक्ति चाहे वह किसी भी इकाई राज्य का निवासी हो, देश का नागरिक माना जाता है, किसी इकाई राज्य का नहीं। समस्त नागरिकों के राष्ट्र के प्रति कर्तव्य होते हैं, किसी राज्य विशेष के प्रति नहीं।

(5) स्थानीय सरकारों की शक्ति मौलिक नहीं होती—इस शासन प्रणाली में स्थानीय सरकारों को शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार से मिलती हैं तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए वह केन्द्र के सम्मुख ही उत्तरदायी होती है।

एकात्मक सरकार के गुण
(MERITS OF UNITARY GOVERNMENT)

एकात्मक सरकार के प्रमुख गुण अग्रांकित हैं—

1 "Unitary government is one in which all authority and powers are lodged in a single centre and whose will and agent are legally omnipotent over the whole area." —*Finer*

2 "In unitary government all the powers of the government are conferred, in the first instance, upon a single central government and that government is left with complete freedom to distribute such powers territorally as in its opinion is wise." —*Willoughby*

(1) **शक्तिशाली एवं सुदृढ़ सरकार**—एकात्मक सरकार में शक्तियों का केन्द्रीकरण होता है तथा केन्द्र सम्पूर्ण शक्तियों का सुदृढ़ता से प्रयोग करता है। केन्द्र अपनी इच्छानुसार कानून निर्मित एवं लागू करता है तथा शक्तियों के प्रयोग के लिए वह किसी का भी परामर्श लेने को बाध्य नहीं होता। सम्पूर्ण शक्तियाँ केन्द्र में निहित होने के कारण एकात्मक सरकार को प्रादेशिक सरकारों के विरोध अथवा हस्तक्षेप का भय नहीं रहता है।

एकात्मक सरकार के गुण

* शक्तिशाली एवं सुदृढ़ सरकार
* राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन
* कम खर्चीली सरकार
* आपातकाल के लिए उपयुक्त
* छोटे राज्यों हेतु श्रेष्ठ सरकार
* विदेशी मामलों में सुदृढ़ सरकार
* निश्चित उत्तरदायित्व

(2) **राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन**—एकात्मक सरकार राष्ट्रीय एकता को बल प्रदान करती है। सम्पूर्ण देश में समान कानून, एक-सी न्याय व्यवस्था तथा शासन का एक-सा ढाँचा रहता है। समान परिस्थितियों में रहने के कारण नागरिकों में राष्ट्रीय एकता की भावना बढ़ती है।

(3) **कम ख़र्चीली सरकार**—एकात्मक सरकार में राज्य प्रबन्ध अधिक खर्चीला नहीं होता। देश नित्य प्रति होने वाले चुनावों के व्यय से बचा रहता है क्योंकि सम्पूर्ण देश में एक ही संसद होती है। एक ही कार्यपालिका एवं न्यायपालिका होने से भी सरकारी व्यय काफी कम हो जाते हैं।

(4) **आपातकाल के लिए उपयुक्त**—आपातकाल में सुदृढ़ राज्य प्रबन्ध की आवश्यकता होती है। चूँकि एकात्मक सरकार सुदृढ़ होती है अतः यह आपातकाल में सर्वथा अनुकूल रहती है। यह सरकार युद्ध, आर्थिक संकट तथा अन्य असाधारण परिस्थितियों में अधिक शक्तिशाली सिद्ध होती है। इसके द्वारा लिया गया निर्णय सर्वमान्य होता है। आपात परिस्थितियों का सामना करने के लिए यह देश के साधनों को अपनी इच्छानुसार प्रयोग कर सकती है।

(5) **छोटे राज्यों हेतु श्रेष्ठ सरकार**—यह शासन प्रणाली उन राज्यों के लिए श्रेष्ठ होती है जिनका क्षेत्रफल तथा जनसंख्या कम हो क्योंकि छोटे क्षेत्रफल वाले राज्यों को अलग-अलग राज्य प्रबन्धकीय इकाइयों में विभाजित करना उचित नहीं होता। इससे उनकी एकता समाप्त होने का भय रहता है।

(6) **विदेशी मामलों में सुदृढ़ सरकार**—एकात्मक सरकार अन्य देशों से अपने विदेशी सम्बन्ध सुदृढ़ता से स्थापित कर सकती है। अन्य देशों से किसी भी प्रकार के समझौते करने के लिए केन्द्रीय सरकार को प्रान्तों से परामर्श नहीं करना पड़ता।

(7) **निश्चित उत्तरदायित्व**—इस शासन प्रणाली में इकहरी सरकार होने के कारण उत्तरदायित्व निश्चित किया जा सकता है। इसमें केन्द्र अपने दायित्वों को प्रान्तों पर नहीं डाल सकता।

एकात्मक शासन के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF UNITARY GOVERNMENT)

एकात्मक सरकार के प्रमुख दोष अथवा अवगुण निम्नांकित हैं—

(1) **निरंकुशता की आशंका**—इस शासन प्रणाली में केन्द्रीय शासन के निरंकुश हो जाने का भय रहता है क्योंकि शासन की सम्पूर्ण शक्तियाँ केन्द्र में निहित होने के कारण वह उनका दुरुपयोग करके मनमानी कर सकता है।

(2) **स्थानीय स्वशासन की उपेक्षा**—शक्तियों के केन्द्रीकरण के कारण एकात्मक सरकार में स्थानीय विषयों की उपेक्षा होती है। सम्पूर्ण देश का शासन केन्द्रीय सरकार द्वारा संचालित होता है जिससे स्थानीय लोगों को शासन में भाग लेने का अवसर नहीं मिलता। अतः लोग राजनीतिक शिक्षा से वंचित रह जाते हैं।

एकात्मक शासन के अवगुण अथवा दोष
- निरंकुशता की आशंका
- स्थानीय स्वशासन की उपेक्षा
- नौकरशाही का अनुचित प्रभाव
- कार्य-कुशलता का अभाव
- सांस्कृतिक भिन्नता वाले राज्यों हेतु अनुपयुक्त
- अधिक क्षेत्रफल वाले राज्यों हेतु अनुपयुक्त

(3) **नौकरशाही का अनुचित प्रभाव**—इस शासन प्रणाली में सरकारी कर्मचारियों का महत्त्व बहुत अधिक बढ़ जाता है क्योंकि स्थानीय शासन का उत्तरदायित्व उन्हीं पर रहता है। इससे जनहित की उपेक्षा होती है।

(4) **कार्य-कुशलता का अभाव**—संघात्मक सरकार की तुलना में एकात्मक सरकार शासन सम्बन्धी कार्य ठीक ढंग से नहीं कर पाती। इसका कारण यह है कि सम्पूर्ण देश का शासन एक स्थान से संचालित होता है। अतः सरकार का कार्यभार अत्यधिक बढ़ जाता है। इसके अतिरिक्त, सरकार को देश के विभिन्न क्षेत्रों की आवश्यकताओं की समुचित जानकारी भी नहीं हो पाती जिसका परिणाम यह होता है कि शासन का संचालन कुशलतापूर्वक नहीं हो पाता।

(5) **सांस्कृतिक भिन्नता वाले राज्यों हेतु अनुपयुक्त**—यह शासन-प्रणाली भाषा, धर्म, रीति-रिवाज इत्यादि की भिन्नता वाले राज्यों के लिए अच्छी नहीं मानी जाती क्योंकि एक सरकार के अन्तर्गत विभिन्न संस्कृतियों वाले लोगों को अपना समुचित विकास करने का समुचित अवसर नहीं मिलता।

(6) **अधिक क्षेत्रफल वाले राज्यों हेतु अनुपयुक्त**—एकात्मक सरकार बड़े देशों के लिए भी उपयुक्त नहीं होती क्योंकि एक स्थान से विशाल क्षेत्रफल का शासन प्रबन्ध कुशलतापूर्वक संचालित करना सम्भव नहीं होता।

एकात्मक सरकार के उपर्युक्त गुण-अवगुणों को जानने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जिन देशों की जनसंख्या एवं क्षेत्रफल कम है तथा जहाँ लोगों में धर्म, जाति, भाषा इत्यादि के आधार पर भिन्नताएँ नहीं पायी जातीं वहाँ यह सरकार सफल तथा उचित है।

संघात्मक सरकार
(FEDERAL GOVERNMENT)

आधुनिक काल में संघात्मक प्रणाली की सरकार अधिक लोकप्रिय है। संघात्मक शासन प्रणाली में दोहरा शासन प्रबन्ध होता है तथा केन्द्र एवं राज्यों के मध्य शक्तियाँ संविधान के अनुसार विभाजित रहती हैं। दोनों सरकारें स्वतन्त्र रूप से अपना-अपना प्रबन्ध चलाती हैं तथा कोई भी एक-दूसरे के प्रबन्ध में अनुचित हस्तक्षेप नहीं करतीं। संघात्मक सरकार केन्द्र तथा राज्यों के मध्य एक समझौता होता है तथा इस समझौते की शर्तें संविधान में उल्लिखित होती हैं।

जब दो अथवा अधिक राज्य मिलकर अपने लिए एक सामान्य सरकार की स्थापना करें तथा इसके साथ ही अपने आन्तरिक क्षेत्रों में भी स्वतन्त्र रहें तब शासन का यह स्वरूप संघात्मक कहलाता है।

संघात्मक सरकार को परिभाषित करते हुए डायसी ने कहा है, "संघीय राज्य एक राजनीतिक योजना है जिसका उद्देश्य स्वतन्त्र राज्यों के अधिकारों की रक्षा के साथ-साथ राष्ट्रीय एकता स्थापित करना है।"[1]

मॉण्टेस्क्यू के शब्दों में, "संघात्मक राज्य एक ऐसा समझौता है जिसके अनुसार बहुत सारे एक जैसे राज्य एक विशाल राज्य के सदस्य बनने हेतु सहमत हो जाते हैं।"[2]

हैमिल्टन के मतानुसार, "संघात्मक सरकार राज्यों का एक ऐसा समूह है जो एक नये राज्य को अस्तित्व में लाता है।"[3]

संघीय राज्य के निर्माण की विधियाँ
(METHODS OF FORMING FEDERATION)

संघीय राज्य के निर्माण की निम्नलिखित दो विधियाँ हैं—

(1) केन्द्रमुखी संघ अथवा एकीकरण की प्रक्रिया—इस विधि के अनुसार कुछ स्वतन्त्र राज्य परस्पर मिलकर एक नये राज्य को जन्म देते हैं तथा प्रभुसत्ता इस राज्य के पास आ जाती है। स्थानीय महत्त्व के विषय इकाइयों के पास तथा राष्ट्रीय महत्त्व के विषय केन्द्रीय सरकार को दे दिये जाते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका तथा स्विट्ज़रलैण्ड में संघीय सरकार इसी विधि से स्थापित हुई।

(2) विकेन्द्रीय संघ अथवा विकेन्द्रीकरण की प्रक्रिया—इस विधि के अनुसार एक बड़ा एकात्मक राज्य स्वयं को अनेक इकाइयों में विभाजित कर लेता है तथा स्थानीय महत्ता के विषय इकाइयों की सरकारों को दे देता है। भारत में संघात्मक प्रणाली इसी प्रकार स्थापित हुई।

संघात्मक सरकार की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(CHARACTERISTICS OR FEATURES OF FEDERAL GOVERNMENT)

संघात्मक सरकार में निम्नलिखित विशेषताएँ अथवा लक्षण होते हैं—

(1) द्विसदनीय व्यवस्थापिका—संघ राज्यों की व्यवस्थापिका दो सदनों की होती है। जहाँ एक सदन सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है वहीं दूसरा सदन विभिन्न राज्यों का प्रतिनिधि होता है। भारत, अमेरिका इत्यादि देशों में उच्च सदन का संगठन इसी आधार पर होता है।

संघात्मक सरकार की विशेषताएँ
* द्विसदनीय व्यवस्थापिका
* शक्तियों का विभाजन
* दोहरी नागरिकता
* स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय
* लिखित एवं कठोर संविधान
* संविधान की सर्वोच्चता

(2) शक्तियों का विभाजन—संघ राज्यों में संविधान द्वारा केन्द्र एवं राज्यों में शक्तियों का विभाजन कर दिया जाता है। राष्ट्रीय महत्त्व के विषय केन्द्रीय सरकार को सौंप दिये जाते हैं और यह महत्त्वपूर्ण विशेषता है क्योंकि इसी के आधार पर हम यह निश्चित करते हैं कि कोई राज्य संघ राज्य है अथवा नहीं।

---

1 "A federal state is a political contrivance intended to reconcile national state right." —Dicey

2 "Federal Government is a convention by which several similar states agree to become members of a larger one." —Montesquieu

3 "Federal Government is an association of the states that forms a new one." —Hamilton

(3) दोहरी नागरिकता—संघ राज्यों में व्यक्ति को दोहरी नागरिकता मिलती है। एक तो वह संघ का नागरिक होता है और साथ ही वह संघ की इकाई राज्य का भी नागरिक होता है जिसमें वह निवास करता है। वह दोनों के प्रति निष्ठावान होता है। भारत इसका अपवाद है। संघ होते हुए भी यहाँ के लोगों को इकहरी नागरिकता प्राप्त है और वह है भारत संघ की नागरिकता।

(4) स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय—संघ शासन में एक स्वतन्त्र सर्वोच्च न्यायालय होता है। यह संविधान की रक्षा और केन्द्र एवं राज्यों के अधिकार-क्षेत्र सम्बन्धी विवादों का निर्णय करता है। यही संविधान की धाराओं की व्याख्या करता है। केन्द्र और राज्य की सरकारों को यह अपने अधिकार क्षेत्र से बाहर नहीं जाने देता। यदि वे कोई ऐसा कार्य करती है जिसके करने का अधिकार उन्हें नहीं है तो यह उन्हें ऐसा करने से रोकता है।

(5) लिखित एवं कठोर संविधान—संघात्मक शासन प्रणाली में लिखित एवं कठोर संविधान होता है। देश का संविधान लिखित होने से आपसी मतभेदों की सम्भावना कम हो जाती है। कठोर अथवा अपरिवर्तनशील संविधान को केन्द्र तथा राज्य परस्पर मिलकर ही संशोधित करते हैं।

(6) संविधान की सर्वोच्चता—संघ राज्य में संविधान सर्वोच्च होता है। केन्द्र एवं राज्य की सरकारें संविधान के नियमों का पालन करती हैं वे ऐसा कार्य नहीं कर सकतीं जो संविधान के विपरीत हो।

संघात्मक सरकार के गुण
(MERITS OF FEDERAL GOVERNMENT)

संघात्मक सरकार के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

(1) कुशल शासन व्यवस्था—संघात्मक शासन प्रणाली में शासन का संचालन सर्वश्रेष्ठ प्रकार से होता है। केन्द्रीय सरकार जहाँ राष्ट्रीय विषयों को देखती है वहीं स्थानीय विषयों का प्रबन्ध राज्य सरकारें करती हैं। इस व्यवस्था के कारण शासन का कार्य कुशलता से होता है।

संघात्मक सरकार के गुण

* कुशल शासन व्यवस्था
* निरंकुशता से रक्षा
* विविधता में एकता
* राजनीतिक शिक्षा का प्रसार
* आर्थिक विकास सम्भव
* स्थानीय स्वराज्य का लाभ
* लोकतान्त्रिक भावनाओं का विकास
* राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वतन्त्रता का सुयोग
* मूल अधिकारों की रक्षा
* विश्व संघ के निर्माण में सहायक
* बड़े राज्यों हेतु उपयुक्त

(2) निरंकुशता से रक्षा—संघात्मक शासन में सरकार के निरंकुश होने की सम्भावना नहीं रहती। इसका एक कारण तो यह है कि इसमें केन्द्र एवं राज्य सरकारों में शक्तियों का वितरण कर दिया जाता है जिससे उनके अधिकार सीमित हो जाते हैं। दूसरे, इसका संविधान सर्वोच्च होता है जिसका अतिक्रमण करना सरकार के लिए सम्भव नहीं होता।

(3) विविधता में एकता—इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्रीय महत्व के विषय केन्द्र सरकार तथा स्थानीय महत्व के विषय राज्य सरकारों के अधीन होते हैं। इस प्रकार एक ओर तो लोग स्थानीय स्वतन्त्रता का उपभोग करते हैं तथा दूसरी ओर राष्ट्रीय एकता भी बनी रहती है। इस प्रकार यह शासन

प्रणाली स्थानीय स्वतन्त्रता और देश की एकता को एक साथ बनाये रखने की दिशा में सर्वोत्तम प्रणाली है।

(4) **राजनीतिक शिक्षा का प्रसार**—संघात्मक सरकार विकेन्द्रीकरण पर आधारित होती है लेकिन प्रदेशों की अलग-अलग सरकारें होती हैं। इस प्रकार लोगों को राज्य प्रबन्ध में अधिकाधिक अवसर मिलते हैं जिसके परिणामस्वरूप उन्हें राजनीतिक शिक्षा मिलती है।

(5) **आर्थिक विकास सम्भव**—संघात्मक राज्य में अधिक आर्थिक विकास सम्भव हो पाता है। छोटे राज्यों में आर्थिक साधन इतने नहीं होते हैं कि वे उन्नति कर सकें। परन्तु यदि छोटे-छोटे राज्य मिलकर एक संघ का निर्माण कर लें तो उनके साधनों में इतनी वृद्धि हो जाती है कि वे बड़े पैमाने पर अपना विकास कर सकते हैं। उदाहरणस्वरूप, किसी राज्य में कोयला अधिक है तो किसी में तेल तथा किसी में लोहा। कोई कृषि-प्रधान है तो कोई उद्योग-प्रधान। ऐसे राज्य मिलकर आर्थिक दृष्टि से शक्तिशाली हो जाते हैं।

(6) **स्थानीय स्वराज्य का लाभ**—संघात्मक शासन प्रणाली का एक लाभ यह भी है कि इसमें प्रत्येक क्षेत्र के लोगों को अपनी समस्याओं को स्वयं सुलझाने का अवसर प्राप्त होता है।

(7) **लोकतान्त्रिक भावनाओं का विकास**—संघात्मक शासन प्रणाली में लोकतन्त्र के अनुकूल वातावरण रहता है। इसमें लोकतान्त्रिक समस्याओं की स्थापना सरलता से की जा सकती है। संघीय प्रणाली में शक्तियों का विकेन्द्रीकरण हो जाता है। प्रान्तीय और स्थानीय समस्याओं के निराकरण हेतु वहाँ के सुयोग्य व्यक्तियों का सहयोग लिया जाता है। अतः नागरकि राज्य के कार्यों में स्वेच्छा एवं रुचि से भाग लेते हैं। इस कारण संघ शासन में नागरिकों में सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता नहीं आ पाती।

(8) **राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वतन्त्रता का सुयोग**—इस शासन प्रणाली में राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों पर केन्द्रीय सरकार का नियन्त्रण रहता है जिससे राष्ट्रीय एकता की स्थापना होती है। दूसरी ओर स्थानीय महत्त्व के विषय इकाई की सरकारों के पास रहते हैं जिनके प्रबन्ध में वे स्वतन्त्र होती हैं। इस प्रकार इस शासन में स्थानीय स्वतन्त्रता एवं राष्ट्रीय एकता का समन्वय पाया जाता है।

(9) **मूल अधिकारों की रक्षा**—संघात्मक संविधान लिखित होता है जिसमें नागरिकों के मौलिक अधिकारों का उल्लेख रहता है। लिखित अधिकारों की उपेक्षा सरलता से नहीं की जा सकती।

(10) **विश्व संघ के निर्माण में सहायक**—संघात्मक शासन विश्व संघ के निर्माण की दिशा में मार्ग प्रशस्त करता है।

(11) **बड़े राज्यों हेतु उपयुक्त**—जो राज्य क्षेत्रफल की दृष्टि से बड़े होते हैं उनके लिए संघात्मक शासन अधिक अच्छा होता है। बड़े राज्यों का शासन एक केन्द्र से कुशलतापूर्वक नहीं चलाया जा सकता है। संघात्मक शासन में केन्द्रीय सरकार सिर्फ राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों का प्रबन्ध करती है और स्थानीय विषयों का उत्तरदायित्व राज्यों पर रहता है। शक्ति के विकेन्द्रीकरण के कारण शासन के कार्य में गड़बड़ी नहीं फैलती।

संघात्मक सरकार के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF FEDERAL GOVERNMENT)

संघात्मक सरकार के प्रमुख अवगुण अथवा दोष निम्न प्रकार हैं—

(1) **कमजोर सरकार**—संघात्मक सरकार में केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों का विभाजन हो जाने से राज्य की प्रबन्धकीय सुदृढ़ता समाप्त हो जाती है।

संघात्मक सरकार के अवगुण अथवा दोष
* कमजोर सरकार
* जटिल सरकार
* राष्ट्रीयता की भावना का शिथिल होना
* इकाई राज्यों के अलग होने का भय
* अति व्ययी सरकार
* उत्तरदायित्व की अनिश्चितता
* एकरूपता का अभाव
* केन्द्र तथा राज्य सरकारों में मतभेद
* आपातकाल हेतु अनुपयुक्त
* दोहरी नागरिकता हानिकारक

(2) **जटिल सरकार**—संघात्मक शासन प्रणाली में दोहरी सरकार, दोहरे कानून, दोहरे विधानमण्डल इत्यादि होते हैं। साधारण बुद्धि वाला व्यक्ति इन जटिलताओं को समझ नहीं पाता और वह इनमें उलझ जाता है।

(3) **राष्ट्रीयता की भावना का शिथिल होना**—संघात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रीयता की भावना को आघात पहुँचता है क्योंकि नागरिक देश-हित के स्थान पर प्रदेश-हित की ओर अधिक ध्यान देने लगते हैं। भारत में भी प्रान्तीयता की भावना राष्ट्रीयता को गहरा आघात पहुँचा रही है।

(4) **इकाई राज्यों के अलग होने का भय**—संघात्मक सरकार में इकाई राज्यों के अलग होने का भय बना रहता है। राज्य अपने स्थानीय लाभों के लिए संघ से अलग होने का प्रयास करते हैं।

भारत में इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। उदाहरणार्थ, पंजाब, कश्मीर, नगालैण्ड तथा मणिपुर इत्यादि में पृथकतावादी तत्व सक्रिय हैं जो भारत का विघटन करने पर तुले हुए हैं।

(5) **अति व्ययी सरकार**—संघात्मक शासन प्रणाली की सरकार को दोहरा राज्य प्रबन्ध चलाना होता है। अतः नागरिकों को संघ एवं राज्य दोनों सरकारों के व्यय भार को वहन करना पड़ता है।

(6) **उत्तरदायित्व की अनिश्चितता**—संघात्मक सरकार का एक अवगुण यह भी है कि इसमें उत्तरदायित्व निश्चित नहीं किया जा सकता। इस व्यवस्था में जब भी कोई कार्य गलत हो जाता है तो वह केन्द्र एवं राज्य के मध्य विवाद का कारण बन जाता है। इसमें जहाँ राज्य केन्द्र को उत्तरदायी ठहराने का प्रयास करता है वहीं केन्द्रीय सरकार राज्य सरकार को दोषी सिद्ध करने का प्रयास करती है। वास्तविकता यह है कि कोई भी उत्तरदायित्व को अपनाने के लिए तैयार नहीं होता।

(7) **एकरूपता का अभाव**—संघात्मक शासन में राज्यों की सरकारें स्वतन्त्र होती हैं अतः वे अपनी समस्याएँ अपने ढंग से सुलझाती हैं। इसलिए उनके कानून भी अलग-अलग होते हैं। अतः इस शासन प्रणाली में एकरूपता का अभाव पाया जाता है।

(8) **केन्द्र तथा राज्य सरकारों में मतभेद**—संघात्मक शासन प्रणाली में केन्द्र तथा राज्यों में पारस्परिक मतभेद पैदा होने की सम्भावना सदैव बनी रहती है। राज्य प्रबन्धकीय

दृष्टिकोण से ये मतभेद हानिकारक होते हैं। श्रेष्ठ राज्य प्रबन्ध तभी सम्भव है जब केन्द्र तथा राज्यों की सरकारों में पारस्परिक सहयोग हो।

(9) **आपातकाल हेतु अनुपयुक्त**—संघात्मक शासन प्रणाली की सरकार के विरुद्ध यह दोष भी लगाया जाता है कि यह आपातकाल के लिए अनुपयुक्त होती है। आपातकाल के दौरान सरकार को तुरन्त निर्णय लेने होते हैं जो इस सरकार में सम्भव नहीं होते।

(10) **दोहरी नागरिकता हानिकारक**—संघात्मक शासन प्रणाली में प्रत्येक नागरिक को दोहरी नागरिकता प्राप्त होती है। इस कारण उसकी देशभक्ति विभाजित हो जाती है। नागरिकों को जहाँ सरकार के प्रति भक्ति-भाव प्रदर्शित करना पड़ता है वहीं उसे संघ की उस इकाई (राज्य) के प्रति भी भक्तिभाव प्रदर्शित करना पड़ता है जिसमें वह निवास करता है।

संघात्मक शासन प्रणाली के गुणों तथा अवगुणों का अध्ययन करने के उपरान्त यह कहा जा सकता है कि यह सरकार उन राज्यों के लिए अधिक श्रेष्ठ है जिनमें विभिन्न प्रकार की भिन्नताएँ पायी जाती हैं। यह छोटे तथा बड़े राज्यों के लिए भी लाभदायक है तथा इसमें पाये जाने वाले दोषों को केन्द्र को शक्तिशाली बनाकर दूर किया जा सकता है।

संघ निर्माण के लिए आवश्यक शर्तें
(CONDITIONS NECESSARY FOR THE FORMATION OF FEDERATION)

संघात्मक सरकार के निर्माण तथा सफलता हेतु निम्न शर्तों का होना आवश्यक है—

(1) **भौगोलिक एकता**—संघ की सफलता के लिए यह आवश्यक है कि उसमें सम्मिलित होने वाले राज्य एक-दूसरे के निकट स्थित हों। एक-दूसरे से दूर स्थित राज्यों का संघ सफलतापूर्वक कार्य नहीं कर सकता। जो राज्य भौगोलिक रूप से निकट होंगे उनमें एकता की भावना अधिक होगी। सी. एफ. स्ट्रांग के शब्दों में, "संघ गठित करने वाले राज्यों की प्राकृतिक सीमाएँ संघीय शासन की सफलता के लिए निश्चित रूप में अनुकूल एवं आवश्यक शर्त है। पाकिस्तान में यदि भौगोलिक एकता होती तो पूर्वी पाकिस्तान आज बांग्लादेश न बन पाता।

संघ निर्माण के लिए आवश्यक शर्तें
* भौगोलिक एकता
* सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में एकरूपता
* इकाइयों में समानता
* शिक्षित नागरिक
* पर्याप्त आर्थिक साधन
* इकाइयों में निरंकुश शासन न होना

(2) **सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं में एकरूपता**—विभिन्न इकाइयाँ जो परस्पर सम्मिलित होकर संघ का निर्माण करना चाहती हैं उनकी सामाजिक तथा राजनीतिक संस्थाएँ एक प्रकार की होनी चाहिए। सामाजिक एवं राजनीतिक संस्थाओं का एक प्रकार का होना उनके मध्य एकता की भावना उत्पन्न करता है। यदि एक इकाई में अलग प्रकार की सरकार है तथा दूसरी में अन्य प्रकार की तो निश्चत ही उनके मध्य एकता का पैदा होना दुष्कर होगा।

(3) **इकाइयों में समानता**—इकाइयों में, जो परस्पर मिलकर संघ स्थापित कर रही हैं, जहाँ तक हो सके जनसंख्या एवं क्षेत्र की समानता होना आवश्यक है। संघात्मक सरकार का निर्माण एक समझौते के अनुसार होता है तथा यह समझौता तभी हो सकता है जब सभी इकाइयाँ समान हों। यदि कोई इकाई बहुत बड़ी होगी तो वह छोटी इकाई को अपने अधीन करने का प्रयास करेगी। जे. एस. मिल के शब्दों में, "संघ में ऐसा कोई राज्य नहीं होना चाहिए जो इतना शक्तिशाली हो कि वह अन्य राज्यों की संगठित शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली हो। यदि ऐसा कोई राज्य होगा तो वह बलपूर्वक अपनी राय थोपने का प्रयास करेगा।"

(4) **शिक्षित नागरिक**—संघात्मक शासन के संचालन के लिए नागरिकों का शिक्षित होना आवश्यक है। इसका मुख्य कारण यह है कि संघात्मक शासन एक जटिल शासन होता है। दोहरी सरकार एवं दोहरे कानून होने के कारण अनेक बार साधारण नागरिक केन्द्रीय तथा प्रान्तीय सरकार में अन्तर तथा कानूनों में अन्तर करने में असमर्थ रहता है।

(5) **पर्याप्त आर्थिक साधन**—संघात्मक सरकार स्थापित करने के लिए यह आवश्यक है कि परस्पर सम्मिलित हो रही इकाइयों के आर्थिक साधन पर्याप्त होने चाहिए जिससे वे केन्द्र एवं राज्य सरकार का व्यय भार सहन कर सकें।

(6) **इकाइयों में निरंकुश शासन न होना**—संघात्मक सरकार की सफलता हेतु यह भी आवश्यक है कि उसमें सम्मिलित हो रही इकाइयों के मध्य निरंकुश तथा मनमानी करने वाली सरकारों की अनुपस्थिति हो तथा समस्त इकाइयों के मध्य लोकतान्त्रिक सरकारें हों। यदि किसी एक इकाई में भी निरंकुश शासन होगा तो वह अन्य इकाइयों के साथ मिलकर रहना तथा केन्द्रीय सरकार के आदेशों का पालन करना अपना अपमान समझेगा इसके परिणामस्वरूप केन्द्र खतरे में पड़ जायेगा। ऐसी इकाइयाँ या तो शेष इकाइयों को अपने अधीन करने का प्रयास करेंगी अथवा स्वयं को संघ से अलग करेंगी।

हालांकि संघात्मक शासन प्रणाली की सफलता हेतु उपर्युक्त व्यवस्थाओं का होना आवश्यक माना जाता है लेकिन इसका अर्थ यह नहीं है कि इनमें से किसी भी एक शर्त के अभाव में संघात्मक शासन प्रणाली स्थापित नहीं की जा सकती। संघात्मक शासन प्रणाली को स्थापित करने तथा सफलतापूर्वक चलाने हेतु लोगों में परस्पर मिल-जुलकर कार्य करने की भावना का होना आवश्यक है।

एकात्मक तथा संघात्मक सरकार में अन्तर अथवा भेद
(DIFFERENCES BETWEEN UNITARY AND FEDERAL GOVERNMENT)

एकात्मक तथा संघात्मक सरकारों में प्रमुख अन्तर अथवा भेद निम्नांकित हैं—

(1) **संविधान के स्वरूप का अन्तर**—एकात्मक शासन प्रणाली में संविधान लिखित तथा अलिखित और दुष्परिवर्तनीय तथा सुपरिवर्तनीय दोनों ही प्रकार का हो सकता है परन्तु संघात्मक राज्य के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका संविधान लिखित हो। संघ राज्य में केन्द्र तथा स्थानीय सरकारों के मध्य शक्तियों का विभाजन होता है। इसलिए इनके अधिकारों और शक्तियों का स्पष्ट और सुनिश्चित होना आवश्यक है। यह लिखित संविधान द्वारा ही सम्भव है। इसके साथ ही संविधान दुष्परिवर्तनीय भी होता है। इस संविधान में संशोधन साधारण कानून की भाँति सरलता से नहीं किये जा सकते। इससे स्थानीय सरकारों के अधिकार सुरक्षित बने रहते हैं।

> **एकात्मक तथा संघात्मक सरकार में अन्तर अथवा भेद**
> * संविधान के स्वरूप का अन्तर
> * नागरिकता सम्बन्धी अन्तर
> * न्यायपालिका की स्थिति में अन्तर
> * शक्तियों के विभाजन का अन्तर
> * इकाई सरकारों की स्थिति का अन्तर
> * विषय विभाजन सम्बन्धी अन्तर

(2) **नागरिकता सम्बन्धी अन्तर**—एकात्मक शासन प्रणाली में नागरिकता इकहरी होती है। प्रत्येक व्यक्ति एक ही राज्य का नागरिक होता है। लेकिन संघात्मक शासन में नागरिकता दुहरी होती है। प्रत्येक व्यक्ति दो राज्यों में नागरिक होता है—एक तो सम्पूर्ण संघ राज्य का तथा दूसरा संघ की उस इकाई राज्य का जिसमें उसका निवास होता है। वह राज्य तथा संघ

दोनों के कानूनों का पालन करने के लिए बाध्य होता है और दोनों के ही प्रति निष्ठावान होता है जबकि एकात्मक शासन का नागरिक एक ही राज्य के प्रति निष्ठावान होता है।

(3) **न्यायपालिका की स्थिति में अन्तर**—जहाँ एकात्मक सरकार में इकहरी न्याय-व्यवस्था होती है वहीं संघात्मक सरकार में न्याय व्यवस्था दुहरी होती है। इसमें एक ओर संघ की न्यायव्यवस्था होती है और दूसरी ओर प्रत्येक राज्य की अपनी पृथक् व्यवस्था। दूसरे, संघ राज्य के लिये यह आवश्यक माना जाता है कि न्यायपालिका की सर्वोच्चता होनी चाहिए। एक सर्वोच्च न्यायालय होना चाहिए जिसे इस बात का अधिकार हो कि वह संघ सरकार अथवा किसी इकाई राज्य के उन कानूनों को असांविधानिक घोषित कर सके जो संविधान के विरुद्ध हों। किन्तु इकाई-राज्यों के लिए इस प्रकार के सर्वोच्च न्यायालय का होना अनिवार्य नहीं है।

(4) **शक्तियों के विभाजन का अन्तर**—एकात्मक सरकार के अन्तर्गत राज्य की सम्पूर्ण शक्ति संविधान द्वारा एक केन्द्र में निहित कर दी जाती है और शासन की अन्य इकाइयाँ (प्रान्तीय तथा स्थानीय सरकारें) अपने अधिकार और शक्तियाँ उसी से प्राप्त करती हैं। परन्तु दूसरी ओर संघीय शासन-प्रणाली में शक्तियाँ केन्द्र तथा स्थानीय सरकारों में विभाजित होती हैं जिनका प्रयोग दोनों ही अपने-अपने क्षेत्र में स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं। इसमें प्रभुत्व का दुहरा प्रयोग होता है।

(5) **इकाई सरकारों की स्थिति का अन्तर**—एकात्मक शासन प्रणाली में संविधान सिर्फ केन्द्रीय सरकार को मान्यता देता है। केन्द्रीय सरकार सुविधा के लिए प्रशासकीय इकाइयों का निर्माण कर लेती है। उनके अधिकार एवं कार्य केन्द्र निश्चित करता है और केन्द्र उनको जब चाहे छीन सकता है। उनका अस्तित्व भी केन्द्र पर ही निर्भर रहता है। संघ राज्यों में इकाई-राज्यों के अधिकार संविधान द्वारा निर्धारित होते हैं जिनमें केन्द्र हस्तक्षेप नहीं कर सकता। वे अपने अस्तित्व तथा अधिकारों के लिए केन्द्र पर निर्भर नहीं रहते।

(6) **विषय विभाजन सम्बन्धी अन्तर**—संघात्मक सरकार में केन्द्र तथा राज्यों के मध्य विषयों का विभाजन किया जाता है। राष्ट्रीय महत्त्व के विषय केन्द्र सरकार के अधीन होते हैं तथा स्थानीय विषय राज्य सरकारों के सुपुर्द कर दिये जाते हैं। इसके विपरीत, एकात्मक सरकार में विषयों का विभाजन नहीं होता। इसमें समस्त विषय केन्द्रीय सरकार के पास ही होते हैं।

भारत के लिए संघात्मक सरकार का औचित्य
(VALIDITY OF FEDERAL GOVERNMENT FOR INDIA)

भारत जनसंख्या एवं क्षेत्रफल की दृष्टि से अत्यधिक विशाल देश है। यहाँ धर्म, भाषा, जाति एवं सामाजिक-सांस्कृतिक विविधताएँ विद्यमान हैं। इन परिस्थितियों में ऐसी शासन प्रणाली की आवश्यकता होती है जो 'विविधता में एकता' बनाये रखे और यह संघात्मक शासन प्रणाली में ही सम्भव है। संघात्मक शासन मूलभूत राष्ट्रीय महत्त्व के विषयों में सम्पूर्ण देश में एकसमान नीति अपनाता है तथा प्रादेशिक स्तर पर विभिन्न हितों को ध्यान में रखते हुए स्वायत्तता देता है। इस दृष्टि से भारत में संघात्मक शासन प्रणाली को अपनाना स्वाभाविक तथा तर्कसंगत है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. वह कौनसी शासन व्यवस्था है जिसमें संविधान के द्वारा शासन की समस्त शक्तियाँ एक ही सरकार में केन्द्रित कर दी जाती हैं?

उत्तर—एकात्मक शासन व्यवस्था।

प्रश्न 2. ऐसे देश में जहाँ विविध भाषा, संस्कृति व विशाल क्षेत्र हों, किस प्रकार की शासन व्यवस्था अधिक उपयुक्त रहती है?

उत्तर—एकात्मक शासन व्यवस्था।

प्रश्न 3. एकात्मक सरकार की प्रमुख विशेषता लिखिए।

उत्तर—संविधान द्वारा समस्त शक्तियाँ केन्द्र सरकार को सौंपना एकात्मक सरकार की प्रमुख विशेषता है।

प्रश्न 4. एकात्मक सरकार में राज्य का वास्तविक अधिकारी कौन होता है?

उत्तर—राजा अथवा राष्ट्रपति।

प्रश्न 5. एकात्मक शासन-प्रणाली की दो विशेषताएँ बताइए। (1995)

उत्तर—(1) संविधान द्वारा समस्त शक्तियाँ केन्द्रीय सरकार में निहित तथा (2) इकहरी नागरिकता की व्यवस्था।

प्रश्न 6. एकात्मक सरकार के कोई दो गुण लिखिए। (1997)

उत्तर—(1) शक्तिशाली एवं सुदृढ़ शासन व्यवस्था तथा (2) शासन कार्यों में प्रशासनिक एकरूपता।

प्रश्न 7. एकात्मक शासन प्रणाली के दो दोष लिखिए। (1991)

उत्तर—(1) विशाल राज्यों के लिए अनुपयुक्त तथा (2) केन्द्रीय सरकार के निरंकुश होने की आशंका।

प्रश्न 8. एकात्मक सरकार के चार उदाहरण दीजिए।

उत्तर—फ्रांस, जापान, इटली तथा चीन एकात्मक शासन के उदाहरण हैं।

प्रश्न 9. कौन-सी शासन प्रणाली राष्ट्रीय एकता एवं स्थानीय स्वायत्तता में उचित सामञ्जस्य स्थापित करती है?

उत्तर—संघात्मक शासन प्रणाली।

प्रश्न 10. संघ शब्द अंग्रेजी भाषा के किस शब्द का हिन्दी अनुवाद है?

उत्तर—फेडरेशन।

प्रश्न 11. फेडरेशन किस शब्द से बना है तथा इसका क्या अर्थ है?

उत्तर—फेडरेशन शब्द 'फोइडस' से बना है जिसका अर्थ 'सन्धि' अथवा 'समझौता' है।

प्रश्न 12. संघ शासनों का निर्माण किन दो विधियों से हो सकता है?

उत्तर—(i) केन्द्रीकरण की विधि तथा (ii) विघटन की विधि।

प्रश्न 13. संघात्मक शासन की दो विशेषताएँ लिखिए। (1983, 92)

उत्तर—(1) संविधान की सत्ता की सर्वोच्चता तथा (2) दोहरी सरकारें।

प्रश्न 14. संघात्मक सरकार के दो प्रमुख गुण लिखिए।

उत्तर—(1) विशाल राज्यों के लिए उपयुक्त तथा (2) निरंकुशता से रक्षा।

प्रश्न 15. संघात्मक सरकार के दो प्रमुख दोष लिखिए। (1991)

उत्तर—(1) देशभक्ति का विभाजन तथा (2) आन्तरिक शासन में दुर्बलता।

प्रश्न 16. ऐसे संघात्मक शासन व्यवस्था वाले देश का नाम लिखिए जहाँ संघीय शासन प्रणाली के होते हुए भी नागरिकता का स्वरूप इकहरा है—दोहरा नहीं।

उत्तर—भारत।

प्रश्न 17. संघात्मक शासन व्यवस्था वाले दो देशों के नाम लिखिए। (1991)

उत्तर—(1) संयुक्त राज्य अमेरिका तथा (2) स्विट्ज़रलैण्ड।

प्रश्न 18. एकात्मक तथा संघात्मक सरकार के दो प्रमुख अन्तर बताइए।

उत्तर—(1) एकात्मक सरकार, संघात्मक सरकार की तुलना में अधिक शक्तिशाली होती है तथा (2) एकात्मक सरकार में शक्ति केन्द्र में निहित होती है जबकि संघात्मक सरकार में शक्तियों का विभाजन केन्द्र एवं राज्यों के मध्य होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. एकात्मक शासन से आप क्या समझते हैं? इसकी प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. एकात्मक शासन प्रणाली के पक्ष एवं विपक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए। (1979)
3. एकात्मक शासन प्रणाली के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। (1990)
4. संघात्मक सरकार की क्या विशेषताएँ हैं? यह एकात्मक शासन प्रणाली से किस प्रकार श्रेष्ठ है? (1975, 91)
5. संघात्मक सरकार के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। भारत में संघात्मक शासन क्यों उचित है? (1989, 93)
6. एकात्मक तथा संघात्मक शासन प्रणालियों में अन्तर वताइए तथा एकात्मक शासन के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए। (1994)
7. संघात्मक शासन की विशेषताओं का उल्लेख करते हुए इसकी कमियों की ओर संकेत कीजिए। (1995)
8. एकात्मक सरकार की विशेषताओं पर प्रकाश डालते हुए संघात्मक सरकार से इसका तुलनात्मक परीक्षण कीजिए। (1996, 2000)
9. संघात्मक सरकार का आशय स्पष्ट करते हुए इसकी सफलता के लिए आवश्यक दशाओं अथवा शर्तों का उल्लेख कीजिए। (1991)
10. संघात्मक शासन किसे कहते हैं ? संघीय शासन के प्रमुख लक्षणों का विवेचन कीजिए।
11. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
    (i) एकात्मक सरकार (1975, 83, 2000)
    (ii) संघात्मक सरकार। (1990, 2000)

●●

13

संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन

[PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL GOVERNMENT]

"व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका की एक-दूसरे से स्वतन्त्रता अध्यक्षात्मक प्रणाली का विशिष्ट लक्षण तथा इन दोनों की एक-दूसरे से घनिष्ठता संसदात्मक प्रणाली का लक्षण है।" —*बेजहाट*

व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका शासन के तीन अंग हैं। व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के पारस्परिक सम्बन्धों के आधार पर शासन व्यवस्था को संसदात्मक शासन तथा अध्यक्षात्मक शासन के रूप में वर्गीकृत किया जाता है। संसदात्मक शासन प्रणाली ब्रिटेन, हॉलैण्ड, बेल्जियम, कनाडा, ऑस्ट्रेलिया, स्वीडन, जापान तथा भारत इत्यादि देशों में है तथा अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण संयुक्त राज्य अमेरिका है।

संसदात्मक सरकार

(PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

यदि कार्यपालिका तथा विधानपालिका के मध्य घनिष्ठ सम्बन्ध है तथा कार्यपालिका विधानपालिका के समक्ष उत्तरदायी है तो इसको संसदात्मक प्रणाली की सरकार कहा जायेगा। इस प्रकार की सरकार में देश के सम्पूर्ण शासन का कार्य-भार मन्त्रियों पर होता है तथा वे अपने कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वस्तुतः देश की वास्तविक कार्यपालिका मन्त्रिपरिषद् ही होती है तथा उस पर संसद का नियन्त्रण होता है। देश का प्रधान (राष्ट्रपति) नाममात्र का प्रधान होता है। हालांकि उसे कार्यपालिका से सम्बन्धित समस्त अधिकार प्राप्त होते हैं लेकिन वह उनका स्वेच्छा से उपभोग नहीं कर सकता। इस शासन प्रणाली को **मन्त्रिमण्डलात्मक शासन** अथवा **उत्तरदायी शासन** के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है।

संसदात्मक सरकार को परिभाषित करते हुए गार्नर ने कहा है, **"यह वह शासन प्रणाली है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल अपनी राजनीतिक नीतियों तथा कार्यों हेतु वैधानिक तथा तात्कालिक रूप से व्यवस्थापिका के प्रति तथा अन्तिम रूप में निर्वाचन मण्डल के प्रति उत्तरदायी होती है।"**[1]

1 "Cabinet government is that system in which the real executive—the cabinet or ministry—is immediately and legally responsible to the legislature or one branch of it (usually the more popular chamber) for its political policies and acts immediately or ultimately responsible to the electorate." —*Garner*

डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, "संसदात्मक शासन ऐसी व्यवस्था है जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अर्थात् मन्त्रिमण्डल अथवा मन्त्रिपरिषद् अपने समस्त कृताकृत कार्यों के लिए वैधानिक तथा प्रत्यक्ष रूप में विधान मण्डल के प्रति तथा उसके द्वारा निर्वाचक मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।"

संसदात्मक सरकार के लक्षण अथवा विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

संसदात्मक सरकार के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(1) राज्याध्यक्ष नाममात्र का कार्यकारी अध्यक्ष—संसदात्मक प्रणाली की सरकार में राज्य का अध्यक्ष नाममात्र का कार्यकारी अध्यक्ष होता है। हालांकि संविधान ने उसे समस्त कार्यकारी शक्तियाँ प्रदत्त की हैं लेकिन वह स्वयं उनका प्रयोग नहीं करता है। उदाहरणार्थ, भारतीय राष्ट्रपति नाममात्र का कार्यकारी अध्यक्ष है।

संसदात्मक सरकार के लक्षण अथवा विशेषताएँ

* राज्याध्यक्ष नाममात्र का कार्यकारी अध्यक्ष
* प्रधानमन्त्री का नेतृत्व
* मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका है
* व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध
* मन्त्रिमण्डल का सामूहिक एवं व्यक्तिगत उत्तरदायित्व
* कार्यपालिका की अवधि निश्चित नहीं होती
* राजनीतिक एकरूपता
* गोपनीयता

(2) प्रधानमन्त्री का नेतृत्व—संसदात्मक शासन प्रणाली की सरकार में मन्त्रिमण्डल प्रधानमन्त्री के नेतृत्व में कार्य करता है। प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल की बैठक बुलाता है, उसकी अध्यक्षता करता है तथा मन्त्रिमण्डल का गठन भी करता है। लास्की के कथनानुसार, "प्रधानमन्त्री मन्त्रिमण्डल रूपी मेहराब की आधारशिला होता है। वह मन्त्रिमण्डल के निर्माण, जीवन तथा मृत्यु का केन्द्र है।"

(3) मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यपालिका है—संसदात्मक सरकार में मन्त्रिमण्डल वास्तविक कार्यकारी अध्यक्ष होता है अर्थात् मुख्य कार्यकारी अध्यक्ष की समस्त शक्तियों का प्रयोग मन्त्रिमण्डल ही करता है।

(4) व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध—संसदात्मक सरकार के अन्तर्गत व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका एक-दूसरे से अलग न रहकर आपस में घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित रहती हैं। कार्यपालिका के सदस्यों का चयन व्यवस्थापिका के सदस्यों में से ही किया जाता है। जहाँ एक ओर कार्यपालिका अपनी नीतियों तथा कार्यों के लिए व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है वहीं दूसरी ओर कार्यपालिका सिर्फ प्रशासनिक कार्यों का ही सम्पादन नहीं करती अपितु कानून बनाने में व्यवस्थापिका का सहयोग करती है। डायसी के शब्दों में, "संसदात्मक शासन प्रणाली का आधार कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका सत्ताओं का मिश्रण तथा साथ ही उन दोनों का सामंजस्यपूर्ण सम्बन्ध है।"

(5) मन्त्रिमण्डल का सामूहिक एवं व्यक्तिगत उत्तरदायित्व—संसदात्मक सरकार का प्रमुख लक्षण संसद के प्रति मन्त्रिमण्डल का सामूहिक उत्तरदायित्व है। सामूहिक उत्तर- दायित्व का तात्पर्य है कि मन्त्रिमण्डल एक इकाई के रूप में कार्य करता है तथा समस्त मन्त्रिगण परस्पर एक-दूसरे के निर्णयों एवं कार्यों हेतु उत्तरदायी होते हैं। यदि व्यवस्थापिका का निम्न सदन किसी मन्त्री के विरुद्ध अविश्वास का प्रस्ताव पारित कर दे तो सम्पूर्ण मन्त्रिमण्डल को त्याग-पत्र देना

पड़ता है। इसीलिए कहा जाता है, "संसदात्मक सरकार के सभी सदस्य एक साथ तैरते और डूबते हैं।" मार्ले ने भी कहा है, "सामूहिक उत्तरदायित्व मन्त्रिमण्डलीय शासन की प्रथम शर्त है।" इसके साथ ही चूँकि प्रत्येक मन्त्री अपने विभाग का अध्यक्ष होता है। अतः उस विभाग के उचित संचालन हेतु मन्त्री व्यक्तिगत रूप से विधान मण्डल के प्रति उत्तरदायी होता है।

(6) **कार्यपालिका की अवधि निश्चित नहीं होती**—संसदात्मक सरकार में मन्त्रिमण्डल की अवधि निश्चित नहीं होती। मन्त्रिमण्डल अपने पद पर उस समय तक रहता है जब तक इसको विधानमण्ड के निम्न सदन में बहुमत का विश्वास प्राप्त है। जब व्यवस्थापिका में मन्त्रिमण्डल के विरुद्ध अविश्वास प्रस्ताव पास हो जाय तो मन्त्रिमण्डल को अपना पद त्यागना पड़ता है।

(7) **राजनीतिक एकरूपता**—संसदात्मक प्रणाली की सरकार में साधारणतया मन्त्रिमण्डल के समस्त सदस्य एक ही राजनीतिक दल के होते हैं। एक ही राजनीतिक दल में होने के कारण उनके राजनीतिक विचार भी एक ही होते हैं। वे एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं तथा आपसी मतभेदों को व्यवस्थापिका के समक्ष प्रकट नहीं करते।

(8) **गोपनीयता**—संसदात्मक सरकार गोपनीयता के सिद्धान्त पर आधारित होती है। प्रत्येक मन्त्री सरकारी भेदों को गोपनीय रखने की शपथ लेता है। जब तक सरकारी नीति की घोषणा नहीं कर दी जाती तब तक कोई भी मन्त्री उसको जन-साधारण के समक्ष प्रकट नहीं करता है।

संसदात्मक सरकार के गुण
(MERITS OF PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

संसदात्मक शासन प्रणाली को एक उत्कृष्ट शासन प्रणाली के रूप में स्वीकार किया जाता है। इसके प्रमुख गुण निम्नांकित हैं—

(1) **उत्तरदायी सरकार**—संसदात्मक सरकार को उत्तरदाया सरकार भी कहते हैं। इस शासन प्रणाली में कार्यपालिका सामूहिक रूप से व्यवस्थापिका तथा अन्त में जन-साधारण के प्रति उत्तरदायी होती है। व्यवस्थापिका के सदस्य प्रश्न पूछकर, नीतियों की आलोचना करके तथा अविश्वास का प्रस्ताव पास कराके सरकार को उत्तरदायी बनाते हैं। डायसी कहता है, "संसदात्मक प्रणाली के मन्त्रिमण्डल को जनमत के प्रति अत्यधिक सावधान रहना पड़ता है।"

संसदात्मक सरकार के गुण
* उत्तरदायी सरकार
* मन्त्रिमण्डल में विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व
* निरंकुशता का अभाव
* राजनीतिक शिक्षा
* लोकतन्त्रीय सिद्धान्त की रक्षा
* राज्य का अध्यक्ष दलबन्दी से पृथक
* योग्य, अनुभवी एवं लोकप्रिय व्यक्तियों का शासन
* विरोधी दलों का महत्व
* आवश्यकतानुसार परिवर्तन सम्भव
* गत्यावरोध की आशंका कम
* व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग
* वैकल्पिक सरकार का प्रबन्ध

(2) **मन्त्रिमण्डल में विभिन्न वर्गों का प्रतिनिधित्व**—प्रधानमन्त्री की स्थिति कितनी भी मजबूत क्यों न हो लेकिन वह संसदीय दल के सहयोग के बिना एक कदम भी आगे नहीं बढ़ सकता। इसलिए मन्त्रियों का चयन करते समय उसके सामने यह दृष्टिकोण रहता है कि दलीय एकता को बनाये रखा जाय तथा देश के सभी वर्गों के व्यक्तियों को सम्मिलित

किया जाय। जीन ब्लोण्डेल ने उचित ही कहा है, "संसदीय पद्धति वाले देशों में इस बात की अधिक गुंजाइश रहती है कि समाज के विभिन्न वर्गों को मन्त्रिपद दिये जा सकें।"

(3) **निरंकुशता का अभाव**—संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का पूर्ण नियन्त्रण रहता है। मन्त्रिगण स्वेच्छापूर्ण कार्य करके अधिक समय तक अपने पद पर आसीन नहीं रह सकते। व्यवस्थापिका उन्हें तुरन्त उनके पद से पदच्युत कर सकती है। अतः इस प्रणाली में शासन के निरंकुश होने की सम्भावना नहीं रहती है।

(4) **राजनीतिक शिक्षा**—संसदात्मक शासन प्रणाली का एक गुण यह है कि इसमें जनता निरन्तर प्रशिक्षित होती रहती है। व्यवस्थापिका में सभी विभागों के कार्यों की आलोचना होती है और मन्त्रिगण भी पूर्ण चातुर्य के साथ अपनी नीतियों और कार्यों की व्याख्या करते हैं। जनता व्यवस्थापिका की कार्यवाही को रुचिपूर्वक पढ़ती है और सार्वजनिक समस्याओं के सम्बन्ध में ज्ञानवर्धन करती है।

(5) **लोकतन्त्रीय सिद्धान्त की रक्षा**—लोकतन्त्रीय सिद्धान्तों और आदर्शों की रक्षा अधिक श्रेष्ठ रूप में संसदात्मक व्यवस्था में ही सम्भव हो पाती है। इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत राजशक्ति का प्रयोग करने वाले व्यक्तियों को सदैव जन-साधारण के समक्ष अपने कार्यों एवं नीतियों का स्पष्टीकरण देने के लिए बाध्य होना पड़ता है। इस प्रकार वास्तविक प्रभुसत्ता जनता में ही निहित रहती है।

(6) **राज्य का अध्यक्ष दलबन्दी से पृथक्**—संसदात्मक शासन प्रणाली का यह भी एक गुण है कि शासन का प्रधान, चाहे वह सम्राट हो अथवा राष्ट्रपति, प्रायः निष्पक्षतापूर्वक कार्य करता है और वह दलीय राजनीति से ऊपर होता है। अतः वह सभी के आदर का पात्र होता है। इस सम्बन्ध में ब्राइस ने उचित ही कहा है, "इस प्रणाली का गुण यह है कि कार्यकारिणी का नामधारी अधिष्ठाता, चाहे वह सम्राट् हो अथवा राष्ट्रपति, दलबन्दी के दोषों से अलग रहता है।"

(7) **योग्य, अनुभवी एवं लोकप्रिय व्यक्तियों का शासन**—संसदात्मक सरकार में योग्य, अनुभवी और प्रतिभाशाली व्यक्तियों को ही मन्त्रिपरिषद् का सदस्य नियुक्त किया जाता है। लास्की ने इंग्लैण्ड के सन्दर्भ में लिखा है, "मन्त्री लोग माने हुए संसदीय नेता होते हैं तथा मन्त्री बनने से पूर्व वे संसद सदस्यों के रूप में राजनीतिक जीवन का अच्छा अनुभव प्राप्त कर चुके होते हैं।" मन्त्रियों को अपनी योग्यता दिखाने का पूरा अवसर मिलता है और वे स्वयं भी लोकप्रिय होने के लिए जनहित में कार्य करते हैं।

(8) **विरोधी दलों का महत्त्व**—संसदात्मक सरकार में विरोधी दल महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। वे न केवल शासन पर अंकुश रखते हैं बल्कि किसी भी समय शासन बदलने के लिए तैयार रहते हैं। इस प्रसंग में जैनिंग्स ने उचित ही कहा है, "जब आम-चुनाव होता है तब सरकार की स्थापना के साथ ही एक विरोधी दल की स्थापना होती है।"

(9) **आवश्यकतानुसार परिवर्तन सम्भव**—संसदात्मक प्रणाली का एक विशेष गुण यह है कि आवश्यकता पड़ने पर अथवा आपातकाल की स्थिति में मन्त्रिमण्डल में बिना किसी कठिनाई के सरलता से परिवर्तन किया जा सकता है। उदाहरणार्थ, प्रथम विश्वयुद्ध के समय इंग्लैण्ड ने ऐस्क्विथ के स्थान पर लॉयड जार्ज और द्वितीय विश्वयुद्ध में चैम्बरलेन के स्थान पर चर्चिल को प्रधानमन्त्री बनाया था। इसी प्रकार भारत में भारत-चीन संघर्ष के समय वी. के. कृष्णमेनन के स्थान पर वाई. वी. चह्वाण को रक्षामन्त्री बनाया गया था। अध्यक्षात्मक शासन में आवश्यकता के अनुसार इस प्रकार के परिवर्तन सम्भव नहीं हैं।

(10) **गत्यावरोध की आशंका कम**—अध्यक्षात्मक शासन शक्ति-विभाजन के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इस कारण कभी-कभी ऐसे अवसर उपस्थित हो जाते हैं जब व्यवस्थापिका और कार्यपालिका एक-दूसरे के कार्यों में बाधा डालने का प्रयास करती हैं और शासन के कार्य में गत्यावरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। लेकिन संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका घनिष्ठ रूप से सम्बन्धित होने के कारण परस्पर सहयोग करती रहती हैं जिसके परिणामस्वरूप गत्यावरोध की स्थिति उत्पन्न होने की सम्भावना नहीं रहती।

(11) **व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सहयोग**—संसदात्मक शासन-प्रणाली का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के बीच परस्पर सहयोग और सामंजस्य बना रहता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के भी सदस्य होते हैं जिनका व्यवस्थापिका में बहुमत होता है। अतः व्यवस्थापिका कार्यपालिका की नीतियों और उनके कार्यों की पुष्टि करती रहती है तथा शासन संचालन के लिए जितने धन की कार्यपालिका को आवश्यकता होती है वह भी बजट स्वीकार करके प्रदान करती है। इस प्रकार व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के सहयोग से देश का शासन सुचारु रूप से चलता है।

(12) **वैकल्पिक सरकार का प्रबन्ध**—संसदात्मक सरकार में वैकल्पिक सरकार की व्यवस्था होती है। यदि शासक दल जनता तथा विधानपालिका का विश्वास खो देता है तो विपक्षी दल शासन का संचालन करने के लिए तैयार रहते हैं।

संसदात्मक सरकार के अवगुण अथवा दोष

(DEMERITS OF PARLIAMENTARY GOVERNMENT)

संसदात्मक शासन प्रणाली में निम्नलिखित प्रमुख दोष पाये जाते हैं—

(1) **अस्थिर सरकार**—संसदात्मक सरकार अस्थिर होती है क्योंकि यह उस समय तक अपने पद पर बनी रहती है जब तक इसको व्यवस्थापिका में बहुमत दल का विश्वास प्राप्त रहता है तथा बहुमत का विश्वास समाप्त होते ही सरकार का पतन हो जाता है। अस्थिर सरकार देश की प्रगति में बहुत बड़ी रुकावट है। सरकार की अस्थिरता के कारण न तो ठीक प्रकार से योजनाएँ बन सकती हैं और न ही उन्हें क्रियान्वित किया जा सकता है।

संसदात्मक सरकार के अवगुण
* अस्थिर सरकार
* प्रशासन में अक्षमता
* अयोग्य व्यक्तियों का शासन तथा नौकरशाही का वर्चस्व
* आपातकाल में कमजोर सरकार
* दल प्रणाली का दूषित प्रभाव
* शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध
* मन्त्रिमण्डल की निरंकुशता की आशंका
* राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा

(2) **प्रशासन में अक्षमता**—कार्यपालिका का व्यवस्थापिका से घनिष्ठ सम्बन्ध होने के कारण मन्त्रियों का अधिकांश समय व्यवस्थापिका में उपस्थित रहने, वहाँ वाद-विवाद सुनने तथा स्वयं वाद-विवाद में हिस्सा लेने में व्यतीत हो जाता है। इसलिए मन्त्रीगण शासन के कार्यों को समुचित प्रकार से नहीं कर पाते तथा प्रशासन में अकुशलता आ जाती है।

(3) **अयोग्य व्यक्तियों का शासन तथा नौकरशाही का वर्चस्व**—संसदात्मक सरकार में अधिकतर मन्त्रियों की नियुक्ति योग्यता एवं विभागीय ज्ञान के आधार पर न होकर बहुमत प्राप्त दल में उनके प्रभाव एवं स्थिति को देखकर होती है। इसका परिणाम यह होता है कि अयोग्य तथा अनुभवहीन व्यक्ति मन्त्री नियुक्त कर दिये जाते हैं। ऐसी स्थिति में मन्त्री अपने

विभागीय सचिवों के हाथों की कठपुतली बनकर रह जाते हैं। ब्रिटेन के बारे में रैम्जे म्योर ने लिखा है, "मन्त्री उत्तरदायित्व की आड़ में नौकरशाही पनपती है।"

(4) **आपातकाल में कमजोर सरकार**—आपातकाल में शीघ्र फैसले करना आवश्यक है परन्तु संसदात्मक सरकार में मन्त्रिमण्डल के निर्णयों पर संसद की स्वीकृति प्राप्त करनी होती है तथा इस प्रकार निर्णय करने में विलम्ब हो जाता है। अतः यह शासन प्रणाली आपातकाल के लिए अनुपयुक्त है। डायसी के शब्दों में, **"युद्ध तथा राष्ट्रीय संकट के समय यह प्रणाली सर्वथा अनुपयुक्त होती है।"**

(5) **दल प्रणाली का दूषित प्रभाव**—संसदात्मक सरकार दल प्रणाली को प्रोत्साहन देती है। चूँकि यह सरकार दलों पर आधारित होती है तथा प्रत्येक दल सरकार बनाने के लिए सदैव प्रयासरत रहता है जिसके फलस्वरूप अलग-अलग दलों के मध्य संघर्ष चलता रहता है। प्रत्येक दल दूसरे दल के गुणों को भी अवगुण बनाकर प्रस्तुत करने का प्रयास करता है तथा राजनीति महाभारत का अखाड़ा बनकर रह जाती है।

(6) **शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध**—संसदात्मक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका में पूर्ण समन्वय होने के कारण शक्तियों का पृथक्करण नहीं होता है। यह व्यवस्था जनता की स्वतन्त्रता की रक्षा के लिए घातक है। मॉण्टेस्क्यू के शब्दों में, **"यदि व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका की शक्तियाँ एक ही व्यक्ति अथवा एक ही संस्था में केन्द्रित हो जायें तो कोई स्वतन्त्रता नहीं रह सकती है क्योंकि इस बात का भय पैदा हो जाता है कि कहीं राजा अथवा सीनेट अत्याचारी कानून न बनाये और उन्हें अत्याचारी ढंग से लागू न करे।"**

(7) **मन्त्रिमण्डल की निरंकुशता की आशंका**—संसदात्मक शासन प्रणाली में व्यवस्थापिका कार्यपालिका की निर्माता, जननी तथा नियन्त्रक है तथा कार्यपालिका संसद के प्रति उत्तरदायी होती है। रैम्जे म्योर के कथनानुसार, **"संसद में ज्यों ही सत्तारूढ़ दल अधिक बहुमत के साथ आता है, उसके द्वारा बनायी गयी सरकार बहुमत के बल पर ही संसद की स्वामी बन जाती है। संसद के लोग मन्त्रियों के पीछे याचक की तरह दौड़ते हैं तथा उनका स्वागत करते हैं, मन्त्रिमण्डल तब एक अधिनायक बनकर प्रशासन करता है।"** वर्तमान समय में संसदात्मक शासन की यह प्रवृत्ति देखी गयी है कि सम्पूर्ण राजशक्ति मन्त्रिमण्डल के हाथों में केन्द्रित हो जाती है तथा व्यवस्थापिका उसके हाथों का खिलौना बन जाती है।

(8) **राष्ट्रीय हितों की उपेक्षा**—अनेक बार ऐसा होता है कि सत्तारूढ़ दल दलगत व्यक्तियों के हितों के आगे जन-समुदाय के हितों को बलिदान कर देते हैं। राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों के मूल्य पर अपने हितों को प्रोत्साहन देते हैं तथा स्वयं को सत्ता में बनाये रखने हेतु अनेक प्रकार के अनैतिक कार्य करते हैं।

अन्त में, कहा जा सकता है कि संसदात्मक सरकार में अनेक दोष होने पर भी यह एक लोकप्रिय सरकार है क्योंकि यह लोकतन्त्रीय सरकार है। कार्यपालिका संसद के समक्ष तथा जन-साधारण के समक्ष उत्तरदायी होती है अतः यह सार्वजनिक हितों की उपेक्षा नहीं कर सकती। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि यह सरकार बहुदलीय प्रणाली वाले राज्यों में सफल नहीं होती।

अध्यक्षात्मक सरकार
(PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का आधार शक्तियों के पृथक्करण का सिद्धान्त है जिस शासन प्रणाली में कार्यपालिका-प्रधान व्यवस्थापिका से पूर्णतया पृथक् होता है तथा शासन

विभाग का प्रधान एक ऐसा व्यक्ति होता है जो व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता, उसे अध्यक्षात्मक शासन कहा जाता है। अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को असंसदात्मक शासन प्रणाली भी कहते हैं। अमेरिका, ब्राजील तथा लैटिन अमेरिका के राज्यों में इसी प्रकार की शासन प्रणाली है।

गैटिल ने अध्यक्षात्मक सरकार को परिभाषित करते हुए कहा है, **"अध्यक्षीय सरकार एक ऐसी शासन-प्रणाली है जिसमें कार्यपालिका का अध्यक्ष अपने कार्यकाल और अपने कार्यों की दृष्टि से विधानमण्डल के नियन्त्रण से मुक्त होता है।"**[1]

डॉ. गार्नर के शब्दों में, **"अध्यक्षात्मक सरकार वह होती है जिसमें कार्यपालिका अर्थात् राज्य का अध्यक्ष तथा उसके मन्त्री संविधान की दृष्टि से अपनी अवधि के बारे में विधानमण्डल से स्वतन्त्र होते हैं और अपनी राजनीतिक नीतियों के बारे में भी उसके प्रति अनुत्तरदायी होते हैं।"**

ब्लोण्डेल के कथनानुसार, **"अध्यक्षात्मक प्रणाली की यह विशेषता है कि नियुक्ति, कार्यकाल और सदस्यता की दृष्टि से 'सरकार' (कार्यपालिका) विधानमण्डल के नियन्त्रण से पूर्णतया मुक्त होती है; यद्यपि शक्तियों की दृष्टि से मन्त्रियों को विधानमण्डल पर बहुत ज्यादा निर्भर रहना पड़ता है।"**[2]

अध्यक्षात्मक सरकार के लक्षण अथवा विशेषताएँ
(CHARACTERISTICS OF PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

इस शासन के प्रमुख लक्षण अथवा विशेषताएँ निम्नांकित हैं—

(1) शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित—अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित है। इसमें व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका दोनों एक-दूसरे से पृथक् तथा स्वतन्त्र रहती हैं। कार्यपालिका के सदस्य न तो व्यवस्थापिका के सदस्य होते हैं और न उसके प्रति उत्तरदायी ही। व्यवस्थापिका का कार्य है कानून बनाना और कार्यपालिका का कार्य है, कानूनों को लागू करना। सरकार के ये अंग एक-दूसरे से स्वतन्त्र रहते हुए कार्य करते हैं।

अध्यक्षात्मक सरकार के लक्षण
* शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित
* नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का भेद नहीं
* वास्तविक मन्त्रिमण्डल का अभाव
* कार्यपालिका का निश्चित कार्यकाल

(2) नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका का भेद नहीं—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में संसदात्मक शासन की भाँति नाममात्र की और वास्तविक कार्यपालिका पृथक्-पृथक् नहीं होती हैं। राष्ट्रपति, जो देश का वैधानिक प्रधान होता है, व्यवहार में भी कार्यपालिका शक्तियों का उपभोग करता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका का राष्ट्रपति सिर्फ नाममात्र का अध्यक्ष नहीं है, संविधान में दिये गये सभी अधिकारों का वह पूर्ण रूप से उपयोग करता है।

1 "Presidential government is that form in which the Chief Executive is independent of the legislature as to his tenure and, to a large extent, as to his policies and acts." —Gettell

2 "Presidential Systemis characterised by almost complete independence of the Government in terms of succession, duration and personnel, but a relatively high dependence in terms of powers." —Blondel

(3) वास्तविक मन्त्रिमण्डल का अभाव—अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में वस्तुत: मन्त्रिमण्डल नहीं होता है। सिर्फ राष्ट्रपति को सहायता पहुँचाने तथा सलाह देने के लिए कुछ सचिव होते हैं। ये सचिव ही मन्त्रिमण्डल के तथाकथित नाम से जाने जाते हैं जो कि राष्ट्रपति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। संसदीय प्रणाली की भाँति वे एक इकाई अथवा टीम का निर्माण नहीं करते हैं।

(4) कार्यपालिका का निश्चित कार्यकाल—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका का प्रधान एक निश्चित अवधि के लिए निर्वाचित किया जाता है। समय से पूर्व व्यवस्थापिका उसे उसके पद से नहीं हटा सकती। यदि वह संविधान का उल्लंघन करे तो महाभियोग लगाकर उसे अवश्य उसके पद से हटाया जा सकता है।

अध्यक्षात्मक सरकार के गुण
(MERITS OF PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

अध्यक्षात्मक सरकार के गुणों को निम्नलिखित आधारों पर स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) स्थिर सरकार—अध्यक्षीय सरकार स्थिर होती है। इस शासन प्रणाली में शासनाध्यक्ष की कार्यावधि निश्चित होती है तथा कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व अविश्वास प्रस्ताव पारित करके उसको पदच्युत नहीं कियां जा सकता। अत: वह निश्चिन्त होकर अपने उत्तरदायित्वों का निर्वाह करता है।

अध्यक्षात्मक सरकार के गुण
* स्थिर सरकार
* नीतियों में एकरूपता
* मजबूत सरकार
* बहुदलीय प्रणाली के लिए उपयुक्त
* दलबन्दी की बुराइयाँ कम
* आपातकाल हेतु श्रेष्ठ प्रणाली
* राष्ट्रीय एकता की दृढ़ता
* शक्ति पृथक्करण से लाभ
* योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों की सरकार

(2) नीतियों में एकरूपता—अध्यक्षीय सरकार के स्थिर होने के कारण नीतियों में एकरूपता आती है। सरकार जो नीति निर्धारित करती है उसको दृढ़ता से लागू भी करती है जिसके फलस्वरूप विकास के नये आयाम स्थापित होते हैं।

(3) मजबूत सरकार—अध्यक्षीय सरकार में कार्यकारी अध्यक्ष वास्तविक कार्यकारी अध्यक्ष होता है। वह अपनी शक्तियों के प्रयोग हेतु व्यवस्थापिका के समक्ष उत्तरदायी नहीं होता। इस प्रकार वह विधानपालिका की चिन्ता किये बिना राज्य प्रबन्ध को कुशलतापूर्वक चलाता है।

(4) बहुदलीय प्रणाली के लिए उपयुक्त—ऐसे देशों में जहाँ बहुदलीय प्रणाली प्रचलित हो वहाँ संसदात्मक सरकारें बहुत जल्दी-जल्दी बदलती रहती हैं और लोकतन्त्र के सफलतापूर्वक कार्य करने में बाधा उपस्थित होती है। बहुदलीय प्रणाली में तो लोकतन्त्रीय शासन का अध्यक्षात्मक रूप ही सफलतापूर्वक कार्य कर सकता है।

(5) दलबन्दी की बुराइयाँ कम—अध्यक्षात्मक शासन में राजनीतिक दल सिर्फ निर्वाचनों के समय ही अधिक सक्रिय रहते हैं। कार्यपालिका और व्यवस्थापिका का कार्यकाल निश्चित होने के कारण चुनाव हो जाने के बाद दलबन्दी की भावना प्रकट होने के विशेष अवसर नही रहते। लॉर्ड ब्राइस के कथनानुसार, "संसदात्मक शासन की तुलना में अध्यक्षात्मक शासन में दलबन्दी की बुराइयाँ कम होती हैं तथा राष्ट्रीय एकता की वृद्धि होती है।"

(6) आपातकाल हेतु श्रेष्ठ प्रणाली—अध्यक्षात्मक शासन आपातकाल हेतु अधिक उपयुक्त होता है क्योंकि शासन की सम्पूर्ण शक्ति राष्ट्रपति के हाथों में केन्द्रित होती है। आपात स्थिति आने पर राष्ट्रपति बिना मन्त्रियों के परामर्श की चिन्ता किये अथवा बिना व्यवस्थापिका का विचार जाने अविलम्ब अपने विवेक के अनुसार राष्ट्रहित में निर्णय ले सकता है। गिलक्राइस्ट ने उचित ही कहा है, **"सम्भवतया यह सत्य है कि अध्यक्षात्मक प्रणाली युद्ध के समय अधिक सक्षम होती है।"**

(7) राष्ट्रीय एकता की दृढ़ता—इस प्रणाली में राष्ट्रीय एकता दृढ़ होती है। राष्ट्रपति दलबन्दी की भावना से पृथक् होकर शासन-संचालन करता है और व्यवस्थापिका अकारण ही कार्यपालिका का विरोध करने में अपना समय व्यर्थ ही बरबाद न कर अच्छे कानूनों का निर्माण करती है। इस प्रकार इस प्रणाली के अन्तर्गत राष्ट्रीय एकता को प्रोत्साहन मिलता है।

(8) शक्ति पृथक्करण से लाभ—अध्यक्षात्मक शासन शक्तियों के पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होता है। इस सिद्धांन्त का प्रतिपादन **मॉण्टेस्क्यू** ने वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रशासनिक कुशलता के लिए किया है क्योंकि शासन की शक्तियाँ पृथक्-पृथक् होने पर शासन में निरंकुशता नहीं आने पाती है और कार्य-विभाजन के कारण प्रशासनिक दक्षता में वृद्धि होती है। अतः शक्ति पृथक्करण के सिद्धान्त पर आधारित होने के कारण इस शासन में वैयक्तिक स्वतन्त्रता तथा प्रशासनिक कुशलता रहती है।

(9) योग्य एवं अनुभवी व्यक्तियों की सरकार—संसदात्मक प्रणाली के अन्तर्गत मन्त्रिपरिषद् का निर्माण करने में प्रधानमन्त्री को दलीय एकता तथा अन्य अनेक बातों का ध्यान रखना पड़ता है। लेकिन अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में राष्ट्रपति किसी भी व्यक्ति को अपना मन्त्री बना सकता है। इसके कारण वह दक्ष, विशेषज्ञ, अनुभवी और योग्य व्यक्तियों को अपने मन्त्री अथवा सचिव नियुक्त करता है। श्री बृजमोहन नेहरू के शब्दों में, **"राष्ट्रपति योग्यतम व्यक्तियों के मन्त्रिमण्डल का निर्माण कर सकता है।"**

अध्यक्षात्मक शासन के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF PRESIDENTIAL GOVERNMENT)

अध्यक्षात्मक सरकार में निम्नलिखित प्रमुख दोष पाये जाते हैं—

(1) समय से पूर्व सरकार में परिवर्तन सम्भव नहीं—अध्यक्षात्मक सरकार का कार्यकाल निश्चित होता है। कार्यकाल पूर्ण होने से पूर्व इसे बदला नहीं जा सकता। यदि शासनाध्यक्ष (राष्ट्रपति) अयोग्य एवं अपने उत्तरदायित्व को सँभालने में असमर्थ हो तो भी उसे सरलतापूर्वक नहीं हटाया जा सकता तथा न ही उसकी इच्छा के विरुद्ध देश में कोई परिवर्तन किया जा सकता है। इस बारे में बेजहॉट कहता है, **"आप आने वाले कुछ वर्षों के लिए अपनी सरकार का स्वरूप निश्चित कर देते हैं, चाहे वह आपके अनुकूल हो अथवा न हो। वह अच्छी प्रकार से कार्य करे अथवा न करे और आप उसे चाहें अथवा न चाहें लेकिन कानून आपको बाध्य करता है कि आप उसे स्थापित रखें।"**[1]

(2) निरंकुशता की आशंका—अध्यक्षात्मक सरकार में कोई भी व्यक्ति राष्ट्रपति चुने जाने के पश्चात् निश्चित अवधि तक अपने पद से हटाया नहीं जा सकता। चूँकि वह

1 "You have bespoken your Government in advance, and whether it suits you or not, whether it works well or works ill, whether it is what you want or not, by law you must keep it." —*Bagehot*

व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होता इसलिए व्यवस्थापिका का उस पर कोई नियन्त्रण नहीं होता। अतः वह जनमत की उपेक्षा करके मनमाने तरीके से कार्य करते हुए निरंकुशता की प्रवृत्ति को अपना सकता है।

अध्यक्षात्मक सरकार के अवगुण अथवा दोष

* समय से पूर्व सरकार में परिवर्तन सम्भव नहीं
* निरंकुशता की आशंका
* विदेश नीति के संचालन में कठिनाई
* उत्तरदायित्व निश्चित करना कठिन
* जनमत की उपेक्षा
* प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त का विरोध
* कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में परस्पर सहयोग का अभाव

(3) विदेश नीति के संचालन में कठिनाई—इस प्रणाली में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य उचित सम्बन्ध न होने के कारण सुदृढ़ विदेश नीति के निर्धारण में पर्याप्त कठिनाई होती है। ऐसा भी हो सकता है कि कार्यपालिका के द्वारा अपनायी गयी विदेश नीति को व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त न हो। उदाहरणार्थ, राष्ट्रपति विल्सन को राष्ट्र संघ से सम्बन्धित नीति में व्यवस्थापिका का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ था।

(4) उत्तरदायित्व निश्चित करना कठिन—इस शासन-व्यवस्था में प्रशासनिक बुराइयों के लिए व्यवस्थापिका अथवा प्रशासन में से किसी एक को ही निश्चित रूप से उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका दोनों ही स्वतन्त्र रूप से कार्य करते हैं और यदि कोई प्रशासकीय असफलता होती है तो दोनों एक-दूसरे पर दोपारोपण करते हैं। उत्तरदायित्व की अनिश्चितता से राज्य के हितों को हानि पहुँचती है। एस्मीन ने उचित ही कहा है कि **"अध्यक्षात्मक सरकार निरंकुश, अनुत्तरदायी और खतरनाक होती है।"**

(5) जनमत की उपेक्षा—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली जनमत की सरलता से उपेक्षा कर सकती है। राष्ट्रपति का निर्वाचन एक निश्चित समय के लिए होता है। इस निश्चित समय से पूर्व सामान्यतः उसे हटाया नहीं जा सकता। इसलिए राष्ट्रपति पर जनमत का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। सिडनी हुक के अनुसार, **"वह जनमत की उपेक्षा कर सकता है। अमरीकी राष्ट्रपति जॉनसन जनमत की उपेक्षा करते रहे और वियतनाम में निरन्तर बमबारी करते रहे।"**

(6) प्रशासनिक एकता के सिद्धान्त का विरोध—आधुनिक युग में प्रशासन के सम्बन्ध में **'आंगिक सिद्धान्त' (Organic Theory)** की आवश्यकता का प्रतिपादन किया जाता है इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि प्रशासन में भी मानव शरीर के समान एकता और अंगों की पारस्परिक निर्भरता होती है। परन्तु अध्यक्षात्मक शासन इस सिद्धान्त के विरुद्ध है क्योंकि शक्ति पृथक्करण पर आधारित होने के कारण इसमें व्यवस्थापिका और कार्यपालिका पृथक्-पृथक् होती हैं और इनका एक-दूसरे से सम्बन्ध नहीं रहता है।

(7) कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में परस्पर सहयोग का अभाव—अध्यक्षात्मक सरकार का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दोष यह है कि इसमें व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में असहयोग एवं संघर्ष पैदा होने का डर सदैव बना रहता है। यह गतिरोध उस समय अधिक बढ़ जाता है जब राष्ट्रपति एक दल का होता है तथा व्यवस्थापिका में किसी अन्य दल का बहुमत होता है। ऐसी परिस्थिति में व्यवस्थापिका राष्ट्रपति के कार्यों में व्यवधान पैदा कर सकती है। दूसरी तरफ राष्ट्रपति भी निषेधाधिकार (Veto) का प्रयोग करके व्यवस्थापिका के कार्यों में रुकावट पैदा कर सकता है।

संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकारों में अन्तर अथवा भेद
(DIFFERENCE BETWEEN PARLIAMENTARY AND PRESIDENTIAL GOVERNMENTS)

संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकार में प्रमुख अन्तर निम्नलिखित हैं—

(1) कार्यपालिका प्रधान की स्थिति में अन्तर—संसदात्मक सरकार में कार्यपालिका का प्रधान नाममात्र का प्रधान होता है। सैद्धान्तिक रूप से तो उसमें समस्त शक्तियाँ निहित होती हैं लेकिन व्यावहारिक रूप से वह अपने विवेक से इन शक्तियों का प्रयोग नहीं कर सकता।

अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यपालिका का प्रधान नाममात्र का प्रधान न होकर वास्तविक प्रधान होता है। अपने समस्त अधिकारों का वह स्वतन्त्र रूप से उपयोग करता है। वह सभी मन्त्रियों को नियुक्त करता है तथा सभी मन्त्री उसी के अधीन होते हैं।

संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकारों में अन्तर अथवा भेद

* कार्यपालिका प्रधान की स्थिति में अन्तर
* कार्यकाल का अन्तर
* राजनीतिक शिक्षा का अन्तर
* लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर
* मन्त्रियों की स्थिति में अन्तर
* कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के सम्बन्धों में अन्तर
* राजनीतिक दलों की सक्रियता में अन्तर

(2) कार्यकाल का अन्तर—संसदात्मक सरकार में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है। व्यवस्थापिका अविश्वास प्रस्ताव पारित कराकर कभी भी कार्यपालिका को पदच्युत कर सकती है।

अध्यक्षात्मक सरकार में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है। महाभियोग के द्वारा ही उसे निश्चित अवधि पूर्ण होने से पूर्व उसके पद से हटाया जा सकता है।

(3) राजनीतिक शिक्षा का अन्तर—संसदात्मक सरकार में व्यवस्थापिका के सदस्य समय-समय पर कार्यपालिका से प्रश्न करते हैं तथा राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श करते रहते हैं। जनसाधारण में इन कार्यवाहियों के प्रति रुचि होती है जिससे उसे राजनीतिक शिक्षा का ज्ञान होता है।

अध्यक्षात्मक सरकार में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के मध्य सम्बन्ध न होने के कारण जन-साधारण को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होने के कम अवसर प्राप्त होते हैं।

(4) लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर अन्तर—हालांकि ये दोनों ही सरकारें लोकतन्त्र के रूप में हैं तथापि लोकतान्त्रिक सिद्धान्तों के आधार पर दोनों में अन्तर किया जाता है। संसदात्मक सरकार अध्यक्षात्मक सरकार की अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक है। लोकतन्त्र का तात्पर्य लोकमत के अनुसार शासन है तथा ऐसा सिर्फ संसदीय शासन में ही सम्भव हो पाता है क्योंकि वही एकमात्र ऐसा शासन है जो जन-साधारण के प्रति उत्तरदायी होता है।

(5) मन्त्रियों की स्थिति में अन्तर—संसदात्मक सरकार में मन्त्री प्रभावशाली एवं महत्त्वपूर्ण होते हैं। वे अपने विभाग के अध्यक्ष अथवा सर्वेसर्वा होते हैं। वे कानून-निर्माण के कार्य को प्रभावित करते हैं।

अध्यक्षात्मक सरकार में समस्त कार्यपालिका शक्तियाँ सिर्फ राष्ट्रपति में निहित होती हैं। वह जिन मन्त्रियों को नियुक्त करता है वे सिर्फ 'हाँ में हाँ मिलाने वाले' (Yes Men)

होते हैं। इस शासन में राष्ट्रपति एवं मन्त्रियों का सम्बन्ध बहुत कुछ 'स्वामी' तथा 'सेवक' का सा होता है।

(6) **कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका के सम्बन्धों में अन्तर**—संसदात्मक सरकार में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। कार्यपालिका का निर्माण व्यवस्थापिका से ही किया जाता है तथा यह व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

अध्यक्षात्मक सरकार में व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका एक-दूसरे से स्वतन्त्र होती हैं। कार्यपालिका के सदस्य अर्थात् मन्त्री व्यवस्थापिका का अंग नहीं होते। वे व्यवस्थापिका की बैठकों में हिस्सा नहीं ले सकते। व्यवस्थापिका द्वारा कार्यपालिका पर नियन्त्रण भी नहीं रखा जाता है।

(7) **राजनीतिक दलों की सक्रियता में अन्तर**—संसदात्मक सरकार में विरोधी दल लगातार सत्ता प्राप्त करने हेतु प्रयासरत रहते हैं तथा सत्तारूढ़ दल का विरोध करते हैं। इनकी सक्रियता सदैव बनी रहती है तथा उग्र दलबन्दी का प्रादुर्भाव होता है।

अध्यक्षात्मक सरकार में चुनावों के उपरान्त सामान्यतया विरोधी दल निष्क्रिय हो जाते हैं।

दोनों में से कौन-सी सरकार श्रेष्ठ है?
(WHICH OF THE TWO GOVERNMENT IS BETTER?)

हालांकि संसदात्मक सरकार तथा अध्यक्षात्मक सरकार दोनों ही लोकतन्त्र के रूप हैं लेकिन संसदात्मक शासन व्यवस्था अध्यक्षात्मक शासन व्यवस्था की अपेक्षा अधिक लोकतान्त्रिक है, लोकतान्त्रिक शासन प्रणाली की समस्त विशेषताएँ संसदात्मक सरकार में विद्यमान होती हैं।

दोनों सरकारों के गुण-दोषों की विवेचना के उपरान्त यह प्रश्न उठता है कि दोनों शासन प्रणालियों में से कौन-सी प्रणाली अधिक श्रेष्ठ है। उपर्युक्त अध्ययन करने के उपरान्त एक सरकार की तुलना में दूसरी को श्रेष्ठ कहना न्यायोचित नहीं होगा। हम जानते हैं कि इंग्लैण्ड में संसदात्मक सरकार अत्यधिक सफल है जबकि फ्रांस, बांग्लादेश तथा श्रीलंका इत्यादि देशों में यह सफल नहीं हुई। इन देशों में संसदात्मक सरकार को अध्यक्षात्मक सरकार में परिवर्तित कर दिया गया। इस प्रकार यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि संसदात्मक अथवा अध्यक्षात्मक सरकार का श्रेष्ठ होना या न होना किसी देश विशेष की स्थितियों पर निर्भर करता है। बहुदलीय राज्यों के लिए जहाँ अध्यक्षात्मक सरकार अधिक उपयुक्त है वहीं दो-दलीय राज्यों हेतु संसदात्मक सरकार अधिक उपयुक्त होती है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. संसदीय शासन प्रणाली से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—संसदीय शासन प्रणाली उसे कहते हैं जिसमें वास्तविक कार्यपालिका अपने समस्त कार्यों हेतु कानूनी रूप से व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है।

प्रश्न 2. संसदामक शासन में शासन की वास्तविक शक्तियाँ किसमें निहित होती हैं?

उत्तर—मन्त्रिमण्डल में।

प्रश्न 3. संसदात्मक शासन के कोई दो गुण लिखिए। (1994, 97)

उत्तर—(1) सरकार के निरंकुश होने की आशंका कम तथा (2) व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका में सहयोग ।

प्रश्न 4. संसदात्मक शासन प्रणाली के दो दोष लिखिए। (1992)

उत्तर—(1) दलीय तानाशाही की आशंका तथा (2) सरकार का अनिश्चित कार्यकाल।

प्रश्न 5. संसदात्मक शासन प्रणाली में वास्तविक शक्ति किसके हाथों में रहती है?

उत्तर—प्रधानमन्त्री के हाथों में।

प्रश्न 6. भारत में किस प्रकार की शासन प्रणाली है?

उत्तर—संसदात्मक शासन प्रणाली है।

प्रश्न 7. अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली का एक प्रमुख लक्षण लिखिए।

उत्तर—इस शासन प्रणाली में राज्य का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति नाममात्र का शासक न होकर वास्तविक शासक होता है।

प्रश्न 8. अध्यक्षात्मक सरकार के दो प्रमुख गुण बताइए। (1989, 92, 96)

उत्तर—(1) शासन में स्थायित्व तथा (2) आपातकाल हेतु सर्वश्रेष्ठ प्रणाली।

प्रश्न 9. अध्यक्षात्मक शासन के दो प्रमुख दोष लिखिए। (1997)

उत्तर—(1) राष्ट्रपति की निरंकुशता की आशंका तथा (2) कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका में सहयोग का अभाव।

प्रश्न 10. कौन-सी शासन प्रणाली शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त पर आधारित है?

उत्तर—अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली।

प्रश्न 11. संसदात्मक सरकार का सर्वोत्तम उदाहरण कौन-सा देश है?

उत्तर—ब्रिटेन (इंग्लैण्ड)।

प्रश्न 12. संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में कोई एक अन्तर लिखिए।

उत्तर—संसदात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल अनिश्चित होता है जबकि अध्यक्षात्मक शासन में कार्यपालिका का कार्यकाल निश्चित होता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. संसदीय शासन व्यवस्था के प्रमुख लक्षण क्या हैं ? इसकी मुख्य कमियों की ओर संकेत कीजिए। (1996)
2. संसदात्मक शासन प्रणाली के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए। भारत में संसदात्मक शासन प्रणाली की सफलता पर अपना मत व्यक्त कीजिए। (1991)
3. संसदात्मक सरकार के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। इसकी सफलता के लिए क्या आवश्यक दशाएँ हैं? (1978, 92)
4. संसदात्मक शासन की विशेषताएँ बताइए। क्या आप इस कथन से सहमत हैं कि यह अध्यक्षात्मक शासन से अधिक लोकतान्त्रिक है? कारण सहित लिखिए। (1970)
5. अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली के प्रमुख लक्षण क्या हैं? संसदात्मक शासन प्रणाली से इसकी तुलना कीजिए। (1995)
6. संसदात्मक एवं अध्यक्षात्मक सरकारों की तुलना कीजिए। आप इनमें से किसे अच्छा समझते हैं और क्यों? (1973, 80)
7. संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए—
   (i) संसदात्मक शासन प्रणाली (1995, 97, 2000)
   (ii) अध्यक्षात्मक सरकार। (1992, 94, 97)

14

कार्यपालिका

[EXECUTIVE]

"कार्यपालिका शब्द का प्रयोग सरकार के उन अधिकारियों के लिये किया जाता है जिनका कार्य देश के कानूनों को कार्यान्वित करना होता है।"

—लीकॉक

ड्यूग्वी ने सरकार को व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका, इन दो अंगों में विभाजित किया था लेकिन वर्तमान काल में प्रमुख रूप से सरकार के तीन अंग—व्यवस्थापिका, कार्यपालिका तथा न्यायपालिका होते हैं। कार्यपालिका सरकार का दूसरा महत्त्वपूर्ण अंग है। प्राचीन काल में अलोकतान्त्रिक राज्यों में कार्यपालिका ही सर्वोच्च हुआ करती थी। उस समय कानून बनाना, कानूनों को क्रियान्वित करना, शासन का संचालन करना तथा न्याय करना इत्यादि कार्यों का सम्पादन कार्यपालिका ही करती थी। वर्तमान काल में भी कार्यपालिका ही व्यवस्थापिका द्वारा पारित कानूनों को लागू करती है तथा प्रशासन का संचालन करती है।

कार्यपालिका का अर्थ एवं परिभाषाएँ

(MEANING AND DEFINITIONS OF EXECUTIVE)

कार्यपालिका शासन का वह भाग है जो व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों को कार्य रूप में परिणत करता है तथा उनके आधार पर प्रशासन का संचालन करता है। कार्यपालिका शासन की वह धुरी है जिसके चारों ओर सम्पूर्ण प्रशासकीय यन्त्र घूमता है। कार्यपालिका शब्द का प्रयोग निम्न दो अर्थों में किया जाता है—

(1) **व्यापक अर्थ**—इसमें कार्यपालिका शासन के वे समस्त पदाधिकारी आ जाते हैं जो व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित राज्यों के कानूनों को कार्यान्वित करते हैं। इस अर्थ में इसके अन्तर्गत राष्ट्रपति से लेकर प्रशासन से सम्बन्धित 'स्थायी लोक सेवाओं' का साधारण पुलिस-मैन तक भी आ जाता है।

(2) **संकुचित अर्थ**—इसमें कार्यपालिका के वे ही व्यक्ति सम्मिलित हैं जो नीति निर्धारित करते हैं, योजनाएँ बनाते हैं तथा कानूनों का क्रियान्वयन करते हैं। इसे राजनीतिक कार्यपालिका कहते हैं। इस अर्थ में इसके अन्तर्गत भारत में राष्ट्रपति, प्रधानमन्त्री एवं मन्त्रिमण्डल तथा इंग्लैण्ड में सम्राट, प्रधानमन्त्री एवं उसका मन्त्रिमण्डल आते हैं।

हालांकि कार्यपालिका शब्द के अर्थ को व्यापक तथा संकुचित दोनों अर्थों में ही प्रयोग किया जाता है लेकिन राजनीतिक व्यवस्था के अध्ययन में इसका संकुचित अर्थ ही लागू किया जाता है। कार्यपालिका को विभिन्न विद्वानों ने अग्र प्रकार परिभाषित किया है—

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "कार्यपालिका सरकार का वह अंग है जो कानून के रूप में अभिव्यक्त जनता की इच्छा को कार्य में परिणित करता है।"[1]

प्रो. गार्नर का कथन है, "व्यापक एवं सामूहिक अर्थ में कार्यपालिका विभाग के अन्तर्गत वे सभी अधिकारी, राज्य कर्मचारी तथा एजेंसियाँ आ जाती हैं जिनका कार्य राज्य की इच्छा जिसे व्यवस्थापिका ने निर्धारित कर कानून के रूप में व्यक्त किया है, को कार्यरूप में परिणत करना है।"

गैटिल के शब्दों में, "व्यापक दृष्टि से कार्यपालिका में उन अधिकारियों, जो वैधानिक तथा न्यायिक कार्य करते हैं, को छोड़कर शेष सभी सरकारी अधिकारी आ जाते हैं। इसमें वे सभी सरकारी एजेंसियाँ सम्मिलित होती हैं जो राज्य की उस इच्छा को, जिसे कानून द्वारा प्रकट किया गया हो, लागू करती हैं।"

कार्यपालिका के प्रकार अथवा भेद (रूप)
(FORMS OF EXECUTIVE)

कार्यपालिका के निम्नलिखित प्रकार अथवा भेद (रूप) होते हैं—

(1) **राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका (Political and Permanent Executive)**—वर्तमान समय में कार्यपालिका में जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि और प्रशिक्षित स्थायी प्रशासक परस्पर मिलकर कार्य करते हैं। इनमें से जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधियों को 'राजनीतिक कार्यपालिका' और प्रशिक्षित स्थायी प्रशासकों को 'स्थायी कार्यपालिका' कहते हैं। राजनीतिक कार्यपालिका का कार्यकाल निर्वाचन पर निर्भर करता है जबकि स्थायी कार्यपालिका के सदस्य अवकाश-ग्रहण करने तक अपने पद पर बने रहते हैं। प्रशासन का नेतृत्व राजनीतिक कार्यपालिका के हाथ में रहता है और स्थायी कार्यपालिका राजनीतिक दृष्टि से निष्पक्ष रहकर उसका सहयोग करती है।

कार्यपालिका के प्रकार
* राजनीतिक एवं स्थायी कार्यपालिका
* नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका
* एकल एवं बहुल कार्यपालिका

(2) **नाममात्र की एवं वास्तविक कार्यपालिका (Nominal and Real Executive)**—संसदात्मक शासन प्रणाली में कार्यपालिका में यह भेद किया जाता है। नाममात्र की कार्यपालिका से तात्पर्य उस कार्यपालिका से है जिसके हाथ में वास्तविक शक्तियाँ नहीं होतीं। वह राज्य करती है किन्तु शासन नहीं करती। उसे संविधान के द्वारा समस्त प्रशासनिक शक्ति प्रदान तो की जाती है लेकिन व्यवहार में वह उनका प्रयोग अपने विवेक के अनुसार नहीं कर सकती। यद्यपि प्रशासन का सम्पूर्ण कार्य उसी के नाम पर होता है किन्तु व्यवहार में इन कार्यों को वास्तविक कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। इंग्लैण्ड का सम्राट तथा भारत का राष्ट्रपति नाममात्र की कार्यपालिका के श्रेष्ठ उदाहरण हैं।

संविधान द्वारा नाममात्र की कार्यपालिका अर्थात् राजा अथवा राष्ट्रपति को जो प्रशासनिक शक्तियाँ प्रदान की जाती हैं, व्यवहार में इन शक्तियों का प्रयोग वास्तविक

1 "The executive is that branch of government which carries out the will of the people as formulated in law. —Gilchrist

कार्यपालिका द्वारा किया जाता है। प्रशासन का नेतृत्व इसी के हाथ में होता है। ब्रिटेन और भारत के मन्त्रिमण्डल इस प्रकार की वास्तविक कार्यपालिका के उदाहरण हैं। वाल्टर बेजहॉट ने नाममात्र की कार्यपालिका को 'गरिमामय' (dignified) तथा वास्तविक कार्यपालिका को 'कुशल' (efficient) कार्यपालिका की संज्ञा प्रदान की है।

(3) एकल एवं बहुल कार्यपालिका (Single and Plural Executive)—जब कार्यपालिका सम्बन्धी सम्पूर्ण शक्ति अन्तिम रूप से एक ही व्यक्ति अथवा इकाई में निहित रहती है तो उसे एकल कार्यपालिका कहते हैं। एकल कार्यपालिका में या तो किसी एक व्यक्ति के हाथ में प्रशासन की समस्त शक्तियाँ सौंप दी जाती हैं; जैसे—अमेरिका का राष्ट्रपति। साथ ही जब वास्तविक कार्यपालिका एक इकाई के रूप में कार्य करे तो उसे भी एकल कार्यपालिका कहते हैं; जैसे—इंग्लैण्ड तथा भारत की मन्त्रिपरिषद्। मन्त्रिमण्डल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त के आधार पर कार्य करता है। इस प्रकार एकल कार्यपालिका के श्रेष्ठ उदाहरण हैं—अमेरिका का राष्ट्रपति तथा भारत व इंग्लैण्ड इत्यादि के मन्त्रिमण्डल।

जब कार्यपालिका की शक्तियाँ एक व्यक्ति में निहित न होकर कुछ व्यक्तियों की एक समिति में निहित रहती हैं तो उसे बहुल कार्यपालिका कहते हैं। प्राचीन एथेन्स और स्पार्टा में इस प्रकार की बहुल कार्यपालिका थी और वर्तमान में स्विट्जरलैण्ड में इस प्रकार की बहुल कार्यपालिका है। स्विट्जरलैण्ड में कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों का वास सात सदस्यों की एक समिति में है जिसे 'संघीय परिषद्' कहते हैं। इसमें प्रत्येक व्यक्ति बारी-बारी से परिषद् का अध्यक्ष चुन लिया जाता है जिसे संघ का राष्ट्रपति कहते हैं। उसे अपने अन्य सहयोगियों की तुलना में अधिक शक्तियाँ प्राप्त नहीं होती हैं। इस समिति में सामूहिक उत्तरदायित्व का अभाव होता है और प्रत्येक सदस्य अपने विभाग के लिए व्यक्तिगत रूप से उत्तरदायी होता है।

बहुल कार्यपालिका की तुलना में एकल कार्यपालिका अधिक लोकप्रिय है। एकल कार्यपालिका में निर्णय शीघ्र होते हैं, गुप्त रहते हैं, उन्हें शीघ्र क्रियान्वित किया जा सकता है तथा विभागों के बीच में आवश्यक प्रशासनिक सहयोग एवं एकता पायी जाती है। प्रशासन में उत्तरदायित्व की एकता भी पायी जाती है। वूल्जे के कथनानुसार, **"कार्यपालिका का एकल अध्यक्ष होने के लाभ स्पष्ट हैं, वह शासन में एकता तथा कुशलता लाने की क्षमता रखता है।"**[1] स्टोरी के शब्दों में, **"कार्यपालिका को एकल और व्यवस्थापिका को बहुसंख्यात्मक होना चाहिए।"**[2]

बहुल कार्यपालिका में शक्तियों का दुरुपयोग नहीं हो सकता है और यह कभी निरंकुश नहीं हो सकती है लेकिन जिन देशों में बहुल कार्यपालिका की प्रणाली को अपनाया गया वहाँ यह प्रयोग विफल सिद्ध हुआ है। स्विट्जरलैण्ड में बहुल कार्यपालिका की सफलता का कारण स्विस नागरिकों की राजनीतिक जागरूकता और उस देश की श्रेष्ठ परम्पराएँ हैं, न कि इस प्रणाली के गुण। इसी कारण वर्तमान समय में लगभग समस्त देशों में एकल कार्यपालिका ही पायी जाती है।

1 "The advantages of a single chief are obvious, he is able to bring unity and efficiency into the Government." —Woolsey
2 "There ought to be a single executive and numerous legislature." —Story

कार्यपालिका की नियुक्ति की विधियाँ
(MODE OF APPOINTMENT OF THE EXECUTIVE)
अथवा
कार्यपालिका का चयन
(SELECTION OF THE EXECUTIVE)

विभिन्न देशों में कार्यपालिका का चयन (नियुक्ति) की जो अलग-अलग प्रणालियाँ प्रचलित हैं वे निम्न प्रकार हैं—

कार्यपालिका का चयन
* वंशानुगत प्रणाली
* व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन
* जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन
* जनता द्वारा अप्रत्यक्ष (परोक्ष) निर्वाचन

(1) **वंशानुगत प्रणाली**—इस प्रणाली का सम्बन्ध राजतन्त्रीय शासन से है, इसमें पद की अवधि आजीवन होती है । सम्राट अथवा राजा की मृत्यु होने पर अथवा स्वेच्छा से पद त्याग करने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र वैधानिक रूप से कार्यपालिका अधिकारी बनता है । पुत्र के अभाव में निकट का सम्बन्धी सिंहासन पर आरूढ़ होता है । इस व्यवस्था को राजतन्त्र कहा जाता है । प्राचीन एवं मध्य युग में इस प्रकार की कार्यपालिका लोकप्रिय थी किन्तु वर्तमान काल में सिर्फ कुछ देशों; जैसे—ब्रिटेन, जापान, स्वीडन, ईरान, डेनमार्क तथा नार्वे में नाममात्र की कार्यपालिका की नियुक्ति इसी प्रणाली द्वारा होती है। लीकॉक के अनुसार, **"पैतृक कार्यपालिका की धारणा उतनी ही अनर्गल है जितनी कि एक वंशानुगत गणितज्ञ अथवा राष्ट्रकवि की।"**

(2) **व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन**—इस पद्धति में व्यवस्थापिका के सदस्य कार्यपालिका का निर्वाचन करते हैं। व्यवस्थापिका के दोनों सदनों द्वारा कार्यपालिका के अध्यक्ष या समिति का चुनाव होता है। स्विट्ज़रलैण्ड, यूगोस्लाविया और टर्की में इसी प्रणाली का प्रचलन है। स्विट्ज़रलैण्ड में संघीय कार्यपालिका परिषद् का चुनाव इसी पद्धति से होता है। इस पद्धति का लाभ यह है कि व्यवस्थापिका के सदस्य सामान्य जनता से अधिक योग्य और अनुभवी होते हैं, अतः उनके द्वारा मुख्य कार्यपालिका पद पर उचित व्यक्ति के निर्वाचन की आशा की जाती है। इस पद्धति का दोष यह है कि कार्यपालिका का प्रधान व्यवस्थापिका द्वारा चुने जाने के कारण उसके हाथ की एक कठपुतली मात्र बन जाता है।

(3) **जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचन**—अनेक देशों में कार्यपालिका के अध्यक्ष का निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से मतदाताओं के मतों द्वारा होता है। बोलाविया, मैक्सिको, ब्राजील, पेरू, चिली, घाना आदि देशों में जनता प्रत्यक्ष रूप से राष्ट्रपति का निर्वाचन करती है। प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा मुख्य कार्यपालिका की नियुक्ति का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण फ्रांस है जहाँ राष्ट्रपति सात वर्ष के लिए सीधे मतदान द्वारा चुना जाता है। यह प्रणाली लोकतन्त्र के अनुरूप है तथा इससे राजनीतिक चेतना एवं शिक्षा का प्रसार होता है किन्तु कभी-कभी जनता क्षणिक भावनाओं के वशीभूत होकर अयोग्य व्यक्ति को मुख्य कार्यपालिका चुन लेती है। मेसन का कथन है, **"राष्ट्रपति पद के लिए उपयुक्त व्यक्ति के चुनाव के प्रश्न को जनता के सामने रखना रंगों की परीक्षा के लिए उन्हें अन्धे व्यक्ति के सामने रखने के समान है।"**

(4) **जनता द्वारा अप्रत्यक्ष (परोक्ष) निर्वाचन**—इस प्रणाली में पहले एक 'निर्वाचक-मण्डल' का गठन होता है जिसमें जनता द्वारा निर्वाचित प्रतिनिधि होते हैं। बाद में

निर्वाचक-मण्डल के सदस्य राष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। यह प्रणाली भारत, अमेरिका, अर्जेण्टाइना और स्पेन में प्रचलित है। इस प्रणाली में प्रत्यक्ष निर्वाचन से उत्पन्न उथल-पुथल एवं तनाव नहीं होते और शान्तिपूर्ण ढंग से चुनाव हो जाता है। इस पद्धति का दोष यह है कि वास्तविक शक्ति निर्वाचक-मण्डल में निहित न होकर राजनीतिक दलों के नेताओं के हाथों में होती है और निर्वाचक-मण्डल के सदस्यों को उनके नियन्त्रण में कार्य करना होता है। इस कारण व्यवहार में अप्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति प्रत्यक्ष निर्वाचन पद्धति में परिवर्तित हो जाती है।

कार्यपालिका के कार्य
(FUNCTIONS OF THE EXECUTIVE)

वर्तमान समय में लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के कारण राज्य का कार्यक्षेत्र अत्यन्त विशाल हो गया है और इसके परिणामस्वरूप कार्यपालिका के कार्यों में वृद्धि हो गयी है क्योंकि राज्य के कार्यों का सम्पादन कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। लिप्सन के शब्दों में, **"राज्य के कार्यों में प्रत्येक वृद्धि ने कार्यपालिका के कार्यों और शक्ति में वृद्धि की है।"** कार्यपालिका के प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

(1) प्रशासन का संचालन—कार्यपालिका का सर्वप्रथम एवं महत्त्वपूर्ण कार्य देश के प्रशासन का संचालन करना है। आन्तरिक शान्ति और व्यवस्था बनाये रखना वह प्रमुख कार्य है जिसके लिये सरकार की स्थापना की जाती है। इसके अतिरिक्त, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात, श्रम, उद्योग एवं व्यापार आदि की व्यवस्था करती है तथा राष्ट्र की सुरक्षा को सुनिश्चित करती है। इन कार्यों के सम्पादन के लिए कार्यपालिका प्रशासकों की नियुक्ति करती है एवं अनुपयुक्त होने पर उनकी पदच्युति करती है। देश की उन्नति और विकास के लिए राष्ट्रीय नीति का निर्धारण करना कार्यपालिका का ही कार्य है।

कार्यपालिका के कार्य
- प्रशासन का संचालन
- कूटनीतिक कार्य
- कानून बनाने सम्बन्धी कार्य
- वित्तीय कार्य
- न्यायिक कार्य
- सैनिक कार्य
- विविध कार्य

(2) कूटनीतिक कार्य—एक राज्य के अन्य राज्यों के साथ जो सम्बन्ध होते हैं वे कूटनीतिक सम्बन्ध कहे जाते हैं और इस प्रकार के सम्बन्ध स्थापित करने का उत्तरदायित्व भी कार्यपालिका का ही रहता है। इसके लिए वह विदेशों में अपने दूतावास स्थापित करती है, राजदूत नियुक्त करती है तथा अन्य देशों से आये राजदूतों का स्वागत करती है। राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक तथा सुरक्षात्मक सन्धियाँ कार्यपालिका द्वारा सम्पन्न की जाती हैं। यद्यपि सिद्धान्ततः व्यवस्थापिका विदेश नीति पर नियन्त्रण रखती है परन्तु व्यवहार में जैसा कि हैमिल्टन ने कहा है, **"वैदेशिक सम्बन्धों का उचित ज्ञान, उस ज्ञान से लाभ उठाने की योग्यता और सभी बातों को गुप्त रखते हुए शीघ्रता से कोई कदम उठाने की क्षमता व्यवस्थापिका में नहीं होती।"** इसी कारण सभी देशों में कूटनीतिक कार्यों का संचालन मुख्य रूप से कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है।

(3) कानून बनाने सम्बन्धी कार्य—कार्यपालिका विधि-निर्माण कार्य में भाग लेती है। इन कार्यों का क्षेत्र शासन-प्रणाली के स्वरूप पर निर्भर करता है। अधिकांश राज्यों में कार्यपालिका को संसद का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने तथा निम्न सदन को भंग करने का अधिकार प्राप्त है। कार्यपालिका का प्रधान ऐसे अध्यादेश निर्गत कर सकता है जिनका प्रभाव कानून के समान होता है। संसदात्मक शासन में कार्यपालिका ही विधि-निर्माण में

व्यवस्थापिका का नेतृत्व करती है। संसद द्वारा पारित विधेयक तब तक कानून नहीं बन सकता जब तक कि कार्यपालिका का अध्यक्ष उस पर अपनी स्वीकृति न प्रदान कर दे। अध्यक्षात्मक शासन में राष्ट्रपति व्यवस्थापिका को सन्देश भेजकर और 'विलम्ब निषेधाधिकार' का प्रयोग कर सीमित रूप में विधि-निर्माण को प्रभावित कर सकता है। वर्तमान समय में तो 'प्रदत्त व्यवस्थापन' के माध्यम से कानून बनाने का कार्य कार्यपालिका के हाथों में ही चला गया है।

(4) **वित्तीय कार्य**—राज्य का वार्षिक आय-व्यय (बजट) का प्रारूप निर्धारित करने का कार्य भी कार्यपालिका है। यद्यपि बजट स्वीकृत करना तथा आर्थिक व्यवस्था पर नियन्त्रण रखना आदि व्यवस्थापिका के कार्य हैं लेकिन इस दिशा में पहल और मार्ग दर्शन कार्यपालिका द्वारा ही किया जाता है। बजट के अनुसार व्यय करना तथा कर वसूल करना कार्यपालिका का ही दायित्व है।

(5) **न्यायिक कार्य**—प्रायः प्रत्येक देश में कार्यपालिका को कुछ न्यायिक कार्य भी करने पड़ते हैं। न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका द्वारा होती है। सभी देशों में कार्यपालिका अध्यक्ष को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वह अपराधियों को क्षमा प्रदान कर दे या उनके दण्ड को कम कर दे। कार्यपालिका को सर्वक्षमा की शक्ति भी प्राप्त होती है जिसके अन्तर्गत वह अनेक अपराधियों को एक साथ क्षमादान दे सकती है। वर्तमान काल में कार्यपालिका के विभिन्न विभागों को अर्द्ध-न्यायिक प्रकृति के अधिकार प्रदान किये जाते हैं। उदाहरणार्थ, किसी प्रशासनिक विभाग द्वारा अर्थदण्ड देना।

(6) **सैनिक कार्य**—सामान्यतया प्रत्येक देश में कार्यपालिका अध्यक्ष सेना के तीनों अंगों (थल, जल और वायु) का प्रधान होता है। सेना के सभी अधिकारियों की नियुक्ति उसके नाम पर होती है। राष्ट्राध्यक्ष के नाम पर ही सेना के अधिकारियों की पदोन्नति तथा पदच्युति होती है। आवश्यकता पड़ने पर युद्ध अथवा शान्ति की घोषणा उसी के नाम पर की जाती है। चान्सलर कैण्ट ने कहा है, **"सैन्य बल का नियन्त्रण एवं प्रयोग, शान्ति की स्थापना और बाह्य आक्रमण से सुरक्षा स्वभावतः कार्यपालिका के कार्य हैं।"**

(7) **विविध कार्य**—कार्यपालिका के अन्य कार्य इस प्रकार हैं—ख्याति प्राप्त व्यक्तियों को उपाधियों का वितरण करना, विशिष्ट सेवाओं के लिए पेंशन या आर्थिक सहायता की व्यवस्था करना तथा विदेशियों को नागरिकता के अधिकार प्रदान करना आदि। वास्तव में, लोककल्याणकारी राज्य की धारणा के कारण कार्यपालिका के कार्यों में निरन्तर वृद्धि होती जा रही है और इसी कारण आलोचकों का विचार है कि 'प्रतिनिधि लोकतन्त्र' का स्थान 'प्रशासकीय लोकतन्त्र' ग्रहण करता जा रहा है।

कार्यपालिका के आवश्यक गुण
(NECESSARY QUALITIES OF EXECUTIVE)

कार्यपालिका अपने विभिन्न कार्यों का सम्पादन कुशलतापूर्वक कर सके, इसके लिए उसमें निम्नलिखित गुणों का होना नितान्त आवश्यक है—

(1) **सत्यनिष्ठा**—कार्यपालिका का विशेष गुण उसका सत्यनिष्ठ होना है। उसके द्वारा सच्चाई तथा ईमानदारी से कार्य करने पर भ्रष्टाचार व्याप्त होने की आशंका नहीं रहती है।

(2) **कर्तव्यपरायणता**—वर्तमान में व्यावहारिक रूप से कार्यपालिका के कार्य अत्यधिक हो गये हैं और इन कार्यों के कुशल सम्पादन के लिए प्रशासकों में कर्त्तव्यनिष्ठा एवं अपने दायित्वों के प्रति जागरूकता के भाव होने चाहिए। उन्हें सदैव इस दृष्टि से कार्य करना चाहिए जिससे अधिक-से-अधिक सार्वजनिक कल्याण हो सके।

(3) **गोपनीयता**—प्रशासनिक कार्यों में गोपनीयता का विशेष महत्त्व है। कार्यपालिका आन्तरिक और वाह्य प्रशासन के क्षेत्र में सफलतापूर्वक अपने कार्यों को सम्पन्न कर सके इसके लिए आवश्यक है कि प्रशासनिक निर्णय गोपनीय रखे जायें। प्रशासनिक गोपनीयता भंग हो जाने पर देश की सुरक्षा या शान्ति-व्यवस्था को संकट उत्पन्न हो सकता है।

कार्यपालिका के आवश्यक गुण
* सत्यनिष्ठता
* कर्त्तव्यपरायणता
* गोपनीयता
* दक्षता
* निर्णय में शीघ्रता
* निष्पक्षता

(4) **दक्षता**—कार्यपालिका द्वारा अपने कार्य दक्षता, चातुर्य और स्फूर्ति के साथ सम्पन्न किये जाने चाहिए। अविवेकपूर्ण तथा अव्यवस्थित रूप से कार्य करने की प्रवृत्ति प्रशासकीय दृष्टिकोण से उचित नहीं होती।

(5) **निर्णय में शीघ्रता**—कार्यपालिका के लिए यह आवश्यक है कि जो भी समस्याएँ उपस्थित हों, उनके सम्बन्ध में दृढ़ता के साथ निर्णय लेकर उन्हें शीघ्रता से कार्यान्वित किया जाना चाहिए। निर्णय की तत्परता के गुण से ही कार्यपालिका विशेष परिस्थितियों, जैसे—संकटकाल अथवा युद्ध का सामना करने में अधिक समर्थ हो सकती है।

(6) **निष्पक्षता**—कार्यपालिका को पूर्णतः निष्पक्षता की भावना से कार्य करना चाहिए। उसे किसी धर्म, जाति, सम्प्रदाय या वर्ग के प्रति कोई विशेष व्यवहार नहीं करना चाहिए बल्कि सभी को समान दृष्टि से देखना चाहिए।

कार्यपालिका का व्यवस्थापिका से सम्बन्ध
(RELATIONSHIP BETWEEN EXECUTIVE AND LEGISLATURE)

सरकार के तीन अंग होते हैं और उनका अपना अलग-अलग अस्तित्व होता है किन्तु पृथक अस्तित्व होते हुए भी इनमें उसी प्रकार का सहयोग अपेक्षित है जिस प्रकार मानव शरीर के अंग परस्पर करते हैं। सरकार के अंगों में, विशेष रूप से व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध है। संसदात्मक शासन और अध्यक्षात्मक शासन, इन दोनों में ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सम्बन्ध विद्यमान रहता है।

संसदात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध रहता है। मन्त्रिमण्डल के सभी सदस्यों का व्यवस्थापिका के सदस्यों में से ही चयन किया जाता है। मन्त्रिगण व्यवस्थापिका की बैठकों में उपस्थित रहते हैं, विचार-विमर्श में भाग लेते हैं, विधेयकों को प्रस्तावित करते हैं और मतदान में भाग लेते हैं। इस प्रकार कार्यपालिका कानून बनाने में व्यवस्थापिका का सहयोग करती है। व्यवस्थापिका के सदस्य मन्त्रियों से प्रश्न पूछ सकते हैं तथा निन्दा या आलोचना कर सकते हैं। वस्तुतः कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होती है और व्यवस्थापिका के विश्वास प्राप्त होने तक ही अपने पद पर बनी रह सकती है। इस शासन प्रणाली के अन्तर्गत प्रदत्त व्यवस्थापन के कारण कानून-निर्माण में कार्यपालिका महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करती है।

अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के अपनाये जाने के कारण व्यवस्थापिका और कार्यकालिका में अपेक्षाकृत उतना घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं पाया जाता है। कार्यपालिका के सदस्य व्यवस्थापिका के सदस्य नहीं होते हैं और कार्यपालिका व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होती है किन्तु अनेक स्थितियों में दोनों एक-दूसरे को प्रभावित करती हैं। उदाहरणार्थ, अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गयी सन्धियाँ और नियुक्तियाँ उस समय प्रभावी होती हैं जब व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन अर्थात् सीनेट की स्वीकृति प्राप्त हो जाय। इसी

प्रकार व्यवस्थापिका द्वारा पारित कोई भी विधेयक तब तक कानून का रूप ग्रहण नहीं करता जब तक कि कार्यपालिका का प्रधान अर्थात् राष्ट्रपति अपनी स्वीकृति प्रदान न कर दे।

इस प्रकार सरकार का स्वरूप चाहे संसदात्मक शासन का हो अथवा अध्यक्षात्मक शासन का, कार्यपालिका और व्यवस्थापिका के बीच परस्पर सम्बन्ध अवश्य रहता है।

व्यवस्थापिका की शक्तियों का पतन और कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि

(THE DECLINE OF LEGISLATIVE, POWERS AND GROWTH OF THE EXECUTIVE POWERS)

सरकार के तीनों अंगों में व्यवस्थापिका का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण माना जाता रहा है क्योंकि व्यवस्थापिका द्वारा बनाये गये कानूनों के अनुसार ही कार्यपालिका शासन करती है। इसके अतिरिक्त, व्यवस्थापिका का निर्वाचन चूँकि जनता करती है, अतः जनप्रतिनिधि संस्था होने के कारण भी व्यवस्थापिका को अधिक महत्त्व दिया जाता रहा है।

किन्तु आजकल यह माना जाता है कि व्यवस्थापिकाएँ पतन की ओर जा रही हैं, उनका युग लद गया है और कार्यपालिका का महत्त्व एवं प्रभाव बढ़ता जा रहा है, नौकरशाही की विजय हो रही है तथा कार्यपालिका की तानाशाही स्थापित हो चुकी है।

वर्तमान शताब्दी की प्रवृत्ति यह रही है कि राजनीतिक संस्थाओं का विकास इस प्रकार हो रहा है जिससे कार्यपालिका शक्ति में अभूतपूर्व वृद्धि हो गयी है। इसमें विश्वयुद्ध की आशंकाओं, आर्थिक संकटों, समाजवादी या लोककल्याणकारी नीतियों के अपनाने और अन्तर्राष्ट्रीय तनाव के बराबर बने रहने का बहुत योगदान है। अब कार्यपालिकाएँ अनेक ऐसे कार्य करने लगी हैं जो पहले नहीं करती थीं। कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि का कारण यह नहीं है कि इसने व्यवस्थापिका से कुछ शक्तियाँ छीन ली हैं। वास्तव में, आधुनिक व्यवस्थापिकाएँ पहले से कहीं अधिक कार्य करने लगी हैं। के. सी. ह्वीयर ने लिखा है, **"निरपेक्ष दृष्टि से तो व्यवस्थापिका की शक्तियों में वृद्धि हुई है किन्तु कार्यपालिका के सापेक्ष या तुलना में उनकी शक्तियाँ लगभग सभी क्षेत्रों में कम हुई हैं।"**

व्यवस्थापिका की शक्तियों में पतन और कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि के कारण निम्नलिखित हैं—

(1) **लोककल्याणकारी राज्य की धारणा**—आधुनिक युग में लोककल्याणकारी एवं समाजवादी भावना के विकास के कारण राज्य के कार्यक्षेत्र में अत्यधिक वृद्धि हुई है। चूँकि कार्यपालिका राज्य की वास्तविक प्रशासक होती है, इसलिए उसके कार्यों में वृद्धि हुई है। अपने परम्परागत कार्यों के अतिरिक्त आजकल कार्यपालिकाएँ अनेक कार्य करने लगी हैं। आर्थिक नियोजन एवं योजनाओं का संचालन कार्यपालिका का प्रमुख दायित्व बन गया है। वर्तमान समय में अधिकांश विधेयक प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से कार्यपालिका द्वारा ही प्रस्तुत किये जाते हैं।

(2) **दलगत राजनीति**—कठोर दलीय पद्धति के कारण भी व्यवस्थापिका की शक्तियों में ह्रास और कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि हुई है। राजनीतिक दलों के नेता सदस्यों को अपने कठोर नियन्त्रण में रखते हैं जिसका प्रतिफल यह होता है कि सदस्यों को दल की अधिकृत धारा का अनुसरण करना पड़ता है। अधिकांश सदस्य इस स्थिति में नहीं होते कि वे अपनी स्वतन्त्रता का प्रदर्शन कर सकें। सत्तारूढ़ दल की स्थिति के सम्बन्ध में कहा गया

है कि "दल के स्वामियों द्वारा माँगी गयी कीमत बहुत अधिक है, वहाँ प्रत्येक को आत्मसम्मान को भूलने के लिए तैयार रहना चाहिए, टिकट के लिए पंक्ति में खड़ा होना चाहिए और स्वतन्त्र निर्णय जैसी चीजों को भूल जाना चाहिए।" इस प्रकार दलीय प्रणाली की कठोरता के कारण संसदात्मक लोकतन्त्र में बहुमत दल के समर्थन पर टिकी हुई कार्यपालिका अत्यधिक शक्तियाँ प्राप्त कर लेती है।

व्यवस्थापिका की शक्तियों का पतन और कार्यपालिका की शक्तियों में अभिवृद्धि
* लोककल्याणकारी राज्य की धारणा
* दलगत राजनीति
* प्रदत्त व्यवस्थापन
* व्यवस्थापिका पर मन्त्रिमण्डल का हावी होना
* केन्द्रीयकरण
* विशेषज्ञों की समितियों का विकास
* इलेक्ट्रॉनिक मीडिया

(3) **प्रदत्त व्यवस्थापन**—वर्तमान समय में राज्य के कार्यों में वृद्धि के परिणाम-स्वरूप कानून निर्माण का कार्य बहुत अधिक बढ़ जाने और इस कार्य के जटिल हो जाने के कारण व्यवस्थापिका विधेयकों के केवल सामान्य सिद्धान्तों का निर्माण करती है और उनको विस्तृत कर कानून का रूप देने का उत्तरदायित्व कार्यपालिका को सौंप देती है। इसे ही प्रदत्त व्यवस्थापन कहते हैं और इसके कारण कार्यपालिका विधान-मण्डल जैसी संस्था बन गयी है। इसके फलस्वरूप व्यवस्थापिका की शक्तियों में पतन और कार्यपालिका की शक्तियों में वृद्धि हो गयी है।

(4) **व्यवस्थापिका पर मन्त्रिमण्डल का हावी होना**—सिद्धान्त रूप में तो मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी होता है परन्तु व्यावहारिक रूप में बहुमत की शक्ति तथा दलीय अनुशासन के कारण मन्त्रिमण्डल व्यवस्थापिका पर हावी होता है। व्यवस्थापिका एक 'कठपुतली' मात्र बनकर रह गयी है। रैम्जे म्योर के शब्दों में, **"मन्त्रिमण्डल की तानाशाही ने संसद की शक्ति तथा सम्मान को बहुत कम कर दिया है।"**

(5) **केन्द्रीयकरण**—चाहे संघात्मक शासन हो अथवा एकात्मक शासन, केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति तीव्रता से बढ़ रही है। अमेरिका और भारत जैसे संघ राज्यों में केन्द्रीय सरकार की शक्तियाँ निरन्तर बढ़ती रही हैं। केन्द्रीयकरण का अनिवार्य परिणाम यह होता है कि उन समस्त शक्तियों का प्रयोग कार्यपालिका ही करती है जिनका उल्लेख संविधान में नहीं रहता है।

(6) **विशेषज्ञों की समितियों का विकास**—आजकल की जटिल समस्याओं के निदान हेतु विशेषज्ञों के परामर्श द्वारा विधेयकों का प्रारूप तैयार कर व्यवस्थापिका की स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है। यदि व्यवस्थापिका उसमें कोई परिवर्तन करना चाहे तो उसे यह कहकर हताश कर दिया जाता है कि विशेषज्ञों द्वारा सम्बन्धित विधेयक का गहन अध्ययन किया जा चुका है। इस प्रकार कार्यपालिका द्वारा व्यवस्थापिका को विधि-निर्माण के क्षेत्र में भी विवश कर दिया जाता है।

(7) **इलेक्ट्रॉनिक मीडिया**—इलेक्ट्रॉनिक मीडिया अर्थात् रेडियो और टेलीविजन ने कार्यपालिका अध्यक्ष को जनता के सीधे सम्पर्क में लाकर खड़ा कर दिया है। अब कार्यपालिका व्यवस्थापिका की चिन्ता न करके जनता से प्रत्यक्ष आमना-सामना कर सकती है। अमरीकी राष्ट्रपति निक्सन, भारतीय प्रधानमन्त्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी तथा फ्रांस के राष्ट्रपति दिगॉल

ने संचार साधनों और इलेक्ट्रॉनिक मीडिया द्वारा सीधे जनमत का समर्थन प्राप्त करने को महत्वपूर्ण माना।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. सरकार के कितने अंग होते हैं?

अथवा

सरकार के किन्हीं दो अंगों के नाम लिखिए। (1997)

उत्तर—(1) व्यवस्थापिका, (2) कार्यपालिक तथा (3) न्यायपालिका।

प्रश्न 2. सरकार के किस अंग को अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त है?

उत्तर—कार्यपालिका को।

प्रश्न 3. कार्यपालिका का मूल कार्य क्या है?

उत्तर—सरकार के संकल्पों एवं इच्छाओं को कार्यरूप प्रदान करना।

प्रश्न 4. कार्यपालिका के दो प्रमुख कार्य वताइए। (1992)

उत्तर—(1) कार्यपालिका व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों को कार्यान्वित करती है तथा (2) विदेश नीति का संचालन करती है।

प्रश्न 5. ऐसी कौनसी शासन प्रणाली है जिसमें नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका में कोई भेद नहीं होता है?

उत्तर—अध्याक्षत्मक शासन प्रणाली।

प्रश्न 6. संयुक्त राज्य अमेरिका में किस प्रकार की कार्यपालिका है?

उत्तर—अध्यक्षीय कार्यपालिका।

प्रश्न 7. नाममात्र की कार्यपालिका का एक उदाहरण दीजिए। (1978)

उत्तर—भारतीय गणतन्त्र का राष्ट्रपति और ब्रिटेन का सम्राट नाममात्र की कार्यपालिका के उदाहरण हैं।

प्रश्न 8. भारत में नाममात्र की तथा वास्तविक कार्यपालिका का अध्यक्ष कौन होता है?

उत्तर—नाममात्र की कार्यपालिका का अध्यक्ष राष्ट्रपति तथा वास्तविक कार्यपालिका का अध्यक्ष प्रधानमन्त्री होता है।

प्रश्न 9. उस देश का नाम लिखिए जहाँ बहुलवादी कार्यपालिका पाई जाती है। (1992)

उत्तर—स्विट्जरलैण्ड।

प्रश्न 10. पैतृक कार्यपालिका वाले किन्हीं दो देशों के नाम लिखिए।

उत्तर—(1) इंग्लैण्ड तथा (2) जापान।

प्रश्न 11. कार्यपालिका के कार्यों को लूथर गुलिक ने किस सूत्र में एकत्रित किया है?

उत्तर—पोस्डकोर्ब (POSDCORB) में।

प्रश्न 12. कार्यपालिका की नियुक्ति की दो विधियाँ लिखिए।

उत्तर—(1) निर्वाचन प्रणाली तथा (2) वंशानुगत प्रणाली।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए। (1983)
2. कार्यपालिका से आप क्या समझते हैं ? इसके विविध रूपों का विवेचन कीजिए। (1997)
3. आधुनिक राज्यों में पाये जाने वाले कार्यपालिका के विविध रूपों का वर्णन कीजिए। (2000)
4. सरकार के प्रमुख अंग कौन-कौन से हैं ? व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ? (2000)
5. टिप्पणी लिखिए—
   (i) संसदात्मक कार्यपालिका (1967, 69)
   (ii) एकल एवं बहुल कार्यपालिका (1983)
   (iii) कार्यपालिका के बढ़ते हुए महत्त्व के कारण (1979)
   (iv) कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका का सम्बन्ध (1981)
   (v) कार्यपालिका के प्रकार (1994)
   (vi) बहुल कार्यपालिका। (1978)

15

व्यवस्थापिका
[LEGISLATURE]

"द्वितीय सदन वह प्लेट है जिसमें प्रथम सदन की उबलती हुई चाय ठण्डी की जाती है।"
—*जार्ज वाशिंगटन*

व्यवस्थापिका सरकार का वह अंग है जो राज्य प्रबन्ध चलाने के लिए कानूनों का निर्माण करता है, पुराने कानूनों का संशोधन करता है तथा आवश्यकता पड़ने पर उन्हें रद्द भी कर सकता है। व्यवस्थापिका को सरकार के अन्य अंगों से श्रेष्ठ माना जाता है क्योंकि लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यवस्थापिका लोगों की एक प्रतिनिधि सभा होती है। लॉस्की के शब्दों में, "कार्यपालिका एवं न्यायपालिका की शक्तियों की सीमा व्यवस्थापिका द्वारा बतायी गयी इच्छा होती है।"

व्यवस्थापिका का महत्त्व
(IMPORTANCE OF LEGISLATURE)

सरकार के तीनों अंगों में व्यवस्थापिका का सर्वाधिक महत्त्व है। यह उन कानूनों का निर्माण कराती है जिनके आधार पर कार्यपालिका शासन करती है और न्यायपालिका न्याय प्रदान करने का कार्य करती है। यह सिर्फ कानूनों का ही निर्माण नहीं करती बल्कि प्रशासन की नीति भी निश्चित करती है । प्रजातान्त्रिक देशों में व्यवस्थापिका बहुत शक्तिशाली एवं महत्त्वपूर्ण होती है क्योंकि वहाँ व्यवस्थापिका जनता का प्रतिनिधित्व करती है और जनमत को अभिव्यक्त करती है।

सी. एफ. स्ट्रांग ने व्यवस्थापिका का महत्त्व स्पष्ट करते हुए कहा है, "आधुनिक संवैधानिक राज्य में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग व्यवस्थापिका अथवा कानून बनाने वाली संस्था ही होती है क्योंकि संवैधानिक राज्यों में शासन का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण अंग वही होता है जिसमें कानूनी सम्प्रभुता का वास होता है जो सारे समाज के लिए कानून बनाता है, जो कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखता है, जो राज्य की सभी महत्त्वपूर्ण नीतियों का अन्तिम निर्णायक होता है।"

व्यवस्थापिका के कार्य
(FUNCTIONS OF LEGISLATURE)

वर्तमान समय में लोकतन्त्रीय राज्यों में व्यवस्थापिका द्वारा अग्रलिखित प्रमुख कार्य सम्पादित किये जाते हैं—

(1) **कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य**—विधायिका का महत्त्वपूर्ण कार्य विधि निर्माण करना है। व्यवस्थापिका कानून का प्रारूप तैयार करती है, उस पर वाद-विवाद कराती है, प्रारूप में संशोधन कराती है तथा कानून को अन्तिम रूप देती है।

व्यवस्थापिका के कार्य
* कानून निर्माण सम्बन्धी कार्य
* विमर्शात्मक कार्य एवं जनमत निर्माण
* वित्त सम्बन्धी कार्य
* न्याय सम्बन्धी कार्य
* प्रशासन सम्बन्धी कार्य
* निर्वाचन सम्बन्धी कार्य
* नियुक्ति सम्बन्धी कार्य

(2) **विमर्शात्मक कार्य एवं जनमत निर्माण**—व्यवस्थापिका के सदनों में जन-कल्याण से सम्बन्धित विभिन्न नीतियों और योजनाओं पर विचार-विमर्श होता है। व्यवस्थापिका राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार-विमर्श और वांछित सूचनाएँ प्रस्तुत कर जनमत का निर्माण करती है।

(3) **वित्त सम्बन्धी कार्य**—व्यवस्थापिका का एक महत्त्वपूर्ण कार्य राष्ट्र की वित्त व्यवस्था पर नियन्त्रण रखना भी है। प्रजातान्त्रिक देशों में व्यवस्थापिका प्रत्येक वित्तीय वर्ष के आरम्भ में उस वर्ष के अनुमानित बजट को स्वीकृत करती है। इसकी स्वीकृति के बिना नये कर लगाने तथा आय-व्यय से सम्बन्धित कार्य नहीं किये जा सकते हैं।

(4) **न्याय सम्बन्धी कार्य**—व्यवस्थापिका को न्याय क्षेत्र में भी कुछ कार्य करने पड़ते हैं। इंग्लैण्ड में लार्ड सभा तो अपील का सर्वोच्च न्यायालय है। भारत की संसद को उच्च कार्यपालिका पदाधिकारियों पर महाभियोग लगाने और उनके निर्णय करने का अधिकार प्राप्त है। इसी प्रकार सदन की मानहानि की स्थिति में सदन को निर्णय देने एवं दोषी व्यक्ति को दण्ड देने का अधिकार प्राप्त है।

(5) **प्रशासन सम्बन्धी कार्य**—प्रत्यक्ष रूप से व्यवस्थापिका प्रशासन में भाग नहीं लेती लेकिन प्रशासन पर उसका नियन्त्रण निश्चित रूप से होता है। संसदात्मक शासन प्रणाली में विधायिका प्रश्न तथा पूरक प्रश्न पूछकर, अविश्वास, निन्दा, स्थगन तथा कटौती के प्रस्ताव रखकर, मन्त्रियों द्वारा प्रस्तुत किये गये विधेयकों तथा अन्य प्रस्तावों को अस्वीकार करने आदि के माध्यम से कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखती है। अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर अप्रत्यक्ष रूप से नियन्त्रण रखती है, यथा संयुक्त राज्य अमेरिका में राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियाँ, वैदेशिक क्षेत्र में सन्धियों तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझौतों आदि पर लिये गये निर्णयों पर सीनेट (व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन) की स्वीकृति आवश्यक होती है।

(6) **निर्वाचन सम्बन्धी कार्य**—अनेक देशों में व्यवस्थापिका को कुछ निर्वाचन सम्बन्धी कार्य भी करने पड़ते हैं। भारत में संसद के दोनों सदन उपराष्ट्रपति का निर्वाचन करते हैं। स्विट्जरलैण्ड में व्यवस्थापिका मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों, न्यायाधीशों तथा प्रधान सेनापति का निर्वाचन करती है।

(7) **नियुक्ति सम्बन्धी कार्य**—व्यवस्थापिका समय-समय पर किन्हीं विशेष कार्यों की जाँच करने के लिए आयोगों और समितियों की नियुक्ति का कार्य करती है। इसके अलावा व्यवस्थापिका द्वारा इंगलैण्ड, अमेरिका, भारत आदि देशों में कार्यरत सरकारी निगमों के कार्यों और क्रियाकलापों पर पूर्ण नियन्त्रण रखा जाता है।

इस प्रकार व्यवस्थापिका शासन का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। वह विधि निर्माण के अतिरिक्त प्रशासन, न्याय, वित्त, संविधान में संशोधन तथा निर्वाचन आदि के क्षेत्रों में अनेक कार्य करती है।

व्यवस्थापिका का संगठन
(ORGANISATION OF LEGISLATURE)

व्यवस्थापिका का संगठन दो रूपों में किया जाता है—या तो व्यवस्थापिका में एक सदन होता है या दो सदन। जब व्यवस्थापिका में एक सदन होता है तो उसे एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका कहते हैं तथा जब व्यवस्थापिका में दो सदन होते हैं तो उसे द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका कहते हैं। द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में प्रथम सदन लोकप्रिय होता है जिसके संगठन में देश के सम्पूर्ण मतदाता भाग लेते हैं। पहले सदन को प्रथम या निम्न सदन कहा जाता है तथा द्वितीय सदन को **उच्च सदन**। उच्च सदन का गठन विभिन्न देशों में भिन्न-भिन्न प्रकार से होता है। इंग्लैण्ड में इसका आधार वंश परम्परा है। इटली, जापान और कनाडा में इसके सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत किये जाते हैं। भारत में इसके सदस्य अप्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित तथा मनोनीत होते हैं।

व्यवस्थापिका एक-सदनात्मक होनी चाहिए अथवा द्विसदनात्मक, यह एक विवादात्मक प्रश्न है। दोनों के पक्ष एवं विपक्ष में दिये जाने वाले तर्क निम्न प्रकार हैं—

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका
(UNI-CAMERAL LEGISLATURE)

अर्थ एवं संगठन—कुछ देशों में कानून-निर्माण करने वाले अंग (व्यवस्थापिका) का मात्र एक सदन होता है। इसी सदन के द्वारा विधि-निर्माण का कार्य किया जाता है। यह सदन जन-प्रतिनिधियों का सदन होता है। ये प्रतिनिधि ही जनता की समस्याओं को व्यवस्थापिका के मंच से उठाते हैं और कार्यपालिका पर नियन्त्रण रखते हैं। इस सदन का कार्यकाल अलग-अलग देशों में भिन्न-भिन्न है।

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के लाभ अथवा गुण

(1) व्यवस्थापन में एकरूपता—एकसदनात्मक व्यवस्थापिका वाले देशों में व्यवस्थापन कार्य में एकरूपता बनी रहती है। यह एकरूपता द्विसदनीय व्यवस्थापिका वाले देशों में देखने को नहीं मिल पाती। इस सदन में सामान्यतया एक ही बौद्धिक स्तर और सक्रिय राजनीति में प्रभावी भूमिका निभाने वाले जनप्रतिनिधि निर्वाचित होकर आते हैं और अपने अनुभवों से सदन एवं जनता को लाभान्वित करते हैं।'

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के लाभ अथवा गुण

* व्यवस्थापन में एकरूपता
* राष्ट्रीय एकता को बल
* एक सदन की व्यवस्था में धन और समय की बचत
* गतिरोध की आशंका कम
* लोकतान्त्रिक गठन
* प्रगतिशील एवं कम रूढ़िवादी व्यवस्था

(2) राष्ट्रीय एकता को बल—व्यवस्थापन में एकरूपता राष्ट्रीय एकरूपता को बल प्रदान करती है। व्यवस्थापन के क्षेत्र में दो सदनों की उपस्थिति अनावश्यक गतिरोध और संघर्ष को जन्म देती है जिससे राष्ट्रीय हित और एकता पर चोट पहुँचने की आशंका उत्पन्न हो जाती है।

(3) एकसदन की व्यवस्था में धन और समय की बचत—एकसदनात्मक व्यवस्थापिका वाले देशों में व्यवस्थापन कार्य में धन और समय की काफी बचत हो जाती है क्योंकि एक ही सदन होने से विधेयक को दूसरे सदन में भेजने की आवश्यकता नहीं रह जाती।

इससे दूसरे सदन में होने वाली समय और धन की बर्बादी को रोका जा सकता है। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, "यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन का विरोध करता है तो अहितकर है और यदि वह उसके साथ सहयोग करता है तो अनावश्यक है।"[1]

(4) गतिरोध की आशंका कम—एकसदनात्मक व्यवस्था में विधेयक उसी सदन में प्रस्तावित होते हैं और उसी सदन से पारित हो जाते हैं। द्वितीय सदन की अनुपस्थिति के कारण उन्हें दूसरे सदन में भेजने की आवश्यकता नहीं रह जाती है अतः विधेयकों को पारित कराने में किसी गतिरोध जैसी स्थिति उत्पन्न नहीं हो पाती।

(5) लोकतान्त्रिक गठन—प्रथम सदन का गठन लोकतान्त्रिक आधार पर होता है क्योंकि इस सदन में जनता एक निश्चित अवधि के लिए अपने प्रतिनिधियों का चुनाव करके भेजती है। ये प्रतिनिधि जनता के प्रति उत्तरदायी होते हैं और मतदाताओं की अनदेखी करने का परिणाम इन्हें अगले चुनाव में हार के रूप में स्वीकार करना पड़ता है।

(6) प्रगतिशील एवं कम रूढ़िवादी व्यवस्था—प्रथम सदन के सदस्य अपेक्षाकृत कम आयु के होते हैं अतः वे अपने विचारों में रूढ़िवादी और हठधर्मी नहीं होते अपितु प्रगतिशील विचारों एवं कार्यशैली के समर्थक होते हैं।

एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष अथवा अवगुण

(1) सदन के निरंकुश हो जाने की आशंका—एकसदनीय व्यवस्थापिका वाले देशों में व्यवस्थापिका के प्रथम सदन के ऊपर द्वितीय सदन का नियन्त्रण नहीं रह पाता अतः प्रथम सदन के निरंकुश हो जाने का खतरा उत्पन्न हो जाता है। जे. एस. मिल के शब्दों में, "अविभाजित शक्ति दूषित प्रभाव को रोकने के लिए द्वितीय सदन आवश्यक है।"

एकसदनात्मक व्यवस्था के दोष अथवा अवगुण

* सदन के निरंकुश हो जाने की आशंका
* प्रथम सदन के कार्यभार में अत्यधिक वृद्धि
* विधेयकों पर पुनर्विचार सम्भव नहीं
* जनमत निर्माण हेतु समय का अभाव
* योग्य व्यक्तियों के अनुभवों का लाभ न मिल पाना
* संघ राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं

(2) प्रथम सदन के कार्यभार में अत्यधिक वृद्धि—व्यवस्थापिका का एक ही सदन होने से उसके कार्यभार में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। इससे सदन की कार्यकुशलता प्रभावित होती है और विधायी कार्यों के लिए आवश्यक पर्याप्त समय नहीं मिल पाता।

(3) विधेयकों पर पुनर्विचार सम्भव नहीं—कभी-कभी ऐसे अवसर आते हैं जब प्रथम सदन विधेयकों पर सन्तोषजनक रूप से विचार न करके उन्हें जल्दबाजी में पारित कर देता है। ऐसी स्थिति में द्वितीय सदन में विधेयक पर पुनर्विचार करना सम्भव होता है किन्तु एकसदनात्मक व्यवस्थापिका होने पर विधेयकों पर पुनर्विचार सम्भव नहीं हो पाता।

(4) जनमत निर्माण हेतु समय का अभाव—प्रथम सदन से दूसरे सदन में विधेयक पहुँचने से उसे दूसरे सदन में पारित होने तक कुछ समय मिलता है। इस बीच उस विधेयक पर जनमत अथवा लोकमत तैयार हो जाता है किन्तु जिन देशों में एकसदनात्मक व्यवस्थापिका है वहाँ जनमत निर्माण हेतु समय नहीं मिल पाता है।

---

1 "If a second chamber dissents from the first, it is mischievous; if it agrees with it, it is superfluous."
—*Lord Brice*

(5) योग्य व्यक्तियों के अनुभवों का लाभ न मिल पाना—द्वितीय सदन में योग्य और प्रतिभाशाली व्यक्ति पहुँचते हैं। अत: व्यवस्थापिका एवं देश को उनके अनुभवों का लाभ प्राप्त हो जाता है किन्तु एकसदनात्मक व्यवस्था वाले देशों में इनके अनुभवों का लाभ प्राप्त नहीं हो पाता है।

(6) संघ राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं—व्यवस्थापिका का प्रथम अथवा निम्न सदन जनता का और द्वितीय अथवा उच्च सदन इकाइयों का प्रतिनिधित्व करता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका में द्वितीय सदन के अभाव में इकाइयों अथवा राज्यों का समुचित प्रतिनिधित्व नहीं हो पाता। अत: एकसदनीय व्यवस्थापिका की व्यवस्था संघ राज्यों के लिए उपयुक्त नहीं है।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF BI-CAMERAL LEGISLATURE)

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में प्रमुख रूप से निम्नलिखित तर्क दिये जाते हैं—

(1) प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का सबसे बड़ा गुण यह है कि द्वितीय सदन प्रथम सदन की निरंकुशता पर नियन्त्रण के रूप में कार्य करता है। एकसदनात्मक व्यवस्थापिका होने से राज्य की प्रभुत्व शक्ति पर एक सदन का ही अधिकार होता है। अत: उसके भ्रष्ट, स्वेच्छाचारी, आततायी और निरंकुश होने की सम्भावना रहती है। डॉ. गार्नर के शब्दों में, **"इस प्रकार द्वितीय सदन की विद्यमानता स्वतन्त्रता की गारण्टी व कुछ सीमा तक अत्याचार से सुरक्षा भी है।"**

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में तर्क

* प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक
* सभी वर्गों तथा हितों का प्रतिनिधित्व
* जनमत प्राप्त करने में सहायक
* विधायन में उतावलेपन पर रोक
* कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की वृद्धि
* कार्य संचालन में सहायक
* संघीय राज्यों के लिये आवश्यक
* अनुभवी व्यक्तियों का सदन

(2) सभी वर्गों तथा हितों का प्रतिनिधित्व—द्वितीय सदन के होने से सभी वर्गों तथा हितों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। प्रथम सदन का गठन व्यापक वयस्क मताधिकार द्वारा होता है। अत: जिन वर्गों तथा हितों के मतदाता कम संख्या में होते हैं उनको उचित प्रतिनिधित्व द्वितीय सदन में दिया जा सकता है। जे. एस. मिल ने इस सम्बन्ध में कहा है **"यदि निम्न सदन जनता के प्रतिनिधियों का सदन है तो उच्च सदन राजनीतिज्ञों और कलाकारों का सदन होता है।"**

(3) जनमत प्राप्त करने में सहायक—निम्न सदन द्वारा पारित विधेयक जब उच्च सदन में जाता है तो उसके पारित होने में समय लगता है। इस तरह जनता को इस प्रस्तावित विधेयक के सम्बन्ध में सोचने-विचारने का समय मिल जाता है तथा राजनीतिक दलों एवं प्रेस के माध्यम से जनता के दृष्टिकोण का पता चल जाता है। उच्च सदन जनमत को दृष्टि में रखकर निम्न सदन द्वारा पारित विधेयक में आवश्यक संशोधन कर देता है।

(4) विधायन में उतावलेपन पर रोक—द्विसनात्मक व्यवस्थापिका के पक्ष में सबसे प्रबल तर्क यह है कि यदि पहले सदन में जल्दबाजी में कुविचारपूर्ण कानून बनाने के निर्णय ले लिए गये हों तो उन पर विवेकपूर्ण पुनर्विचार के लिये दूसरा सदन आवश्यक है। जनता के निकट होने के कारण निम्न सदन बहुधा भावनाओं एवं उत्तेजनाओं के वशीभूत होकर

विधेयक पारित कर देता है लेकिन द्वितीय सदन इस प्रकार के अविचारपूर्ण कानूनों पर रोक लगाकर अत्यन्त उपयोगी कार्य करता है। लेकी के शब्दों में, **"नियन्त्रण करने, संशोधन करने तथा रुकावट डालने का जो कार्य द्वितीय सदन करता है इससे उसकी आवश्यकता स्वयं-सिद्ध है।"**

(5) कार्यपालिका की स्वतन्त्रता की वृद्धि—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के अन्तर्गत कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता एवं सुरक्षा प्राप्त होती है। कई बार मन्त्रियों को अपनी उचित नीति के लिये भी प्रथम सदन में पर्याप्त समर्थन नहीं प्राप्त हो पाता। ऐसी स्थिति में यदि उन्हें द्वितीय सदन में यथेष्ट समर्थन प्राप्त हो जाय तो उनकी स्थिति बहुत सुदृढ़ हो जाती है। इस सम्बन्ध में गैटिल का विचार है, **"दो सदन एक-दूसरे पर रुकावट का कार्य करके कार्यपालिका को अधिक स्वतन्त्रता प्रदान करते हैं और अन्त में इससे लोकहित की बढ़ोत्तरी होती है।"**

(6) कार्य संचालन में सहायक—लोककल्याकारी राज्य की अवधारण के विकास के फलस्वरूप वर्तमान समय में व्यवस्थापिका के कार्य इतने भिन्न प्रकार के तथा इतने अधिक हो गये हैं कि उन्हें अकेला प्रथम सदन पूर्ण नहीं कर सकता। द्वितीय सदन की उपयोगिता इस बात में है कि यह प्रथम सदन के कार्यभार को कम करके व्यवस्थापिका के कार्य में कुशलता ला देता है।

(7) संघीय राज्यों के लिए आवश्यक—संघात्मक राज्यों के लिये तो द्विसदनात्मक विधायिका नितान्त आवश्यक होती है क्योंकि इस शासन में प्रथम सदन सम्पूर्ण जनता का प्रतिनिधित्व करता है और द्वितीय सदन राज्यों का। बोवो तथा फ्रेड्रिक ने इस सम्बन्ध में उल्लेख किया है, **"राज्यों के साथ होने वाले अन्याय को रोकने के लिए उच्च सदन आवश्यक है क्योंकि निम्न सदन में उसका प्रतिनिधित्व सीमित होता है।"**

(8) अनुभवी व्यक्तियों का सदन—उच्च सदन के सदस्य निम्न सदन के सदस्यों की तुलना में अधिक प्रौढ़, परिपक्व, गम्भीर और राजनीतिक दृष्टि से अनुभवी होते हैं। इनके अनुभव का लाभ कानून निर्माण की प्रक्रिया में मिलता है। इस प्रकार द्वितीय सदन के पक्ष में यह सशक्त तर्क दिया जाता है कि इसके द्वारा अनुभवी व्यक्तियों की सेवाएँ प्राप्त होती हैं।

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS AGAINST BI-CAMERAL LEGISLATURE)

बहुत से विचारक द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विरोधी हैं। उनके अनुसार विधायिका में दो सदन नहीं वरन् एक ही सदन होना चाहिए। ये विचारक द्विसदनात्मक विधायिका के विपक्ष में और एक-सदनात्मक विधायिका के पक्ष में निम्नलिखित तर्क प्रस्तुत करते हैं—

(1) द्वितीय सदन अनावश्यक अथवा संघर्ष कारक—द्वितीय सदन के दो कार्य हो सकते हैं—पहले सदन के कार्यों का समर्थन करना अथवा उसके कार्यों का विरोध करना। यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन के कार्यों में अनवरत विरोध उत्पन्न करता है तो यह संघर्षकारक है। अतः दोनों स्थितियों में इसकी उपयोगिता नहीं रह जाती है। इस सम्बन्ध में एबे सेयीज का कहना है, **"यदि द्वितीय सदन प्रथम सदन से सहमत है तो यह अनावश्यक है और यदि वह असहमत है तो घृणित है।"**[1]

---

1 **"If the second chamber agrees with the first, it is superfluous, while it disagrees, it is obnoxious."** —*Abbe Sieyes*

(2) दोनों सदनों में संघर्ष की आशंका—द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में दोनों सदनों के बीच संघर्ष एवं गतिरोध उत्पन्न होने की सम्भावना अधिक रहती है। इसका मुख्य कारण दोनों सदनों के संगठन एवं स्वरूप की भिन्नता है। पहला सदन जनता का प्रतिनिधित्व करता है तथा दूसरा सदन रूढ़िवादिता और प्रतिक्रियावादियों का गढ़ रहता है। इस सम्बन्ध में बैंजामिन फ्रेंकलिन का कहना है, "दो सदन रखना ठीक ऐसा ही है जैसे एक गाड़ी के दोनों तरफ घोड़े जोत दिये जायें और वे विरोधी दिशा में जाने का प्रयत्न करें।"

द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के विपक्ष में तर्क

* द्वितीय सदन अनावश्यक अथवा संघर्ष कारक
* दोनों सदनों में संघर्ष की आशंका
* रूढ़िवादी एवं प्रगति विरोधी
* धन और समय का अपव्यय
* संघ राज्यों के लिए भी आवश्यक नहीं
* संगठन की कठिनाई

(3) रूढ़िवादी एवं प्रगति विरोधी—प्रथम सदन के सदस्य कम आयु के होते हैं। अतः वे पुराने रीति-रिवाजों एवं रूढ़ियों में आस्था नहीं रखते। अपितु आधुनिक प्रगतिशील विचारों एवं मान्यताओं के समर्थक होते हैं। इसके विपरीत, द्वितीय सदन के सदस्य अधिक आयु के होते हैं तथा विशेषाधिकार प्राप्त वर्ग का प्रतिनिधित्व करते हैं। अतः समाज हित के क्रान्तिकारी परिवर्तनों के विरोधी होते हैं।

(4) धन और समय का अपव्यय—प्रथम सदन द्वारा अपनायी गयी प्रक्रिया को द्वितीय सदन दोबारा अपनाता है अतः इससे समय और सार्वजनिक धन का अपव्यय होता है। इस सम्बन्ध में लास्की कहता है, "आधुनिक राज्यों की आवश्यकताओं की पूर्ति एक-सदनात्मक व्यवस्थापिका में ही हो जाती है क्योंकि द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका में कार्य की पुनरावृत्ति होती है, समय नष्ट होता है तथा राष्ट्रीय कोष पर अनावश्यक भार पड़ता है।"

(5) संघ राज्यों के लिए भी आवश्यक नहीं—लॉस्की ने कहा है, "यह कहना गलत है कि संघ की रक्षा के लिये द्वितीय सदन कोई प्रभावशाली गारंटी है।" व्यावहारिक रूप में द्वितीय सदन के सदस्य इकाइयों का प्रतिनिधित्व करने के स्थान पर उन राजनीतिक दलों का प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी सहायता से वे निर्वाचित होते हैं। इसलिए आलोचकों का मत है कि संघ राज्य के लिये द्वितीय सदन का अस्तित्व आवश्यक तथा उपयोगी नहीं है। संघ की इकाइयों के हितों की रक्षा वास्तव में वैधानिक संरक्षणों तथा स्वतन्त्र न्यायपालिका द्वारा हो सकती है।

(6) संगठन की कठिनाई—द्वितीय सदन की आलोचना इस कारण भी की जाती है क्योंकि इसके संगठन में एकरूपता का अभाव है। उदाहरणार्थ, इंगलैण्ड के हाउस ऑफ लॉर्ड्स का वंशानुगत आधार अथवा कनाडा में उच्च सदन के सदस्यों को मनोनीत करने की प्रणाली उचित नहीं हैं क्योंकि ये अलोकतान्त्रिक हैं। यदि द्वितीय सदन का निर्माण अमेरिका की सीनेट की तरह प्रत्यक्ष निर्वाचन के आधार पर किया जाये तो यह पहले सदन का ही दूसरा रूप हो जायेगा। यदि इसके निर्माण के लिये अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली स्वीकार की जाये तो भ्रष्टाचार फैलता है। इस प्रकार द्वितीय सदन के निर्माण का कोई सर्वसम्मत आधार नहीं है।

निष्कर्ष—विभिन्न विद्वानों द्वारा की गई आलोचना के उपरान्त भी प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र हेतु द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका अत्यन्त आवश्यक है। इसकी उपयोगिता सिर्फ

संघात्मक राज्यों में ही नहीं अपितु एकात्मक शासन में भी अनुभव की जाती है। इस मत का समर्थन करते हुए रैम्जे म्योर कहता है, "द्वितीय सदन का महत्त्वपूर्ण उपयोग यह है कि उसमें राष्ट्रीय नीति के सामान्य प्रश्नों पर शान्त वातावरण में शान्तिपूर्वक विचार होता है, जो कि कॉमन सभा में असम्भव है।"

निःसन्देह यदि द्वितीय सदन अपनी भूमिका का निर्वाह पूर्ण जागरूकता के साथ करे तो प्रथम सदन के स्वेच्छाचारिता तथा अविवेकपूर्ण कार्यों पर अंकुश लगेगा। इतना ही नहीं, द्वितीय सदन होने पर देश के सभी वर्गों तथा हितों को व्यवस्थापिका में स्थान देकर राष्ट्रीय असन्तोष को दूर किया जा सकता है। लार्ड ऐक्टन के कथनानुसार, "द्वितीय सदन स्वतन्त्रता की सुरक्षा हेतु आवश्यक है। यह नीति में सन्तुलन स्थापित करता है, अल्पसंख्यकों की रक्षा करता है तथा प्रथम सदन की त्रुटियों को ठीक करता है।" इसी कारण वर्तमान काल में विश्व के सिर्फ कुछ छोटे देशों को छोड़कर शेष सभी राज्यों में द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका पायी जाती है। वस्तुतः, द्वितीय सदन को प्रथम सदन के लोकतान्त्रिक सहयोगी के रूप में अपनाना उपयोगी है लेकिन यह सर्वमान्य है कि द्वितीय सदन की शक्तियाँ प्रथम सदन से कम होनी चाहिए तथा कानून निर्मित करने की निर्णायक शक्ति प्रथम सदन में ही निहित रहनी चाहिए।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्य क्या हैं ?

अथवा

व्यवस्थापिका का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य क्या है ? (1988, 93)

उत्तर—व्यवस्थापिका का प्रमुख कार्य कानून बनाना है।

प्रश्न 2. व्यवस्थापिका के कोई दो कार्य बताइए। (1992)

उत्तर—(1) कानून बनाना तथा (2) वित्त पर नियन्त्रण रखना।

प्रश्न 3. भारत में कितने सदनों वाली व्यवस्थापिका है ?

उत्तर—भारत में दो सदनों वाली व्यवस्थापिका है।

प्रश्न 4. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के दो दोष लिखिए। (1987, 89, 90)

उत्तर—(1) यह लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्त के विरुद्ध है; (2) इसमें दोनों सदनों में संघर्ष की सम्भावना रहती है।

प्रश्न 5. एकसदनात्मक व्यवस्था के दो गुण लिखिए।

उत्तर—(1) व्यवस्थापिका में उत्तरदायित्व की भावना की प्रबलता रहती है; (2) इसमें समय और धन की बचत होती है।

प्रश्न 6. एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के दो दोषों का वर्णन कीजिए। (2000)

उत्तर—(1) सदन के निरंकुश होने की आशंका; (2) राज्यों को उचित प्रतिनिधित्व का अभाव।

प्रश्न 7. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का एक लाभ लिखिए। (2000)

उत्तर—प्रथम सदन की निरंकुशता पर रोक।

प्रश्न 8. सरकार का कौन-सा अंग वार्षिक बजट पारित करने का कार्य करता है?

उत्तर—व्यवस्थापिका।

प्रश्न 9. व्यवस्थापिका में सामान्यतया कितने सदन होते हैं?

उत्तर—सामान्यतया दो सदन—(1) उच्च सदन तथा (2) निम्न सदन होते हैं।

प्रश्न 10. आधुनिक काल में सरकार का ऐसा कौनसा अंग है जिसका जनता के साथ सीधा सम्बन्ध होता है?

उत्तर—व्यवस्थापिका।

प्रश्न 11. "ब्रिटिश संसद द्विसदनात्मक न होती तो विश्व का कोई भी विधानमण्डल द्विसदनात्मक नहीं होता।" यह कथन किस विद्वान का है?

उत्तर—विलोबी का।

प्रश्न 12. द्वितीय सदन का मनोनयन सिद्धान्त क्या है?

उत्तर—इस सिद्धान्त के अनुसार उच्च सदन के सदस्यों को कार्यपालिका आजीवन अथवा एक निश्चित अवधि हेतु मनोनीत करती है।

प्रश्न 13. किस देश में द्वितीय सदन मनोनीत है?

उत्तर—कनाडा में।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. व्यवस्थापिका के मुख्य कार्य क्या हैं ? द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुणों का वर्णन कीजिए। (1973, 90)
2. एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। (1998)
3. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। (1993, 97)
4. व्यवस्थापिका के कार्यों की व्याख्या कीजिए। वर्तमान युग में व्यवस्थापिका के ह्रास के क्या कारण हैं ? (1978)
5. व्यवस्थापिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिए तथा व्यवस्थापिका का कार्यपालिका से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए। (1983, 84)
6. सरकार के प्रमुख अंग कौन-कौन से हैं ? व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किस प्रकार नियन्त्रण रखती है ? (2000)
7. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका की उपयोगिता का वर्णन कीजिए। (1995)
8. टिप्पणी लिखिए—
   (i) व्यवस्थापिका का द्वितीय सदन (1987)
   (ii) विधानमण्डल के कार्य (1992)
   (iii) एकसदनीय व्यवस्थापिका के गुण
   (iv) व्यवस्थापिका के कार्य। (1997)

●●

16

न्यायपालिका
[JUDICIARY]

"एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका के बिना संघात्मक शासन व्यवस्था हाथ-पाँव विहीन माँस के उस लोथड़े के समान है जो चल-फिर नहीं सकता।"

—*मुनरो*

न्यायपालिका का महत्त्व
(IMPORTANCE OF JUDICIARY)

न्यायपालिका शासन का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है। न्यायपालिका ही नागरिकों के अधिकारों की रक्षा करती है। यह व्यवस्थापिका द्वारा निर्मित कानूनों की व्याख्या करती है और कानून का उल्लंघन करने वालों को उचित दण्ड देती है। नागरिकों का कल्याण एवं उनके अधिकारों की सुरक्षा पक्षपात-रहित न्याय पर निर्भर करता है। ब्राइस के अनुसार, "किसी शासन की उत्तमता को परखने की सर्वश्रेष्ठ कसौटी उसकी न्याय-व्यवस्था की कार्यक्षमता है।"[1]

रॉले ने उचित ही कहा है, "अधिकारों का निश्चय और उन पर निर्णय देने के लिए न्याय विभाग नितान्त आवश्यक है।"[2] राज्य का सम्पूर्ण अस्तित्व ही न्याय-व्यवस्था पर निर्भर होता है। यदि न्यायपालिका न हो तो सर्वत्र अराजकता व्याप्त हो जायेगी। न्यायपालिका की महत्ता पर प्रकाश डालते हुए गार्नर ने लिखा है, "कोई भी समाज बिना विधान-मण्डल के रहता है, यह बात समझ में आ सकती है लेकिन ऐसे किसी सभ्य राज्य की कल्पना भी नहीं की जा सकती जिसमें न्यायपालिका या न्यायाधिकरण की व्यवस्था न हो।"[3] केण्ट के शब्दों में, "जिस देश में कानूनों की व्याख्या करने और उन्हें कार्यान्वित करने, विवादों का निर्णय करने तथा अधिकारों को प्रभावी बनाने के लिए कोई न्याय विभाग नहीं होता, वहाँ शासन ही नष्ट हो जाता है।" लॉस्की ने लिखा है, "जब हम जानते हैं कि राष्ट्र-राज्य किसी प्रकार अपने यहाँ न्याय करता है तब हमें यह ज्ञात हो जाता है कि वह नैतिक चरित्र के किसी स्तर पर है।"[4]

---

1 "There is no better test of the excellence of a government than the efficiency of its judicial system." —*Bryce*

2 "It is indispensable that there should be judicial department to ascertain and decide rights, to punish enemies to administer justice and to protect the innocent from injury and usurpation." —*Roule*

3 "A society without legislative organs is conceivable...but a civilized state without judicial organs and machinery is hardly conceivable." —*Garner*

4 "When we know a nation-state dispenses justice, we know with some exactness the moral character to which it can pretend." —*Laski*

मेरियट के अनुसार, "यदि नागरिकों को न्याय प्राप्त करने में विलम्ब होता है अथवा न्याय की सन्तोषजनक व्यवस्था नहीं है तो नागरिकों का जीवन दुःखद बन जाता है।" ब्राइस के अनुसार, "यदि न्याय का दीप अंधेरे में बुझ जाये तो वह अंधेरा कितना गहन होगा, इसकी कल्पना नहीं की जा सकती।"

न्यायपालिका का अर्थ एवं परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF JUDICIARY)

न्यायपालिका शासन का वह अंग होता है जो कानूनों की व्याख्या करता है तथा उनका उल्लंघन करने वाले को उचित दण्ड देता है। न्यायपालिका की व्याख्या करते हुए गिलक्राइस्ट ने कहा है, "इससे अभिप्राय सरकार के उन पदाधिकारियों से है जिनका कार्य वर्तमान कानून को किसी अभियोग के समय लागू करना है।"

लॉस्की के अनुसार, "एक राज्य की न्यायपालिका अधिकारियों के ऐसे समूह के रूप में परिभाषित की जा सकती है जिसका कार्य राज्य के किसी कानून-विशेष के उल्लंघन या तोड़ने सम्बन्धी शिकायत का जो विभिन्न व्यक्तियों के बीच या नागरिकों व राज्य के बीच एक-दूसरे के विरुद्ध होती है, समाधान एवं निर्णय करना है।"

न्यायाधीशों की नियुक्ति
(APPOINTMENT OF JUDGES)

(अ) जनता द्वारा निर्वाचन—मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण के सिद्धान्त से प्रभावित होने के कारण सर्वप्रथम फ्रांस में न्यायाधीशों के जनता द्वारा निर्वाचित होने की पद्धति को अपनाया गया था और वर्तमान समय में यह पद्धति स्विट्ज़रलैण्ड के कुछ कैण्टनों और अमरीकी संघ के कुछ राज्यों में ही प्रचलित है। इस पद्धति को शक्ति-विभाजन सिद्धान्त और लोकतन्त्रीय शासन-व्यवस्था के अनुकूल बताया जाता है किन्तु वास्तव में यह पद्धति बहुत अधिक दोषपूर्ण है। यह एक तथ्य है कि यदि जनता द्वारा न्यायाधीशों के निर्वाचन की पद्धति को अपना लिया गया तो योग्य व्यक्ति न्यायाधीश के पद पर आसीन नहीं हो सकेंगे। योग्यता और लोकप्रियता दो पृथक् चीजें हैं और चुनावों में विजय लोकप्रियता के आधार पर प्राप्त की जाती है, योग्यता के आधार पर नहीं।

इसके अतिरिक्त वर्तमान समय में प्रत्येक प्रकार का निर्वाचन दलबन्दी के साथ जुड़ा होता है। न्यायाधीश जब राजनीतिक दल की सहायता से चुनाव लड़कर अपना पद प्राप्त करेंगे तो उनमें दलीय आधार पर पक्षपात करने की प्रवृत्ति उत्पन्न हो जायेगी। वस्तुतः निर्वाचित न्यायाधीश, न्यायाधीश कम और राजनीतिज्ञ अधिक होंगे। लास्की ने ठीक ही कहा है, "न्यायाधीश की नियुक्ति की समस्त पद्धतियों में जनता द्वारा निर्वाचन की पद्धति निर्विवाद रूप में सबसे बुरी है।"

(ब) व्यवस्थापिका सभा द्वारा निर्वाचन—अमरीकी संघ के कुछ अन्य राज्यों, पूर्व सोवियत संघ और स्विट्ज़रलैण्ड में न्यायाधीशों का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा किया जाता है किन्तु यह पद्धति न्यायपालिका को व्यस्थापिका के अधीन बना देती है। इस पद्धति में न्यायाधीशों की नियुक्ति का आधार उनका कानूनी ज्ञान एवं अनुभव, निष्पक्षता और योग्यता नहीं वरन् राजनीतिक दल के नेताओं की कृपा होती है और इस प्रकार के न्यायाधीश कभी भी निष्पक्षतापूर्वक न्याय प्रदान करने का कार्य नहीं कर सकते। व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचित ये न्यायाधीश राजनीति में सक्रिय रूप से भाग लेंगे जिसके परिणामस्वरूप उनकी योग्यता

निम्न स्तर की हो जायेगी और वे न्यायाधीश पद के कर्त्तव्यों का उचित रूप में निर्वाह कर सकेंगे।

(स) कार्यपालिका द्वारा मनोनयन—इस पद्धति में न्यायाधीशों को कार्यपालिका द्वारा नियुक्त किया जाता है और विश्व के लगभग सभी राज्यों में यही पद्धति प्रचलित है। सिद्धान्त रूप में शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के विरुद्ध होने पर भी व्यवहार में यही पद्धति श्रेष्ठ है। कार्यपालिका द्वारा अपनी इस शक्ति का दुरुपयोग न किया जा सके, इसके लिए यह प्रतिबन्ध लगाया जा सकता है कि कार्यपालिका सर्वमान्य न्यायिक योग्यता वाले व्यक्तियों या स्थायी न्यायिक समिति के परामर्श के आधार पर ही न्यायाधीशों की नियुक्ति करे। लास्की ने लिखा है, **"इस विषय में सभी बातों को देखते हुए न्यायाधीशों की कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति के परिणाम सबसे अच्छे हैं परन्तु यह अति आवश्यक है कि न्यायाधीशों के पदों को राजनीतिक सेवा का फल नहीं बनाया जाना चाहिए।"**

आधुनिक न्यायपालिका के कार्य

(FUNCTIONS OF THE PRESENT DAY JUDICIARY)

आधुनिक युग में न्यायपालिका निम्नलिखित महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पन्न करती है—

(1) विवादों का निर्णय करना—न्यायपालिका का सबसे पुराना और व्यापक कार्य विवादों की सुनवाई करना, पक्ष व विपक्ष को अपना-अपना पक्ष प्रस्तुत करने की आज्ञा देकर विधि के अनुसार निर्णय करना और निर्णय को लागू करने का आदेश करना है। इससे देश में शान्ति, सुरक्षा व सबके विकास का अवसर मिलता है और सामान्य विधि द्वारा प्राप्त अधिकारों की रक्षा होती है।

आधुनिक न्यायपालिका के कार्य

* विवादों का निर्णय करना
* संघात्मक व्यवस्था की रक्षा
* संविधान की रक्षा करना
* औचित्य के आधार पर कानून-निर्माण
* कानूनों की व्याख्या करना
* नागरिक अधिकारों की रक्षा करना
* प्रशासनिक कार्य
* परामर्श सम्बन्धी कार्य
* घोषणात्मक निर्णय
* विविध कार्य

(2) संघात्मक व्यवस्था की रक्षा—संघ शासन-व्यवस्था में केन्द्र तथा राज्यों में शक्तियों का विभाजन होता है और उनके अधिकार-क्षेत्र का उल्लेख संविधान में कर दिया जाता है। इस स्थिति में न्यायपालिका का दायित्व है कि वह इस बात का ध्यान रखे कि केन्द्र और राज्यों की सरकारें अपनी सीमा का अतिक्रमण न करें। मिल ने कहा है, **"प्रान्तीय तथा केन्द्रीय सरकारों को समान रूप से संवैधानिक शक्ति का निर्धारण ही पर्याप्त नहीं है, यह भी आवश्यक है कि जो भी संघर्ष उन दोनों के मध्य उत्पन्न हो, उसका निर्णय करने का अधिकार दोनों में से एक के पास न होकर स्वतन्त्र न्यायाधीश के पास होना चाहिए।"**

(3) संविधान की रक्षा करना—न्यायपालिका संविधान की पवित्रता तथा उसमें प्रतिपादित व्यवस्था की रक्षा का कार्य भी करती है। यदि व्यवस्थापिका किसी ऐसी विधि का निर्माण करती है जो संविधान के विरुद्ध होता है तो न्यायपालिका उसे अवैध घोषित कर देती है। इसे न्यायिक पुनर्निरीक्षण कहते हैं। न्यायिक पुनर्निरीक्षण द्वारा न्यायपालिका व्यवस्थापिका तथा कार्यपालिका की निरंकुशता पर बन्धन रखकर संविधान की रक्षा करती है।

(4) औचित्य के आधार पर कानून-निर्माण—कभी-कभी न्यायालयों के समक्ष ऐसे विवाद उपस्थित होते हैं जिन पर निर्णय देने के लिए कानून विद्यमान नहीं होते। अतः ऐसे विवादों पर न्यायाधीश अपने विवेक, न्यायिक अनुभव तथा नैतिकता के आधार पर निर्णय देता है। इस प्रकार के निर्णय भविष्य में न्यायालयों के समक्ष आने वाले इसी प्रकार के विवादों के लिए उदाहरण (Precedents) बन जाते हैं। औचित्य (Equity) के आधार पर दिये गये निर्णय एक प्रकार के कानून होते हैं।

(5) कानूनों की व्याख्या करना—न्यायपालिका का मौलिक कार्य कानूनों की व्याख्या करना है। प्रायः कानून अस्पष्ट और क्लिष्ट भाषा में होते हैं। ऐसी स्थिति में कानूनों की अधिकारपूर्ण व्याख्या करने का कार्य न्यायपालिका द्वारा किया जाता है। न्यायपालिका द्वारा की गयी व्याख्याओं का महत्त्व कानूनों के ही समान होता है।

(6) नागरिक अधिकारों की रक्षा करना—लोकतन्त्र को जीवित रखने के लिए नागरिकों की स्वतन्त्रता और अधिकारों की सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। यदि इनकी सुरक्षा नहीं की जाती तो कार्यपालिका निरंकुश और तानाशाह बन सकती है। नागरिकों की स्वतन्त्रता तथा अधिकारों की सुरक्षा न्यायपालिका द्वारा की जाती है। अनेक राज्यों में नागरिकों के मौलिक अधिकारों की व्यवस्था का संविधान में उल्लेख कर दिया जाता है ताकि उन्हें संविधान और न्यायपालिका का संरक्षण प्राप्त हो सके। इस प्रकार न्यायपालिका का विशेष उत्तरदायित्व होता है कि वह सदैव यह दृष्टि में रखे कि सरकार का कोई अंग इन अधिकारों का अतिक्रमण न कर सके।

(7) प्रशासनिक कार्य—न्यायालय अपने अधीन विभिन्न कर्मचारियों की नियुक्ति करते हैं तथा न्यायालय की कार्यवाही से सम्बन्धित प्रक्रिया का निर्धारण करते हैं।

(8) परामर्श सम्बन्धी कार्य—अनेक राज्यों में न्यायपालिका राष्ट्राध्यक्ष को कानूनी प्रश्नों पर परामर्श देने का कार्य करती है। इंग्लैण्ड में कार्यपालिका की प्रार्थना पर प्रिवी कौंसिल की न्यायिक समिति वैधानिक प्रश्नों पर अपना परामर्श देती है। कनाडा, आस्ट्रेलिया, पनामा व स्वीडन आदि देशों में भी यह प्रथा प्रचलित है। भारत में भी राष्ट्रपति गम्भीर संवैधानिक प्रश्नों पर सर्वोच्च न्यायालय से परामर्श माँग सकता है।

(9) घोषणात्मक निर्णय—कुछ राज्यों में न्यायालय घोषणात्मक निर्णय देने का भी कार्य करते हैं। इन राज्यों में नागरिकों को यह अधिकार प्राप्त होता है कि वे बिना किसी प्रकार के विशेष मुकदमे के ही न्यायालय से किसी अस्पष्ट कानून का स्पष्टीकरण एवं औचित्य जान सकें। इंग्लैण्ड तथा भारत में इस प्रकार की व्यवस्था है।

(10) विविध कार्य—न्यायालय सार्वजनिक धन के ट्रस्टी की नियुक्ति करते हैं, वसीयतनामों तथा इच्छा-पत्रों को रजिस्टर करते हैं, मृत व्यक्तियों की सम्पत्ति के प्रबन्धकों एवं अल्पवयस्कों के संरक्षकों की नियुक्ति करते हैं तथा नागरिक-विवाहों को भी प्रमाणित करते हैं।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता
(INDEPENDENCE OF THE JUDICIARY)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का आशय (Meaning of the Independence of Judiciary)—हैमिल्टन ने लिखा है, "किसी भी देश का कानून कितना ही अच्छा क्यों न हो, एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्याय विभाग के बिना निष्प्राण है।" न्यायपालिका की स्वतन्त्रता

से हमारा आशय यह है कि न्यायाधीशों को कानूनों की व्याख्या करने में और न्याय प्रदान करने में अपने विवेक का निर्बाध प्रयोग करना चाहिए और उन्हें अपने कर्त्तव्य पालन में किसी प्रकार के बाह्य हस्तक्षेप से प्रभावित नहीं होना चाहिए। न्यायपालिका को व्यवस्थापिका, कार्यपालिका, राजनीतिक दलों, किसी समूह-विशेष अथवा अन्य सभी प्रभावों से मुक्त तथा स्वतन्त्र रहते हुए निर्भय होकर कार्य करना चाहिए।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्त्व तथा आवश्यकता (Importance & Necessity of the Independence of Judiciary)—किसी लोकतन्त्रात्मक शासन में एक स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष न्यायपालिका सर्वथा अनिवार्य है। इसे आधुनिक और प्रगतिशील संविधानों एवं शासन व्यवस्था का प्रमुख लक्षण माना जाता है। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के महत्त्व के सम्वन्ध में अमेरिकन राष्ट्रपति टाफ्ट ने कहा है, **"सभी विवादों में चाहे वे व्यक्ति तथा राज्य के बीच में हों, चाहे अल्पसंख्यक वर्ग और बहुमत के बीच में हों, चाहे आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक दृष्टि से शक्तिशाली और निर्बल के बीच में हों, न्यायपालिका को निष्पक्ष रहना चाहिए और बिना किसी भय या पक्षपात के निर्णय करना चाहिए।"**[1] गार्नर ने लिखा है, **"यदि न्यायाधीशों में प्रतिभा, सत्यता और निर्णय देने की स्वतन्त्रता न हो तो न्यायाधिकारी वर्ग का सारा ढांचा खोखला प्रतीत होगा और उस अभीष्ट की सिद्धि नहीं होगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।"**[2]

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के महत्त्व को निम्नलिखित रूपों में प्रकट किया जा सकता है—

(1) लोकतन्त्र की रक्षा हेतु—लोकतन्त्र की सफलता के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका का होना अनिवार्य है। लोकतन्त्र के अनिवार्य तत्त्व स्वतन्त्रता और समानता हैं। नागरिकों की स्वतन्त्रता और कानून की दृष्टि से व्यक्तियों की समानता—इन दो उद्देश्यों की प्राप्ति स्वतन्त्र न्यायपालिका के द्वारा ही सम्भव है। किसी राज्य में लोकतन्त्र है या नहीं, इसकी सर्वोत्तम पहचान यह है कि उस राज्य में स्वतन्त्र और निष्पक्ष न्यायपालिका है या नहीं। इस दृष्टि से स्वतन्त्र न्यायपालिका को **'लोकतन्त्र का प्राण'** कहा जाता है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्त्व तथा आवश्यकता
* लोकतन्त्र की रक्षा हेतु
* संविधान की रक्षा हेतु
* न्याय की रक्षा हेतु
* नागरिक अधिकारों की रक्षा हेतु

(2) संविधान की रक्षा हेतु—आधुनिक युग के राज्यों में संविधान की सर्वोच्चता का विचार प्रचलित है। संविधान की रक्षा का दायित्व न्यायपालिका का होता है। न्यायपालिका द्वारा इस दायित्व का भली-भाँति निर्वाह उस समय ही सम्भव है जब न्यायपालिका स्वतन्त्र और निष्पक्ष हो। स्वतन्त्र न्यायपालिका संविधान की धाराओं की स्पष्ट व्याख्या करती है तथा व्यवस्थापिका एवं कार्यपालिका के उन कार्यों को जो संविधान के विरुद्ध होते हैं, अवैध घोषित कर देती है। इस प्रकार स्वतन्त्र न्यायपालिका संविधान की रक्षा करती है।

---

1 "As between the individual and the state, as between the majority and the minority, as between the powerful and the weak, financially politicall by, socially, courts much hold an even hand and give judgement without fear of favour."
—*President Taft*

2 "If the judges lack wisdom, probity and freedom of decision, the high purposes for which the judiciary is established cannot be realized."
—*Garner*

(3) **न्याय की रक्षा हेतु**—न्यायपालिका का प्रथम और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य न्याय करना है। न्यायपालिका यह कार्य तभी ठीक प्रकार से कर सकती है जबकि वह निष्पक्ष और स्वतन्त्र हो तथा व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के प्रभाव से पूर्ण रूप से मुक्त हो। यदि न्यायाधीशों पर बाह्य नियन्त्रण हुआ तो उनको निष्पक्ष होकर न्याय करने में बाधा उपस्थित होगी और इस स्थिति में न्यायपालिका उस अभीष्ट की पूर्ति नहीं कर सकेगी जिसके लिए उसका निर्माण किया गया है।

(4) **नागरिक अधिकारों की रक्षा हेतु**—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता का महत्त्व अन्य कारणों की अपेक्षा नागरिक अधिकारों की रक्षा की दृष्टि से अधिक है। व्यवस्थापिका और कार्यपालिका नागरिक अधिकारों का अतिक्रमण न कर सकें अथवा उन पर कुठाराघात न कर सकें, इसके लिए न्यायपालिका का स्वतन्त्र और निष्पक्ष होना अत्यन्त आवश्यक है।

नागरिक अधिकारों की सुरक्षा के लिए स्वतन्त्र न्यायपालिका अपरिहार्य है और इसी कारण भारत, फ्रांस, अमेरिका, आयरलैण्ड आदि देशों में संविधान में मौलिक अधिकारों के उल्लेख के साथ-साथ स्वतन्त्र न्यायपालिका की स्थापना की गयी है।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के उपाय
(MEANS FOR THE INDEPENDENCE OF JUDICIARY)

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने में निम्नलिखित उपाय सहायक होते हैं—

(1) **न्यायाधीशों की योग्यता**—न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता के लिए न्यायाधीशों की योग्यता महत्त्वपूर्ण तथ्य है। न्यायाधीश योग्य, प्रतिभावान, प्रशिक्षित तथा अनुभवी होने चाहिए। न्यायाधीशों को संविधान तथा कानून का गम्भीर ज्ञान होना चाहिए। उन्हें निर्भीक, निष्पक्ष, सत्य में आस्था रखने वाला, ईमानदार तथा बाह्य प्रभाव एवं दबाव से मुक्त होना चाहिए।

न्यायपालिका की स्वतन्त्रता को बनाये रखने के उपाय
* न्यायाधीशों की योग्यता
* न्यायाधीशों का वेतन
* न्यायाधीशों का कार्यकाल
* न्यायाधीशों के पद की सुरक्षा
* न्यायाधीशों का चयन
* अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत का निषेध
* न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण

(2) **न्यायाधीशों का वेतन**—न्यायाधीशों की स्वतन्त्रता के लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें निश्चित और पर्याप्त वेतन मिलना चाहिए। अल्प वेतनभोगी न्यायाधीशों के भ्रष्ट होने की सम्भावना रहती है। हैमिल्टन ने लिखा है, "यह मानव स्वभाव है कि जो व्यक्ति अपनी आजीविका की दृष्टि से शक्ति सम्पन्न हैं, उनके पास संकल्प-शक्ति का भी बड़ा बल होता है।" अतः न्यायाधीशों को पर्याप्त आर्थिक सुरक्षा मिलनी चाहिए।

(3) **न्यायाधीशों का कार्यकाल**—न्यायाधीशों का कार्यकाल निश्चित और लम्बी अवधि तक का होना चाहिए। अल्प समय के लिए नियुक्ति से न्यायाधीश अपने पद का दुरुपयोग कर सकते हैं। न्यायाधीशों का कार्यकाल जीवन-पर्यन्त भी हो सकता है। हैमिल्टन ने लिखा है, "न्यायाधीशों का सदाचार-पर्यन्त अपने पद पर बने रहने का नियम शासन के प्रयोगों में एक बहुमूल्य सुधार है। इसके साथ ही किसी भी शासन में कानूनों को निष्पक्ष, स्थायी और उचित रीति से लागू करने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।"

(4) न्यायाधीशों के पद की सुरक्षा—न्यायाधीशों को पद से हटाने की प्रक्रिया सरल नहीं होनी चाहिए। उनकी पदच्युति किसी व्यक्ति की इच्छानुसार मनमाने ढंग से नहीं होनी चाहिए। न्यायाधीशों को अपदस्थ करने की प्रणाली बहुत जटिल होनी चाहिए जिससे इसका दुरुपयोग न किया जा सके।

(5) न्यायाधीशों का चयन—न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में निम्नलिखित विधियाँ प्रचलित हैं—

(i) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति—भारत और अमेरिका में न्यायाधीशों की नियुक्ति कार्यपालिका के प्रधान द्वारा उनकी योग्यता के आधार पर एक निश्चित समय के लिए की जाती है। राष्ट्रपति सर्वोच्च न्यायालय के न्यायाधीशों को नियुक्त करता है किन्तु उन्हें पद से हटा नहीं सकता। इस प्रकार नियुक्ति का उद्देश्य न्यायपालिका की स्वतन्त्रता और निष्पक्षता को बनाये रखना है। लेकिन राष्ट्रपति द्वारा की गयी नियुक्तियों में भी दलीय भावना और व्यक्तिगत पक्षपात आदि के प्रभाव की सम्भावना रहती है।

(ii) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन—कुछ देशों में व्यवस्थापिका के सदस्यों द्वारा न्यायाधीशों का निर्वाचन किया जाता है। अमेरिकी संघ के कुछ राज्यों और स्विट्ज़रलैण्ड में न्यायाधीशों का निर्वाचन व्यवस्थापिका द्वारा ही होता है। यद्यपि यह प्रणाली प्रजातन्त्र के निकट है क्योंकि व्यवस्थापिका जनता की प्रतिनिधि होती है परन्तु इसमें अनेक दोष हैं—

(अ) व्यवस्थापिका द्वारा न्यायाधीशों का निर्वाचन शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के प्रतिकूल है। (ब) इससे दलगत राजनीति को प्रोत्साहन मिलेगा। (स) दलीय आधार पर चुने गये न्यायाधीशों से न्याय की आशा करना व्यर्थ होगा।

(iii) जनता द्वारा निर्वाचन—न्यायाधीशों को जनता द्वारा भी चुना जाता है। मॉण्टेस्क्यू के शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त से प्रभावित होकर यह प्रणाली सर्वप्रथम फ्रांस में अपनायी गयी थी और वर्तमान समय में स्विट्ज़रलैण्ड के कुछ कैण्टनों और अमेरिकी संघ के कुछ राज्यों में ही प्रचलित है। इस प्रणाली के समर्थन में यह तर्क प्रस्तुत किये जाते हैं कि यह लोकतन्त्र की भावना के अनुकूल है तथा यह प्रणाली शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त के भी अनुकूल है। जनता द्वारा निर्वाचित होने पर न्यायाधीश व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के दबाव और प्रभाव से पूर्णतया मुक्त होकर कार्य कर सकते हैं। लास्की ने कहा है, **"न्यायाधीशों की नियुक्ति की समस्त प्रणालियों में जनता द्वारा निर्वाचन की प्रणाली निर्विवाद रूप में सबसे बुरी है।"**[1] गार्नर के अनुसार, **"यह प्रणाली न्यायाधीशों को राजनीतिज्ञ बना देगी।"** जनता द्वारा चुने गये न्यायाधीश योग्य, निष्पक्ष, सत्यनिष्ठ और सम्मानित नहीं हो सकते। वर्तमान समय में निर्वाचन दलबन्दी के आधार पर होते हैं और जब न्यायाधीश राजनीतिक दल की सहायता से निर्वाचित होकर अपना पद प्राप्त करेंगे तो उनके निर्णय भी पक्षपातपूर्ण होंगे।

न्यायाधीशों की नियुक्ति की विभिन्न प्रणालियों में कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति की व्यवस्था श्रेष्ठ है और विश्व के लगभग सभी राज्यों में यही प्रणाली प्रचलित है।

(6) अवकाश प्राप्ति के बाद वकालत का निषेध—न्यायालयों की स्वतन्त्रता व निष्पक्षता को बनाये रखने के लिये आवश्यक है कि अवकाश प्राप्त न्यायाधीश वकालत न कर सके। इस सम्बन्ध में कम से कम इतनी व्यवस्था अवश्य की जानी चाहिए कि व्यक्ति

1 "Of all the methods of appointment, the election by the people at large is without exception, the worst." —*Laski*

जिन न्यायालयों में न्यायाधीश के रूप में कार्य कर चुका हो, उन न्यायालयों एवं उनके क्षेत्राधिकार में आने वाले अन्य न्यायालयों में वकालत न कर सके।

(7) न्यायपालिका का कार्यपालिका से पृथक्करण—न्यायपालिका का एक प्रमुख कार्य है कार्यपालिका के अत्याचारों से नागरिकों की रक्षा करना किन्तु न्यायपालिका इस कार्य को उचित ढंग से तब ही कर सकती है जबकि वह कार्यपालिका के प्रभाव से मुक्त हो। न्यायपालिका की स्वतन्त्रता के लिए यह आवश्यक है कि कार्यपालिका उसके कार्यों में किसी प्रकार का हस्तक्षेप करे। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली वाले देशों में शक्ति पृथक्करण सिद्धान्त के कारण यह समस्या उत्पन्न नहीं होती किन्तु संसदीय शासन-प्रणाली में कार्यपालिका न्यायपालिका को प्रभावित करने की चेष्टा कर सकती है। इसी बात को ध्यान में रखते हुए भारतीय संविधान के नीति निर्देशक तत्त्वों में कार्यपालिका और न्यायपालिका को पृथक्-पृथक् रखने की बात कही गयी है और भारतीय संघ के अधिकांश इकाई राज्यों में न्यायपालिका को कार्यपालिका से पृथक् कर दिया गया है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. न्यायपालिका से क्या तात्पर्य है?

उत्तर—इसका तात्पर्य सरकार के उस अंग से है जो न्याय करता है तथा कानून भंग करने वाले को दण्डित करता है। यह संविधान की व्याख्या तथा रक्षा भी करता है।

प्रश्न 2. न्यायपालिका मुख्यतः क्या कार्य करती है?

उत्तर—व्यवस्थापिका के संकल्पों एवं इच्छाओं के अनुरूप न्याय करती है।

प्रश्न 3. न्यायाधीशों की नियुक्ति की विधियाँ लिखिए।

उत्तर—(1) जनता द्वारा निर्वाचन, (2) व्यवस्थापिका द्वारा निर्वाचन तथा (3) कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति।

प्रश्न 4. भारत में न्यायाधीशों की नियुक्ति किसके द्वारा की जाती है?

उत्तर—कार्यपालिका द्वारा।

प्रश्न 5. सर्वप्रथम किस देश में न्यायाधीशों का निर्वाचन जनसाधारण द्वारा किया गया?

उत्तर—फ्रांस में।

प्रश्न 6. एक आदर्श न्यायाधीश के दो प्रमुख गुण बताइए।

उत्तर—(1) निष्पक्षता तथा (2) संविधान एवं कानूनों का गम्भीर ज्ञान।

प्रश्न 7. एक देश का नाम लिखिए जहाँ न्यायपालिका निर्वाचित होती है। (1991, 96)

उत्तर—स्विट्ज़रलैण्ड के कुछ कैण्टन।

प्रश्न 8. न्यायाधीशों की नियुक्ति की सर्वाधिक श्रेष्ठ प्रणाली कौन-सी है?

उत्तर—कार्यपालिका द्वारा नियुक्ति अथवा मनोनयन।

प्रश्न 9. न्यायपालिका के दो कार्य लिखिए। (1991, 93, 97)

उत्तर—(1) संविधान की रक्षा तथा कानूनों की व्याख्या करना तथा (2) विवादों का निर्णय करना।

प्रश्न 10. न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुरक्षित रखने के लिए कोई दो उपाय लिखिए। (1993)

उत्तर—(1) न्यायाधीश के पद पर उच्च चरित्र तथा ऊँची कानूनी योग्यता वाले व्यक्तियों की नियुक्ति की जानी चाहिए।

(2) न्यायाधीशों का कार्यकाल लम्बा होना चाहिए तथा उन्हें यह विश्वास होना चाहिए कि उन्हें शीघ्र पद से पृथक् नहीं किया जायेगा।

प्रश्न 11. न्यायपालिका की वह कौन-सी शक्ति है जो कार्यपालिका तथा व्यवस्थापिका की शक्तियों को नियन्त्रित करती है?

उत्तर—न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति।

प्रश्न 12. संघात्मक शासन में केन्द्र एवं राज्यों के मध्य संवैधानिक विवादों के समाधान की जिम्मेदारी सरकार के किस अंग पर होती है?

उत्तर—न्यायपालिका पर।

प्रश्न 13. आलोचक न्यायपालिका को संसद का तीसरा सदन क्यों कहते हैं?

उत्तर—न्यायिक पुनरावलोकन की शक्ति के कारण।

प्रश्न 14. न्यायपालिका पर व्यवस्थापिका किस प्रकार नियन्त्रण रखती है?

उत्तर—न्यायाधीशों पर महाभियोग (सिद्ध कदाचार) लगाकर पदच्युत करने की शक्ति द्वारा।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आधुनिक राज्य में न्यायपालिका के कार्य क्या हैं? उन उपायों का उल्लेख कीजिए जिनके आधार पर लोकतन्त्र में न्यायपालिका की स्वतन्त्रता की रक्षा की जाती है। (1985)
2. एक लोकतान्त्रिक राज्य में न्यायपालिका के कार्यों का वर्णन कीजिए। (1987)
3. न्यायपालिका के कार्य एवं महत्त्व पर प्रकाश डालिये। (1996)
4. स्वतन्त्र न्यायपालिका क्या है? न्यायपालिका की स्वतंन्त्रता सुरक्षित करने के लिए कौन-कौनसे उपाय किये जाते हैं? (2000)
5. टिप्पणी लिखिए—
   (i) स्वतन्त्र न्यायपालिका के लाभ (1997)
   (ii) न्यायपालिका के मुख्य कार्य। (1983)

● ●

17

जनमत

[PUBLIC OPINION]

"सभी सरकारें चाहे वे कितनी ही दूषित क्यों न हों, अपनी शक्ति के लिए जनमत पर निर्भर होती हैं।"[1]

—*ह्यूम*

जनमत अथवा लोकमत का अर्थ और परिभाषाएँ
(MEANING AND DEFINITIONS OF PUBLIC OPINION)

डूब के अनुसार, "जनमत का अर्थ है एक सामाजिक समूह के रूप में जनता का किसी प्रश्न अथवा समस्या के प्रति रुख अथवा विचार।" अनेक ऐसे महत्त्वपूर्ण विषय होते हैं जिन पर गम्भीर वाद-विवाद प्रारम्भ हो जाता है। समाज का एक बड़ा भाग या तो उस विषय का समर्थन करने लगता है अथवा उसका विरोध करता है। इस प्रकार सार्वजनिक विषयों के सम्बन्ध में जनता की जो धारणा बन जाती है उसे लोकमत कहते हैं।

सामान्य प्रचलन और शाब्दिक अर्थ के आधार पर जनमत को जनता का मत कहा जा सकता है किन्तु इतना कहने से ही जनमत का वास्तविक अर्थ स्पष्ट नहीं हो जाता क्योंकि जनता का मत स्वयं अस्पष्ट धारणा है।

विभिन्न विद्वानों ने जनमत की परिभाषा विभिन्न प्रकार से की है लेकिन अधिकांश परिभाषाएँ एक-दूसरे से नितान्त भिन्न तथा अस्पष्ट हैं। रोसेक का कहना है, "जनमत एक ऐसा शब्द है कि इसकी परिभाषा देने के बजाय इसका अध्ययन होना चाहिए।" कैरोल के अनुसार भी 'जनमत' एक ऐसा शब्द है जो परिभाषा से परे है। फिर भी विद्वानों ने जनमत को इस प्रकार परिभाषित करने का प्रयास किया है—

ब्राइस के अनुसार, "जनमत मनुष्यों के उन विभिन्न दृष्टिकोणों का योगमात्र है जो वे सार्वजनिक हित से सम्बद्ध विषयों के बारे में रखते हैं।"[2]

वाल्टर लिपमैन के शब्दों में, "जनमत मनुष्यों की वे आन्तरिक धारणाएँ हैं जिन्हें वे स्वयं के लिए और दूसरों की आवश्यकताओं तथा उद्देश्यों के लिए बनाते हैं।"

गिन्सबर्ग के अनुसार, "जनमत अथवा लोकमत का अभिप्राय समाज में प्रचलित उन विचारों व निर्णय के समूह से होता है जो लगभग निश्चित रूप में प्रतिपादित होते हैं जिनमें

1 "All governments, however bad, depend for their authority on public opinion." —*Hume*

2 "Public opinion is the aggregate of the views men hold regarding matters that affect or interest the community." —*Bryce*

कुछ स्थायित्व होता है और उन्हें मानने वाले लोग उन्हें इस अर्थ में सामाजिक समझते हैं कि वे अनेक मस्तिष्कों द्वारा एक साथ विचार करने के परिणाम हैं।"

विलयम एलविग के मतानुसार, "जनमत किसी जनसमूह के उन सब सदस्यों की अभिव्यक्ति है जो किसी निश्चित विषय पर विचार-विमर्श करते हों।"

रोसेक के अनुसार, "जनमत एक प्रकार सहमति के आधार पर बना मत है जो कि किसी समय और स्थान पर प्रमुख विरोधी विचारों के आधार पर बनता है।"

सोल्टाऊ का कहना है, "जनमत शब्द का प्रयोग साधारणतः उन विचारों और इच्छाओं के सम्बन्ध में किया जाता है जो जनता अपने सामान्य जीवन के सम्बन्ध में रखती है।"[1]

उपर्युक्त परिभाषाओं से यह स्पष्ट है, "जनमत सामान्य जनता के स्थायी विचारों पर आधारित वह विवेकपूर्ण विचार होता है जो आवश्यक रूप से जन-कल्याण की भावना से प्रेरित हो।"

जनमत अथवा लोकमत की विशेषताएँ अथवा लक्षण
(CHARACTERISTICS OF PUBLIC OPINION)

जनमत अथवा लोकमत की परिभाषाएँ यद्यपि एक-दूसरे से भिन्न हैं फिर भी वे उसकी प्रमुख तीन विशेषताओं को स्पष्ट रूप से प्रगट करती हैं—

(1) **जन-साधारण का मत**—जनमत के लिए यह आवश्यक है कि वह जन-साधारण का मत हो। किसी विशेष वर्ग अथवा व्यक्तियों का मत जनमत नहीं हो सकता। विलहेम बोयर ने ठीक ही कहा है, "जनमत किसी गुट विशेष का विचार एवं सिद्धान्त मात्र न होकर जन-साधारण की सामूहिक आस्था और विश्वास होता है।"

लोकमत की विशेषताएँ
* जन-साधारण का मत
* लोककल्याण की भावना से प्रेरित
* विवेक पर आधारित स्थायी विचार

(2) **लोककल्याण की भावना से प्रेरित**—जनमत की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण और आवश्यक विशेषता लोककल्याण की भावना होती है। डॉ. बेनी प्रसाद ने कहा है कि "वही मत वास्तविक जनमत होता है जो जनकल्याण की भावना से प्रेरित हो।" इसी बात को लॉवेल ने इन शब्दों में कहा है, "जनमत के लिए केवल बहुमत ही पर्याप्त नहीं होता और न ही एकमत की आवश्यकता होती है। कोई भी मत जनमत का रूप धारण करने के लिए ऐसा होना चाहिए जिसमें चाहे अल्पमत भागीदार न हो परन्तु भय के कारण नहीं, वरन् दृढ़ विश्वास के कारण से स्वीकार करता हो।"[2]

(3) **विवेक पर आधारित स्थायी विचार**—जनमत भावनाओं के अस्थिर आवेग या एक समय विशेष में प्रचलित विचार पर आधारित नहीं होता अपितु उसका आधार जनता के विवेकपूर्ण और स्थायी विचार होते हैं। स्थायित्व जनमत का अनिवार्य लक्षण है।

निष्कर्ष रूप में सोल्टाऊ के ये शब्द उल्लेखनीय हैं, "साधारण रूप में जनमत शब्द का प्रयोग उन विचारों के लिए किया जाता है जिन्हें मनुष्य अपने सामान्य जीवन के बारे में सोचते और चाहते हैं। राजनीति में जनमत केवल वही नहीं जिसे मनुष्य सोचते हैं और न ही

1 "The term public opinion is usually applied to what people think and what they desire for their common life." —*Soltau*

2 "A majority is not enough and unanimity is not required but the opinion must be such that, while majority may not share it they feel bounded by conviction and not by fate to accept." —*Lowell*

उनके विचारों का वह भाग है जिसे सार्वजनिक रूप से व्यक्त करते हैं वरन् यह वह है जिसे व्यवहार में वे प्रभावी बनाना चाहते हैं।" ऑग एवं रे ने भी उचित ही कहा है, "यह प्रायः अदृश्य, अमूर्त और अस्पष्ट-सी वस्तु है किन्तु इसे फिर भी वास्तविक कहा जा सकता है चूँकि वह दैनिक सम्पर्क और अनुभवों से ऊपर जनसाधारण के सामूहिक दृष्टिकोण तथा मिश्रित विचारों से जन्म लेता है।"

जनमत अथवा लोकमत का महत्त्व
(IMPORTANCE OF PUBLIC OPINION)

जनमत अथवा लोकमत का महत्त्व तथा उसकी उपयोगिता समस्त प्रकार के शासनों में होती है। जोस आर्टेगिम गैसेल ने कहा है, "जनमत के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु को शासन का आधार बनाकर पृथ्वी पर कभी कोई शासन नहीं कर सका है।"[1] यह नितान्त सत्य है कि किसी देश की शासन-व्यवस्था का संचालन जनता द्वारा प्रकट या मौन स्वीकृति के आधार पर ही किया जा सकता है। यह तथ्य न केवल प्रजातन्त्र बल्कि राजतन्त्र, अधिनायकतन्त्र (तानाशाही शासन), कुलीनतन्त्र और विदेशी शासन के सम्बन्ध में भी पूर्ण रूप से सत्य है। जनमत के इस महत्त्व के सम्बन्ध में ह्यम ने लिखा है, "सभी सरकारें चाहें वे कितनी ही दूषित हों, अपनी शक्ति के लिए जनमत पर निर्भर करती हैं।" विभिन्न शासन-व्यवस्थाओं में लोकमत का महत्त्व निम्न प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—

राजतन्त्रात्मक व्यवस्था में राजा की स्वेच्छाचारी तथा निरंकुश प्रवृत्ति पर अंकुश— राजतन्त्रात्मक शासन में राजा के निरंकुश और स्वार्थी होने की सम्भावना रहती है। जनमत इस प्रकार की आशंकाओं को रोकता है और कर्त्तव्यविमुख राजा को चेतावनी देता है। कोई भी बुद्धिमान राजा जनमत की अवहेलना नहीं कर सकता क्योंकि ऐसा करने का परिणाम जन-असन्तोष, क्रान्ति तथा विप्लव होगा और अन्त में उसे राजपद से वंचित होना पड़ेगा।

विदेशी शासन के कुप्रभावों को रोकना— जनमत का महत्त्व न केवल स्वशासन बल्कि विदेशी शासन में भी होता है। विदेशी शासक साधारणतः शासन का संचालन अपनी स्वार्थ-सिद्धि की दृष्टि से करते हैं और इस प्रकार की नीतियाँ अपनाते हैं जिससे विदेशी शासन की नींव मजबूत होती जाय। ऐसी स्थिति में विदेशी शासन के कुप्रभावों को रोकने के लिए सजग जनमत बहुत आवश्यक होता है। विदेशी शासन भी जनमत के भय से कुछ जनकल्याण के कार्य करने के लिए विवश हो जाता है।

प्रजातन्त्रीय शासन में सर्वाधिक महत्त्व— लोकतन्त्र का यद्यपि सभी प्रकार की शासन-प्रणालियों में महत्त्व होता है किन्तु प्रजातन्त्र का तो जनमत प्राण ही है। मूलतः जनमत पर आधारित शासन को ही प्रजातन्त्र की संज्ञा दी जाती है। लार्ड मार्ले का कथन है, "यदि शासन जनता के मत से कोई सम्बन्ध न रखे या उसकी इच्छानुसार कार्य न करे तो वह जनता का शासन कहलाने का अधिकारी नहीं है।" अतः प्रत्येक प्रजातन्त्रीय सरकार के लिए आवश्यक हो जाता है कि वह स्वयं को जनता के दृष्टिकोण के सम्पर्क में रखे। लोकतन्त्र का संचालन जनता की सहमति से होता है। वास्तव में, जनमत ही वह धुरी है जिस पर प्रजातन्त्र घूमता है। प्रजातन्त्र में जनमत का महत्त्व निम्न प्रकार से दर्शाया जा सकता है—

(1) शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण— जनमत प्रजातन्त्र सरकार का प्रहरी होता है। जब कोई सरकार मनमानी करने का प्रयत्न करती है तो जनमत शासन को निरंकुश होने

1 "Never has any one ruled on earth by basing his rule essentially other than public opinion." —*Jose Ortegag Gassell*

से रोकता है। प्रजातन्त्र में सरकार को स्थायी बनाने के लिए जनमत के समर्थन तथा सहमति की आवश्यकता होती है। गैटिल के अनुसार, "**प्रजातान्त्रिक शासन की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि जनमत किस सीमा तक सरकार के कार्यों और नीतियों को नियन्त्रित करता है।**"[1]

(2) स्वार्थी राजनीतिज्ञों पर नियन्त्रण—जनमत एक ऐसा सशक्त माध्यम है जो स्वार्थी, भ्रष्ट तथा बेईमान राजनीतिज्ञों और नेताओं पर नियन्त्रण एवं अंकुश रखता है जिससे वे सरकार को अपने मित्रों तथा सम्बन्धियों की स्वार्थ-सिद्धि का साधन न बना लें। प्रजातन्त्र में वही राजनीतिक दल लोकप्रिय होता है जिसके कार्यक्रम जनमत की भावनाओं के अनुरूप होते हैं और जिसके कार्यकर्ता निरन्तर जनता से सम्पर्क रखते हैं।

> **प्रजातन्त्र में जनमत का महत्त्व**
> * शासन की निरंकुशता पर नियन्त्रण
> * स्वार्थी राजनीतिज्ञों पर नियन्त्रण
> * सरकार का पथ-प्रदर्शन
> * स्वतन्त्रता का रक्षक
> * सरकार के निर्माण पर प्रभाव
> * सरकारी अधिकारियों पर अंकुश
> * विभिन्न संस्थाओं को कर्त्तव्यों की चेतावनी

(3) सरकार का पथ-प्रदर्शन—देश की आन्तरिक तथा विदेश नीति के सम्बन्ध में व्यक्तियों का जो विचार होता है उसका सरकार की नीतियों पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। जनमत सरकार की आलोचना कर उसे उचित मार्ग बताता है और चेतावनी देकर पथभ्रष्ट होने से बचाता है। जनमत से सरकार को इस बात की जानकारी होती रहती है कि जनता क्या चाहती है और क्या नहीं चाहती है। प्रो. पुन्ताम्बेकर का कथन है, "**जनमत वह शक्ति है जो राज्य के संगठन में पथ-प्रदर्शक और निर्देशक का कार्य करती है।**"

(4) स्वतन्त्रता का रक्षक—जब कभी सरकार जनता की स्वतन्त्रता पर आघात करने लगती है तो जनमत उन्हें ऐसा करने से रोककर जन स्वातन्त्र्य की रक्षा करता है। इसी कारण यह कहा जाता है, "**अनवरत् जागरूकता ही स्वतन्त्रता का मूल्य है।**"[2]

(5) सरकार के निर्माण पर प्रभाव—लोकतन्त्र में एक से अधिक राजनीतिक दल होते हैं तथा समय-समय पर चुनाव होते रहते हैं। जो दल चुनाव में जीतता है वह अपनी सरकार बनाता है। चुनावों में विजय इस बात पर निर्भर करती है कि अधिकांश मतदाता किस दल का समर्थन करते हैं। दूसरे शब्दों में, सरकारों का बनना और बिगड़ना जनमत पर निर्भर करता है।

(6) सरकारी अधिकारियों पर अंकुश—जनमत सरकारी अधिकारियों और कर्मचारियों की निरंकुशता पर लगाम का कार्य करता है। उनके अनुचित कार्यों की आलोचना करता है और उन्हें त्वरित गति से कार्य करने के लिए बाध्य करता है।

(7) विभिन्न संस्थाओं को कर्त्तव्यों की चेतावनी—भिन्न-भिन्न सामाजिक संस्थाओं को यह आजादी नहीं दी जा सकती कि वे जैसा चाहें करें। यदि प्रत्येक समुदाय मनमानी करने लगे तो सामाजिक व्यवस्था छिन्न-भिन्न हो जायेगी। समुदायों के इस आचरण पर जनमत रोक लगाता है और उनके वास्तविक कर्त्तव्य की चेतावनी देता है। जो समुदाय सार्वजनिक हित के विरुद्ध काम करता है उसकी जनमत द्वारा कटु आलोचना एवं निन्दा की जाती है।

---

1 "**The success of democratic government depends upon the degree to which the public opinion is sound well-developed and effective in controlling the actions and policies of government.**" —*Gettell*

2 "**Elernal vigilance is the price of liberty.**"

कोई भी संस्था इस आलोचना और निन्दा की अवहेलना नहीं कर सकती। इस प्रकार जनमत सामाजिक जीवन को सार्वजनिक हित में ढालने का कार्य करता है।

जनमत अथवा लोकमत का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति
(FORMATION AND EXPRESSION OF PUBLIC OPINION)

किसी विशिष्ट प्रकार की समस्या अथवा प्रश्न उपस्थित होने पर समाज के सभी पक्षों द्वारा विचार शुरू किया जाता है जो एक आम चर्चा का रूप ले लेता है। थोड़े समय बाद जनता के बहुत बड़े भाग और विशेष रूप से जागरूक व्यक्तियों द्वारा उस प्रश्न पर एक निश्चित दृष्टिकोण अपना लिया जाता है और अन्त में यही दृष्टिकोण जनमत के रूप में अभिव्यक्ति प्राप्त कर लेता है। जनमत के निर्माण और उसकी अभिव्यक्ति में अनेक तत्व सहायक होते हैं जिनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं—

जनमत अथवा लोकमत का निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति
* मानव तत्त्व
* राजनीतिक दल
* समाचार-पत्र एवं प्रेस
* व्यवस्थापिका सभाएँ
* शिक्षण संस्थाएँ
* धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संगठन
* मंच या सार्वजनिक सभाएँ
* रेडियो, सिनेमा तथा टेलीविजन
* निर्वाचन

(1) मानव तत्त्व—जनमत के निर्माण और विकास में प्रमुख साधन के रूप में व्यक्तियों द्वारा भाग लिया जाता है। लेकिन इस कार्य में सभी व्यक्तियों का एक-सा योगदान नहीं होता क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों की योग्यता एवं विवेकशीलता में अन्तर होता है। समाज में तीन प्रकार के व्यक्ति होते हैं। प्रथम श्रेणी में वे व्यक्ति सम्मिलित हैं जिन्हें 'सामान्य जनता' के नाम से सम्बोधित किया जाता है। ये व्यक्ति सार्वजनिक कार्यों में कोई रुचि नहीं रखते हैं। उनके पास इतना समय एवं ज्ञान नहीं होता कि वे इन बातों पर गम्भीरता से विचार कर सकें। द्वितीय श्रेणी के अन्तर्गत वे 'जागरूक व्यक्ति' आते हैं जिनकी राजनीतिक चेतना अधिक विकसित होती है। वे अपने निकट के क्रिया-कलापों का बहुत ज्ञान रखते हैं। ये व्यक्ति जनमत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। तृतीय श्रेणी में 'शिखर या चोटी के व्यक्ति' सम्मिलित हैं जो कृषि, व्यापार, श्रमिक- आन्दोलन, राजनीतिक दलों और पत्रकारिता के क्षेत्र में उच्च पदों पर स्थित होते हैं। नवीन विचारों का प्रारम्भ इन्हीं व्यक्तियों द्वारा होता है। वास्तव में, 'चोटी के व्यक्ति' लोकमत का निर्माण करते हैं तथा 'जागरूक व्यक्ति' उनके विचारों का समर्थन या विरोध करने लगते हैं। 'सामान्य जनता' तो उन विचारों को केवल स्वभाव और विश्वास के कारण स्वीकार कर लेती है।

(2) राजनीतिक दल—आधुनिक समय में जनमत के निर्माण तथा उसकी अभिव्यक्ति का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन राजनीतिक दल है। जनता के कष्टों तथा समाज की समस्याओं के सम्बन्ध में राजनीतिक दल सार्वजनिक-सभाएँ करके, प्रदर्शन करके, समारोह द्वारा एवं आन्दोलन चलाकर जनमत का निर्माण और अभिव्यक्ति करते हैं। वे जनता को देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक आदि समस्याओं का केवल ज्ञान ही नहीं कराते वरन् उन पर विवेकपूर्ण दृष्टि से विचार-विमर्श करने के लिए प्रेरित करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दल नागरिकों के मध्य राजनीतिक चेतना का संचार करते हैं। यही राजनीतिक चेतना जनमत के निर्माण में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाती है। लाइजर के शब्दों में "राजनीतिक दल इस प्रकार

कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सारे राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाये जो अन्य प्रकार से समय और प्रदेश की दूरी के कारण प्राप्त करना असम्भव है।"

(3) समाचार-पत्र एवं प्रेस—समाचार-पत्र एवं प्रेस जनमत के निर्माण के महत्त्वपूर्ण साधन हैं। समाचार-पत्र देश-विदेश की विविध घटनाओं, समस्याओं और विचारों को जनसाधारण तक पहुँचाने का कार्य करते हैं। समाचार-पत्र केवल सामयिक घटनाओं का विवरण ही नहीं देते बल्कि निकट भविष्य में होने वाले परिवर्तनों का आभास देकर जनता के विचारों को प्रभावित करते हैं। समाचार-पत्र जनता की भावनाओं को सरकार तक और सरकार के निर्णयों को जनता तक पहुँचाते हैं। इसी कारण समाचार-पत्रों को **'लोकतन्त्र का चतुर्थ स्तम्भ'** कहा गया है। लिपमैन समाचार-पत्रों को **'लोकतन्त्र की बाइबिल'** की संज्ञा देता है।

(4) व्यवस्थापिका सभाएँ—जनमत के निर्माण में व्यवस्थापिका सभाओं का अपना विशेष महत्त्व है। व्यवस्थापिका सभाओं में होने वाले वाद-विवादों एवं उसकी विधि-निर्माण प्रक्रिया द्वारा भी जनमत की अभिव्यक्ति होती है तथा जनमत के निर्माण में भी योगदान मिलता है।

(5) शिक्षण संस्थाएँ—शिक्षण संस्थाएँ ज्ञान की केन्द्र हैं। पुस्तकीय ज्ञान प्रदान करने के अतिरिक्त इनमें समय-समय पर सामाजिक, राजनीतिक, आर्थिक आदि विषयों तथा राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं पर वाद-विवाद और विचार-विमर्श होता रहता है। इस प्रकार ये संस्थाएँ जनमत निर्माण में सहायक होती हैं।

(6) धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संगठन—जनता की विचारधारा पर धार्मिक, सामाजिक और आर्थिक संगठनों एवं संस्थाओं का प्रबल प्रभाव पड़ता है। धर्म मानव जीवन का विशिष्ट पहलू है। हिन्दू कोड बिल, गौवध व अस्पृश्यता आदि अनेक ऐसे विषय हैं जिन पर भारत में धार्मिक संगठनों ने अपने विचार प्रस्तुत कर जनमत निर्माण किया है। धार्मिक संगठनों के अतिरिक्त सांस्कृतिक संगठनों एवं नागरिकों के दूसरे संगठन भी समय-समय पर देश की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक समस्याओं पर अपने दृष्टिकोण रखते हैं और जनमत निर्माण का प्रयत्न करते हैं।

(7) मंच या सार्वजनिक सभाएँ—सार्वजनिक सभाएँ, जुलूस एवं मंच आदि तो जनमत निर्माण व अभिव्यक्ति के प्राचीन और महत्त्वपूर्ण साधन हैं। गम्भीर विचारों के लिए विचार-गोष्ठियाँ आयोजित की जाती हैं जिनके लिए अनेक मंचों का प्रयोग किया जाता है। सभाओं में सरकार, विभिन्न दलों तथा संगठनों के प्रतिनिधि अपने-अपने विचार जनता के समक्ष रखते हैं। इससे जनता में राजनीतिक चेतना का विकास होता है, राजनीतिक शिक्षा मिलती है और जनमत का निर्माण होता है।

(8) रेडियो, सिनेमा तथा टेलीविजन—वर्तमान समय में रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन केवल मनोरंजन के ही साधन नहीं रह गये हैं बल्कि जनमत के निर्माण एवं अभिव्यक्ति के सशक्त साधन बन चुके हैं। इन पर प्रस्तुत किये गये कार्यक्रमों, वार्ताओं एवं समाचारों को व्यक्ति सुनते एवं देखते हैं, उन पर विचार करते हैं तथा इस प्रकार जनमत निर्माण में भाग लेते हैं। रेडियो और टेलीविजन ऐसे साधन हैं जिनका लाभ निरक्षर व्यक्ति भी उठाकर जनमत निर्माण में अपना योगदान दे सकते हैं। चलचित्रों के माध्यम से सामाजिक व आर्थिक सुधारों तथा राष्ट्रीय एकता के प्रति जनता की रुचि उत्पन्न की जा सकती है।

(9) **निर्वाचन**—निर्वाचन भी जनमत के निर्माण का एक उत्तम साधन है। निर्वाचनों द्वारा विभिन्न राजनीतिक दलों को जनता के सामने अपने-अपने उद्देश्य और कार्यक्रम रखने का अवसर मिलता है। सरकार के समर्थक सरकार के गुणों का उल्लेख करते हैं और विरोधी उसकी त्रुटियों की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करते हैं। इस प्रकार जनता को दोनों पक्षों का ज्ञान हो जाता है और सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में अपना निष्पक्ष मत स्थिर करने का अवसर मिलता है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधाएँ अथवा रुकावटें

(OBSTACLES IN THE FORMATION OF HEALTHY PUBLIC OPINION)

जनमत उसी समय देश के लिए उपयुक्त एवं लाभप्रद होता है जबकि उसका निर्माण स्वस्थ आधार पर हो तथा विचारों की अभिव्यक्ति का पूर्ण एवं स्वतन्त्र अवसर प्राप्त हो। स्वस्थ जनमत के निर्माण में निम्नलिखित बाधाएँ सम्मुख आती हैं—

स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधाएँ
* निर्धनता तथा आर्थिक असमानता
* निरक्षरता
* दोषपूर्ण राजनीतिक दल
* पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र
* वर्गवाद एवं साम्प्रदायिकता
* राजनीतिक चेतना का अभाव
* नागरिक जीवन के प्रति उदासीनता

(1) **निर्धनता तथा आर्थिक असमानता**—स्वस्थ जनमत के निर्माण में निर्धनता भी एक विशेष बाधा है। जिस समाज में आर्थिक असमानता है वहाँ निर्धन वर्ग अपनी दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति में लगा रहता है। ऐसे व्यक्ति अपनी स्वयं की समस्याओं पर विचार नहीं कर पाते हैं और इस स्थिति में उनसे सार्वजनिक समस्याओं पर चिन्तन करने की आशा नहीं की जा सकती है।

(2) **निरक्षरता**—निरक्षरता के कारण जनता की मनोवृत्ति संकुचित तो होती ही है, साथ ही उसमें सही विचार शक्ति एवं निर्णायक बुद्धि का अभाव होता है। अशिक्षित नागरिकों को अपने अधिकारों एवं कर्त्तव्यों का उचित ज्ञान नहीं होता है और वे स्वार्थलिप्त प्रचार के वशीभूत हो जाते हैं। अशिक्षित जनता न तो सरकार पर अंकुश रख सकती है और न ही अपने विचारों को प्रकट करने और उन्हें संगठित करने की सामर्थ्य प्राप्त कर सकती है।

(3) **दोषपूर्ण राजनीतिक दल**—देश के राजनीतिक दलों का आर्थिक व राजनीतिक सिद्धान्तों के स्थान पर साम्प्रदायिक, जातीय, धार्मिक व व्यक्तिगत स्वार्थों के आधार पर निर्माण भी सही जनमत के बनाने में एक बड़ी बाधा है। ऐसे राजनीतिक दल राष्ट्रहित की अपेक्षा दलीय हित को अधिक प्रधानता देते हैं।

(4) **पक्षपातपूर्ण समाचार-पत्र**—स्वतन्त्र तथा निष्पक्ष समाचार-पत्र स्वस्थ जनमत का निर्माण करते हैं किन्तु यदि समाचार-पत्रों का दृष्टिकोण संकुचित है, वह तथ्यों को दलीय दृष्टिकोण से प्रस्तुत करते हैं तथा समाचारों के प्रकाशन तथा उन पर सम्पादकीय लिखने में पक्षपातपूर्ण शैली अपनाते हैं तो स्वस्थ जनमत का निर्माण कदापि सम्भव नहीं हो सकता।

(5) **वर्गवाद एवं साम्प्रदायिकता**—वर्गवाद एवं जातिवाद तथा साम्प्रदायिकता भी स्वस्थ जनमत के निर्माण में मुख्य बाधक हैं क्योंकि ये तत्व स्वार्थपरता, संकीर्णता, असहिष्णुता आदि संकीर्ण विचारों को जन्म देते हैं जो स्वस्थ जनमत के लिए हानिकारक हैं।

(6) **राजनीतिक चेतना का अभाव**—स्वस्थ और प्रबुद्ध जनमत के लिए जनता में राजनीतिक जागरूकता का होना आवश्यक है। जो जनसमूह सामाजिक और राजनीतिक

समस्याओं को जानने, उन पर विचार करने में कोई अभिरुचि नहीं लेता वह स्वस्थ जनमत का निर्माण नहीं कर सकता।

(7) नागरिक जीवन के प्रति उदासीनता—व्यक्ति की नागरिक जीवन के प्रति उदासीनता भी स्वस्थ जनमत के निर्माण में बाधक होती है। जिस देश में जीवन, स्वतन्त्रता और आवश्यक सम्पत्ति के अधिकार सुरक्षित नहीं होते हैं वहाँ विचार अभिव्यक्ति भी स्वतन्त्र नहीं हो सकती है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु आवश्यक शर्तें अथवा परिस्थितियाँ
(CONDITIONS NECESSARY FOR THE FORMATION OF HEALTHY PUBLIC OPINION)

श्रेष्ठ और स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु निम्नलिखित परिस्थितियों का होना आवश्यक है—

(1) सुशिक्षित नागरिक—स्वस्थ जनमत के लिए देश के नागरिकों का सुशिक्षित होना आवश्यक है। सुशिक्षा के अभाव में नागरिकों का मानसिक एवं बौद्धिक विकास नहीं हो पाता और उनके विचार संकुचित तथा संकीर्ण होते हैं। सुशिक्षा नागरिकों को आदर्श नागरिकता का पाठ पढ़ाती है और उनमें राष्ट्रहित के लिए अपना बलिदान करने की भावना उत्पन्न करती है।

स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु आवश्यक शर्तें

* सुशिक्षित नागरिक
* शान्तिमय वातावरण
* स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस
* स्वस्थ राजनीतिक दल
* आर्थिक समानता
* विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता
* राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में एकता
* स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराएँ

(2) शान्तिमय वातावरण—स्वस्थ जनमत के निर्माण हेतु गम्भीर विचार-विमर्श आवश्यक होता है और गम्भीर विचार-विमर्श देश के आन्तरिक एवं बाह्य दोनों क्षेत्रों में शान्तिमय वातावरण होने पर ही सम्भव हो सकता है। उत्तेजनापूर्ण वातावरण या युद्ध की स्थिति स्वस्थ जनमत निर्माण में बाधा उपस्थित करती है।

(3) स्वतन्त्र एवं निष्पक्ष प्रेस—स्वस्थ जनमत के निर्माण में प्रेस का महत्त्वपूर्ण योगदान होता है इसलिए इसे निष्पक्ष, स्वतन्त्र और निर्भीक होना चाहिए। ए. ब्रुक्स ने ठीक ही लिखा है, "आज प्रेस स्वस्थ ज़नमत के निर्माण का महत्त्वपूर्ण साधन है। इसलिए यह स्वतन्त्र होना चाहिए तथा इसके ऊपर कम से कम नियन्त्रण होना चाहिए जिससे कि यह विभिन्न विचारधाराएँ व्यक्त कर सके।"[1] यही विचार वैण्डल विल्की ने प्रकट किया है, "समाचार-पत्रों की सच्ची स्वतन्त्रता सच्चे लोकमत का जीवन ही है।"[2]

(4) स्वस्थ राजनीतिक दल—राजनीतिक दलों की संकीर्णता दूर करने के लिए यह आवश्यक है कि दलों का निर्माण साम्प्रदायिक, धार्मिक या जातीय आधार पर न होकर आर्थिक

---

1 "The press today is an effective means of building-up a healthy public opinion. For that matter, it should be free and minimum control should be imposed over it, so that it can let out the different ideologies." —*A. Brooks*

2 "Freedom of the press is the stuff of life for any vital public opinion." —*Wendell Wilkie*

एवं राजनीति सिद्धान्तों के आधार पर हो। दलीय व्यवस्था का स्वरूप प्रजातन्त्रीय होना चाहिए और उनके कार्य करने का ढंग भी लोकतन्त्रीय होना चाहिए।

(5) **आर्थिक समानता**—स्वस्थ जनमत के निर्माण में निर्धनता एक बहुत बड़ी बाधा है। स्वस्थ तथा प्रबुद्ध जनमत के लिए आवश्यक है कि समाज के अन्तर्गत आर्थिक क्षेत्र में समानता हो। यदि धनिकों व निर्धनों में गम्भीर आर्थिक विषमता होगी तो समाज का वातावरण ईर्ष्यामय व हिंसात्मक हो जायेगा, अविश्वास की भावना तीव्र हो जायेगी और वर्ग-संघर्ष प्रारम्भ हो जायेगा। ऐसे वातावरण में स्वस्थ लोकमत का निर्माण नहीं हो पायेगा।

(6) **विचार एवं अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता**—स्वस्थ जनमत का निर्माण केवल उन्हीं देशों में सम्भव है जहाँ नागरिकों को अपने विचारों को अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता प्राप्त है। स्पष्ट है कि निरंकुश शासन में स्वस्थ जनमत का निर्माण सम्भव नहीं है। केवल प्रजातान्त्रिक देशों में ही, जहाँ नागरिकों को विचार अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता है, स्वतन्त्र जनमत का निर्माण हो सकता है। विचार अभिव्यक्ति के सम्बन्ध में वाल्टेयर का कथन है, **"सम्भव है मैं आपके विचारों से सहमत न होऊँ परन्तु अपने विचार अभिव्यक्त करने की स्वतन्त्रता हेतु प्राण दे दूँगा।"**[1]

(7) **राष्ट्रीय आदर्शों के सम्बन्ध में एकता**—मानव एक विवकेशील प्राणी है और इसलिए नागरिक एवं राष्ट्रीय समस्याओं के सम्बन्ध में विचारों में भिन्नता होना स्वाभाविक है। लेकिन जनता में राष्ट्रीय जीवन के आधारभूत आदर्शों के सम्बन्ध में एकता अवश्य होनी चाहिए। देश की शासन व्यवस्था का स्वरूप, उद्देश्य व आर्थिक ढाँचे आदि के सम्बन्ध में मतभेद होने पर स्वस्थ जनमत का निर्माण सम्भव नहीं हो सकेगा।

(8) **स्वस्थ लोकतन्त्रीय परम्पराएँ**—जनता में इतनी उदारता और सहनशीलता होनी चाहिए कि वह बहुमत के निर्माण को सहर्ष स्वीकार कर सके। बहुमत में न्यायप्रियता की प्रवृत्ति तथा अल्पसंख्यकों में संवैधानिक मार्ग के ही अनुसरण की भावना होनी चाहिए। अतः स्वस्थ जनमत के लिए यह अत्यन्त आवश्यक है कि सम्पूर्ण जनता के हितों और मूल विचारों में समानता हो।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. लोकमत की एक परिभाषा दीजिए। (1997)

उत्तर—डॉ. बेनी प्रसाद के अनुसार, "जो मत लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित होता है उसे लोकमत कहते हैं।"

प्रश्न 2. जनमत निर्माण हेतु किन्हीं दो साधनों का उल्लेख कीजिए। (1993)

उत्तर—(1) रेडियो, सिनेमा और टेलीविजन तथा (2) समाचार-पत्र एवं प्रेस।

प्रश्न 3. जनमत की कोई दो विशेषताएँ बताइए।

उत्तर—(1) जनसाधारण का मत तथा (2) विवेक पर आधारित स्थायी विचार।

प्रश्न 4. श्रेष्ठ अथवा स्वस्थ लोकमत निर्माण की दो आवश्यक शर्तें लिखिए। (1994, 96)

उत्तर—(1) सुशिक्षित जनता तथा (2) स्वस्थ राजनीतिक दल एवं निष्पक्ष प्रेस।

1 "I may not agree with what you say but I will die for your right to say it." —*Voltaire*

प्रश्न 5. स्वस्थ लोकमत के निर्माण में दो बाधाएँ बताइए। (1997, 78)

उत्तर—(1) निरक्षरता तथा (2) दोषपूर्ण राजनीतिक दल ।

प्रश्न 6. 'प्रजातन्त्र में जनमत के महत्त्व' को एक वाक्य में लिखिए।

उत्तर—जनमत प्रजातन्त्र का प्राण है क्योंकि यदि शासन जनता के मत से कोई सम्बन्ध न रखे अथवा उसकी इच्छानुसार कार्य न करे तो वह जनता का शासन कहलाने का अधिकारी नहीं है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जनमत से आप क्या समझते हैं? आधुनिक लोकतन्त्र में इसकी भूमिका की विवेचना कीजिये। (1988, 90)
2. आधुनिक राज्य में लोकमत का क्या महत्त्व है? स्वस्थ लोकमत के निर्माण में राजनीतिक दलों का क्या योगदान है?
3. लोकमत से आप क्या समझते हैं? लोकमत की अभिव्यक्ति अथवा उसके प्रकट करने के क्या-क्या साधन हैं? (1969)
4. जनमत से आप क्या समझते हैं? स्वस्थ जनमत निर्माण की आवश्यक दशाओं अथवा शर्तों का उल्लेख कीजिये। (1997, 2000)
5. लोकमत का महत्त्व स्पष्ट कीजिए। इसके निर्माण के प्रमुख साधन क्या हैं? (1995)
6. टिप्पणी लिखिए—
   (i) लोकमत (1974, 76, 86, 93, 94)
   (ii) लोकतन्त्र में लोकमत का महत्त्व (1981)
   (iii) जनतन्त्र के प्रहरी के रूप में जनमत। (1997)

● ●

18

राजनीतिक दल
[POLITICAL PARTIES]

"राजनीतिक दल एक स्वतन्त्र समाज में नागरिकों के उस व्यवस्थित समुदाय को कहते हैं जो शासनतन्त्र को नियन्त्रित करना चाहता है और उसके लिए जनसहमति में भाग लेकर कुछ सदस्यों को सरकारी पदों पर भेजने का प्रयास करता है। —न्यूमैन

राजनीतिक दलों का इतिहास लोकतन्त्र से भी अधिक पुराना है। सभी देशों और प्रत्येक प्रकार की शासन-व्यवस्था में राजनीतिक दलों का अस्तित्व रहा है। वर्तमान प्रजातान्त्रिक युग में तो राजनीतिक दलों का विशिष्ट महत्त्व है। प्रजातन्त्र में राजनीतिक दल ही जनता के नाम पर राज्य के कार्यों का संचालन करते हैं।

राजनीतिक दल का अर्थ और परिभाषाएँ
(MEANING AND DEFINITIONS OF POLITICAL PARTY)

राजनीतिक दल से आशय नागरिकों के ऐसे संगठित समूह से है जो राजनीतिक एवं आर्थिक प्रश्नों पर समान विचार रखता है और राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए संवैधानिक साधनों से शासन शक्ति प्राप्त करना चाहता है। विभिन्न विद्वानों ने राजनीतिक दल की निम्नलिखित परिभाषाएँ दी हैं—

लीकॉक के मतानुसार, "राजनीतिक दल से हमारा अभिप्राय ऐसे नागरिकों के समुदाय से है जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हैं। सार्वजनिक प्रश्नों पर उनके विचार एक-जैसे होते हैं और वे सामान्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए मतदान की शक्ति का प्रयोग करके शासन की शक्ति हथियाना चाहते हैं।"

एडमण्ड बर्क के शब्दों में, "राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का एक समूह होता है जो किसी ऐसे सिद्धान्त के आधार पर जिस पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्न द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बँधे होते हैं।"[1]

मैकाइवर के अनुसार, "राजनीतिक दल वह समुदाय है जो किसी विशेष सिद्धान्त या नीति के समर्थन के लिए संगठित किया गया हो और जो संवैधानिक उपायों से उस सिद्धान्त अथवा नीति को शासन का आधार बनाने का प्रयत्न करता हो।"[2]

---

1 "A political party is a body of men, united for the purpose of promoting by their joint endeavours the public interest upon some principles on which they are all agreed." —*Edmund Burke*

2 "A political party is an association organised in support of some principle or policy which, by constitutional means, endeavours to make the determinant of government." —*MacIver*

गैटिल के शब्दों में, "राजनीतिक दल पूर्ण अथवा अपूर्ण रूप से संगठित उन नागरिकों का एक समूह होता है जो एक राजनीतिक संस्था की भाँति कार्य करते हैं और जिनका ध्येय अपने मताधिकार के प्रयोग द्वारा सरकार पर नियन्त्रण रखना व अपनी सामान्य नीति का सम्पादन करना है।"[1]

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दल नागरिकों के उस संगठित समूह को कहते हैं जिसके सदस्य समान राजनीतिक विचार रखते हैं और जो एक राजनीतिक इकाई के रूप में कार्य करते हुए शासन को अपने हाथ में रखने की चेष्टा करते हैं।"[2]

इस प्रकार राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का समूह होता है जो सार्वजनिक प्रश्नों पर समान दृष्टिकोण तथा सामूहिक प्रयासों द्वारा शासन शक्ति को प्राप्त करके अपने उद्देश्यों के क्रियान्वयन पर विश्वास करते हों। वास्तव में, व्यक्तियों के किसी भी समूह को, जो एकसमान उद्देश्य की प्राप्ति के लिए कार्य करता है, दल कहते हैं। यदि उस दल का उद्देश्य राजनीतिक हो तो उसे राजनीतिक दल कहा जाता है।

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्त्व
(ESSENTIAL ELEMENTS OF POLITICAL PARTIES)

राजनीतिक दल की उपर्युक्त सभी परिभाषाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि इन दलों के निम्नलिखित आवश्यक तत्त्व होते हैं—

राजनीतिक दल के आवश्यक तत्त्व
* संगठन
* मूलभूत सिद्धान्तों की एकता
* संवैधानिक सिद्धान्तों में आस्था
* राष्ट्रीय हित की वृद्धि
* शासन पर प्रभुत्व की इच्छा

(1) **संगठन**—राजनीतिक दल का यह प्रथम आवश्यक तत्त्व है कि दल के सदस्य संगठित हों। जब तक सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में एक-सा विचार रखने वाले व्यक्ति संगठित नहीं होते, तब तक उनको राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता। बिना संगठन के उन लोगों में न अनुशासन होगा और न उनमें किसी उद्देश्य की प्राप्ति के लिए एक होकर कार्य करने की भावना ही आयेगी। राजनीतिक दलों की शक्ति संगठन पर ही निर्भर होती है। दल को सुदृढ़ एवं स्थायी बनाने के लिए उनमें संगठन का होना अत्यन्त आवश्यक है।

(2) **मूलभूत सिद्धान्तों की एकता**—राजनीतिक दल व्यक्तियों का एक ऐसा संगठित समूह होता है जिसके सदस्य सार्वजनिक प्रश्नों पर समान विचार रखते हैं। उन प्रश्नों की बारीकियों के सम्बन्ध में उनमें मतभेद हो सकते हैं लेकिन वे सभी मौलिक सिद्धान्तों पर एकमत होते हैं। सिद्धान्तों की एकता ही दल को ठोस आधार प्रदान करती है। सिद्धान्तों की एकता के अभाव में दल विघटित हो जायेगा और उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा।

(3) **संवैधानिक सिद्धान्तों में आस्था**—राजनीतिक दलों का संगठन शासन शक्ति प्राप्त करने के लिए होता है लेकिन शासन शक्ति प्राप्त करने के लिए उनके द्वारा शान्तिपूर्ण और

---

1 "A party consists of a group of citizens, more or less organised who act as a political unit and who, by the use of the voting power, aim to control the government and carry out their general policies." —*Getell*

2 "A political party is an organised group of citizens who profess to their same political views and who, by acting as a political unit, try to control the government." —*Gilchrist*

संवैधानिक उपायों का ही सहारा लिया जाना चाहिए। उन्हें मतदान और मतदान के निर्णय को सरकार के निर्माण का साधन बनाना चाहिए। गुप्त षड्यन्त्र, सशस्त्र क्रान्ति अथवा सैनिक शक्ति जैसे अलोकतन्त्रीय साधनों में विश्वास करने वाले संगठनों को राजनीतिक दल नहीं कहा जा सकता।

(4) **राष्ट्रीय हित की वृद्धि**—राजनीतिक दल एक ऐसा समुदाय है जो उच्च आदर्शों से परिपूर्ण होता है और जिसके कार्यक्रमों और नीतियों का देशव्यापी आधार होता है। उसके द्वारा किसी विशेष जाति, धर्म, सम्प्रदाय या वर्ग के हित की अपेक्षा सम्पूर्ण राज्य के हित को दृष्टि में रखकर कार्य किया जाना चाहिए। बर्क ने राजनीतिक दल को **'राष्ट्रीय हित की वृद्धि के लिए संगठित राजनीतिक समुदाय'** कहा है।

(5) **शासन पर प्रभुत्व की इच्छा**—राजनीतिक दल निर्वाचनों में मतदाताओं का बहुमत प्राप्त करके देश में अपनी सरकार बनाने और इस प्रकार शासन शक्ति प्राप्त करने की इच्छा रखता है। शासन से बाहर रहकर कोई भी दल अपने सिद्धान्तों, नीतियों और कार्यक्रम को देश की जनता पर लागू नहीं कर सकता है।

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का महत्त्व
(IMPORTANCE OF POLITICAL PARTIES IN DEMOCRACY)

विश्व के लगभग सभी देशों में राजनीतिक दल होते हैं। वास्तव में, शासन चलाने का कार्य राजनीतिक दल ही सुगम बनाते हैं। लोकतन्त्र के पहियों के रूप में राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। लोकतन्त्र, चाहे उसका कोई भी स्वरूप क्यों न हो, राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में अकल्पनीय है, इसीलिए उन्हें **'लोकतन्त्र का प्राण'** कहा गया है। राजनीतिक दलों को **'शासन का चतुर्थ अंग'** भी कहा जाता है। लीकॉक ने लिखा है, **"केवल दलीय व्यवस्था ही प्रजातन्त्र शासन को सम्भव बनाती है।"** प्रो. मुनरो के शब्दों में, **"लोकतन्त्रात्मक शासन दलीय शासन का ही दूसरा नाम है। विश्व के इतिहास में कभी भी ऐसी स्वतन्त्र सरकार नहीं रही है जिसमें राजनीतिक दल का अस्तित्व न हो।"**[1] राजनीतिक दलों ने लोकतन्त्र का कठिन एवं जटिल कार्य अत्यन्त सरल बना दिया है। ह्यूबर ने कहा है, **"लोकतन्त्रात्मक यन्त्र के चालन में राजनीतिक दल तेल के तुल्य हैं।"**[2] मैरियट ने तो दलों को सरकार की **'पूरक संस्था'** कहा है क्योंकि वे प्रतिनिधियों का चुनाव, सार्वजनिक नीति का निर्धारण तथा सरकार का संचालन और उसकी आलोचना करने में सहायता प्रदान करते हैं।

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के महत्त्व को निम्नलिखित रूपों में स्पष्ट किया जा सकता है—

(1) **स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक**—लोकमत प्रजातन्त्र शासन की रीढ़ है और स्वस्थ लोकमत के अभाव में सच्चे प्रजातन्त्र की कल्पना असम्भव है। राजनीतिक दल लोकमत के निर्माण तथा अभिव्यक्ति के सर्वोत्तम साधन हैं। विभिन्न अवसरों पर एवं विभिन्न माध्यमों से राजनीतिक दल जनता को देश की विभिन्न समस्याओं से अवगत कराते हैं और इस प्रकार स्वस्थ एवं चेतनशील जनमत निर्मित करते हैं। मैकाइवर के शब्दों में, "राजनीतिक

1 "All popular Government is Party Government. There has never been at any time in the world's history, a free Government in which political party did not exist and function." —*Munro*

2 "Political parties are the lubricating oil in the wheels of democratic machinery." —*Huber*

दल वे एजेन्सियाँ हैं जिनके माध्यम से सार्वजनिक राय को सार्वजनिक नीति में परिवर्तित किया जाता है।"

(2) निर्वाचनों के संचालन हेतु आवश्यक—वर्तमान समय में सभी राज्यों द्वारा वयस्क मताधिकार की धारणा स्वीकार करने के कारण प्रत्येक निर्वाचन क्षेत्र में हजारों या लाखों की संख्या में मतदाता होते हैं। ऐसी स्थिति में चुनावों का संचालन राजनीतिक दलों द्वारा ही सम्भव है। राजनीतिक दल अपने प्रत्याशियों का चयन करते हैं और उनके पक्ष में चुनाव प्रचार अभियान चलाते हैं। राजनीतिक दलों के अभाव में मतदाताओं को यह ज्ञात नहीं हो सकता कि कौन प्रत्याशी कैसा है और उसकी क्या नीतियाँ हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों के अभाव में चुनावों का संचालन सम्भव नहीं है।

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का महत्त्व
* स्वस्थ लोकमत के निर्माण हेतु आवश्यक
* निर्वाचनों के संचालन हेतु आवश्यक
* समस्त वर्गों के प्रतिनिधित्व हेतु आवश्यक
* सरकार के निर्माण एवं संचालन हेतु आवश्यक
* शासन सत्ता पर अंकुश
* सरकार में शान्तिपूर्वक परिवर्तन करना

(3) समस्त वर्गों के प्रतिनिधित्व हेतु आवश्यक—प्रजातन्त्र की सफलता के लिए देश के शासन में सभी वर्गों को उचित प्रतिनिधित्व मिलना आवश्यक है। इस कार्य में राजनीतिक दल मुख्य भूमिका का निर्वाह करते हैं। देश के विभिन्न वर्ग अलग-अलग राजनीतिक दलों का संगठन करके चुनावों में भाग लेकर व्यवस्थापिका में अपना प्रतिनिधित्व करते हैं।

(4) सरकार के निर्माण एवं संचालन हेतु आवश्यक—आजकल विश्व के सभी प्रजातान्त्रिक देशों में अप्रत्यक्ष प्रजातन्त्र है और दल-प्रणाली के बिना यह शासन-पद्धति कार्य ही नहीं कर सकती है। शासन का चाहे संसदीय रूप हो या अध्यक्षात्मक, दल-प्रणाली के अभाव में उसका क्रियान्वयन असम्भव है। राजनीतिक दल निर्वाचित किये गये प्रतिनिधियों को संगठित करते हैं तथा उनके माध्यम से सरकार का निर्माण करते हैं। केवल सरकार का निर्माण ही नहीं बल्कि व्यवस्थापिका और कार्यपालिका में सम्बन्ध स्थापित कर राजनीतिक दल सरकार के संचालन को भी सम्भव बनाते हैं। आज की प्रतिनिध्यात्मक सरकार का सार यही है कि सरकार और संसद दोनों पर दल का प्रतिबन्ध रहता है। विधानमण्डल और कार्यपालिका, सरकार और संसद केवल संवैधानिक आवरण हैं यथार्थ शक्ति का उपयोग राजनीतिक दल ही करते हैं।

(5) शासन सत्ता पर अंकुश—निर्वाचनों के परिणामस्वरूप जो दल बहुमत प्राप्त नहीं कर पाते वे विरोधी दल का स्थान ग्रहण करते हैं। विपक्षी राजनीतिक दल शासन की नीतियों एवं कार्यों की आलोचना करके सरकार को सदैव सतर्क रखते हैं और उसे कोई अनुचित अथवा जन-विरोधी कार्य नहीं करने देते। प्रभावशाली विरोधी दल का अस्तित्व न हो तो प्रजातन्त्र निरंकुश शासन में परिवर्तित हो जाता है। इस दृष्टि से प्रजातन्त्र में सत्तारूढ़ दल और विपक्षी दल का अपना-अपना महत्त्व होता है।

(6) सरकार में शान्तिपूर्वक परिवर्तन करना—दल प्रणाली से क्रान्ति की आवश्यकता नहीं होती और संवैधानिक विधि से शासन में परिवर्तन किया जा सकता है। मैकाइवर के अनुसार, **"जिस राज्य में दल-प्रणाली नहीं होती उसमें क्रान्ति ही सरकार को बदलने का एकमात्र तरीका है।"**

इसके अतिरिक्त, राजनीतिक दल नागरिकों को राजनीतिक शिक्षा प्रदान करते हैं। किसी देश के नागरिकों को वैयक्तिक स्वतन्त्रता की रक्षा की दृष्टि से भी राजनीतिक दल विशेष महत्त्व रखते हैं। **लॉर्ड ब्राइस** लिखते हैं, **"राजनीतिक दल अनिवार्य हैं। कोई स्वतन्त्र देश उनके बिना नहीं रह सका है। कोई भी यह नहीं बता सका है कि प्रतिनिधि सरकार किस प्रकार उनके बिना चलायी जा सकती है।"** किसी भी शासन में हजारों व्यक्ति राज्य की समस्याओं पर सोचते हैं किन्तु जब तक उनके विचारों और दृष्टिकोणों को दलीय आवरण द्वारा व्यवस्थित और क्रमबद्ध नहीं किया जाता तब तक शासन निष्क्रिय ही बना रहेगा। वस्तुतः राजनीतिक दल राजनीतिक प्रक्रिया को जोड़ने, सरल करने तथा स्थिर बनाने का कार्य करते हैं।

बर्क के अनुसार, "दल-प्रणाली चाहे वह पूर्ण रूप से भले के लिए हो अथवा बुरे के लिए, लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था के लिए अनिवार्य है।"

लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कार्य अथवा भूमिका
(FUNCTIONS AND IMPORTANCE OF POLITICAL PARTIES IN DEMOCRACY)

आधुनिक लोकतन्त्रात्मक राज्यों में राजनीतिक दलों के साधारणतया निम्नलिखित प्रमुख कार्य हैं—

(1) शासन का संचालन—लोकतंत्रात्मक शासन-प्रणाली में राजनीतिक दल ही वास्तव में शासन की आधारशिला है। राजनीतिक दल चुनावों में बहुमत प्राप्त करके सरकार का निर्माण करते हैं। अपने दल में से विभिन्न विभागों के मन्त्री नियुक्त करते हैं। शासन के समस्त सूत्र उसी दल के सदस्यों के हाथ में रहते हैं और वे चुनाव घोषणा-पत्र की नीतियों को कार्यान्वित करने का प्रयास करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल का यह कर्त्तव्य होता है कि उसे जिस रूप में भी उत्तरदायित्व सौंपा गया है, चाहे सरकार के रूप में या विरोधी पक्ष के रूप में, शालीनता से उसका निर्वाह करे। इसी सन्दर्भ में सी. एफ. स्ट्रांग ने उचित ही कहा है, **"वे नीतियाँ बनाते हैं, मंच तैयार करते हैं, संसद में स्थान प्राप्त करते हैं और यदि बहुमत प्राप्त कर लेते हैं तो मंचों पर अभिव्यक्त नीतियाँ कानून का रूप ग्रहण कर लेती हैं।**

> **लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों के कार्य**
> * शासन का संचालन
> * सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण
> * लोकमत का निर्माण
> * शासन एवं जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य
> * जन-साधारण को राजनीतिक प्रशिक्षण
> * दलीय कार्य
> * शासन सत्ता पर अंकुश लगाना
> * चुनावों द्वारा सरकार का निर्माण
> * सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य
> * सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करना

(2) सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण—सर्वसाधारण जनता राजनीतिक समस्याओं को समझने में असमर्थ होती है। राजनीतिक दल इन समस्याओं से जनता को परिचित कराते हैं। वे राजनीतिक, आर्थिक एवं सामाजिक समस्याओं के विभिन्न पहलुओं पर विस्तार से समाधान और सुझाव जनता के समक्ष रखते हैं। राजनीतिक दल जनसभाओं द्वारा, वाद-विवादों तथा समाचार-पत्रों के माध्यम से सार्वजनिक प्रश्नों पर अपने विचार व्यक्त करते हैं और जनता का समर्थन प्राप्त करने के लिए अपनी नीतियों एवं योजनाओं का जोरदार प्रचार करते हैं। **डॉ. आशीर्वादम् के शब्दों में, "निःसन्देह आधुनिक राज्यों की जटिल परिस्थितियों में समस्याओं और नीतियों को स्पष्ट करने में राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण योग देते हैं।"**

(3) लोकमत का निर्माण—राजनीतिक दल देश में जनता की बिखरी हुई विचारधारा को एक सूत्र में संगठित करके लोकमत का निर्माण करते हैं। वे समस्याओं के विभिन्न पक्षों पर प्रकाश डालकर जनता की आकांक्षाओं और उनकी भावनाओं के समझने-समझाने का प्रयास करते हैं। जनता की प्रतिक्रियाओं को सुदूर भागों तक प्रसारित करते हैं। सत्तारूढ़ दल के निरंकुश कार्यों के प्रति व्यक्तियों को सजग करके उसके विरुद्ध लोकमत तैयार करते हैं। राजनीतिक दलों की अनुपस्थिति में जनसमुदाय एक दिशाहीन भीड़ के अतिरिक्त और कुछ न होगा।

(4) शासन एवं जनता के बीच मध्यस्थ का कार्य—राजनीतिक दल जनता और सरकार के बीच एक कड़ी के रूप में कार्य करते हैं। वे जनता की समस्याओं और आकांक्षाओं को सरकार के सामने रखते हैं तथा सरकार की स्थिति से जनता को अवगत कराते हैं। लॉवेल ने कहा है, "राजनीतिक दल 'विचारों के दलाल' के रूप में कार्य करते हैं।" बार्कर के अनुसार, "राजनीतिक दल एक ऐसे पुल का कार्य करते हैं जिसका एक छोर समाज को छूता है और दूसरा राज्य को। यह एक ऐसा पाइप है जिससे सामाजिक विचारधारा बहती है जो राज्य के यन्त्र को तरल बनाकर उसके पहियों को घुमाती है।"

(5) जन-साधारण को राजनीतिक प्रशिक्षण—लोकतन्त्र की सफलता के लिए नागरिकों का जागरूक होना आवश्यक है और उनमें जागरूकता उत्पन्न करना राजनीतिक दलों का महत्त्वपूर्ण कार्य है। राजनीतिक दल नागरिकों में राजनीतिक शिक्षा एवं चेतना का प्रसार करते हैं और राजनीतिक समस्याओं के प्रति उनकी उदासीनता को समाप्त करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल अपनी नीतियों के प्रचार के लिए जनता के सामने आता है। इससे जनता का राजनीतिक प्रशिक्षण बढ़ता है।

(6) दलीय कार्य—अपने दल को अधिक लोकप्रिय बनाने के लिए राजनीतिक दल न केवल अपनी दलीय नीतियों तथा कार्यक्रमों को जनता के समक्ष प्रस्तुत करते हैं वरन् जनता को अधिक-से-अधिक संख्या में दल का सदस्य बनाते हैं, समय-समय पर सार्वजनिक सभाओं और वार्षिक अधिवेशनों का भी आयोजन करते हैं, मतदाताओं की सूची में अपने सदस्यों का नाम लिखवाते हैं तथा दल के लिए चन्दा एकत्रित करते हैं। प्रत्येक राजनीतिक दल का प्रमुख कार्य अपना सुदृढ़ संगठन स्थापित करना है। इस दृष्टि से वे केन्द्रीय, प्रान्तीय एवं स्थानीय स्तर पर संगठन स्थापित करते और इन सभी इकाइयों को एक-सूत्र में बाँधते हैं।

(7) शासन सत्ता पर अंकुश लगाना—प्रजातंत्रात्मक शासन व्यवस्था में विरोधी राजनीतिक दल महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। विपक्ष के राजनीतिक दल सरकार के ऊपर अंकुश का कार्य करते हैं। वह सरकार की रचनात्मक आलोचना करके वैकल्पिक नीतियाँ प्रस्तुत करते हैं। विरोधी दल शासन की कमजोरियों को जनता के सामने लाकर उसके विरुद्ध जनमत तैयार करते हैं। इससे सरकार सदैव सतर्क रहती है और सही दिशा में कार्य करने की चेष्टा करती है।

(8) चुनावों द्वारा सरकार का निर्माण—राजनीतिक दलों का प्रमुख कार्य सरकार का निर्माण करना है। इसके लिए वे निर्वाचन में भाग लेते हैं। चुनावों में राजनीतिक दल अपने-अपने प्रत्याशी खड़े करके उनके समर्थन में प्रचार करते हैं। जो दल बहुमत में आता है वह अपनी नीतियों के अनुरूप विजयी प्रतिनिधियों में से योग्य व्यक्ति छाँटकर सरकार बनाता है।

(9) सामाजिक एवं सांस्कृतिक कार्य—वार्कर का कहना है, "राजनीतिक दल सामाजिक विचार एवं राजनीतिक कार्यों के बीच मध्यस्थ हैं और यही कारण है कि एक प्रजातान्त्रिक व्यवस्था में यह एक आवश्यक और महान तत्व है।" राजनीतिक दल जनता के सामाजिक और सांस्कृतिक जीवन को उन्नत बनाने का भी कार्य करते हैं। स्वाधीनता आन्दोलन के युग में कांग्रेस ने हरिजन-कल्याण, मद्य-निषेध तथा स्त्री-उद्धार सम्बन्धी अनेक कार्य किये थे।

(10) सरकार के विभिन्न अंगों में सामंजस्य स्थापित करना—सरकार के सुचारु संचालन के लिए उसके विभिन्न अंगों के मध्य समन्वय एवं सामंजस्य अनिवार्य होता है और इस सामंजस्य को स्थापित करने में राजनीतिक दल बहुत महत्त्वपूर्ण योगदान देते हैं। संसदीय शासन में प्रायः कानून बनाने और प्रशासन की शक्ति एक ही राजनीतिक दल में निहित होती है और दलीय अनुशासन के फलस्वरूप कार्यपालिका व्यवस्थापिका से मनचाहे कानूनों का निर्माण करा लेती है। अध्यक्षात्मक शासन में व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के पूर्ण पृथक् होने के कारण राजनीतिक दलों की सहायता के विना शासन का भली-भाँति संचालन कठिन होता है। उदाहरणार्थ, अमेरिका में दलीय व्यवस्था ने ही व्यवस्थापिका और कार्यपालिका के मध्य सामंजस्य स्थापित कर वहाँ के संविधान की कमी का निवारण किया है।

राजनीतिक दलों के गुण
(MERITS OF POLITICAL PARTIES)

राजनीतिक दलों के प्रशंसक और आलोचक दोनों ही हैं। एक ओर दलीय व्यवस्था के प्रशंसकों ने राजनीतिक दलों को लोकतन्त्र की रीढ़ माना है तो दूसरी ओर अलेक्जैण्डर पोप जैसे व्यक्तियों ने दल-प्रणाली को 'कुछ व्यक्तियों के लाभ के लिए वहुतों का पागलपन'[1] कहा है। राजनीतिक दल-प्रणाली के समर्थकों ने राजनीतिक दलों के निम्नलिखित प्रमुख गुण बताये हैं—

राजनीतिक दलों के गुण
* लोकतन्त्र हेतु अनिवार्य
* राजनीतिक जागरण एवं सार्वजनिक शिक्षा का साधन
* दृढ़ एवं स्थायी सरकार का गठन
* शासकीय विभागों में सहयोग स्थापित करना
* जनहितकारी कानूनों का निर्माण
* शासन की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश
* क्रान्ति से सुरक्षा
* लोकमतानुसार सरकार में परिवर्तन करना
* सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधार
* राष्ट्रीय एकता में सहायक

(1) लोकतन्त्र हेतु अनिवार्य—आधुनिक समय में अधिकांश देशों में प्रतिनिध्यात्मक प्रजातन्त्रीय शासन-व्यवस्था प्रचलित है जिसमें जनता अपने प्रतिनिधियों का निर्वाचन करती है। निर्वाचन राजनीतिक दलों के आधार पर होते हैं। निर्वाचन में जो दल बहुमत में आता है वह सरकार का निर्माण और संचालन करता है तथा अन्य दल विरोधी दल के रूप में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करते हैं। इस प्रकार राजनीतिक दलों का अस्तित्व लोकतन्त्रीय शासन-प्रणाली के लिए अनिवार्य है। लीकॉक ने कहा है, "दलवन्दी ही एकमात्र ऐसी चीज है जो लोकतन्त्र को सम्भव बनाती है।"[2]

---

1 "It is madness of the many for the gain of the few." —*Alexander Pope*
2 "Party system is the only thing that makes democracy feasible." —*Leacock*

(2) **राजनीतिक जागरण एवं सार्वजनिक शिक्षा का साधन**—फाइनर का मत है; **"राजनीतिक दल इस प्रकार कार्य करते हैं कि प्रत्येक नागरिक को सम्पूर्ण राष्ट्र का ज्ञान प्राप्त हो जाये जो समय और प्रदेश की दूरी के कारण असम्भव है।"** राजनीतिक दल प्रेस, मंच, रेडियो आदि साधनों के माध्यम से अपनी विचारधारा का प्रचार करते और सार्वजनिक समस्याओं के प्रति जनता की रुचि जाग्रत करते हैं। राजनीतिक दल समय-समय पर जनता की राजनीतिक निद्रा को तोड़ते हैं और इस दृष्टि से उदासीनता के वातावरण को दूर करने वाले राजनीतिक दल राजनीतिक जागरण एवं सार्वजनिक शिक्षा के मुख्य साधन कहे जाते हैं। ब्राइस के शब्दों में, **"दल राष्ट्र के मस्तिष्क को उसी प्रकार क्रियाशील रखते हैं जैसे कि लहरों की हलचल से समुद्र की खाड़ी का जल स्वच्छ रहता है।"**

(3) **दृढ़ एवं स्थायी सरकार का गठन**—राजनीतिक दल प्रतिनिधि लोकतन्त्र का मार्ग प्रशस्त करके व्यवस्थापिका में बहुमत द्वारा शासन में दृढ़ता और स्थायित्व स्थापित करते हैं। जन-प्रतिनिधियों द्वारा व्यक्तिगत रूप से कार्य करने पर न तो सरकार स्थायी हो सकती है और न ही सरकार में उत्तरदायित्व सुनिश्चित किया जा सकता है।

(4) **शासकीय विभागों में सहयोग स्थापित करना**—राजनीतिक दल शासन के विभिन्न अंगों में सहयोग और समन्वय स्थापित करने का भी कार्य करते हैं। संसदात्मक शासन पद्धति में राजनीतिक दल, कार्यपालिका और विधायिका में घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करता है क्योंकि जिस दल का विधायिका में बहुमत होता है वही दल शासन का निर्माण करता है। अध्यक्षात्मक शासन-प्रणाली में, जहाँ शक्ति विभाजन का सिद्धान्त व्यवहार में पाया जाता है, राजनीतिक दल विशेष रूप से कार्यपालिका और व्यवस्थापिका को एक सूत्र में बाँधने का महत्त्वपूर्ण कार्य करते हैं।

(5) **जनहितकारी कानूनों का निर्माण**—राजनीतिक दल श्रेष्ठ और जनकल्याणकारी कानूनों के निर्माण में योगदान देते हैं। यदि शासन कोई ऐसा विधेयक प्रस्तुत करता है जो जनहित के विपरीत होता है तो राजनीतिक दल उसके पारित होने में बंधन लगाते हैं और यथाशक्ति प्रयास करते हैं कि श्रेष्ठ और जनकल्याणकारी कानून ही निर्मित हो सकें।

(6) **शासन की स्वेच्छाचारिता पर अंकुश**—राजनीतिक दलों के अस्तित्व के कारण प्रतिनिध्यात्मक शासन-प्रणाली में बहुमत प्राप्त दल शासन कार्य संचालित करता है और अन्य दल विरोधी दल के रूप में कार्य करते हुए शासन की स्वेच्छाचारिता एवं निरंकुशता पर बन्धन रखते हैं। लास्की ने ठीक ही कहा है, **"राजनीतिक दल तानाशाही से हमारी रक्षा का सबसे अच्छा साधन है।"[1]**

(7) **क्रान्ति से सुरक्षा**—नागरिकों को वाद-विवाद तथा विचार-विमर्श के प्रचुर अवसर प्रदान करके राजनीतिक दल क्रान्ति के अंकुरों को आरम्भ में ही नष्ट कर देते हैं। इसके अतिरिक्त, जब सत्तारूढ़ दल जनता की इच्छाओं की उपेक्षा करने लगता है तो जनता आगामी निर्वाचन में दूसरे दल का समर्थन कर उसके हाथ में शासन की बागडोर सौंप देती है। इस प्रकार वैधानिक प्रक्रिया से सरकार में परिवर्तन हो जाता है और क्रान्ति की सम्भावना समाप्त हो जाती है।

---

1 "The parties are our best defence against the growth of caesarism in the country."
—*Laski*

(8) **लोकमतानुसार सरकार में परिवर्तन करना**—राजनीतिक दल शासन में जनता की इच्छानुसार परिवर्तन करने में सहायक होते हैं। जिस दल की नीतियाँ और कार्यक्रम जनता की इच्छा के अनुकूल और उपयुक्त होते हैं, जनता उसी को अपना मत प्रदान करती है। इस प्रकार जनता का इच्छित दल ही सरकार का निर्माण करता है।

(9) **सामाजिक एवं सांस्कृतिक सुधार**—राजनीतिक दल का उपयोगी गुण सामाजिक सुधार और सांस्कृतिक विकास के कार्य करना है। उदाहरणार्थ, भारत में कांग्रेस दल ने हरिजन-उद्धार, स्त्री-शिक्षा, मद्य-निषेध आदि कार्यक्रमों को सफल बनाने में योगदान दिया है।

(10) **राष्ट्रीय एकता में सहायक**—राजनीतिक दल राष्ट्रीय हितों की अभिवृद्धि करते हैं क्योंकि उनका गठन जाति, धर्म, भाषा और समुदाय के संकीर्ण आधार पर न होकर व्यापक राष्ट्रीय हितों के आधार पर होता है। दलों का यह व्यापक दृष्टिकोण राष्ट्रीय एकता को सबल बनाता है। पैटरसन के शब्दों में, **"राजनीतिक दल राष्ट्रीय एकता का विकास करने और बनाये रखने में सहायक होते हैं।"**

इस प्रकार राजनीतिक दलों के अनेक गुण हैं और ऐलेन बाल के शब्दों में कहा जा सकता है, **"राजनीतिक दलों के बिना आधुनिक राजनीतिक व्यवस्थाओं की कल्पना करना कठिन है।"**

राजनीतिक दलों के दोष
(DEMERITS OF POLITICAL PARTIES)

राजनीतिक दलों के विविध गुणों के आधार पर यह कदापि नहीं कहा जा सकता कि वह राजनीति को कलुषित बनाने वाले कार्यों से अनभिज्ञ हैं। मेडीसन के शब्दों में, **"धर्म, शासन और अन्य बातों के सम्बन्ध में विचार-वैमनस्य ने तथा विभिन्न नेताओं के प्रति श्रद्धा ने समय-समय पर मानवता को दलों में विभक्त किया है एवं उनमें पारस्परिक विद्वेष को उभारा है।"** वस्तुतः जहाँ राजनीतिक दलों की उपयोगिता है वहीं उनके निम्नलिखित अनेक दोष भी हैं—

(1) **वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन**—दल-व्यवस्था में पाया जाने वाला अनुशासन व्यक्ति की आत्मा तथा अन्तःकरण की स्वतन्त्रता को सीमित करता है। दलीय अनुशासन के आधार पर यह अपेक्षा की जाती है कि उनके दल के सदस्य विधानमण्डल एवं सार्वजनिक स्थलों पर अपने दल की नीतियों की, चाहे वे कितनी भी बुरी क्यों न हों, आलोचना नहीं कर सकते। दल के सदस्यों को अपनी स्वतन्त्र इच्छा को दबाना पड़ता है।

(2) **जन-साधारण में द्वेष एवं कटुता का बीजारोपण**—राजनीतिक दल अपने हितों के लिए जनता में द्वेष एवं कटुता की भावना उत्पन्न करते हैं। निर्वाचनों के समय वे नैतिक मूल्यों को पूर्णतया भुलाकर मिथ्या प्रचार करते हैं तथा जनता को भ्रमित करते हैं। दल सत्ता में आने के लिए भिन्न-भिन्न प्रकार के आन्दोलन करते हैं, अनेक अवसरों पर वे जनता में असन्तोष पैदा करने के लिए उग्र और हिंसात्मक भावनाएँ भरते हैं। वे जन-जीवन में बेईमानी, असत्य, भ्रष्टाचार, अवसरवादिता एवं अन्य बुराइयाँ फैलाते हैं। लॉर्ड ब्राइस के शब्दों में, **"दल सामान्य देशभक्ति की जगह क्रोध और कड़वाहट को स्थान देता है।"**

(3) **देश की एकता पर आघात**—राजनीतिक दलबन्दी केवल राजनीति तक ही सीमित नहीं रहा करती वह समाज के प्रत्येक क्षेत्र में उसके आधार पर विभाजन करके गुटबन्दियाँ स्थापित कर देती है। इस प्रकार राजनीतिक दल गुटबन्दी के कारण देश का वातावरण विषाक्त कर देते हैं और राष्ट्रीय एकता को ठेस पहुँचाते हैं। राजनीतिक दल कितने ही राष्ट्रीय आधार

पर निर्मित हों, अनेक बार उनके कार्यक्रम राष्ट्र विरोधी अथवा गुटबन्दी की संकीर्णताओं में उलझाने वाले होते हैं। ब्राइस के अनुसार, "दल केवल व्यवस्थापिका सभा को ही नहीं बल्कि राष्ट्र को भी दो परस्पर विरोधी पक्षों में बाँट देता है और विदेशी राज्यों के सामने देश का विभाजित रूप प्रस्तुत करता है।"[1]

राजनीतिक दलों के दोष

* वैयक्तिक स्वतन्त्रता का हनन
* जन-साधारण में द्वेष एवं कटुता का बीजारोपण
* देश की एकता पर आघात
* भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा का प्रसार
* पूँजीपतियों का आधिपत्य
* भ्रष्टाचार की जनक
* शासकीय कार्यों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा
* सत्तारूढ़ दल का अधिनायकत्व
* विरोध के लिए विरोध
* सरकार के स्थायित्व का संकट

(4) भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा का प्रसार—यद्यपि राजनीतिक दलों को 'सार्वजनिक शिक्षा का साधन' कहा जाता है लेकिन व्यवहार में राजनीतिक दल शिक्षा प्रदान करने के स्थान पर आकर्षक घोषणा-पत्रों, लुभावने नारों, असत्य भाषणों और मिथ्या प्रचार द्वारा जनता को भ्रमित करते हैं। गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राजनीतिक दल बहुधा वास्तविकता का दमन करने और अवास्तविकता प्रकट करने के अपराधों के दोषी होते हैं।"

(5) पूँजीपतियों का आधिपत्य—राजनीतिक दल पूँजीपतियों के हाथ की कठपुतली बन जाते हैं। कुछ उद्योगपति एवं संस्थान राजनीतिक दलों के प्रत्याशियों को चुनाव में आर्थिक सहायता देते हैं। ये प्रत्याशी चुनाव जीतने के बाद इन उद्योगपतियों एवं संस्थानों के हितों की रक्षा करते हैं। इतना ही नहीं, पूँजीपति अपने धन की शक्ति से मनचाहा कानून बनवाने में भी सफल हो जाते हैं। एम. एन. राय ने उचित ही कहा है, "राजनीतिक दलों के सिंहासन पर पूँजीपति अथवा उनके एजेण्ट ही आसीन होते हैं।"

(6) भ्रष्टाचार की जनक—राजनीतिक दलों के कारण पक्षपात, भ्रष्टाचार, रिश्वत तथा अन्य ऐसी बुराइयाँ समाज में व्याप्त हो जाती है। दल-पद्धति के अन्तर्गत शासक दल अपने सदस्यों और चुनावी सहयोगियों को राजकीय पद, ठेके या पुरस्कार के रूप में अनुचित लाभ पहुँचाता है। दलों के कारण सम्पूर्ण राजनीति एक प्रकार का व्यवसाय बनकर रह जाती है। गैटिल के शब्दों में, "राजनीति में एक बहुत बड़ा खतरा दलों तथा व्यावसायिक हितों का गठबन्धन होता है जिसके परिणामस्वरूप भ्रष्टाचार फैलता है।"

(7) शासकीय कार्यों में सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की उपेक्षा—दलीय शासन व्यवस्था के अन्तर्गत केवल बहुमत प्राप्त दल के प्रभावशाली व्यक्ति ही मन्त्री आदि उच्च पदों पर आसीन किये जाते हैं। बहुत-से योग्य और प्रतिभाशाली नेता, जो विपक्ष में आ जाते हैं, उन्हें शासन में भाग नहीं दिया जा सकता है। इसके अतिरिक्त, समाज के श्रेष्ठ व्यक्ति दलगत राजनीति में नहीं पड़ना चाहते हैं। इस प्रकार दलबन्दी के कारण देश योग्यतम व्यक्तियों की सेवाओं से वंचित रह जाता है।

(8) सत्तारूढ़ दल का अधिनायकत्व—दल-प्रणाली के फलस्वरूप बहुमत दल की सरकार बनती है और जिस दल का शासन होता है, वह दल एक तानाशाह की शैली में कार्य

---

1 "Party divides not only the legislature but the nation into hostile camps and present it to foreign states so divided." —Bryce

करने लगता है। संसदीय शासन-प्रणाली में तो बहुमत की सरकार के नाम पर मन्त्रिमण्डल अथवा प्रधानमन्त्री की तानाशाही ही स्थापित हो जाती है। इससे अल्पमत की उपेक्षा होती है। जेनिंग्स के शब्दों में, **"जिस शासन की पीठ पर प्रबल बहुमत का हाथ है वह कुछ समय के लिए अधिनायकवाद स्थापित कर लेता है।"**

(9) विरोध के लिए विरोध—दल-प्रणाली का एक स्वाभाविक परिणाम यह होता है कि सरकार की अच्छी-से-अच्छी नीतियों और कार्यक्रमों का विरोध विपक्षी दल गुण और दोष के आधार पर न करके केवल विरोध के लिए विरोध करते हैं। दल ऐसा व्यवहार करते हैं कि कभी-कभी यह अनुभव होने लगता है कि व्यवस्थापिका कानून निर्मात्री संस्था न होकर पारस्परिक द्वन्द्व का केन्द्र हो। ब्राइस के शब्दों में, **"संसद एक राजनीतिक अखाड़ा बन जाती है जहाँ वाद-विवाद और आपसी झगड़ों में जनहित भुला दिया जाता है।"**

(10) सरकार के स्थायित्व का संकट—दलीय व्यवस्था का एक अन्य दुर्गुण यह है कि इसमें कोई सरकार अपने स्थायित्व का दावा नहीं कर सकती। विरोधी राजनीतिक दल सदैव सत्तारूढ़ दल की आलोचना करते हैं जिससे सरकार के विरुद्ध जनमत तैयार हो जाता है। सरकार कोई दृढ़ नीति कार्यान्वित नहीं करती क्योंकि उसे परिवर्तन का भय बना रहता है।

दलबन्दी के अवगुणों अथवा दोषों को दूर करने के उपाय
(MEANS TO REMOVE THE DEFECTS OF PARTY SYSTEM)

यद्यपि दलीय व्यवस्था में अनेक दोष हैं परन्तु अब तक किसी भी विद्वान ने यह नहीं बताया है कि दलीय व्यवस्था के बिना प्रतिनिधि शासन का संचालन कैसे किया जाय। वास्तव में, लोकतन्त्र के संचालन के लिए दलीय व्यवस्था अनिवार्य है। राजनीतिक दल तो लोकतन्त्र के फूल में काँटे के समान हैं जिन्हें सहना ही पड़ता है क्योंकि लोकतन्त्र की सफलता इन पर ही निर्भर है। लॉवेल ने उचित ही लिखा है, **"राजनीतिक दल अच्छे हैं अथवा बुरे—इस सम्बन्ध में सूचना एकत्र करना वैसा ही है जैसा इस सम्बन्ध में विचार करना कि हवाएँ और ज्वार-भाटे अच्छे होते हैं अथवा बुरे।"** इस दृष्टि से आवश्यक है कि दल-प्रणाली के दोषों को दूर करने का प्रयास किया जाना चाहिए। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित सुझाव दिये जा सकते हैं—

(1) राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना—राजनीतिक दल द्वारा सम्पूर्ण समाज और राष्ट्रीय हित के लिए दलीय हितों का परित्याग कर देना चाहिए। उसके द्वारा दलीय भक्ति के स्थान पर देशभक्ति को उच्च महत्ता प्रदान करनी चाहिए।

दलबन्दी के अवगुणों अथवा दोषों को दूर करने के उपाय
* राष्ट्रीय हित को सर्वोपरि रखना
* शिक्षा का प्रसार
* सहिष्णुता की प्रवृत्ति
* आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों पर दलों का संगठन
* आर्थिक विषमताओं का अभाव
* स्वतन्त्र प्रेस
* आधारभूत एकता
* दलों की सीमित संख्या
* कुशल नेतृत्व

(2) शिक्षा का प्रसार—यदि जनता शिक्षित है तो उसे कोई भी राजनीतिक दल भ्रमित नहीं कर सकता है। शिक्षित जनता राजनीतिक समस्याओं को समझ सकती है और दलों की नीतियों एवं कार्यक्रमों का सही मूल्यांकन कर सकती है। अतः राजनीतिक दलों की सफलता के लिए शिक्षा का समुचित प्रसार आवश्यक है।

(3) सहिष्णुता की प्रवृत्ति—सत्तारूढ़ दल को विपक्षी दलों की भावना का

सम्मान करना चाहिए और विपक्षी दलों को अनावश्यक विरोध का मार्ग त्यागकर सहिष्णुता की प्रवृत्ति का परिचय देना चाहिए।

(4) **आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों पर दलों का संगठन**—राजनीतिक दलों का संगठन आर्थिक तथा राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए। जाति, धर्म, भाषा, क्षेत्र और सम्प्रदाय जैसे संकीर्ण दृष्टिकोणों के आधार पर गठित दल देश की एकता को क्षति पहुँचाते हैं।

(5) **आर्थिक विषमताओं का अभाव**—राजनीतिक दलों के सफल संचालन के लिए समाज में आर्थिक विषमताओं का अभाव होना चाहिए। आर्थिक विषमता की स्थिति में राजनीतिक दलों पर पूँजीपतियों के नियन्त्रण की आशंका नहीं रहती।

(6) **स्वतन्त्र प्रेस**—राजनीतिक दलों पर निगरानी रखने के लिए स्वतन्त्र प्रेस होना बहुत आवश्यक है। प्रेस दलों के नेताओं और सदस्यों पर निगरानी रखता है और उनकी अनुचित गतिविधियों से जनता को अवगत कराता है।

(7) **आधारभूत एकता**—देश की आधारभूत समस्याओं के सम्बन्ध में विविध दलों के सामान्य मतैक्य होना चाहिए अन्यथा संघर्ष और प्रतिस्पर्धा की राजनीति के कारण राष्ट्रीय हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा।

(8) **दलों की सीमित संख्या**—राजनीतिक दलों के प्रभावशाली अस्तित्व और स्थिर सरकारों के निर्माण के लिए उनकी संख्या यथासम्भव कम होनी चाहिए। अनेक राजनीतिक दल होने पर उनका ध्यान लोककल्याणकारी कार्यों की अपेक्षा सरकार के निर्माण और पतन पर केन्द्रित रहता है।

(9) **कुशल नेतृत्व**—राजनीतिक दलों का नेतृत्व योग्य, चरित्रवान, त्यागी, दूरदर्शी और समाज सेवा की भावना से प्रेरित व्यक्तियों द्वारा किया जाना चाहिए। इस प्रकार का कुशल नेतृत्व होने पर ही राजनीतिक दलों द्वारा प्रजातन्त्र और राष्ट्रीय हित में कार्य किया जा सकेगा।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोकतन्त्र में राजनीतिक दल अपरिहार्य हैं। दल ही वैधानिक सरकार को जन्म, शक्ति और गति देकर उसे चलाते हैं, अतः उनके दोषों को दूर करना चाहिए।

दल-प्रणाली के विभिन्न रूप
(FORMS OF PARTY SYSTEM)

दल-प्रणाली के साधारणतया तीन रूप—(1) एकदलीय प्रणाली, (2) द्विदलीय प्रणाली तथा (3) बहुदलीय प्रणाली प्रचलित हैं।

(1) **एकदलीय प्रणाली (One-Party System)**—यदि देश में केवल एक ही दल हो और शासन-शक्ति का प्रयोग करने वाले सभी सदस्य इस एक ही राजनीतिक दल के सदस्य हों तो वहाँ की दल-प्रणाली को एकदलीय कहा जाता है। सम्पूर्ण देश में केवल एक ही दल कार्य कर सकता है और अन्य किसी दल को संगठित होने की स्वतन्त्रता नहीं होती है। यदि कोई अन्य दल जन्म लेता है तो उसे अवैध घोषित कर दिया जाता है अथवा उसे शक्ति के द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। साम्यवादी व्यवस्था वाले राज्यों और अन्य भी अनेक राज्यों में एकदलीय व्यवस्था का अस्तित्व रहा है। चीन, क्यूबा, वियतनाम, नाजी जर्मनी व फासिस्ट इटली आदि देशों में एकदलीय सरकारें हैं।

एकदलीय प्रणाली के पक्ष में प्रायः तीन तर्क दिये जाते हैं—प्रथम, इसमें सरकार सुदृढ़ होती है, वह लम्बी योजनाओं को अपने हाथ में लेकर पूरा कर सकती है। द्वितीय, एकदलीय प्रणाली में देश परस्पर विरोधी गुटों में विभाजित नहीं होता और अनुशासन बना रहता है। तृतीय, दीर्घकालिक सरकार के कारण देश प्रगति करता है।

परन्तु एकदलीय प्रणाली के दोष गम्भीर हैं—प्रथम, इस प्रणाली में वैयक्तिक स्वतन्त्रता का लोप हो जाता है। द्वितीय, एकदलीय सरकारें केवल हिंसात्मक साधनों से ही परिवर्तित हो सकती हैं। तृतीय, ये सरकारें आतंक और दमन पर आधारित होती हैं।

अब साम्यवादी देशों में भी एकदलीय प्रणाली का विरोध प्रारम्भ हो गया है। पूर्व सोवियत संघ तथा पूर्वी यूरोप के अन्य साम्यवादी राज्यों ने एकदलीय व्यवस्था को त्यागकर बहुदलीय व्यवस्था को अपना लिया है।

(2) द्विदलीय प्रणाली (Two-Party System)—द्विदलीय प्रणाली का आशय यह नहीं है कि किसी देश में केवल दो ही राजनीतिक दल हों और अन्य दलों का अस्तित्व न हो वरन् इसका अभिप्राय यह है कि वहाँ पर दो प्रमुख और बड़े दल होते हैं और शेष दलों का देश की राजनीति में कोई महत्त्व नहीं होता है। सैट के अनुसार, **"द्विदलीय व्यवस्था से हमारा तात्पर्य यह नहीं है कि राज्य में केवल दो ही राजनीतिक दल हों, प्रत्युत हमारा आशय यह है कि यदि अन्य दल हों तो इतने छोटे कि उनका राजनीति पर विशेष प्रभाव न हो और व्यवस्थापिका में बहुमत प्राप्त करने के लिए उनके साथ मिलकर संयुक्त सरकार बनाने की आवश्यकता न पड़े।"** उदाहरणार्थ, इंग्लैण्ड में अनुदार दल और श्रमिक दल दो प्रमुख राजनीतिक दल हैं, इनके अतिरिक्त उदार दल और स्काटलैण्ड तथा वेल्स के राष्ट्रवादी दल भी हैं लेकिन उनका राजनीति पर कोई विशेष प्रभाव नहीं है। इसी प्रकार अमेरिका में भी द्विदलीय प्रणाली है।

(3) बहुदलीय प्रणाली (Multi-Party System)—बहुदलीय प्रणाली का अर्थ यह है कि देश में अनेक बड़े राजनीतिक दल होते हैं। बहुदलीय प्रणाली वाले देशों में प्रायः किसी दल को बहुमत नहीं मिल पाता, अतः कोई एक दल सरकार नहीं बना सकता। फ्रांस में लगभग एक दर्जन राजनीतिक दल हैं, इटली में कम-से-कम आठ बड़े दल हैं तथा स्वीडन और नार्वे में चार-पाँच बड़े दल हैं। स्विट्ज़रलैण्ड एक छोटा-सा गणराज्य है जिसकी आबादी 70 लाख से भी कम है, पर स्विट्ज़रलैण्ड में आठ बड़े राजनीतिक दल हैं। वहाँ मन्त्रिपरिषद् के सदस्य 'संसद' द्वारा चुने जाते हैं और वे विभिन्न राजनीतिक दलों से लिये जाते हैं। भारत में भी सात राष्ट्रीय दल हैं।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. राजनीतिक दल की कोई एक संक्षिप्त परिभाषा दीजिए।

उत्तर—**एडमण्ड बर्क** के शब्दों में, **"राजनीतिक दल ऐसे व्यक्तियों का एक समूह होता है जो किन्हीं ऐसे सिद्धान्तों के आधार पर जिन पर वे एकमत हों, अपने सामूहिक प्रयत्नों द्वारा जनता के हित में काम करने के लिए एकता में बँधे होते हैं।"**

प्रश्न 2. राजनीतिक दलों की उत्पत्ति के किन्हीं दो आधारों को इंगित कीजिए।

उत्तर—(1) राजनीतिक आधार तथा (2) आर्थिक आधार।

प्रश्न 3. राजनीतिक दलों के किन्हीं दो कार्यों का उल्लेख कीजिए।
(1988, 89, 91, 92, 95)

उत्तर—(1) सार्वजनिक नीतियों का निर्धारण तथा (2) लोकमत का निर्माण करना।

प्रश्न 4. राजनीतिक दलों के कोई दो उद्देश्य लिखिए।

उत्तर—(1) दल का सुदृढ़ संगठन स्थापित करना तथा (2) निर्वाचनों में विजय प्राप्त कर सरकार का निर्माण करना।

प्रश्न 5. प्रजातन्त्र अथवा लोकतन्त्र में राजनीतिक दल क्यों अनिवार्य हैं? कोई दो कारण लिखिए।

उत्तर—(1) स्वस्थ लोकमत का निर्माण तथा (2) संसदीय प्रणाली का आधार।

प्रश्न 6. भारत के चार प्रमुख राजनीतिक दलों के नाम लिखिए।

उत्तर—(1) भारतीय जनता पार्टी, (2) काँग्रेस (इ), (3) जनता दल तथा (4) भारतीय साम्यवादी दल।

प्रश्न 7. राजनीतिक दलों के दो गुण लिखिए।

उत्तर—(1) राजनीतिक जागरण और सार्वजनिक शिक्षा का साधन तथा (2) लोकमत का निर्माण एवं उसकी अभिव्यक्ति।

प्रश्न 8. राजनीतिक दलों के दो दोष लिखिए। (1994, 97)

उत्तर—(1) भ्रमात्मक राजनीतिक शिक्षा प्रदान करना तथा (2) दल प्रणाली भ्रष्टाचार को जन्म देती है।

प्रश्न 9. राजनीतिक दलों के दोषों को दूर करने का एक उपाय बताइए।

उत्तर—राजनीतिक दलों का संगठन आर्थिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों के आधार पर होना चाहिए।

प्रश्न 10. बहुदलीय व्यवस्था के दो दोष लिखिए।

उत्तर—(1) सरकारें स्थायी नहीं होती हैं तथा (2) सरकार की नीति सुदृढ़ नहीं होती है।

प्रश्न 11. राजनीतिक दल के दो अनिवार्य तत्त्व लिखो।

उत्तर—(1) राजनीतिक दल राष्ट्रीय हित की भावना से प्रेरित होते हैं तथा (2) संवैधानिक साधनों में आस्था रखते हैं।

प्रश्न 12. राजनीतिक दल कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—राजनीतिक दल को तीन श्रेणियों—(1) राष्ट्रीय दल, (2) क्षेत्रीय दल तथा (3) अमान्यता प्राप्त पंजीकृत दल में विभाजित किया जा सकता है।

प्रश्न 13. भारत में राजनीतिक दलों के पंजीकरण की व्यवस्था को कब से अपनाया गया?

उत्तर—15 जून, 1989 से।

प्रश्न 14. दलीय प्रणाली के कितने रूप होते हैं? (2000)

उत्तर—दलीय प्रणाली के तीन रूप—(1) एकदलीय प्रणाली, (2) द्विदलीय प्रणाली तथा (3) बहुदलीय प्रणाली होते हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राजनीतिक दलों की प्रकृति का वर्णन कीजिए तथा आधुनिक लोकतन्त्र में उनकी भूमिका की विवेचना कीजिए। (1986)
2. राजनीतिक दल किसे कहते हैं? इनके कार्य क्या हैं? (1974)
3. लोकतान्त्रिक व्यवस्था में राजनीतिक दलों का क्या महत्त्व है? इसके संगठन का क्या आधार होना चाहिए? (1976)
4. दल प्रणाली के गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए। (1979)
5. राजनीतिक दल से आप क्या समझते हैं? प्रजातन्त्र प्रणाली में राजनीतिक दलों के महत्त्व का मूल्यांकन कीजिए। (1981, 93)
6. दलीय व्यवस्था के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए। (1983)
7. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिए । लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों की भूमिका का विवेचन कीजिए। (1997)
8. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिए तथा इसके कार्यों की विवेचना कीजिए। (1992)
9. टिप्पणी लिखिए—
   (i) एकदलीय व्यवस्था के गुण-दोष (1997)
   (ii) लोकतन्त्र में राजनीतिक दलों का महत्त्व
   (iii) राजनीतिक दल, (1991, 93, 96, 98)
   (iv) राजनीतिक दलों के कार्य । (1997)

• •

19

मताधिकार तथा निर्वाचन प्रणालियाँ
[FRANCHISE AND ELECTORAL METHODS]

"प्रतिनिधियों को निर्वाचित करने के लिए मत देने का अधिकार राज्य के उन निवासियों को छोड़कर, जिनकी दशा इतनी हीन हो कि उनकी अपनी कोई इच्छा ही न हो, सभी को प्राप्त होना चाहिए।"[1] —*मॉण्टेस्क्यू*

आधुनिक युग लोकतन्त्रात्मक शासन का युग है। विश्व के अधिकांश राज्यों में लोकतन्त्रात्मक शासन-व्यवस्था विद्यमान है। लोकतन्त्रात्मक शासन के दो रूप होते हैं—प्रत्यक्ष लोकतन्त्र तथा अप्रत्यक्ष लोकतन्त्र। प्रत्यक्ष लोकतन्त्र में जनता प्रत्यक्ष रूप से शासन में भाग लेती है। प्राचीन यूनान के नगर-राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र ही प्रचलित था। आज के विशाल राज्यों में प्रत्यक्ष लोकतन्त्र असम्भव है। वर्तमान समय में अप्रत्यक्ष अथवा प्रतिनिध्यात्मक लोकतन्त्र ही लोकतान्त्रिक शासन का एकमात्र व्यावहारिक रूप है। इस व्यवस्था में सामान्य जनता प्रतिनिधि चुनती है और ये प्रतिनिधि शासन का संचालन करते हैं। प्रतिनिधियों को चुनने के इस अधिकार को ही सामान्यतः निर्वाचन का अधिकार अथवा मताधिकार कहा जाता है जो कि लोकतन्त्र का आधार है।

वयस्क अथवा सार्वभौम मताधिकार
(ADULT OR UNIVERSAL SUFFRAGE)

मताधिकार की प्रकृति के सम्बन्ध में साधारणतया दो प्रकार की धारणाएँ व्यक्त की गयी हैं जिनके आधार पर क्रमशः सीमित मताधिकार और वयस्क मताधिकार का प्रतिपादन किया गया है। जे. एस. मिल, ब्लण्टशली, सर हेनरीमेन इत्यादि विद्वानों का मत है कि मताधिकार नागरिकों का प्राकृतिक अथवा जन्मसिद्ध अधिकार नहीं है बल्कि एक विशेषाधिकार और एक पवित्र कर्त्तव्य है जो सामाजिक आवश्यकता एवं उपयोगिता की दृष्टि से नागरिकों को प्रदान किया गया है। सम्पूर्ण समाज के कल्याण हेतु यह अधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिलना चाहिए जो इस अधिकार का उचित रूप से प्रयोग करने की योग्यता और क्षमता रखते हैं। अतः इस सिद्धान्त के अनुसार शिक्षा, लिंग या सम्पत्ति सम्बन्धी योग्यताओं के आधार पर मताधिकार को सीमित कर दिया जाना चाहिए। मिल के शब्दों में, "मैं इस बात का समर्थन नहीं कर सकता कि किसी भी व्यक्ति को लिखने-पढ़ने का ज्ञान हुए बिना मताधिकार मिलना चाहिए।"

---

1 "All inhabitants ought to have right at the election of representatives, except such as are in so mean a situation as to be deemed to have no will of their own." —*Montesquieu*

सीमित मताधिकार की धारणा के विपरीत कुछ विद्वानों ने मताधिकार को प्रत्येक नागरिक का प्राकृतिक अधिकार स्वीकार किया है तथा शिक्षा, लिंग, सम्पत्ति एवं अन्य किसी भेदभाव के बिना एक निश्चित आयु तक के सभी व्यक्तियों को मताधिकार प्राप्त होने का विचार प्रतिपादित किया है। मताधिकार की इस व्यवस्था को ही वयस्क मताधिकार कहते हैं। वयस्क मताधिकार चूँकि सभी वयस्क स्त्री-पुरुषों को प्राप्त रहता है इसलिए इसे सार्वभौम-मताधिकार भी कहा जाता है। विभिन्न राज्यों में वयस्क होने की आयु अलग-अलग है। उदाहरणार्थ, भारत, इंगलैण्ड तथा अमेरिका में 18 वर्ष पर, स्विट्ज़रलैण्ड में 20 वर्ष पर, नार्वे में 23 वर्ष पर और हालैण्ड में 25 वर्ष पर व्यक्ति वयस्क माना जाता है। सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार का तात्पर्य यह नहीं है कि प्रत्येक स्त्री-पुरुष को मतदान का अधिकार प्रदान कर देना चाहिये, चाहे उसका आचरण कैसा भी हो। साधारणतया पागल, दिवालिये, अपराधी, तथा विदेशी मताधिकार से वंचित रखे जाते हैं।

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क

(ARGUMENTS IN FAVOUR OF ADULT SUFFRAGE)

वयस्क मताधिकार की व्यवस्था में कुछ ऐसे गुण हैं जिनके कारण व्यक्ति इसकी ओर आकर्षित होते जा रहे हैं। इस व्यवस्था के समर्थक इसकी पुष्टि (पक्ष) में निम्नलिखित प्रमुख तर्क देते हैं—

(1) **लोकसत्ता के सिद्धान्त के अनुकूल**—वयस्क मताधिकार लोकसत्ता के सिद्धान्त के अनुकूल है। लोकसत्ता का अर्थ है कि सर्वोच्च सत्ता जनता में निहित है। डॉ. गार्नर के अनुसार, "ऐसी सत्ता की सर्वश्रेष्ठ अभिव्यक्ति सार्वजनिक मताधिकार में ही हो सकती है।"

(2) **जन-साधारण को शासकों के चयन का अधिकार**—इस मताधिकार के समर्थकों का कथन है कि चूँकि राज्य की नीति और कानून का प्रभाव सम्पूर्ण जनता पर पड़ता है इसलिए जनता को शासकों एवं कानून निर्माताओं के चयन का अधिकार होना चाहिए। जॉन स्टुअर्ट मिल इसी आधार पर वयस्क मताधिकार को नितान्त औचित्यपूर्ण मानता है। लॉस्की के शब्दों में, "प्रत्येक वयस्क नागरिक का यह अधिकार है कि वह यह बताये कि शासन का संचालन किन व्यक्तियों को करना चाहिए।"[1]

वयस्क मताधिकार के पक्ष में तर्क
* लोकसत्ता के सिद्धान्त के अनुकूल
* जन-साधारण को शासकों के चयन का अधिकार
* स्वाभिमान की भावना का जागरण
* राजनीतिक प्रशिक्षण
* सार्वजनिक हित की रक्षा
* समानता का पोषक
* राष्ट्रीय एकीकरण का साधन
* अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा
* देशभक्ति की भावना में वृद्धि
* कानून-पालन में सहजता
* क्रान्ति अथवा विद्रोह की सम्भावना की समाप्ति

(3) **स्वाभिमान की भावना का जागरण**—मताधिकार से नागरिकों में स्वाभिमान का भाव उत्पन्न होता है। व्यक्ति यह अनुभव करते हैं कि वे शासन-तन्त्र से पृथक् नहीं हैं बल्कि शासन में उनकी भी एक भूमिका है। मताधिकार से व्यक्तियों को अपनी शक्ति का बोध होता है और ब्राइस के शब्दों में, "उससे उनके नैतिक चरित्र का उत्थान होता है।"

1 "Every adult citizen has the right to indicate what persons he desires should undertake the task of government." —*Harold J. Laski*

(4) राजनीतिक प्रशिक्षण—वयस्क मताधिकार में नागरिकों को राजनीतिक प्रशिक्षण मिलता है। निर्वाचन राजनीतिक प्रशिक्षण और राजनीतिक जागृति का एक महत्त्वपूर्ण माध्यम है। मतदाता निर्वाचन की प्रक्रियाओं में भाग लेकर राजनीतिक शिक्षा ग्रहण करता है। वह विभिन्न राजनीतिक दलों के सिद्धान्तों, उद्देश्यों एवं कार्यक्रमों को समझकर अपनी इच्छानुसार मतदान करने का निर्णय लेता है। इस प्रकार उसमें राजनीतिक जागृति उत्पन्न होती है।

(5) सार्वजनिक हित की रक्षा—वयस्क मताधिकार के द्वारा सार्वजनिक हित की रक्षा होती है। यदि मतदान का अधिकार कुछ ही व्यक्तियों के हाथ में सौंप दिया जाये तो वे केवल वर्ग विशेष के हित का ध्यान रख सकेंगे। उनसे सार्वजनिक हित की रक्षा की अपेक्षा नहीं की जा सकती। लॉस्की ने कहा है, **"शक्ति से अलग होने का अर्थ है, शक्ति के लाभों से वंचित होना।"**[1] सम्पूर्ण जनता के द्वारा मतदान में भाग लेने पर स्वाभाविक है कि सार्वजनिक हितों की रक्षा उचित प्रकार की जा सके।

(6) समानता का पोषक—यह सिद्धान्त समानता के सिद्धान्त का पोषक है। वयस्क मताधिकार के अन्तर्गत सभी वयस्क नागरिकों को बिना किसी भेदभाव के समान रूप से मतदान का अधिकार प्रदान किया जाता है।

(7) राष्ट्रीय एकीकरण का साधन—यह व्यवस्था नागरिकों में परस्पर समानता और एकता की भावना उत्पन्न करती है जिससे राष्ट्र की शक्ति में वृद्धि होती है। जनता जब अपने शासकों एवं कानून-निर्माताओं को चुनती है तब उसमें राष्ट्रप्रेम की भावना का संचार होता है और वह राष्ट्र के विकास के लिए अधिक-से-अधिक प्रयास करती है। इस प्रकार वयस्क मताधिकार राष्ट्रीय भावना को सुदृढ़ बनाने और राष्ट्रीय एकीकरण में सहायक होता है।

(8) अल्पसंख्यकों के हितों की रक्षा—वयस्क मताधिकार की व्यवस्था के अन्तर्गत अल्पसंख्यकों को भी अपने प्रतिनिधि चुनने का अवसर मिल जाता है। अतः उनके हित भी अधिक सुरक्षित रहते हैं।

(9) देशभक्ति की भावना में वृद्धि—मताधिकार नागरिकों के हृदय में राज्य और शासन के प्रति निष्ठा की भावना उत्पन्न करता है और उनमें देशभक्ति की भावना में वृद्धि होती है।

(10) कानून-पालन में सहजता—नागरिकों द्वारा कानून-पालन के दृष्टिकोण से वयस्क मताधिकार महत्त्वपूर्ण है। जब राष्ट्र की सम्पूर्ण जनता निर्वाचन में भाग लेती है तथा अपने शासकों एवं कानून निर्माताओं को चुनती है तब वह उनके द्वारा बनाये गये कानूनों का पालन करने के लिए नैतिक दृष्टिकोण से बाध्य होती है।

(11) क्रान्ति अथवा विद्रोह की सम्भावना की समाप्ति—सम्पूर्ण जनता द्वारा मतदान में भाग लेने का अधिकार प्राप्त होने पर उसमें सरकार के प्रति असन्तोष की भावना नहीं रहती और क्रान्ति या विद्रोह की सम्भावना समाप्त हो जाती है। मैकरिडिस और वार्ड के शब्दों में, **"जिन देशों में यत्नपूर्वक समाज के किन्हीं विशेष वर्गों को 'राजनीतिक सत्ता' से वंचित रखा जाता है वहाँ ये वर्ग हिंसक साधनों से सत्ता प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं।"**

वयस्क मताधिकार के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS AGAINST ADULT SUFFRAGE)

लोकतन्त्र की दृष्टि से वयस्क मताधिकार उचित ही है परन्तु वह सर्वथा दोषरहित नहीं है। लॉर्ड मैकाले ने इसे **'व्यापक बर्बादी'** की संज्ञा प्रदान की है। सर हेनरीमेन, लैकी और सिजविक ने वयस्क मताधिकार के विरुद्ध अग्रलिखित तर्क प्रस्तुत किये हैं—

1 "Exclusion from power means exclusion from the benefits of power." —Laski

(1) पवित्र कर्त्तव्य—मताधिकार वास्तव में केवल एक अधिकार नहीं है बल्कि एक पवित्र कर्त्तव्य भी है। उसका प्रयोग बहुत ही सावधानी, बुद्धिमत्ता तथा विवेक के साथ करना चाहिए। अतः यह केवल उन्हीं व्यक्तियों को प्राप्त होना चाहिए जो जनसाधारण के कल्याण और राज्य के हित में इसका उचित प्रयोग करने के योग्य हों। साधारण जनता में इस प्रकार की योग्यता का अभाव होने के कारण वयस्क मताधिकार को उचित नहीं माना जा सकता।

वयस्क मताधिकार के विपक्ष में तर्क
* पवित्र कर्त्तव्य
* अकुशल शासन की स्थापना
* नागरिक-अधिकार केवल मताधिकार से सुरक्षित नहीं
* धनी वर्ग के हित असुरक्षित
* राजनीतिक समस्याओं को समझने में असमर्थता
* भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन
* प्रगतिशील विचारों का विरोध

(2) अकुशल शासन की स्थापना—सामान्य जनता अधिकांशतः अशिक्षित और मूर्ख होती है। उसमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वह अपना वास्तविक हित भली-भाँति समझ सके। अतः अपरिपक्व जनता चुनावों में मतदान के समय प्रत्याशियों की जाति, धर्म या पारिवारिक बन्धनों के विचार से अधिक प्रभावित होती है और उम्मीदवार की योग्यता की परख उचित प्रकार से नहीं करती। सर्वसाधारण मतदाताओं के मस्तिष्क पर विभिन्न दलों के आकर्षक नारों व चुनाव के मोहक शब्दों आदि का बहुत प्रभाव पड़ता है क्योंकि उनमें राजनीति के पेचीदा प्रश्नों पर स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं होती। अतः सभी व्यक्तियों को मताधिकार प्रदान करने का परिणाम अच्छा नहीं होता है और जैसा कि लैकी का मत है कि यह विचार असंगत और खतरनाक लगता है कि तीक्ष्ण बुद्धि वाले व्यक्तियों की अपेक्षा मूर्खों एवं अयोग्यों के हाथ में शासन-संचालन का दायित्व दिया जाय। लॉवेल ने ठीक ही कहा है, "अज्ञानियों को मताधिकार दो, आज ही उनमें अराजकता फैल जायेगी और कल ही उन पर निरंकुश शासन होने लगेगा।"

(3) नागरिक-अधिकार केवल मताधिकार से सुरक्षित नहीं—नागरिक-अधिकारों की सुरक्षा केवल मताधिकार द्वारा सम्भव नहीं है। नागरिक-अधिकारों की सुरक्षा निष्पक्ष न्यायालय, स्वतन्त्र प्रेस, जागरूक जनमत और सशक्त विपक्षी दल की उपस्थिति पर अधिक निर्भर होती है।

(4) धनी वर्ग के हित असुरक्षित—समाज में साधारणतया निर्धनों की ही संख्या अधिक होती है। उनकी भावना धनिक वर्ग के प्रति प्रतिशोधात्मक रहती है। इसलिए वे अपने बहुमत के बल से धनिक वर्ग के हितों को क्षति पहुँचा सकते हैं।

(5) राजनीतिक समस्याओं को समझने में असमर्थता—वर्तमान समय में शासन सम्बन्धी प्रश्न अधिकाधिक जटिल होते जा रहे हैं जिन्हें साधारण मतदाता नहीं समझ पाते हैं। अधिकांश व्यक्तियों के पास इतना समय ही नहीं होता है कि वे शासन की जटिल समस्याओं को समझें और मतदान के सम्बन्ध में अपना निर्णय करें। अतः वयस्क मताधिकार का परिणाम यह होता है कि निर्वाचन राजनीतिक समस्याओं के ज्ञान के आधार पर न होकर सामयिक नारों के आवेश के आधार पर होता है। इसलिए वयस्क मताधिकार केवल उन्हीं व्यक्तियों को मिलना चाहिए जो शासन की बारीकियों को समझने में समर्थ हों।

(6) भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन—वयस्क मताधिकार के कारण निर्वाचन अधिक खर्चीला हो जाता है, अतः धनिक वर्ग के व्यक्ति ही निर्वाचकों में प्रत्याशी बनते हैं। वे निर्धन मतदाताओं

के मतों को धन के द्वारा खरीदने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार वयस्क मताधिकार भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन देता है।

(7) प्रगतिशील विचारों का विरोध—जनता में रूढ़िवादी व्यक्तियों की संख्या अधिक होती है। ये व्यक्ति सुधारों तथा प्रगतिशील विचारों का विरोध करते हैं। अतः यदि वयस्क मताधिकार दिया गया तो शासन रूढ़िवादी तथा प्रगतिशील विचारों के विरोधी व्यक्तियों का केन्द्र बन जायेगा। इसीलिये हेनरीमेन ने कहा है, **"वयस्क मताधिकार सम्पूर्ण प्रगति का अन्त कर देगा।"**

हालांकि वयस्क मताधिकार के विरोध में कतिपय तर्क दिये गये हैं परन्तु ये तर्क इसके समर्थन में दिये गये तर्कों की तुलना में गौण और महत्त्वहीन हैं। व्यावहारिक अनुभव यह है कि अनेक बार अशिक्षित व्यक्ति ने भी अपने मताधिकार का प्रयोग अत्यन्त बुद्धिमान व्यक्ति की तुलना में अधिक विवेक के साथ किया है, अतः शिक्षा के आधार पर मताधिकार को सीमित किया जाना ठीक नहीं है। आधुनिक युग में सम्पत्ति के आधार पर मताधिकार सीमित किया ही नहीं जा सकता है। समाज को प्रगतिशील बनाये रखने के लिए सभी को मताधिकार देना पूर्णतया उचित है। वास्तव में, वयस्क मताधिकार का सर्वत्र अपनाया जाना इस बात का प्रमाण है कि वह प्रजातन्त्र की भावनाओं के सर्वथा अनुकूल और उसके लिए अनिवार्य है। लास्की के इस कथन में सत्य निहित है, **"वयस्क मताधिकार का कोई विकल्प नहीं है।"**[1]

निर्वाचन प्रणालियाँ
(METHODS OF ELECTION)

सामान्यतया निर्वाचन की दो प्रणालियाँ हैं—प्रत्यक्ष निर्वाचन और अप्रत्यक्ष निर्वाचन।

प्रत्यक्ष निर्वाचन (Direct Election)—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से तात्पर्य ऐसी निर्वाचन प्रणाली से है जिसमें मतदाता स्वयं अपने प्रतिनिधि चुनते हैं। प्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि ही व्यवस्थापिका के सदस्य और मुख्य कार्यपालिका के अंग बनते हैं। यह बहुत सरल विधि है। इसके अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता मतदान-केन्द्र पर विभिन्न प्रत्याशियों में से किसी एक प्रत्याशी के पक्ष में मतदान करता है और जिस प्रत्याशी को सर्वाधिक मत प्राप्त होते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। यह प्रणाली सर्वाधिक लोकप्रिय है। सामान्यतः विश्व के प्रत्येक प्रजातान्त्रिक देश में व्यवस्थापिका के निम्न सदन के सदस्य प्रत्यक्ष निर्वाचन द्वारा ही चुने जाते हैं।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन (Indirect Election)—इस प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता सीधे अपने प्रतिनिधि नहीं चुनते हैं बल्कि वे पहले एक निर्वाचक-मण्डल को चुनते हैं। यह निर्वाचक मण्डल बाद में अन्य प्रतिनिधियों को चुनते हैं। इस प्रकार जनता प्रत्यक्ष रूप से प्रतिनिधियों का निर्वाचन नहीं करती है अतः इसे अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली कहा जाता है। भारत के राष्ट्रपति तथा संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति दोनों का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से होता है। भारत, फ्रांस आदि देशों में व्यवस्थापिका के द्वितीय सदन का निर्वाचन भी अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली द्वारा किया जाता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
(MERITS OF DIRECT ELECTION)

प्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख गुण अग्रलिखित हैं—

---

1 "There is no alternative to universal suffrage." —*H. J. Laski*

(1) **लोकतान्त्रिक धारणा के अनुकूल**—यह प्रणाली जनता को अपने प्रतिनिधियों का स्वयं प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचन करने का अवसर देती है इसलिए स्वाभाविक है कि यह प्रणाली लोकतान्त्रिक व्यवस्था के अनुरूप है।

(2) **सरल प्रणाली**—प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली का प्रमुख गुण यह है कि यह बहुत ही सरल प्रणाली है जिसका उपयोग शिक्षित-अशिक्षित सभी व्यक्तियों द्वारा किया जा सकता है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
* लोकतान्त्रिक धारणा के अनुकूल
* सरल प्रणाली
* उत्तरदायित्व की भावना
* राजनीतिक जागृति
* मतदाता एवं प्रतिनिधियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क

(3) **उत्तरदायित्व की भावना**—इसके अन्तर्गत जनता द्वारा प्रत्यक्ष रूप से निर्वाचित प्रतिनिधि जनता के प्रति अधिक उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं। प्रतिनिधियों को सदैव जनमत का भय रहता है क्योंकि उनको पुनः निर्वाचित होने के लिए जनता के पास जाना पड़ता है।

(4) **राजनीतिक जागृति**—प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली राजनीतिक शिक्षा और राजनीतिक जागृति का मूल स्रोत है। प्रत्यक्ष निर्वाचन से व्यक्ति अपने अधिकार एवं कर्त्तव्यों के प्रति जागरूक होते हैं तथा उन्हें राजनीतिक शिक्षा भी मिलती है।

(5) **मतदाता एवं प्रतिनिधियों के मध्य प्रत्यक्ष सम्पर्क**—इस प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता एवं उनके प्रतिनिधियों के बीच प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित होता है। प्रत्येक प्रत्याशी अधिक-से-अधिक मतदाताओं से मिलकर उन्हें अपना कार्यक्रम तथा नीति समझाता है और उन्हें प्रभावित करने का प्रयास करता है। इस प्रकार मतदाता प्रत्याशियों के व्यक्तित्व एवं उनके कार्यक्रमों के सम्बन्ध में अधिकतम जानकारी प्राप्त करते हैं और उन्हें निर्वाचन के लिए निर्णय लेने में सुगमता होती है।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF DIRECT ELECTION)

प्रत्यक्ष निर्वाचन में निम्नलिखित अवगुण अथवा दोष हैं—

(1) **सामान्य निर्वाचक का मत त्रुटिपूर्ण**—आलोचकों की मान्यता है कि जनता अपने मत का बुद्धिपूर्वक प्रयोग करने के लिए उत्तम निर्णायक नहीं है। साधारण मतदाता प्रत्याशियों के व्यक्तित्व एवं उनकी नीतियों पर विचार न करके जोशीले भाषणों तथा मिथ्या प्रचार के प्रवाह में आकर मतदान करते हैं और अयोग्य एवं धूर्त प्रत्याशियों को चुन लेते हैं।

प्रत्यक्ष निर्वाचन के अवगुण
* सामान्य निर्वाचक का मत त्रुटिपूर्ण
* अपव्ययी व्यवस्था
* पेशेवर राजनीतिज्ञों की प्रधानता
* प्रतिभावान व्यक्ति निर्वाचन से दूर
* सार्वजनिक शिक्षा का तर्क भ्रामक

(2) **अपव्ययी व्यवस्था**—यह अत्यधिक खर्चीली प्रणाली है। व्यापक पैमाने पर चुनाव का आयोजन करने से निर्वाचन में अत्यधिक व्यय होता है। निर्धन देशों के लिए चुनाव एक भारस्वरूप है, इसके व्यय की मात्रा इतनी अधिक होती है कि इसका प्रभाव देश की आर्थिक स्थिति पर पड़ता है। इसके अतिरिक्त, योग्य, किन्तु निर्धन व्यक्ति निर्वाचनों में भाग नहीं ले पाते हैं।

(3) **पेशेवर राजनीतिज्ञों की प्रधानता**—प्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली में पेशेवर राजनीतिज्ञों की प्रधानता रहती है। इस प्रकार के राजनीतिज्ञ जनता को अपने स्वार्थ के अनुसार पक्ष में

करने और प्रभावित करने की चेष्टा करते हैं। परिणामस्वरूप जनता गर... धारणाओं के आधार पर मतदान कर सकती है।

(4) प्रतिभावान व्यक्ति निर्वाचन से दूर—इस प्रणाली में झूठे प्रचार तथा भ्रष्ट तरीकों के कारण राजनीतिक वातावरण इतना दूषित हो जाता है कि प्रतिभावान एवं सत्यनिष्ठ व्यक्ति निर्वाचनों में प्रत्याशी के रूप में भाग लेने का साहस ही नहीं कर पाते हैं और योग्यतम व्यक्तियों की सेवा से राष्ट्र वंचित रह जाता है।

(5) सार्वजनिक शिक्षा का तर्क भ्रामक—प्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत जो चुनाव प्रचार किया जाता है और जिसे राजनीतिक शिक्षा का साधन कहा जाता है वह वास्तविक अर्थों में कुशिक्षा है। चुनाव में प्रत्याशियों के व्यक्तित्व और उनके कार्यक्रमों को भली-भाँति समझाने के स्थान पर मतदाता को सुनियोजित ढंग से भ्रमित किया जाता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
(MERITS OF INDIRECT ELECTION)

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के प्रमुख गुण निम्नलिखित हैं—

(1) निर्वाचन प्रणाली के दोषों का निवारण—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में निर्वाचन प्रणाली के जो मूलभूत दोष हैं, उनका निवारण हो जाता है। इसमें भीड़तन्त्र की बुराई नहीं होती और दलबन्दी की भावना सीमित रहती है। चुनाव में बहुत अधिक झूठा प्रचार नहीं किया जाता अतः देश में राजनीतिक उत्तेजना उत्पन्न नहीं होती है। निर्वाचनों में हुल्लड़बाजी और दंगों की आशंकाएँ भी कम हो जाती हैं। इस प्रणाली में निर्वाचक मण्डलों के सदस्यों की संख्या कम होने के फलस्वरूप चुनाव प्रचार में अपव्यय नहीं करना पड़ता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के गुण
* निर्वाचन प्रणाली के दोषों का निवारण
* पेशेवर राजनीतिज्ञों का अभाव
* योग्य व्यक्तियों के निर्वाचन की अधिक सम्भावना
* बड़े चुनाव क्षेत्रों हेतु उपयुक्त
* नवस्थापित लोकतन्त्रों हेतु श्रेष्ठ

(2) पेशेवर राजनीतिज्ञों का अभाव— अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अन्तर्गत निर्वाचक-मण्डल के कारण मतदाताओं की संख्या सीमित रहती है। इतना ही नहीं, मतदाता शिक्षित और समझदार भी होते हैं। अतः उन पर पेशेवर राजनीतिज्ञों का प्रभाव नहीं पड़ता। यही कारण है कि जहाँ अप्रत्यक्ष निर्वाचन की व्यवस्था है वहाँ पेशेवर राजनीतिज्ञों की संख्या कम रहती है।

(3) योग्य व्यक्तियों के निर्वाचन की अधिक सम्भावना—जनता द्वारा निर्वाचित निर्वाचक मण्डल के सदस्य, सामान्य मतदाताओं की तुलना में अधिक बुद्धिमान होते हैं अतः उनसे अपेक्षा की जा सकती है कि वे योग्य प्रतिनिधियों का निर्वाचन करेंगे। इसके अतिरिक्त, प्रतिभावान व्यक्ति प्रत्यक्ष निर्वाचन में भाग लेने का साहस नहीं कर पाते किन्तु अप्रत्यक्ष निर्वाचन में प्रत्याशी के रूप में खड़े होना पसन्द करते हैं क्योंकि उनको निर्वाचक मण्डल के सदस्यों से ही सम्पर्क करना होता है जो संख्या में सीमित होते हैं।

(4) बड़े चुनाव क्षेत्रों हेतु उपयुक्त—बड़े चुनाव क्षेत्रों में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली ही उपयुक्त होती है। उदाहरण के लिए, भारत और संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपतियों के निर्वाचन में अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली उपयोगी रही है।

(5) नवस्थापित लोकतन्त्रों हेतु श्रेष्ठ—नवस्थापित लोकतन्त्रों में राजनीतिक जागरूकता नहीं होने के कारण जनता द्वारा अयोग्य व्यक्तियों के प्रतिनिधि चुने जाने का भय रहता है। अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली को अपनाकर इस प्रकार के भय का निवारण किया जा सकता है।

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF INDIRECT ELECTION)

इस प्रणाली की निम्नलिखित दोषों के कारण तीव्र आलोचना की गयी है—

(1) लोकतान्त्रिक—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली लोकतान्त्रिक प्रणाली है क्योंकि इसमें समस्त जनता को अपने प्रतिनिधि प्रत्यक्ष रूप से चुनने का अधिकार नहीं मिलता। इस पद्धति में मतदाताओं की संख्या बहुत कम रहती है। अतः जनसाधारण में इस प्रणाली के प्रति असन्तोष उत्पन्न हो जाता है। लीवर के शब्दों में, "मेरा विश्वास है कि यदि दोहरी निर्वाचन प्रणाली अपना ली जाय तो अमेरिकन एवं अंग्रेज दोनों मताधिकार को निरर्थक समझने लगेंगे।"

अप्रत्यक्ष निर्वाचन के अवगुण
* लोकतान्त्रिक
* भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन
* जनता एवं उसके प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव
* जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं मिलता
* दल-प्रणाली के कुप्रभाव

(2) भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन—अप्रत्यक्ष निर्वाचन में जनता और प्रत्याशी के बीच सीधा सम्पर्क नहीं रहता है, दोनों के बीच 'मध्यस्थ' के रूप में निर्वाचक-मण्डल होता है। निर्वाचक मण्डल के सदस्यों की संख्या सीमित होने के कारण प्रत्याशियों द्वारा उनको धन का प्रलोभन देकर अपने पक्ष में करना सुगम हो जाता है। अरस्तू ने उचित कहा है, "थोड़े-से लोगों को भ्रष्ट करना अधिक लोगों को भ्रष्ट करने से सरल है, वे सम्मान अथवा धन के प्रति अधिक लालायित रहते हैं।"[1]

(3) जनता एवं उसके प्रतिनिधियों में प्रत्यक्ष सम्पर्क का अभाव—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली के अन्तर्गत जनता प्रत्यक्ष रूप से मतदान में भाग नहीं लेती अतः जनता और प्रतिनिधियों के बीच निर्वाचक-मण्डल की बाधा होने के कारण जनता का अपने प्रतिनिधियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता और निर्वाचन का मूल उद्देश्य विफल हो जाता है।

(4) जनता को राजनीतिक प्रशिक्षण नहीं मिलता—अप्रत्यक्ष निर्वाचन-प्रणाली में जनता चुनाव में प्रत्यक्ष रूप से भाग नहीं लेती है जिसके फलस्वरूप अधिकांश जनता राजनीतिक वातावरण से दूर रहती है तथा उन्हें राजनीतिक समस्याओं एवं विभिन्न दलों की नीतियों एवं कार्यक्रमों की विशेष जानकारी नहीं रहती है। अतः जनता को किसी प्रकार की राजनीतिक शिक्षा नहीं मिल पाती। इसके अतिरिक्त, जनसाधारण में सार्वजनिक कार्यों के प्रति उदासीनता की भावना उत्पन्न हो जाने की सम्भावना रहती है।

(5) दल-प्रणाली के कुप्रभाव—आलोचकों का मत है कि अप्रत्यक्ष निर्वाचन दलीय पद्धति के कुप्रभावों को सीमित करने के स्थान पर उनको अधिक प्रोत्साहित करने का कार्य करता है। अमेरिका के राष्ट्रपति का निर्वाचन इसका प्रमाण है। इस सम्बन्ध में लक्ष्य करते हुए लास्की ने कहा है, "वह चार माह का राजनीतिक व्यभिचार है।"

प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली के गुण-दोषों का विवेचन करने के उपरान्त यह सरलता से कहा जा सकता है कि व्यवस्थापिका के निम्न सदन का निर्वाचन तो प्रत्यक्ष

1 "Few are more corruptible than many, more susceptible to bribery or honour." —*Aristotle*

रूप से होना चाहिए। दूसरे सदन का निर्वाचन अप्रत्यक्ष रूप से किया जा सकता है। इससे एक सदन वास्तविक रूप से जनता के निकट होगा। उसका संगठन जन-भावनाओं के अनुरूप होगा और दूसरा सदन ऐंसा होगा जिसमें प्रतिभाओं का प्रवेश हो सकता है तथा जिसमें अल्पमतों को भी उचित प्रतिनिधित्व मिल सकता है।

निर्वाचन क्षेत्र
(CONSTITUENCIES)

निर्वाचन क्षेत्र से तात्पर्य है, क्षेत्र विशेष के वे व्यक्ति जो अपना प्रतिनिधि चुनने के अधिकारी हैं। निर्वाचन क्षेत्र मुख्य रूप से दो प्रकार के एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Single-member Constituencies) और बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र (Multi-member Constituencies) होते हैं।

एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र अथवा एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र के अन्तर्गत एक निर्वाचन क्षेत्र से एक ही प्रतिनिधि चुना जाता है। इस प्रणाली में सम्पूर्ण देश को उतने ही निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है जितने कि प्रतिनिधि निर्वाचित किये जाते हैं।

एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र का सबसे बड़ा लाभ यह है कि उस क्षेत्र के सभी प्रत्याशी जनता के सामने होते हैं। जनता उनमें से जिसे सर्वाधिक पसन्द करती है उसके पक्ष में मत देकर उसे चुन लेती है। एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से चुना हुआ प्रत्याशी सीधे जनता का प्रत्याशी होता है। इसके अतिरिक्त, एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र से प्रतिनिधि सीधा सम्पर्क बनाये रखकर अपने निर्वाचन क्षेत्र की सेवा कर सकता है।

बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र अथवा बहुल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र अथवा साधारण टिकट प्रणाली के अन्तर्गत एक निर्वाचन क्षेत्र से एक साथ एक से अधिक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र से अनेक प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं अतः प्रत्येक मतदाता को एक से अधिक मत देने का अधिकार होता है लेकिन कोई मतदाता एक प्रत्याशी को एक से अधिक मत नहीं दे सकता है। विजयी प्रत्याशियों को एक निश्चित मत-संख्या प्राप्त करनी होती है और बहुमत प्राप्त करना आवश्यक नहीं होता है।

इस निर्वाचन क्षेत्र का प्रयोजन मुख्य रूप से अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्रदान करना है। बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में एक साथ अनेक प्रत्याशियों के चुने जाने के प्रावधान के कारण जनता एक साथ भिन्न-भिन्न दलों के अच्छे प्रत्याशियों को चुन सकती है।

वर्तमान समय में यह स्वीकार किया जाने लगा है कि यद्यपि एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में कुछ दोष निहित हैं किन्तु व्यवहार में यह बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र की तुलना में श्रेष्ठ है। यही कारण है कि प्रायः सभी देशों में निर्वाचन के लिए एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र प्रचलित हैं।

मतदान की प्रणालियाँ
(METHODS OF BALLOT)

मतदान की दो प्रमुख प्रणालियाँ—प्रकट मतदान अथवा खुला मतदान (Open Ballot) और गुप्त मतदान (Secret Ballot) हैं।

प्रकट मतदान अथवा खुला मतदान—जब मतदान प्रकट रूप से सबके सामने हाथ उठाकर अथवा अन्य किसी संकेत अथवा विधि से किया जाये तो उसको प्रकट मतदान कहा

जाता है। प्राचीन काल में प्रकट मतदान की ही प्रथा थी। यूनान के नगर-राज्यों तथा भारत के ग्रामीण गणतन्त्रों में व्यक्ति एक स्थान पर एकत्रित होकर प्रकट मतदान करते थे। 19वीं शताब्दी में अनेक देशों में प्रकट या खुले रूप से मत देने की प्रणाली प्रचलित थी। इंगलैण्ड में 19वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक मतदान खुले रूप में होता था। आज भी स्विट्जरलैण्ड के कुछ कैन्टनों में यह प्रथा प्रचलित है। **मॉटेस्क्यू, जे. एस. मिल तथा ट्रॉटस्की** इत्यादि विद्वानों ने भी प्रकट मतदान का समर्थन किया है। **माण्टेस्क्यू** का विचार था कि इसके कारण अशिक्षित व्यक्ति अपना मतदान ठीक प्रकार से करेंगे क्योंकि बुद्धिमान व्यक्तियों को देखकर निर्णय लेना उनके लिए सरल हो जायेगा। **जे. एस. मिल** ने कहा है कि मतदान एक सार्वजनिक कर्त्तव्य है। अतः, अन्य सार्वजनिक कर्त्तव्यों की भाँति जनता की दृष्टि तथा समीक्षा के बीच मतदान-कार्य सम्पादित होना चाहिए। विद्वानों का विचार है कि मतदान की यह प्रणाली लोकतन्त्र के अनुकूल तथा मतदान की तकनीकी त्रुटियों से वंचित है।

प्रकट मतदान-प्रणाली आधुनिक विचारकों द्वारा प्रशंसित नहीं हुई है। विचारकों ने इस प्रणाली का विरोध किया है। प्रकट मतदान-प्रणाली के अन्तर्गत मतदाता को मतदान करने में पूरी स्वतन्त्रता नहीं रहती। वह निर्भीक तथा निष्पक्ष होकर मतदान नहीं कर पाता।

गुप्त मतदान—जब मतदाता इस प्रकार गोपनीय विधि से मत देता है कि उसे कोई अन्य व्यक्ति नहीं जान सके कि उसने किसे मत दिया है तो इसे गुप्त मतदान कहते हैं। इस प्रकार मतदाता स्वतन्त्रतापूर्वक अपने मतदान का प्रयोग कर सकते हैं और उन पर किसी के दबाव की आशंका नहीं रहती। **हेरिंग्टन तथा काउन्ट अण्डरेसी** ने गुप्त मतदान का प्रबल समर्थन किया है। आजकल विश्व के सभी लोकतान्त्रिक देशों में गुप्त मतदान-प्रणाली द्वारा ही चुनाव होते हैं। आदर्श रूप में प्रकट मतदान की प्रणाली अच्छी हो सकती है किन्तु व्यवहार में गुप्त मतदान की प्रणाली ही सर्वश्रेष्ठ है।

अनिवार्य मतदान
(COMPULSORY VOTING)

इस व्यवस्था के अन्तर्गत प्रत्येक मतदाता को अनिवार्य रूप से मतदान करना होता है तथा जो नागरिक मतदान नहीं करते उन्हें राजकोष में निश्चित आर्थिक दण्ड जमा करना पड़ता है। इस व्यवस्था के समर्थन में यह तर्क दिया जाता है कि मताधिकार केवल एक अधिकार ही नहीं है वरन् यह एक कर्त्तव्य भी है, अतः नागरिकों को अनिवार्य रूप से मतदान करना चाहिए। जो व्यक्ति इस कर्त्तव्य का पालन नहीं करते वे उत्तम नागरिक नहीं हैं और उनको दण्ड देना उचित है। अनेक बार नागरिकों में मतदान के प्रति अरुचि एवं उदासीनता के कारण मतदान का प्रतिशत बहुत कम हो जाता है और वयस्क मताधिकार के लाभ नहीं मिल पाते।

अनिवार्य मतदान सिद्धान्त रूप में अच्छा होने के उपरान्त भी व्यावहारिक दृष्टि से दोषपूर्ण है क्योंकि बल के आधार पर नागरिकों को आदर्श मतदान के लिए प्रेरित नहीं किया जा सकता है। जो व्यक्ति अपने मताधिकार का प्रयोग करने नहीं जाते उन्हें सार्वजनिक जीवन के प्रति कोई रुचि अथवा विशेष ज्ञान नहीं होता है। अतः ऐसे व्यक्ति को मत देने के लिए बाध्य किया गया तो वह अनिच्छापूर्वक या प्रलोभन में आकर मतदान करेगा और इससे सामाजिक हित के स्थान पर सामाजिक क्षति ही होगी। मतदान नागरिक का नैतिक कर्त्तव्य है और शक्ति के आधार पर व्यक्ति को नैतिक बनाना सम्भव नहीं है। इस त्रुटि को दूर करने के लिए जनमत निर्माण के साधनों का इस प्रकार चातुर्य से प्रयोग किया जाय कि सामान्य

जन स्वाभाविक रूप से सार्वजनिक विषयों के प्रति आकर्षित हों और उत्साहित होकर मतदान करें।

अल्पसंख्यकों का प्रतिनिधित्व
(MINORITY REPRESENTATION)

यद्यपि सैद्धान्तिक दृष्टि से लोकतन्त्र को सम्पूर्ण जनता के शासन की संज्ञा दी जाती है परन्तु व्यावहारिक रूप से बहुमत निर्वाचन प्रणाली के अपनाने के फलस्वरूप लोकतन्त्र 'बहुमत का शासन' बन जाता है। इसलिए यह आवश्यक है कि मिल के शब्दों में, "लोकतन्त्र के आवश्यक अंग के रूप में अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान किया जाये।" वह आगे कहता है, "किसी वास्तविक रूप से समान लोकतन्त्र में प्रत्येक या किसी भी वर्ग को प्रतिनिधित्व दिया जाना चाहिए जो अनुपात से अधिक या कम न हो। जो निर्वाचक बहुसंख्या में हैं उन्हें सदैव अधिक प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिलेगा लेकिन जो निर्वाचक अल्पसंख्या में हैं उन्हें कम संख्या में प्रतिनिधि भेजने का अवसर मिलना ही चाहिए। एक के बदले एक के अनुसार उनको उतना ही प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा जितना बहुसंख्यकों को मिला है। जब तक उन्हें उपयुक्त प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा, सरकार को समान नहीं कहा जा सकता बल्कि वह असमानता और विशेषाधिकार का शासन होगा जो न्यायपूर्ण शासन के विरुद्ध होगा जो यह दावा करता है कि समता इसका मूल और इसकी बुनियाद है।"

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की प्रणालियाँ
(METHODS FOR THE REPRESENTATION OF MINORITIES)

अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की निम्नलिखित प्रमुख प्रणालियों का प्रतिपादन किया गया है—

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व, 2. संचित मत प्रणाली, 3. सीमित मत प्रणाली, 4. द्वितीय मत प्रणाली, 5. पृथक् निर्वाचन प्रणाली तथा 6. आरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली।

1. आनुपातिक प्रतिनिधित्व—इस प्रणाली का प्रतिपादन 19वीं शताब्दी में एक अंग्रेज विद्वान थॉमस हेयर ने किया था। अतः इसे 'हेयर-प्रणाली' भी कहा जाता है। इस प्रणाली को प्रयोग में लाने के लिए बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने चाहिए तथा इन निर्वाचन क्षेत्रों में प्रत्येक मतदाता को उतने मत देने का अधिकार होता है जितने कि प्रतिनिधि निर्वाचित होने हैं। निर्वाचित होने के लिए डाले गये मतों का बहुमत प्राप्त करने की आवश्यकता नहीं होती है बल्कि निश्चित 'चुनाव-कोटा' (Election Quota) प्राप्त करने की आवश्यकता होती है। इस प्रणाली का प्रयोग निम्नलिखित दो रूपों में किया जाता है—

(i) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली (Single Transferable Vote System)

(ii) सूची प्रणाली (List System)

(i) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली—इस प्रणाली में देश बहुत से निर्वाचन क्षेत्रों में विभाजित कर दिया जाता है। एक निर्वाचन क्षेत्र में चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या चाहे कितनी भी हो, प्रत्येक मतदाता को केवल एक ही मत देने का अधिकार प्राप्त होता है। एक निर्वाचन क्षेत्र के सभी प्रत्याशियों के नाम एक मतपत्र पर लिखे होते हैं और प्रत्येक मतदाता मतपत्र पर लिखे प्रत्याशियों में से जिसको सर्वाधिक उपयुक्त समझता है उसके नाम के सामने अपनी पहली पसन्द, उससे कम उपयुक्त प्रत्याशी के नाम के सामने अपनी द्वितीय पसन्द और इसी प्रकार जितने प्रतिनिधि चुने जाने हैं उतनी पसन्दें क्रमवार भर देता है। इस प्रकार मतदाता

चाहे तो सभी प्रत्याशियों को प्राथमिकता के क्रम से मत दे सकता है और चाहे तो कुछ को ही प्राथमिकता के आधार पर मत दे सकता है। लेकिन उससे यह अपेक्षा अवश्य की जाती है कि वह अपनी पसन्दों को सही तरीके से भरे अन्यथा उसके मतपत्र को निरस्त समझा जायेगा। पसन्द के उल्लेख करने की यह विधि प्रत्येक मतपत्र का समुचित प्रयोग करने के उद्देश्य से अपनायी जाती है।

निश्चित कोटा—मतों की गणना के समय निश्चित कोटा ज्ञात किया जाता है। यदि कोई प्रत्याशी मतों का एक निश्चित कोटा प्राप्त कर लेता है तो वह निर्वाचित समझा जाता है। इस कोटे के निर्धारण का उपाय यह है कि प्रयुक्त किये गये वैध मतों की संख्या में निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या में एक जोड़कर उसका भाग दे दिया जाता है। भाज्य-फल में एक जोड़ देने से यह कोटा प्राप्त हो जाता है। इसका सूत्र निम्न प्रकार है—

$$\text{निश्चित कोटा} = \frac{\text{वैध मतों की संख्या}}{\text{निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या} + 1} + 1$$

मतगणना—जिस प्रत्याशी को निश्चित कोटे के अंक के समान या उससे अधिक मत प्राप्त होते हैं उसे निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। जब कोई प्रत्याशी अपनी लोकप्रियता के कारण निश्चित कोटे से अधिक मत प्राप्त कर लेता है तो इन अतिरिक्त मतों को मतदाताओं की द्वितीय पसन्द के प्रत्याशी को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। इसी प्रकार यदि किसी प्रत्याशी को इतने कम मत प्राप्त हों कि उसके निर्वाचित होने की कोई सम्भावना शेष न रहे तो मतदाताओं की पसन्द के अनुसार इन मतों को अन्य प्रत्याशियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। मतों के हस्तान्तरण की इस विधि के कारण ही इसे **'एकल संक्रमणीय मत प्रणाली' (Single Transferable Vote System)** के नाम से पुकारा जाता है।

जब पहली पसन्द के मतों की गणना के आधार पर निश्चित संख्या में प्रतिनिधि निर्वाचित नहीं हो पाते तब मतों का हस्तान्तरण किया जाता है। निर्वाचित प्रत्याशियों के निश्चित कोटे से अधिक मतों को द्वितीय पसन्द के आधार पर अन्य प्रत्याशियों को हस्तान्तरित कर दिया जाता है। ऐसा करने से जो प्रत्याशी निश्चित कोटा प्राप्त कर लेते हैं उन्हें निर्वाचित घोषित कर दिया जाता है। इस प्रकार मतों का उस समय तक हस्तान्तरण होता रहता है जब तक कि अपेक्षित संख्या में प्रत्याशी निश्चित कोटा प्राप्त नहीं कर लेते हैं।

भारत में राज्यसभा और विधान परिषद के सदस्यों का चुनाव इसी पद्धति से होता है। राष्ट्रपति के चुनाव में भी यही पद्धति प्रयोग में लायी जाती है। स्वीडन, नार्वे, फिनलैण्ड व डेनमार्क आदि देशों में भी यह प्रणाली प्रचलित है।

(ii) सूची प्रणाली—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का दूसरा रूप सूची-प्रणाली है। इस प्रणाली में भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होते हैं। इसके अन्तर्गत प्रत्याशी व्यक्तिगत रूप से नहीं बल्कि दलीय आधार पर खड़े किये जाते हैं। एक निर्वाचन क्षेत्र से 20 तक प्रतिनिधि चुने जा सकते हैं। प्रत्येक दल अपने प्रत्याशियों की सूची तैयार करता है। प्रत्येक दल द्वारा सूची में उतने ही प्रत्याशियों के नाम दिये जाते हैं जितने कि प्रतिनिधि उस क्षेत्र से निर्वाचित होने हैं। प्रत्येक मतदाता चुने जाने वाले प्रतिनिधियों की संख्या के बराबर मत दे सकता है परन्तु मतदाता अपने मत किसी भी दल की पूरी एक सूची के पक्ष में मत देते हैं, व्यक्तिगत रूप से प्रत्याशियों को नहीं। इसके पश्चात् एकल संक्रमणीय मत प्रणाली के अनुसार निश्चित कोटा निकाला जाता है और दल द्वारा प्राप्त मतों की संख्या को निश्चित कोटे के अंक से भाग देकर यह निश्चय किया जाता है कि प्रत्येक दल कितने स्थानों का अधिकारी है अर्थात्

निर्वाचन में किस दल ने कितने प्रतिशत मत प्राप्त किये हैं और उसी प्रतिशत के अनुसार विभिन्न दलों के बीच स्थान वितरित कर दिये जाते हैं। इस प्रणाली में सभी दलों को इनकी शक्ति के अनुपात में प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है। यह पद्धति सरल है। मिल के अनुसार, "यह पद्धति राज्य के अन्दर स्थित विभिन्न दलों व समूहों के बीच सीटें वितरित करने का सर्वश्रेष्ठ तरीका है।"

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण (Merits of Proportional Representation)—आनुपातिक प्रणाली से निर्वाचन की व्यवस्था में अनेक गुण हैं जिनमें से महत्त्वपूर्ण निम्नलिखित हैं—

(1) अधिक लोकतन्त्रीय—अनेक विद्वान् इस प्रणाली को अधिक लोकतन्त्रीय कहते हैं क्योंकि इसमें अधिक तरह के व्यक्तियों को शासन में भाग लेने का अवसर मिलता है। लॉर्ड ऐक्टन के शब्दों में, "यह अत्यधिक लोकतान्त्रिक है क्योंकि यह उन हजारों व्यक्तियों के प्रभाव को बढ़ाती है जिसकी सरकार में अन्यथा कोई आवाज नहीं होती और ऐसी व्यवस्था करके यह व्यक्तियों को समानता के अधिक निकट लाती है कि कोई मत व्यर्थ नहीं जायेगा और प्रत्येक मतदाता का इसमें योगदान होगा कि संसद में उसका भी अपना सदस्य है।"

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के गुण
* अधिक लोकतन्त्रीय
* मतदाताओं के सभी मतों का प्रयोग
* कटुता की समाप्ति
* बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं
* अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व
* राजनीतिक चेतना का विकास

(2) मतदाताओं के सभी मतों का प्रयोग—यह प्रणाली मतों के अपव्यय को रोककर मताधिकार को सार्थक बना देती है। यदि किसी का पहली पसन्द का मत काम में नहीं आता तो दूसरी अथवा तीसरी पसन्द का मत काम में आ जाता है। इस कारण किसी भी मतदाता का मत व्यर्थ नहीं जाता है।

(3) कटुता की समाप्ति—सामान्य निर्वाचन प्रणाली में चुनाव के बाद बहुत कटुता बढ़ जाती है। पराजित पक्ष अपमानित अनुभव करता है और बदले की भावना से कार्य करता है लेकिन आनुपातिक मत प्रणाली में क्योंकि सभी महत्त्वपूर्ण अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है इसलिए उनमें दुर्भावना और कटुता नहीं रहती।

(4) बहुमत की निरंकुशता का भय नहीं—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली में साधारणतया किसी एक राजनीतिक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता है इसलिए संविद मन्त्रिमण्डल बनते हैं जो अपनी प्रकृति के कारण निरंकुश नहीं हो पाते। अतः अल्पमत को बहुमत के अत्याचारी शासन का भय नहीं रहता है।

(5) अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व—इस प्रणाली से अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। जब विधानमण्डल में प्रत्येक वर्ग को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है और उनको विचार व्यक्त करने का अवसर मिलता है तो प्रजातन्त्र अपने पूर्ण एवं वास्तविक रूप में प्रकट होता है।

(6) राजनीतिक चेतना का विकास—यह प्रणाली राजनीतिक चेतना के विकास में सहायक है। इसकी विशिष्ट प्रकृति के कारण मतदान से पूर्व प्रत्येक मतदाता को प्रत्याशियों और दलों का चुनाव करने के लिए पर्याप्त सोचना पड़ता है। इसके अतिरिक्त, सभी वर्गों

को व्यवस्थापिका में उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त हो जाता है। अतः चुनावों के बाद भी ये सार्वजनिक जीवन में सक्रिय बने रहते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अवगुण अथवा दोष (Demerits of Proportional Representation)—सी. एफ. स्ट्रांग के अनुसार, "सैद्धान्तिक दृष्टि से आनुपातिक प्रतिनिधित्व सभी प्रकार से श्रेष्ठ प्रतीत होता है किन्तु व्यवहार में स्थिति ऐसी नहीं है।" इसके प्रमुख अवगुण अथवा दोष निम्नलिखित हैं—

(1) जटिल प्रणाली—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली की प्रक्रिया अत्यन्त जटिल है। मतदाताओं को प्रायः वरीयता क्रम से मत प्रदान करने में कठिनाई होती है। वह उचित रूप से अपनी पसन्दों का प्रयोग नहीं कर पाता। मतगणना का कार्य तो अत्यन्त कठिन है। इसकी जटिलता के कारण बहुत कम मतदाता इसको ठीक प्रकार से समझ सकते हैं।

आनुपातिक प्रतिनिधित्व के अवगुण
* जटिल प्रणाली
* अशिक्षित मतदाताओं के लिए अनुपयुक्त
* मतदाता और प्रतिनिधि में सम्पर्क का अभाव
* छोटे-छोटे अनेक राजनीतिक दलों का जन्म
* राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक
* अस्थायी सरकारें

(2) अशिक्षित मतदाताओं के लिए अनुपयुक्त—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का प्रयोग वहीं किया जा सकता है, जहाँ मतदाता शत-प्रतिशत शिक्षित हों। अशिक्षित मतदाताओं में इसका प्रयोग नहीं किया जा सकता जबकि अनेक देशों में अधिकांश मतदाता अशिक्षित होते हैं। अतः यह प्रणाली सभी देशों में नहीं अपनायी जा सकती।

(3) मतदाता और प्रतिनिधि में सम्पर्क का अभाव—इस प्रणाली में मतदाताओं तथा प्रतिनिधियों में सम्पर्क स्थापित नहीं हो पाता क्योंकि बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र होने के कारण निर्वाचन क्षेत्र अत्यन्त बड़ा होता है। इसके अतिरिक्त एक निर्वाचन क्षेत्र से अनेक प्रतिनिधि चुने जाते हैं। अतः अनेक प्रतिनिधियों के कारण कोई भी समुचित रूप से अपने क्षेत्र की समस्याओं का प्रतिनिधित्व नहीं कर पाता क्योंकि प्रत्येक एक-दूसरे पर उत्तरदायित्व टालने का प्रयास करता है।

(4) छोटे-छोटे अनेक राजनीतिक दलों का जन्म—इस प्रणाली का एक प्रमुख दोष यह है कि इससे दलों की संख्यां में कमी होने के स्थान पर वृद्धि होती है। इससे अनेक छोटे-छोटे दल अस्तित्व में आते हैं जिसके फलस्वरूप दलों का ध्रुवीकरण न होने से मजबूत और शक्तिशाली राजनीतिक दलों का उदय नहीं हो पाता।

(5) राष्ट्रीय एकता के मार्ग में बाधक—इस प्रणाली के आधार पर निर्वाचित व्यवस्थापिका अनेक छोटे-छोटे वर्गों एवं राजनीतिक दलों के संघर्ष का केन्द्र बन जाती है। सभी समस्याओं पर राष्ट्रीय हित की अपेक्षा वर्गीय हितों के दृष्टिकोण से विचार-विमर्श किया जाता है। सिजविक के शब्दों में, **"वर्गीय प्रतिनिधित्व आवश्यक रूप से दूषित व्यवस्थापन को प्रोत्साहित करता है।"**

(6) अस्थायी सरकारें—आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली के प्रयोग से व्यवस्थापिका के चुनाव में अनेक छोटे-छोटे दल चुनकर आते हैं। किसी भी एक दल को स्पष्ट बहुमत प्राप्त नहीं होता। अतः अनेक दलों की मिली-जुली सरकारें बनती हैं। इस प्रकार की मिली-जुली सरकारें प्रायः अस्थायी होती हैं।

2. संचित मत प्रणाली (Cumulative Vote System)—अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने के लिए यह मत प्रणाली भी अपनायी जाती है। इसका प्रयोग बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में किया जाता है। प्रत्येक मतदाता उतने मत देता है जितने स्थानों के लिये प्रतिनिधियों का चुनाव होना है किन्तु मतदाता को अधिकार होता है कि यदि वह चाहे तो अपने सभी मत एक ही प्रत्याशी को दे दे या सभी प्रत्याशियों में मतों का विभाजन कर दे। चूँकि मतदाता को अपने सभी मतों को एक ही प्रत्याशी को देने का अधिकार प्राप्त होता है इसलिए इसे संचित मत प्रणाली की संज्ञा दी गयी है। यह पद्धति अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व प्रदान करने में सहायक होती है। छोटे-छोटे अल्पसंख्यक वर्ग भी यदि पूर्ण संगठित हों तो व्यवस्थापिका में प्रतिनिधित्व प्राप्त कर सकते हैं। इस प्रणाली को **एकत्रित मत प्रणाली** (Plumping vote system) भी कहा जाता है।

3. सीमित मत प्रणाली (Limited Vote System)—यह प्रणाली भी बहुसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्रों में अपनायी जाती है। इसका प्रयोग ऐसे निर्वाचन क्षेत्रों में किया जाता है जिनसे तीन या तीन से अधिक प्रतिनिधि चुने जाने हों। प्रत्येक मतदाता को निर्धारित स्थानों की संख्या से कम मत देने का अधिकार होता है। इसीलिए इसे सीमित मत प्रणाली (Limited Vote System) कहा जाता है। किन्तु मतदाता एक प्रतिनिधि को एक से अधिक मत नहीं दे सकता। इसका परिणाम यह होता है कि यदि अल्पसंख्यक संगठित हैं तो उन्हें कुछ स्थान अवश्य प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रणाली का दोष यह है कि सभी अल्पसंख्यक वर्गों को प्रतिनिधित्व नहीं मिल पाता अपितु केवल बड़े अल्पसंख्यक वर्गों को ही कुछ प्रतिनिधित्व प्राप्त हो पाता है।

4. द्वितीय मत प्रणाली (Second Ballot System)—मतदाताओं के व्यापक प्रतिनिधित्व के लिये द्वितीय मतदान प्रणाली अपनायी जाती है। इस प्रणाली में प्रत्याशी को विजयी होने के लिये डाले गये मतों का 50 प्रतिशत से अधिक भाग प्राप्त होना आवश्यक होता है। जब एक ही स्थान के लिए दो से अधिक प्रत्याशी चुनाव लड़ते हैं और किसी भी प्रत्याशी को मतदान में पूर्ण बहुमत प्राप्त नहीं होता तो अधिक मत प्राप्त करने वाले दो प्रत्याशियों के बीच दुबारा मतदान होता है और जिस प्रत्याशी को निरपेक्ष बहुमत प्राप्त हो जाता है वह विजयी घोषित कर दिया जाता है। फ्रांस के राष्ट्रपति के निर्वाचन में इस प्रणाली को अपनाया जाता है।

5. पृथक् निर्वाचन प्रणाली (Separate or Communal Electorate System)—इस प्रणाली में धर्म या सम्प्रदाय के आधार पर पृथक्-पृथक् निर्वाचन क्षेत्र बनाकर अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की व्यवस्था की जाती है। भारत में 1909 के मार्ले-मिन्टो सुधार अधिनियम द्वारा ब्रिटिश शासन ने इस प्रणाली को प्रचलित करके मुसलमानों के लिए पृथक् प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया था। इसके अनुसार निर्वाचित होने वाले प्रतिनिधियों की संख्या धार्मिक सम्प्रदायों की जनसंख्या के अनुपात में निश्चित कर दी जाती है तथा मतदाताओं को भी धर्म के आधार पर बाँट दिया जाता है। इसमें मतदाताओं को अपने-अपने धर्म के प्रतिनिधियों को ही मतदान करने का अधिकार रहता है। उदाहरणतः, हिन्दू-मतदाता हिन्दू-प्रतिनिधि के लिए मतदान कर सकते हैं और मुस्लिम-मतदाता मुस्लिम-प्रतिनिधियों के लिए। इस पद्धति द्वारा अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व तो अवश्य प्राप्त होता है किन्तु यह एक अत्यन्त खतरनाक प्रणाली है। इस प्रणाली के कारण राज्य में हमेशा फूट, विभेद और साम्प्रदायिक दंगे होने की आशंका रहती है। यह प्रणाली न केवल साम्प्रदायिक वैमनस्य उत्पन्न करती है बल्कि राष्ट्रविरोधी प्रवृत्तियों को भी जन्म देती है। इसका प्रयोग अंग्रेजों ने जान-बूझकर

'फूट डालो और शासन करो' (divide and rule) के उद्देश्य से किया था। वर्तमान समय में इस प्रणाली को अपनाने की कल्पना भी नहीं की जा सकती है।

6. आरक्षित स्थान युक्त संयुक्त निर्वाचन प्रणाली (Joint Electorate System with Reservation of Seats)—इस प्रणाली को एकसदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र में अपनाया जाता है। इस प्रणाली के अन्तर्गत निश्चित संख्या में कुछ निर्वाचन क्षेत्र अल्पसंख्यक वर्गों के लिए आरक्षित कर दिये जाते हैं। इन निर्वाचन क्षेत्रों में उस वर्ग विशेष के प्रतिनिधि ही चुनाव लड़ सकते हैं लेकिन ये प्रतिनिधि उस वर्ग विशेष के मतदाताओं द्वारा नहीं वरन् उस क्षेत्र विशेष के सभी मतदाताओं द्वारा निर्वाचित किये जाते हैं। इस प्रणाली का महत्त्वपूर्ण गुण यह है कि यह राष्ट्रीय एकता को छिन्न-भिन्न नहीं करती। इसमें अल्पसंख्यक वर्गों को प्रतिनिधित्व प्राप्त होने के साथ ऐसे प्रतिनिधि निर्वाचित होते हैं जिनको सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त होता है। इन प्रतिनिधियों द्वारा सार्वजनिक हित की दृष्टि से कार्य किया जाता है। भारत में अनुसूचित जातियों और जनजातियों को सुरक्षित स्थान देने के लिये इस प्रणाली को प्रयुक्त किया गया है।

जन-प्रतिनिधियों के कर्त्तव्य
(DUTIES OF REPRESENTATIVES)

मतदाताओं द्वारा चुने हुए प्रतिनिधि को विविध प्रकार के कर्त्तव्यों का निर्वाह करना होता है। उसके दायित्व विस्तृत तथा अधिक होते हैं। नागरिक और राजनीतिक जीवन का अध्ययन करने वाले विद्वानों द्वारा जन-प्रतिनिधियों के निम्नलिखित प्रमुख कर्त्तव्यों को इंगित किया गया है—

(1) राष्ट्रीय हित को सर्वाधिक महत्त्व देना—यद्यपि प्रतिनिधि किसी क्षेत्र विशेष से निर्वाचित होते हैं किन्तु उनके द्वारा अपने आपको उस क्षेत्र का ही प्रतिनिधि नहीं बल्कि सम्पूर्ण राष्ट्र का प्रतिनिधि मानना चाहिए। मतदाताओं को भी चाहिए कि वे प्रतिनिधि पर स्थानीय हित को ही सब कुछ समझने के लिए दबाव न डालें। एडमण्ड बर्क ने कहा है, "निःसन्देह तुम सदस्य को चुनते हो परन्तु जब तुमने उसको चुन लिया तब वह ब्रिस्टल का सदस्य नहीं रह गया वरन् पार्लियामेण्ट का सदस्य बन गया।"

जन-प्रतिनिधियों के कर्त्तव्य
* राष्ट्रीय हित को सर्वाधिक महत्त्व देना
* जनकल्याणकारी कार्यक्रम और नीतियाँ लागू करना
* मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों की जानकारी देना
* सदाचार एवं कर्त्तव्य-परायणता
* मतदाताओं से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना

(2) जनकल्याणकारी कार्यक्रम और नीतियाँ लागू करना—जन-प्रतिनिधियों का दायित्व है कि उनके द्वारा जिस कार्यक्रम और नीति के आधार पर निर्वाचन में भाग लिया गया है उसे लागू करें। इससे उनकी सत्यनिष्ठा प्रदर्शित होती है और मतदाताओं का उनके प्रति विश्वास जाग्रत होता है।

(3) मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों की जानकारी देना—मतदाताओं को सार्वजनिक विषयों की जानकारी प्रदान करना जन- प्रतिनिधियों का महत्त्वपूर्ण कर्तव्य है। इस प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर वे सार्वजनिक प्रश्नों के सम्बन्ध में समुचित निर्णय ले सकते हैं।

(4) सदाचार एवं कर्त्तव्य-परायणता—जन-प्रतिनिधि समाज के नायक और प्रेरणा-स्रोत होते हैं। उनके व्यवहार एवं चरित्र की छाप समाज के अन्य व्यक्तियों पर पड़ना सहज

और स्वाभाविक है। इसलिए जन-प्रतिनिधियों के द्वारा सदाचार तथा कर्त्तव्यपरायणता का श्रेष्ठ रूप में पालन करके उदाहरण प्रस्तुत करना चाहिए। उनका व्यक्तित्व उदार और चरित्र अनुकरणीय होना चाहिए।

(5) मतदाताओं से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखना—जन-प्रतिनिधि जनता और शासन के बीच एक कड़ी के रूप में होते हैं। अतः उनका कर्त्तव्य है कि वे जनता से निरन्तर सम्पर्क बनाये रखें, उनकी समस्याओं की जानकारी प्राप्त करते रहें तथा उनके समाधान के लिये सतत् प्रयत्नशील रहें। अपने निर्वाचकों से सम्पर्क स्थापित करने में उदासीनता प्रदर्शित करने से जन-प्रतिनिधियों के प्रति जनता की आस्था कम हो जाती है।

आदर्श निर्वाचन प्रणाली के तत्त्व

(ELEMENTS OF IDEAL ELECTORAL SYSTEM)

प्रतिनिधित्व की विभिन्न प्रणालियों की विवेचना के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना सरल है कि आदर्श निर्वाचन की प्रणाली में किन बातों का समावेश होना चाहिए। आदर्श निर्वाचन प्रणाली के लिए अनेक बातें आवश्यक हैं जिनमें से निम्नलिखित प्रमुख हैं—

(1) प्रतिनिधि के कार्यकाल का उचित निर्धारण—आदर्श निर्वाचन-प्रणाली में प्रतिनिधियों का कार्यकाल न बहुत अधिक और न बहुत कम होना चाहिए। 3 से 5 वर्ष तक के कार्यकाल को प्रायः उचित कहा जा सकता है।

आदर्श निर्वाचन प्रणाली के तत्त्व

* प्रतिनिधि के कार्यकाल का उचित निर्धारण
* अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की उचित व्यवस्था
* सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार
* गुप्त मतदान की व्यवस्था
* एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र
* मुख्य रूप से प्रत्यक्ष और गौण रूप से अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली
* प्रादेशिक प्रतिनिधित्व

(2) अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की उचित व्यवस्था—अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व की उचित व्यवस्था होनी चाहिए क्योंकि ऐसा न होने से अल्पसंख्यक वर्गों के व्यक्तियों की निष्ठा देश के प्रति नहीं होगी तथा उनके हितों को भी उचित प्रतिनिधित्व नहीं मिलेगा। इस सम्बन्ध में अल्पसंख्यक वर्गों के लिए 'सीटों के आरक्षण' की व्यवस्था को अपनाया जा सकता है। पृथक् निर्वाचन प्रणाली न अपनाकर संयुक्त निर्वाचन प्रणाली को ग्रहण किया जाना चाहिए।

(3) सार्वलौकिक वयस्क मताधिकार—लोकतन्त्र के मूल सिद्धान्तों में से एक सिद्धान्त समानता है और सभी नागरिकों को समान राजनीतिक शक्ति वयस्क मताधिकार की व्यवस्था द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। इसलिए सभी वयस्क नागरिकों को बिना किसी प्रकार के भेदभाव के मताधिकार प्राप्त होना चाहिए।

(4) गुप्त मतदान की व्यवस्था—आदर्श निर्वाचन प्रणाली में मतदान गुप्त विधि से होना चाहिए जिससे मत की गोपनीयता बनी रहे और मतदाता स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छानुसार मताधिकार का प्रयोग कर सकें।

(5) एकल-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र—निर्वाचन क्षेत्र साधारणतया एकल-सदस्यीय होने चाहिए जिससे मतदाताओं और प्रतिनिधियों के बीच उचित सम्पर्क बना रहे।

(6) मुख्य रूप से प्रत्यक्ष और गौण रूप से अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली—चूँकि प्रत्यक्ष निर्वाचन की प्रणाली में मतदाता अप[illegible] छाओं के [illegible]कूल स्वयं अ[illegible]तिनिधि चुनते हैं

अतः जहाँ तक सम्भव हो, अधिकांश संस्थाओं के निर्वाचन प्रत्यक्ष प्रणाली के आधार पर होने चाहिए। उन विशेष संस्थाओं के लिए ही अप्रत्यक्ष निर्वाचन होने चाहिए जिनमें प्रत्यक्ष निर्वाचन सम्भव या वांछनीय न हो। भारतीय संविधान के द्वारा प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष निर्वाचन का सुन्दर समन्वय किया गया है। लोकसभा व राज्यों की विधान-सभाओं के चुनावों के लिए प्रत्यक्ष निर्वाचन तथा राज्यसभा, राज्यों की विधान परिषदों, राष्ट्रपति व उपराष्ट्रपति के चुनावों के लिए अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली की व्यवस्था की गयी है।

(7) **प्रादेशिक प्रतिनिधित्व**—लोकतन्त्र में व्यावसायिक प्रतिनिधित्व अथवा साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व को अपनाना हितकर नहीं हो सकता। अतः लोकतान्त्रिक भावना और राष्ट्रीय आदर्शों की पूर्ति के लिए प्रादेशिक प्रतिनिधित्व को स्वीकार किया जाना चाहिए। 'एक व्यक्ति एक मत' का सिद्धान्त कठोर रूप से लागू होना चाहिए।

उपर्युक्त बातों के अतिरिक्त प्रतिनिधित्व वास्तव में योग्यतम तथा भ्रष्ट आचरण से रहित व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए। निर्वाचनों की व्यवस्था एक स्वतन्त्र और निष्पक्ष चुनाव आयोग के हाथों में रहनी चाहिए। इसके साथ ही यह भी आवश्यक है कि समस्त नागरिकों का आचरण ऐसा होना चाहिए जिससे कि आदर्श निर्वाचन के वातावरण को बल मिले। भूतपूर्व चुनाव आयुक्त आर. बी. एस. पेरीशास्त्री के शब्दों में, "चुनाव लोकतन्त्र की कसौटी है और प्रत्याशी चुनावों के मेरुदण्ड। प्रत्येक खिलाड़ी से यह अपेक्षा की जाती है कि वह खेल के नियमों के अनुसार खेलेगा और रेफरी के फैसले को बिना किसी आपत्ति के स्वीकार कर लेगा।"

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. वयस्क मताधिकार के दो गुण लिखिए। (1992, 2000)

उत्तर—(1) राष्ट्रीय एकीकरण में वृद्धि तथा (2) अल्पसंख्यकों के अधिकारों की रक्षा।

प्रश्न 2. वयस्क मताधिकार के विपक्ष में दो तर्क (दोष) लिखिए। (1990)

उत्तर—(1) भ्रष्टाचार को प्रोत्साहन तथा (2) प्रगतिशील विचारों का विरोध।

प्रश्न 3. निर्वाचन प्रणाली कितने प्रकार की होती है?

उत्तर—निर्वाचन प्रणाली सामान्यतया दो प्रकार की—(1) प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली तथा (2) अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली होती है।

प्रश्न 4. प्रत्यक्ष निर्वाचन का एक गुण बताइए।

उत्तर—जनता को राजनीतिक शिक्षा प्राप्त होती है।

प्रश्न 5. प्रत्यक्ष निर्वाचन का एक दोष बताइए। (1987)

उत्तर—प्रत्यक्ष निर्वाचन अपव्ययी होता है।

प्रश्न 6. अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक गुण लिखिए।

उत्तर—योग्य व्यक्तियों के निर्वाचित होने की अधिक सम्भावना रहती है।

प्रश्न 7. अप्रत्यक्ष निर्वाचन का एक दोष लिखिए।

उत्तर—सार्वजनिक कार्यों के प्रति जनता में उदासीनता रहती है।

प्रश्न 8. निर्वाचन क्षेत्र प्रमुख रूप से कितने प्रकार के होते हैं?

उत्तर—निर्वाचन क्षेत्र प्रमुख रूप से दो प्रकार के होते हैं—(1) एक-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र तथा (2) बहु-सदस्यीय निर्वाचन क्षेत्र।

प्रश्न 9. अल्पसंख्यकों को प्रतिनिधित्व देने की दो प्रणालियों के नाम लिखिए। (1992)

उत्तर—(1) आनुपातिक प्रतिनिधित्व की प्रणाली तथा (2) एकत्रित मतदान योजना।

प्रश्न 10. आनुपातिक प्रतिनिधित्व को कितने रूपों में अपनाया जा सकता है?

उत्तर—आनुपातिक प्रतिनिधित्व को दो रूपों—(1) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली तथा (2) सूची प्रणाली में अपनाया जा सकता है।

प्रश्न 11. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक गुण लिखिए। (1995)

उत्तर—अल्पसंख्यकों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होता है।

प्रश्न 12. आनुपातिक प्रतिनिधित्व प्रणाली का एक प्रमुख दोष लिखिए। (1990)

उत्तर—यह प्रणाली बहुत अधिक जटिल है।

प्रश्न 13. जन-प्रतिनिधियों का एक प्रमुख कर्त्तव्य लिखिए।

उत्तर—मतदाताओं से किये गये वायदे पूरे करना।

प्रश्न 14. आदर्श निर्वाचन प्रणाली का एक प्रमुख तत्त्व लिखिए।

उत्तर—गुप्त मतदान की व्यवस्था आदर्श निर्वाचन प्रणाली का प्रमुख गुण है।

प्रश्न 15. प्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली क्या है?

उत्तर—इस प्रणाली में मतदाता सीधे ही अपने प्रतिनिधियों को निर्वाचित करता है।

प्रश्न 16. अप्रत्यक्ष निर्वाचन प्रणाली से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—इस प्रणाली में सर्वप्रथम मतदाता एक निर्वाचक मण्डल का चुनाव करता है तथा यह निर्वाचक मण्डल बाद में प्रतिनिधियों को निर्वाचित करता है।

प्रश्न 17. किस प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में मनोनयन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है?

उत्तर—लोकतान्त्रिक एवं अलोकतान्त्रिक दोनों प्रकार की शासन व्यवस्थाओं में मनोनयन प्रणाली का प्रयोग किया जाता है।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. वयस्क मताधिकार से आप क्या समझते हैं? इसके गुण तथा दोषों की विवेचना कीजिए। (1979, 81, 82)
2. अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधित्व से क्या अभिप्राय है? इसका सर्वोत्तम तरीका कौन-सा है?
3. विधानमण्डल के लिए प्रतिनिधियों के निर्वाचन की विविध प्रणालियों का वर्णन कीजिये तथा उनके गुण-दोषों का उल्लेख कीजिये।
4. टिप्पणी लिखिए—
   - (i) एकल संक्रमणीय मत प्रणाली अथवा आनुपातिक प्रतिनिधित्व (1975, 78, 86)
   - (ii) सूची प्रणाली (1981)
   - (iii) वयस्क मताधिकार के गुण-दोष (1997)
   - (iv) प्रत्यक्ष निर्वाचन
   - (v) महिला मताधिकार के पक्ष में तर्क। (1997)

20

राष्ट्रीयता
[NATIONALISM]

"राष्ट्रीयता की भावना में एक विशेष प्रकार की एकता की भावना समाहित है जो इसमें भाग लेने वालों को शेष मानव-जाति से पृथक् करती है।"

—लास्की

"जब राष्ट्रवाद पवित्र देशभक्ति का पर्यायवाची बन जाता है उस समय यह विश्व तथा मानवता हेतु एक अद्वितीय वरदान सिद्ध हो जाता है।" —हेज

वर्तमान युग में राष्ट्रीयता असाधारण महत्त्व रखती है। हैलोवैल ने इसे वर्तमान समय का धर्म कहा है। इन्साइक्लोपीडिया ब्रिटानिका के अनुसार, "19वीं शताब्दी यूरोप में 'राष्ट्रीयता के सिद्धान्त की सफलता' की शताब्दी थी और 20वीं शताब्दी एशिया में 'राष्ट्रीयता की शताब्दी' है।"

राष्ट्रीयता का अर्थ और परिभाषा
(MEANING AND DEFINITION OF NATIONALISM)

मानव सभ्यता ने जितनी करवटें ली हैं उन्हीं के अनुसार राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में विभिन्न दृष्टिकोण अभिव्यक्त होते रहे हैं। प्राचीनकाल में इस शब्द की व्युत्पत्ति के आधार पर इसे जन्म अथवा नस्ल द्वारा उत्पन्न एकता की भावना माना जाता था। लेकिन वर्तमान काल में नस्ल, वंश या जन्म के आधार पर व्यक्त की गयी राष्ट्रीयता सम्बन्धी धारणा स्वीकार नहीं की जाती है क्योंकि जन्म अथवा नस्ल ही एकमात्र वह आधार नहीं है जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता का उदय होता है। आजकल तो विभिन्न नस्लों का इस प्रकार से सम्मिश्रण हो गया है कि यह ज्ञात कर पाना बहुत कठिन है कि अमुक राष्ट्रीयता का उद्गम किस नस्ल विशेष से सम्बन्धित है।

कानूनी दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीयता का आशय राज्य की कानूनी सदस्यता से है तथा तात्विक दृष्टिकोण के आधार पर राष्ट्रीयता एक मानसिक, ऐतिहासिक, भौगोलिक, नस्ल सम्बन्धी, सांस्कृतिक एवं अन्य इसी प्रकार के सम्बन्धों से उत्पन्न एकानुभूति है। समान जाति, समान धर्म, समान भाषा तथा समान संस्कृति का होना आदि कुछ ऐसे तत्त्व हैं जो व्यक्तियों में राष्ट्रीयता की भावना या अपने राष्ट्र के प्रति अपनत्व तथा भक्ति की भावना जाग्रत करते हैं। आधुनिक युग में राष्ट्रीयता को एक सांस्कृतिक और आध्यात्मिक भावना के रूप में मान्यता प्राप्त है।

राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक भावना है। अतः इसकी परिभाषा करना अत्यधिक कठिन है। प्रसिद्ध विद्वान् रैम्जे म्योर ने कहा है, "राष्ट्रीयता एक ऐसी भ्रमोत्पादक भावना है जिसकी परिभाषा करना अत्यन्त कठिन कार्य है।" फिर भी राष्ट्रीयता की व्याख्या प्रमुख विद्वानों द्वारा इस प्रकार की गयी है—

ब्लण्ट्शली के अनुसार, "राष्ट्रीयता मनुष्यों का वह परम्परागत समाज है जिसमें विभिन्न व्यवसाय करने वाले व्यक्ति सम्मिलित हों, जिनके विचार, भाव तथा स्वभाव एक से हों, जिनका जातीय मूल्य एक हो। जिनकी भाषा, रीति-रिवाज तथा सभ्यता समान हों तथा निवास-स्थान का अनुभव करके वह समाज यह समझ रहा हो कि वह एक है और अन्य व्यक्तियों से बिल्कुल भिन्न है।"

प्रो. जिमर्न के शब्दों में, "राष्ट्रीयता मेरे लिए एक राजनीतिक प्रश्न बिल्कुल नहीं है, यह प्रमुखतया तथा आवश्यक रूप से एक आध्यात्मिक प्रश्न है। राष्ट्रीयता धर्म की भाँति व्यक्तिगत है, मनोवैज्ञानिक है, एक मानसिक स्थिति है तथा विचार करने, अनुभव करने और जीवित रहने का एक तरीका है।"[1]

लायली के कथनानुसार, "राष्ट्रीयता मनुष्यों का एक समूह है जो उत्पत्ति, जाति, भाषा या रीति-रिवाज, इतिहास तथा हितों की समानता के कारण एकता के सूत्र में संगठित हो गया हो।"

गिलक्राइस्ट के शब्दों में, "राष्ट्रीयता का अभिप्राय एक आध्यात्मिक भावना से है जो उस जन-समुदाय में पायी जाती है जिसके सदस्य एक मूल वंश के हों, एक ही भूखण्ड पर निवास करते हों, एक ही भाषा बोलते हों, एक ही धर्म के अनुयायी हों, जिनका इतिहास और परम्पराएँ समान हों, आर्थिक हित समान हों और जो राजनीतिक एकता के समान आदर्श रखते हों।"

हेज के शब्दों में, "राष्ट्रीयता व्यक्तियों के उस समूह को कहते हैं जो समान भाषा या एक-दूसरे से मिलती जनभाषाएँ बोलते हैं, जिनकी समान ऐतिहासिक परम्पराएँ होती हैं और इस प्रकार उनसे एक विशिष्ट सांस्कृतिक समाज की रचना होती है।"

लॉर्ड ब्राइस के मतानुसार, "राष्ट्रीयता एक ऐसी जनसंख्या है जो कि कुछ निश्चित बन्धनों से; जैसे—भाषा, साहित्य, विचार, रीति-रिवाज, परम्पराओं आदि से इस प्रकार बँधी हो कि वह ऐसी एकता का अनुभव करने लगे कि दूसरी जनसंख्या जो स्वयं भी ऐसे बन्धनों से बँधी हो, उससे भिन्न हो।"

ए. रेनवर के शब्दों में, "राष्ट्रीयता एक इच्छा है जो व्यक्तियों को किसी एक निश्चित क्षेत्र में रहने के लिए बाध्य करती है।"

उपर्युक्त परिभाषाओं से स्पष्ट है कि राष्ट्रीयता एक ऐसी आध्यात्मिक भावना है जिसके द्वारा किसी राष्ट्र के निवासी राष्ट्र के प्रति अपनी भक्ति अथवा प्रेम प्रकट करते हैं। हृदय में विद्यमान यह भावना राष्ट्र के निवासियों को एकता के सूत्र में बाँधती है तथा एक राष्ट्रीय जाति को अन्य राष्ट्रीय जातियों से पृथक् करती है। इस प्रकार 'राष्ट्रीयता' शब्द सांस्कृतिक और आध्यात्मिक एकता की भावना का प्रतीक है। राष्ट्रीयता के सम्बन्ध में डॉ. बेनी प्रसाद ने उचित

1 "Nationality to me is not a political question at all. It is primarily and essentially a spiritual question. Nationality like religion is subjective, psychological, a condition of mind, a spiritual possession, a way of feeling, thinking and living." —Zimmern

ही कहा है, "राष्ट्रीयता की निश्चित परिभाषा करना कठिन है। परन्तु यह स्पष्ट है कि ऐतिहासिक गतिविधि में यह पृथक् अस्तित्व की उस चेतना का प्रतीक है जो सामान्य आदतों, परम्परागत रीति-रिवाजों, स्मृतियों, आकांक्षाओं एवं अवर्णनीय सांस्कृतिक सम्प्रदाय तथा हितों पर आधारित है।"

राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्त्व
(ELEMENTS OF NATIONALITY)

राष्ट्रीयता एक भावात्मक एकता है जो मानसिक धरातल पर आधारित है। राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्त्वों के सम्बन्ध में विद्वानों में पूर्ण सहमति नहीं पायी जाती है, प्रायः विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न तत्त्वों पर बल दिया है। लेकिन इन मतभेदों के उपरान्त निम्नलिखित कुछ ऐसे सामान्य तत्त्व हैं जिन्हें राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्त्व कहा जाता है—

(1) **भौगोलिक एकता**—राष्ट्रीयता के निर्माण में भौगोलिक एकता का महत्त्वपूर्ण योग रहा है। एक ही स्थान पर रहने से व्यक्तियों में एक ही प्रकार की मनोवैज्ञानिक भावना का जन्म होता है जिससे पारस्परिक सहयोग और सद्‌भावना का संचार होता है। गिलक्राइस्ट का यह कथन सत्य है, **"एक निश्चित भूभाग पर निरन्तर एक साथ रहना राष्ट्रीयता के विकास के लिये आवश्यक है।"**

राष्ट्रीयता के निर्माणक तत्त्व
* भौगोलिक एकता
* धार्मिक एकरूपता
* सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएँ
* जातीय एकता
* भाषा की एकता
* समान आधिपत्य तथा उससे उत्पन कष्ट
* समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ
* सामान्य आर्थिक हित

(2) **धार्मिक एकरूपता**—राष्ट्रीयता के विकास में धर्म का एक महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। धर्म व्यक्ति की नैतिक मान्यताओं, जीवन के उद्देश्यों तथा रहन-सहन को अत्यधिक प्रभावित करता है। यही कारण है कि एक धर्म में विश्वास करने वाले व्यक्तियों के बीच स्वाभाविक एकता पायी जाती है। मध्य युग तक धर्म राजनीति की पृष्ठभूमि रहा है। धर्म में राष्ट्रीय भावनाओं को जाग्रत करने की अपार शक्ति है। यहूदियों, तुर्कों और अरबों में राष्ट्रीयता का विकास मुख्य रूप से धर्म के कारण ही हुआ। पूरब के अनेक देशों में धर्म अब भी राष्ट्रीयता का निर्माणक तत्त्व माना जाता है। लेकिन आधुनिक युग में राष्ट्रीयता के निर्माण में धर्म का महत्त्व बहुत कम है। बर्गेस का मत है, **"किसी समय समान धर्म राष्ट्रीयता का महान पोषक तत्त्व था किन्तु अब धार्मिक स्वतन्त्रता के सिद्धान्त से धर्म का राष्ट्रीयता के क्षेत्र में महत्त्व बहुत ही कम हो गया है।"**

(3) **सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएँ**—सामान्य संस्कृति का अर्थ उन आचारों-विचारों तथा रीति-रिवाजों से है जो एक समूह के व्यक्तियों को एक सूत्र में बाँधने में समर्थ हैं। सामान्य इतिहास तथा साहित्य भी इसी के अन्तर्गत आ जाते हैं। सामान्य संस्कृति तथा परम्पराओं के द्वारा मनुष्य में सहयोग तथा एकत्व की भावनाओं का विकास होता है। सांस्कृतिक चेतना के अभाव में राष्ट्रीय चेतना भी विकसित नहीं हो सकती। डॉ. आशीर्वादम के शब्दों में, **"अपने अतीत पर उचित गर्व, वर्तमान पर स्वस्थ विश्वास और भविष्य की प्रसन्न आशा ये सभी राष्ट्रीय भावना को सजीव और सबल बनाती हैं।"**

(4) **जातीय एकता**—जातीय एकता भी राष्ट्रीयता के निर्माण में प्रमुख आधार रहा है। एक जाति में जन्म लेने वाले जनसमूह के मध्य अनेक बातों में समानता होती है तथा वे

पारस्परिक प्रेम एवं सम्बन्ध का अनुभव करते हैं। जिमर्न ने जातीय एकता के सम्बन्ध में कहा है, "राष्ट्रीयता में एक विशेष प्रकार की आत्मिक चेतना का भाव पाया जाता है जिसमें समान जातीयता का तत्त्व सम्भवतः सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण होता है।" किन्तु वर्तमान समय में राष्ट्रीयता के निर्माण में जातीय एकता के तत्त्व का महत्त्व कम होता जा रहा है। वास्तव में, बहुत-से ऐसे राष्ट्र हैं जहाँ पर अनेक राष्ट्रीयता वाली जातियाँ निवास करती हैं। रैम्जे म्योर ने कहा है, "संसार में एक भी ऐसा राष्ट्र नहीं जिसमें जातीय मिश्रण न हो।" कनाडा, फ्रान्स, भारत आदि देशों में विभिन्न जातियों के होते हुए भी उनमें राष्ट्रीय एकता के दृढ़ भाव दिखायी देते हैं और जातीय एकता का आधार अब कल्पना ही हो गया है। प्रो. जोजफ का कथन सत्य है, "राष्ट्रीयता जातीय भावना को चीरकर पार निकल जाती है।"

(5) भाषा की एकता—राष्ट्रीयता के निर्माण में भाषा की एकता का केन्द्रीय महत्त्व है। किसी जन-समूह में पायी जाने वाली सामान्य भाषा एक सामान्य साहित्य, संस्कृति तथा गौरव को जन्म देती है। रैम्जे म्योर के अनुसार, "राष्ट्र के निर्माण में भाषा जाति की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण होती है।" मैक्स हिल्डबर्ट बोहम का कथन है, "आधुनिक राष्ट्रीयता का सम्भवतः सबसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व भाषा है।" सामान्य भाषा ऐतिहासिक परम्पराओं को जीवित रखने में सहायक सिद्ध होती है।

किन्तु यह आवश्यक नहीं है कि बिना सामान्य भाषा के राष्ट्रीयता हो ही नहीं सकती। स्विट्जरलैण्ड में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं फिर भी वह एक राष्ट्र है। अमेरिका और कनाडा के निवासी एक ही भाषा बोलते हैं; परन्तु अलग-अलग राष्ट्र हैं। भारत में अनेक भाषाएँ बोली जाती हैं फिर भी भारत एक राष्ट्र के रूप में है। अनुभवी विद्वानों का विचार है कि शिक्षा के प्रसार से धीरे-धीरे सामान्य भाषा की उपयोगिता शिथिल होती जायेगी।

(6) समान आधिपत्य तथा उससे उत्पन कष्ट—इतिहास यह बताता है कि समान आधिपत्य तथा उससे उत्पन्न कष्ट के परिणाम भी राष्ट्रीयता को जन्म देते हैं। भारत में राष्ट्रीयता के पोषक तत्त्वों में ब्रिटिश सरकार का संगठित आतंक तथा प्रशासन में विदेशी की भावना एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व था। श्रीलंका, घाना, सोमालीलैण्ड इत्यादि राष्ट्रों का निर्माण भी इसी भावना के कारण हुआ। लेकिन सामान्य उत्पीड़न तथा कष्ट सदैव राष्ट्रीयता की भावना उत्पन्न नहीं कर सकते और प्रो. जोजफ के शब्दों में, "किसी एक समूह का उत्पीड़न ही उसे राष्ट्रीयता में परिवर्तित नहीं कर देता।" डॉ. आशीर्वादम ने कहा है, "सामान्य सत्य की भावनाएँ समाज को अनेक वर्गों में छिन्न-भिन्न कर सकती हैं क्योंकि प्रत्येक वर्ग आक्रान्ता की दया ग्रहण करने को तैयार हो जाता है, जैसा कि भारतीय इतिहास में होता रहा है।"

(7) समान ऐतिहासिक स्मृतियाँ—राष्ट्रीयता के निर्माण में समान राजनीतिक चेतना तथा आकांक्षाएँ महत्त्वपूर्ण योग प्रदान करती हैं। राष्ट्रीयता के विकास में यह राजनीतिक तत्व दो प्रकार से कार्य करता है। (i) अतीतकाल में मिल-जुलकर प्राप्त की गयी विजयों तथा पूर्वजों द्वारा किये गये बलिदानों का गौरवशाली इतिहास हम सभी में श्रेष्ठता की भावना उत्पन्न करता है और प्रगति के पथ पर अग्रसर होने की प्रेरणा देता है तथा (ii) भूतकालीन भूलें भविष्य में सचेत रहने की शिक्षा देती हैं और मधुर स्मृतियों को संजोती हैं।

(8) सामान्य आर्थिक हित—राष्ट्रीयता के निर्माण में किसी जन-समूह में पायी जाने वाली आर्थिक हितों की एकता का भी अत्यन्त महत्त्व होता है। इस बात के इतिहास में अनेक प्रमाण मिलते हैं। उदाहरण के लिए, जापान और आस्ट्रेलिया की राष्ट्रीयता के निर्माण में सामान्य आर्थिक हित के तत्त्वों ने पर्याप्त योग दिया है। सामान्य आर्थिक हित व्यक्तियों में अपने

हितों के प्रति चेतना जाग्रत करता और उन्हें एकबद्ध होकर रहने के लिए प्रेरणा देता है। सामान्य आर्थिक हितों से राष्ट्रीयता के निर्माण में सहयोग मिला है परन्तु यह स्वीकार नहीं किया जा सकता कि केवल सामान्य आर्थिक हित राष्ट्रीयता का निर्माण कर सकते हैं। इस सम्बन्ध में डॉ. आशीर्वादम का विचार है, "यदि आर्थिक हित ही राष्ट्रीयता के निर्माण के लिए पर्याप्त हो तो हमें अनेक ऐसी राष्ट्रीय जातियों की आशा करनी चाहिए जिनका निर्माण या तो केवल श्रमिकों द्वारा या केवल पूँजीपतियों के द्वारा होता है।"

उपर्युक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि राष्ट्रीयता के निर्माण में अनेक तत्त्वों का सहयोग रहता है। कभी किसी तत्त्व की प्रधानता से राष्ट्रीयता का जन्म हुआ तो कभी अन्य किसी तत्त्व की प्रधानता के परिणामस्वरूप राष्ट्रीयता का उदय हुआ। कोई एक तत्त्व पूर्णरूपेण कभी राष्ट्रीयता को जन्म नहीं दे सका। सभी तत्त्वों ने अपना-अपना योगदान दिया। वास्तव में सभी तत्त्वों के सहयोग से ही राष्ट्रीयता का निर्माण होता है। प्रायः राष्ट्रीयता की उपमा उस कपड़े से दी जाती है जिसकी रचना अनेक तरह के धागों से होती है और इस प्रकार अन्त में एक मजबूत कपड़ा तो बन जाता है किन्तु यह बताना बहुत कठिन होता है कि उस कपड़े को मजबूत बनाने में किस धागे का कितना अधिक महत्त्व है।

राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक तत्त्व
(OBSTACLES TO THE FEELING OF NATIONALITY)

अनेक बातें ऐसी हैं जो राष्ट्रीयता के विकास में बाधक बनती हैं। राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में आने वाली प्रमुख बाधाएँ निम्न प्रकार हैं—

राष्ट्रीय भावना के विकास में बाधक तत्त्व

* अज्ञान एवं अशिक्षा
* साम्प्रदायिकता की भावना
* यातायात के श्रेष्ठ साधनों का अभाव
* प्रान्तीयता की भावना
* भाषावाद
* जातिवाद

(1) अज्ञान एवं अशिक्षा—शिक्षा राज्य के निवासियों में बौद्धिक सामीप्य द्वारा एक सामान्य दृष्टिकोण पैदा करती है जिसकी अन्तिम परिणति राष्ट्रीयता के प्रादुर्भाव के रूप में होती है। इसके विपरीत, अज्ञान तथा अशिक्षा व्यक्तियों को मानसिक रूप से पृथक् करते हैं, उनमें कलुषित भावनाएँ भरते हैं और इस प्रकार राष्ट्रीयता के विकास में बाधक सिद्ध होते हैं।

(2) साम्प्रदायिकता की भावना—साम्प्रदायिकता राष्ट्रीयता के मार्ग की प्रमुख बाधा है। इससे राष्ट्रीयता खण्डित होती है। साम्प्रदायिकता का अर्थ है "सम्प्रदाय का हौआ खड़ा करके व्यक्तियों की भावनाओं को भड़काना और 'राष्ट्रीयता' की जगह 'साम्प्रदायिक उन्माद' फैलाना।" कट्टरपंथी शक्तियाँ राष्ट्र को एकता और प्रगति के पथ पर आगे बढ़ने से रोकती हैं। जवाहरलाल नेहरू के शब्दों में, "स्थिति का सबसे बुरा पहलू यह है कि अफवाहें जोरों से उड़ने लगती हैं और कभी-कभी वे बिल्कुल बेबुनियाद होती हैं।" विभिन्न सम्प्रदायों के मध्य यदा-कदा संघर्ष भी हो जाया करते हैं। साम्प्रदायिक भावना के वशीभूत होकर व्यक्ति राष्ट्रीय हितों को भूल जाते हैं और सम्प्रदाय विशेष के हितों को महत्त्व देने लगते हैं।

(3) यातायात के श्रेष्ठ साधनों का अभाव—आवागमन के अच्छे साधनों के अभाव में एक ही राज्य के निवासी समुचित सम्पर्क स्थापित करने से वंचित रह जाते हैं। राज्य के अन्तर्गत दूरस्थ स्थानों के निवासियों में सम्वाद-हीनता की स्थिति के कारण वह एकता की भावना जन्म नहीं ले पाती जो राष्ट्रीयता की आत्मा होती है।

(4) प्रान्तीयता की भावना—प्रान्तीयता की भावना भी राष्ट्रीयता के विकास में बाधक है। इस भावना के कारण विभिन्न प्रान्तों में रहने वाले व्यक्ति स्वयं को राष्ट्र का नागरिक न समझकर प्रान्त विशेष का ही निवासी मानते हैं। अनेक बार प्रान्तीयता की भावना इतनी प्रबल होती है कि व्यक्ति प्रान्तीय हितों के लिए राष्ट्रीय हितों का बलिदान करने से नहीं चूकते। इसी भावना के कारण क्षेत्रीय स्तर पर संघर्ष होता रहता है जिससे राष्ट्रीयता की भावना को क्षति पहुँचती है।

(5) भाषावाद—जिन देशों में अनेक भाषा में बोलने वाले व्यक्ति निवास करते हैं वहाँ पर प्रायः व्यक्ति अपनी भाषा को ही सब कुछ समझकर अन्य भाषाओं के प्रति द्वेष-भाव अपना लेते हैं। इससे भाषायी उपद्रवों को प्रोत्साहन मिलता है जिसका राष्ट्रीयता पर घातक प्रभाव पड़ता है।

(6) जातिवाद—जातिवाद भी राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधक है। जातिवाद की भावना अपनी जाति के प्रति निष्ठा एवं श्रद्धा सिखाती है और दूसरी जाति के प्रति घृणा का भाव जाग्रत करती है। जाति-व्यवस्था के अन्तर्गत सम्पूर्ण समाज छोटे-छोटे भागों में बँटा होता है। प्रत्येक जाति राष्ट्रीय हितों के स्थान पर जातीय हितों को प्राथमिकता देती है, जाति-प्रथा समाज में छुआछूत एवं ऊँच-नीच की भावना उत्पन्न करती है और विभिन्न जातियों के व्यक्तियों को परस्पर मिलने नहीं देती। इसी कारण राष्ट्रीयता की भावना का विकास नहीं हो पाता है। डॉ. राधाकृष्णन् का मत है, **"दुर्भाग्यवश वही जाति-प्रथा जिसे सामाजिक संगठन को नष्ट होने से रक्षा करने के साधन के रूप में विकसित किया गया था, आज उसी की उन्नति में बाधक बन रही है।"**

राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद के गुण
(MERITS OF NATIONALISM)

राष्ट्रीयता के प्रमुख गुण निम्नांकित हैं—

(1) देश-प्रेम की प्रेरणा—राष्ट्रीयता देशभक्ति की भावना जाग्रत करने में समर्थ होती है। राष्ट्रीयता वह भावना है जो देश के प्रत्येक निवासी के हृदय में श्रद्धा और बलिदान की भावना भर देती है। जब व्यक्ति अपने देश से प्रेम करने लगते हैं तो वह उस पर सर्वस्व न्यौछावर करने को तैयार हो जाते हैं। हेज ने लिखा है, "जब राष्ट्रीयता देशभक्ति का पर्याय हो जाती है तब वह विश्व और मानवता के लिए अद्वितीय वरदान सिद्ध हो जाती है।"

राष्ट्रीयता अथवा राष्ट्रवाद के गुण
* देश-प्रेम की प्रेरणा
* स्वतन्त्रता की रक्षक
* एकता की स्थापना में योगदान
* संस्कृति का उत्थान
* राज्यों को स्थायित्व
* शान्ति की पोषक
* आर्थिक विकास में योगदान
* मानवता के विकास हेतु अत्यावश्यक

(2) स्वतन्त्रता की रक्षक—राष्ट्रीयता स्वतन्त्रता की पहरेदार है। अपनी राष्ट्रीयता के आधार पर परतन्त्र राज्य स्वतन्त्रता प्राप्त करते हैं और स्वतन्त्र राज्य राष्ट्रीयता के आधार पर ही अपने अस्तित्व को अन्य राज्यों से पृथक् समझते हैं। राष्ट्रीयता की तीक्ष्ण भावना के कारण यहूदी जाति ने संघर्षरत रहकर इजरायल की भूमि पर अधिकार प्राप्त किया और एक स्वतन्त्र राष्ट्र की स्थापना की। भारत में सुदृढ़ राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन को बल मिला। लगभग सभी परतन्त्र राष्ट्रों में राष्ट्रीयता की लहर ने परतन्त्रता की जंजीरों को तोड़ने की प्रेरणा दी है।

(3) एकता की स्थापना में योगदान—विभिन्नता में एकता की झलक राष्ट्रीयता में स्पष्ट दिखायी देती है। उद्देश्य की एकता प्रस्तुत कर वह राष्ट्र के नागरिकों की एकता का निर्माण करती है। वर्तमान युग में विशाल राज्य जिनमें भाषायी, जातीय, भौगोलिक, धार्मिक और सामाजिक विभिन्नताएँ पायी जाती हैं, एक सुदृढ़ राष्ट्र के रूप में संगठित होकर एकता का परिचय देते हैं जो केवल राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही सम्भव है। भारत इस प्रकार की एकता का ज्वलन्त उदाहरण है।

(4) संस्कृति का उत्थान—राष्ट्रवाद साहित्य और संस्कृति के विकास में प्रेरक भूमिका का निर्वाह करता रहा है। राष्ट्रीयता के कारण प्रत्येक राष्ट्र न केवल अपने देश में पायी जाने वाली प्राचीन संस्कृति, भाषा व कला आदि के संरक्षण पर बल देता है वरन् उनको चरम उत्कर्ष तक पहुँचाने का प्रयास करके अपने राष्ट्रीय गौरव को बढ़ाना चाहता है। महाकवि होमर की राष्ट्रीय कविताओं ने यूनान के नगर-राज्यों में संस्कृति और साहित्य के विकास में बहुत योगदान दिया। दांते और वाल्टेयर ने फ्रांस के राष्ट्रवादी विचारों से प्रभावित होकर रचनाएँ कीं। शैली, टैनीसन, स्टीफेन ने राष्ट्रीय भावनाओं से प्रेरित होकर अपने साहित्य का सृजन किया। मैथिलीशरण गुप्त तथा श्याम नारायण पाण्डेय इत्यादि ने राष्ट्रवाद से प्रभावित होकर साहित्य-साधना की और उनकी रचनाएँ हिन्दी साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

(5) राज्यों को स्थायित्व—इतिहास के अध्ययन से पता चलता है कि राष्ट्रीयता ही राज्यों को स्थायित्व प्रदान कर सकती है। यूरोप के बाल्कन क्षेत्र में अनेक बार भौगोलिक सीमा, भाषा, जाति आदि के आधार पर राज्यों का निर्माण किया गया किन्तु वे राज्य स्थायी नहीं रह सके। परन्तु राष्ट्रीय चेतना के आधार पर किया गया आधुनिक विभाजन अधिक सफल और स्थायी है।

(6) शान्ति की पोषक—कुछ व्यक्ति राष्ट्रीयता और अन्तर्राष्ट्रीयता को परस्पर विरोधी बताते हैं किन्तु वास्तव में ऐसा नहीं है। राष्ट्रीयता ही वह सीढ़ी है जिसके आधार पर अन्तर्राष्ट्रीयता के लक्ष्य को प्राप्त किया जा सकता है। जिस प्रकार हम अपने देश से प्रेम करते हैं उसी प्रकार से दूसरे देश के नागरिक अपने-अपने देशों से प्रेम करते हैं। उनकी भावनाओं का आदर करना हमारा कर्त्तव्य है। अतः राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का जन्म होता है। राष्ट्रीयता हमारे दृष्टिकोण को व्यापक बनाकर **'वसुधैव कुटुम्बकम्'** की भावना लाती है।

(7) आर्थिक विकास में योगदान—राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर प्रत्येक राष्ट्र आर्थिक दृष्टि से समृद्ध और स्वावलम्बी बनना चाहता है और इसके लिए कृषि, व्यापार और उद्योग-धन्धों को विकसित करने का प्रयास करता है। एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों में राष्ट्रीयता की भावना से बहुत औद्योगिक विकास हुआ है। राष्ट्रीयता विभिन्न राष्ट्रों में स्वस्थ प्रतियोगिता की भावना उत्पन्न करती है। प्रत्येक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से आगे बढ़ने का प्रयत्न करता है। इस प्रतिस्पर्धा के परिणामस्वरूप सम्पूर्ण मानव-जाति का विकास और प्रगति होती है।

(8) मानवता के विकास हेतु अत्यावश्यक—अनेक विचारक राष्ट्रीयता को व्यक्ति और मानवता के बीच सम्बन्ध स्थापित करने वाली कड़ी मानते हैं। राष्ट्रीयता मनुष्य को वैयक्तिक स्वार्थों से ऊपर उठाने का पाठ पढ़ाती है तथा अपनी दृष्टि को विशाल बनाना सिखाती है इसलिए इसका मानवीय विकास में असाधारण महत्त्व है। अरविन्द घोष ने लिखा है कि "राष्ट्र का विकास मनुष्य का विकास है जो आजकल अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि

व्यक्तिगत स्वार्थ व पारिवारिक स्वार्थ की, जिनकी जड़ें बहुत गहरी हैं अब व्यापक राष्ट्रीय स्वार्थ व व्यवस्था में विलीन होना सीखना आवश्यक है जिससे मानवता के कल्याण की वृद्धि हो।"

राष्ट्रीयता के अवगुण अथवा दोष
(DEMERITS OF NATIONALITY)

श्री माखनलाल चतुर्वेदी का कथन है, "राष्ट्र तो एक बाग है, विविध पौधे उसमें पाये जाने हैं किन्तु उसका माली एक है, कुएँ का जल एक है, उसकी कोयल एक है, आने वाली ऋतुएँ उसके यहाँ सदैव एक होकर आती हैं। राष्ट्रीयता की आवश्यकता स्वतन्त्र राष्ट्र में कभी भी नष्ट नहीं हो सकती परन्तु फिर भी राष्ट्रवाद पूर्णतः निर्दोष नहीं है।" राष्ट्रीयता की भावना में संकीर्णता और उग्रता प्रबल होने पर उससे दूसरे राज्यों के हितों पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। राष्ट्रीयता में निम्नलिखित अवगुण होते हैं—

राष्ट्रीयता के अवगुण अथवा दोष
* अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल
* शोषण तथा स्वार्थ की पोषक
* सैन्यवाद एवं युद्ध की जन्मदाता
* उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम साम्राज्यवाद
* सांस्कृतिक दृष्टि से हानिकारक
* राष्ट्रीयता लोकतन्त्र विरोधी
* पारस्परिक-निर्भरता के स्थान पर आत्म-निर्भरता की शिक्षा

(1) अन्तर्राष्ट्रीयता के प्रतिकूल—आधुनिक युग में वैज्ञानिक आविष्कारों ने विश्व के देशों को बहुत निकट ला दिया है किन्तु उग्र राष्ट्रीयता इन देशों के बीच दूरियों को बढ़ा रही है और विभिन्न राज्यों द्वारा आपस में मिल-जुलकर अन्तर्राष्ट्रीय संस्थाओं के प्रभावशाली ढंग से चलाने में तथा अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में बाधा डाल रही है। जोजफ का मत है, "उग्र राष्ट्रीयता एक भयानक सिद्धान्त है और विश्व के विकास में मुख्य बाधा है।" टॉयनबी ने लिखा है, "विश्व-एकता में राष्ट्रीयता सबसे बड़ी बाधा है। यह विश्व इतिहास के वर्तमान युग में मानव-जाति की सबसे बड़ी शत्रु है।"

(2) शोषण तथा स्वार्थ की पोषक—राष्ट्रीयता की भावना शीघ्र ही उग्र रूप धारण करती है। इससे असहिष्णुता एवं अहंकार आता है। व्यक्ति अपने देश को सब कुछ समझता है और अन्तर्राष्ट्रीयता की सद्भावना समाप्त हो जाती है। राष्ट्रीयता की भावना में देश-प्रेम को प्रायः इस सीमा तक पहुँचा दिया जाता है कि यह अपने देश के प्रति भक्ति के स्थान पर दूसरे देशों के प्रति घृणा और द्वेष का रूप धारण कर लेता है। हेज के शब्दों में, "राष्ट्रवाद जाति अथवा राष्ट्र के सम्बन्ध में अभिमान और गर्वभरी एक मानसिक प्रवृत्ति है जिसमें अन्य राष्ट्रों के प्रति तुच्छता और विद्वेष के भाव रहते हैं।" टैगोर ने राष्ट्रवाद की आलोचना करते हुए इसे 'एक समूची जाति का संगठित स्वार्थ' कहा है।

(3) सैन्यवाद एवं युद्ध की जन्मदाता—जब किसी देश की राष्ट्रीयता की भावना अपने उग्र रूप में चरम शिखर पर पहुँच जाती है तो यह दूसरे देशों के लिए बड़ा खतरा बन जाती है। राष्ट्रीयता के कारण अपने राष्ट्र को सर्वश्रेष्ठ समझने की प्रवृत्ति पनपती है। इससे दूसरे राष्ट्रों के प्रति घृणा और अपनी राष्ट्रीय पद्धति उन पर थोपने की भावना पैदा होती है। अतः युद्धों का जन्म होता है और युद्ध के लिए सेना की आवश्यकता पड़ती है जिससे सैन्यवाद को प्रोत्साहन मिलता है। फ्रांस और जर्मनी के नागरिक सैकड़ों वर्षों तक इसी भावना के कारण एक-दूसरे को शत्रु समझते रहे। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध का मूल कारण राष्ट्रवाद ही था। हेज ने लिखा है, "वर्तमान शताब्दी के अधिकांश युद्धों का कारण राष्ट्रवाद है। इसने विगत

सौ वर्षों में जितना रक्तपात कराया है, उतना मध्ययुग के कई सौ वर्षों में धर्म या किसी अन्य तत्त्व ने नहीं कराया।"

(4) उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम साम्राज्यवाद—राष्ट्रीयता जब उग्र रूप धारण करती है तो अपने देश के गौरव और गरिमा को बढ़ाने के लिए विस्तारवादी साम्राज्यवाद की नीति अपनाती है क्योंकि ऐसा समझा जाता है कि जो देश अपने साम्राज्य का जितना अधिक विस्तार करता है, वह उतना बड़ा और गौरवशाली है। इस राष्ट्रीयता की भावना के कारण ही यूरोप के देश 19वीं शताब्दी में विशाल साम्राज्यों की स्थापना की ओर प्रवृत्त हुए। जे. ए. हॉब्सन ने ठीक लिखा है **"जब राष्ट्रीयता विकृत हो जाती है तो यह साम्राज्यवाद बन जाता है। ऐसी दशा में राज्यों में अपने-अपने साम्राज्य की स्थापना के लिए बहुत तीव्र प्रतियोगिता होने लगती है।"**

(5) सांस्कृतिक दृष्टि से हानिकारक—उग्र राष्ट्रीयता की भावना से प्रेरित होकर दूसरे देशों पर शासन स्थापित करने वाली जाति शासितों की संस्कृति को हेय दृष्टि से देखती है, और उस पर अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को बलपूर्वक थोपने का प्रयत्न करती है। विजेता जाति राष्ट्रीयता के नाम पर अपने इतिहास का गौरवान्वित रूप प्रस्तुत करती है तथा शासितों के इतिहास को तोड़-मरोड़कर अनेक प्रकार की मिथ्या धारणाएँ उत्पन्न करती है।

(6) राष्ट्रीयता लोकतन्त्र विरोधी—उग्र राष्ट्रवाद के अन्तर्गत लोकतन्त्र का अस्तित्व नहीं रह सकता है। ऐसा राष्ट्रवाद युद्ध तथा साम्राज्यवाद की आकांक्षा से प्रेरित होता है। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ऐसे राष्ट्रों में स्वेच्छाचारी और निरंकुश अधिनायकतन्त्रों की स्थापना होती है। इनमें राष्ट्र की उन्नति के नाम पर लोकतंत्र और व्यक्तिगत स्वतन्त्रता को पूर्णतया कुचल दिया जाता है। नाजी और फासिस्ट अधिनायकतन्त्र इसके स्पष्ट उदाहरण हैं।

(7) पारस्परिक-निर्भरता के स्थान पर आत्म-निर्भरता की शिक्षा—राष्ट्रीयता अपने उग्र रूप में एकता की भावना को विकसित करती है जो राष्ट्रों के पारस्परिक आदान-प्रदान के लिए घातक है। यह भावना सिखाती है कि अपने उपभोग की वस्तुएँ राष्ट्र स्वयं उत्पन्न करे और विदेशी माल का बहिष्कार करे। कभी-कभी यह आत्मनिर्भरता मूर्खता की सीमा तक पहुँच जाती है। कनाडा में एक समय यह भावना पायी जाती थी कि दूसरे देशों को गेहूँ न दो चाहे जला दो, जो विवेकपूर्ण नहीं था।

निःसन्देह राष्ट्रीयता अपने विशुद्ध रूप में मानवता के लिए वरदान है और अपने संकीर्ण रूप में सभ्यता के लिए एक चुनौती एवं मानवता के लिए अभिशाप है। अतः हमारा प्रयत्न यह होना चाहिए कि राष्ट्रीयता उग्र और संकीर्ण न होने पाये तथा अपने विशुद्ध रूप में मानव-जाति के कल्याण का शक्तिशाली साधन बने। हेज ने उचित ही लिखा है, **"जब राष्ट्रीयता विशुद्ध देशभक्ति का पर्याय बन जाती है उस समय यह मानव के तथा विश्व के लिए एक अद्वितीय वरदान सिद्ध हो सकती है।"**

क्या राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी हैं?

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद के पारस्परिक सम्बन्धों के प्रश्न पर विद्वानों में मतभेद है। वर्तमान समय में इस विषय में दो धारणाएँ प्रचलित हैं। प्रथम धारणा के अन्तर्गत राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद को एक-दूसरे का विरोधी कहा जाता है। जहाँ अन्तर्राष्ट्रवाद विश्व-बन्धुत्व की आध्यात्मिक भावना का एक राजनीतिक रूप है वहाँ राष्ट्रवाद एक विचारधारा है जो संकीर्णता पर आधारित है। 'एक राष्ट्र, एक राज्य' राष्ट्रवाद का नारा है, इसलिए इससे विश्व-शान्ति भंग होती है। यह विश्व-शान्ति को 'कायरों का स्वप्न' कहकर पुकारता है। इसके

अनुसार, "शाश्वत संघर्ष के दिनों में मानवता का उत्थान हुआ है, शाश्वत शान्ति के दिनों में मानवता का विनाश हुआ है।" अतः स्पष्ट है कि राष्ट्रवाद विश्व-प्रेम, मानव-कल्याण तथा विश्व-शान्ति जैसे अन्तर्राष्ट्रीय सिद्धान्तों का विरोधी है। इस प्रकार स्पष्ट है कि राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद एक-दूसरे के विरोधी हैं।

लेकिन जो लोग राष्ट्रवाद को अन्तर्राष्ट्रवाद का विरोधी मानते हैं वे राष्ट्रवाद का सही अर्थ नहीं समझते। वास्तव में, राष्ट्रवाद का अन्तर्राष्ट्रवाद से विरोध केवल उस समय होता है जबकि राष्ट्रवाद संकुचित और उग्र हो। विशुद्ध उदार राष्ट्रवाद जो कि राष्ट्रवाद का वास्तविक और उचित रूप है अपने देश के प्रति भक्ति तो रखता है परन्तु दूसरों से घृणा का पाठ नहीं पढ़ाता। इस सम्बन्ध में विलियम लायड गैरीसन कहते हैं, **"हमारा देश संसार है, हमारे देशवासी सारी मानवता है। हम अपने राष्ट्र (देश) को उसी प्रकार प्यार करते हैं जैसे अन्य देशों को प्यार करते हैं।"**

अन्तर्राष्ट्रवाद यह नहीं सिखाता है कि व्यक्ति अपने देश से प्रेम न करें बल्कि यह चाहता है कि सभी राष्ट्र समानता और पारस्परिक सहयोग के आधार पर शान्तिमय ढंग से सुखी और समृद्धशाली जीवन व्यतीत कर सकें। यह राज्यों को समाप्त भी नहीं करना चाहता वरन् उनमें पारस्परिक प्रेम चाहता है। हेज के शब्दों में, **"आदर्श अन्तर्राष्ट्रीय विश्व का तात्पर्य सर्वोत्कृष्ट स्थिति वाले राष्ट्रों के एक विश्व से ही है।"** आदर्श राष्ट्रवाद मानव-सभ्यता और संस्कृति के विकास में सहायक होता है जिससे अन्तर्राष्ट्रवाद का मार्ग प्रशस्त हो जाता है।

राष्ट्रवाद और अन्तर्राष्ट्रवाद परस्पर विरोधी नहीं बल्कि राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रथम चरण या उसकी भूमिका है। जोसफ का यह कथन सत्य ही है, **"राष्ट्रीयता व्यक्ति को मानवता से मिलाने वाली-आवश्यक कड़ी है।"** महात्मा गाँधी ने भी ऐसा ही मत व्यक्त करते हुए लिखा है, **"मेरे विचार से बिना राष्ट्रवादी हुए अन्तर्राष्ट्रवादी होना असम्भव है। अन्तर्राष्ट्रवाद तभी सम्भव हो सकता है जबकि वह एक यथार्थ बन जाय।"**

उग्र राष्ट्रवाद, जैसा कि मुसोलिनी और हिटलर का था, वह अन्तर्राष्ट्रवाद का विरोधी है जबकि उदार राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का सहायक है। अतः कहा जा सकता है, **"उदार या विशुद्ध राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रथम चरण लेकिन उग्र राष्ट्रवाद अन्तर्राष्ट्रीयता का नितान्त विरोधी होता है।"**

वर्तमान समय में राष्ट्रवाद को उदार प्रवृत्ति वाला, सत्य और न्याय पर आधारित होना चाहिए। लास्की के अनुसार, **"यूरोप का मानसिक जीवन सीजर और नेपोलियन का नहीं, ईसा का है, पूर्व की सभ्यता पर चंगेजख़ाँ और अकबर की अपेक्षा बुद्ध का प्रभाव कहीं गहरा और व्यापक है। अगर हमें जीना है तो इस सत्य को सीखना-समझना पड़ेगा। घृणा को प्रेम से जीता जाता है तथा असद् को सद् से। अधर्मता का परिणाम भी उसी जैसा होता है।"**

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. राष्ट्रीयता किसे कहते हैं? (1988)

उत्तर—प्रो. गिलक्राइस्ट के शब्दों में, **"राष्ट्रीयता एक आध्यात्मिक और मनोवैज्ञानिक भावना है।"**

प्रश्न 2. राष्ट्रीयता के किन्हीं दो तत्त्वों का वर्णन कीजिये। (1992, 93, 97, 2000)

उत्तर—(1) भाषा की एकता तथा (2) सामान्य संस्कृति तथा परम्पराएँ।

प्रश्न 3. राष्ट्रीयता के विकास में भाषा की एकता क्यों आवश्यक है? किसी एक कारण का उल्लेख कीजिये।

उत्तर—राष्ट्रीयता के उद्‌भव तथा विकास के लिए भाषा की एकता अत्यन्त आवश्यक है। भाषा की एकता राष्ट्रीयता के निर्माण में महत्त्वपूर्ण सहयोग प्रदान करती है। भाषा की एकता समान साहित्य तथा समान विचारों को उत्पन्न करती है।

प्रश्न 4. राष्ट्रीयता के दो गुण लिखिए। (1994)

अथवा

राष्ट्रीयता के दो मुख्य लाभ लिखिए। (2000)

उत्तर—(1) एकता की स्थापना में योगदान तथा (2) देश-प्रेम की प्रेरणा देना।

प्रश्न 5. राष्ट्रीयता के दो दोषों का उल्लेख कीजिए। (1990, 96)

उत्तर—(1) उग्र राष्ट्रीयता का परिणाम साम्राज्यवाद है तथा (2) उग्र राष्ट्रीयता सांस्कृतिक दृष्टि से हानिकारक है।

प्रश्न 6. राष्ट्रीयता का कोई एक तत्त्व लिखिए। (1994)

उत्तर—भाषा की एकता।

प्रश्न 7. राष्ट्रीयता के विकास के मार्ग में आने वाली एक प्रमुख बाधा बताइए।

उत्तर—(1) उग्र राष्ट्रीयता की भावना तथा (2) साम्राज्यवाद।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. राष्ट्रीयता की परिभाषा कीजिए। इसके मुख्य तत्त्व क्या हैं? (1975)
2. "विकसित या स्वस्थ राष्ट्रीयता के आधार पर ही अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना हो सकती है।" इस कथन को स्पष्ट कीजिए। (1977)
3. राष्ट्रीयता के पक्ष और विपक्ष में अपने विचार व्यक्त कीजिए।
4. "एक सफल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन राष्ट्रीयता की स्वस्थ धारणा पर निर्भर करता है।" विवेचना कीजिए। (1980)
5. 'राष्ट्रवाद' पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए। (1981, 90, 91)
6. राष्ट्रवाद से आप क्या समझते हैं? इसके मार्ग में क्या बाधाएँ हैं और इन्हें किस प्रकार से दूर किया जा सकता है? (1985)
7. राष्ट्रवाद की परिभाषा कीजिए। यह किन अर्थों में खतरनाक है? (1995)
8. राष्ट्रवाद के गुण-दोषों का वर्णन कीजिए। क्या यह और अन्तर्राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी हैं अथवा इनमें सामंजस्य स्थापित किया जा सकता है? सकारण उत्तर दीजिए। (1996)
9. टिप्पणी लिखिए—
   (i) राष्ट्रीयता के तत्त्व (1996)
   (ii) राष्ट्रवाद एवं अन्तर्राष्ट्रवाद के मध्य सम्बन्ध। (1997)



21

अन्तर्राष्ट्रीयता

[INTERNATIONALISM]

"अन्तर्राष्ट्रीयता ऐसी भावना है जो व्यक्ति को मात्र अपने राज्य का ही सदस्य होने का गौरव नहीं देती वरन् उसे विश्व का नागरिक बना देती है।"

—गोल्डस्मिथ

अन्तर्राष्ट्रीयता का अभिप्राय

(MEANING OF INTERNATIONALISM)

अन्तर्राष्ट्रीयता का तात्पर्य विश्व-प्रेम की भावना से है। व्यक्ति अपने राष्ट्र के साथ-साथ दूसरे राष्ट्रों के हित की भी चिन्ता करता है। वह ऐसे प्रत्येक कार्य से दूर रहता है जो विश्व-शान्ति के लिए घातक होता है। अन्तर्राष्ट्रीयता विश्व-बन्धुत्व की आध्यात्मिक भावना का राजनीतिक रूप है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना ऐसे वातावरण का निर्माण करती है जिसमें कटुता के स्थान पर प्रेम, दूरत्व के स्थान पर अपनत्व, प्रतिद्वन्द्विता के स्थान पर सहयोग, युद्ध के स्थान पर शान्ति एवं आर्थिक दासता के स्थान पर आर्थिक सम्पन्नता, समता एवं विकास का सुअवसर प्राप्त हो सके।

प्रो. जिमर्न के शब्दों में, **"अन्तर्राष्ट्रीयता राष्ट्रों के मध्य उनके सर्वोच्च एवं सर्वोत्कृष्ट तथा विशिष्ट प्रतिनिधियों तथा रूपों के मध्य सहयोग है।"**

डॉ. एम. पी. शर्मा के अनुसार, **"अन्तर्राष्ट्रीयता भिन्न-भिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की उस नीति का नाम है जो सभी राज्यों की स्वतन्त्रता, समानता एवं सहयोग की समर्थक होती है और युद्ध तथा साम्राज्यवाद की विरोधी होती है।"**

विलियम लॉयड गैरिसन का कथन है, "हमारा देश विश्व है, हमारे देशवासी सम्पूर्ण मानव जाति हैं, हम अपनी जन्मभूमि को उसी प्रकार प्यार करते हैं जिस प्रकार हम अन्य देशों से प्रेम करते हैं।"

डॉ. आशीर्वादम् ने अन्तर्राष्ट्रीयता की परिभाषा करते हुए लिखा है, **"अन्तर्राष्ट्रीयता का आशय ऐसी व्यवस्था से है जिसमें स्वाभिमानी, स्वशासन करने वाले राष्ट्रों का परिवार एक-दूसरे के साथ समानता के बन्धनों से जुड़ा रहता है और ये सब एक-दूसरे के साथ शान्ति और सामंजस्य के साथ रहते हैं।"**

अन्तर्राष्ट्रवाद के मूल लक्षण

(BASIC CHARACTERISTICS OF INTERNATIONALISM)

अन्तर्राष्ट्रवाद का कोई आधारभूत रूप नहीं है फिर भी उसके मूल लक्षण अग्र हैं—

(1) विश्व सरकार का समर्थन—अन्तर्राष्ट्रवाद का प्रमुख उद्देश्य विश्व सरकार की स्थापना करना है। अतः इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए विश्व में एक ऐसी संघीय शासन प्रणाली स्थापित की जाय जिसका प्रत्येक देश सदस्य हो और जिसमें सहयोग की भावना हो।

अन्तर्राष्ट्रवाद के मूल लक्षण
* विश्व सरकार का समर्थन
* अन्तर्राष्ट्रवाद विश्वयुद्ध विरोधी
* अन्तर्राष्ट्रीयता शान्तिमय सह-अस्तित्व की भावना है
* अन्तर्राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का विरोधी नहीं
* अन्तर्राष्ट्रवाद विश्ववाद नहीं है

(2) अन्तर्राष्ट्रवाद विश्वयुद्ध विरोधी—इसका मूल उद्देश्य विश्वयुद्ध की सम्भावनाओं को समाप्त कर विश्व-शान्ति स्थापित करना है। दो विश्वयुद्धों में हुई जन-धन की हानि के कारण मनुष्य को शान्ति चाहिए जो अन्तर्राष्ट्रवाद के माध्यम से प्राप्त हो सकती है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीयता शान्तिमय सहअस्तित्व की भावना है—अन्तर्राष्ट्रीयता में सहयोग एवं एकता की भावना निहित है। यह **'जियो और जीने दो'** (Live and Let Live) के विचार पर आधारित है। इसकी मान्यता है कि सम्पूर्ण मानवता के हित के लिए राष्ट्रों के मध्य घृणा, असहयोग, ईर्ष्या इत्यादि को त्यागकर प्रेम, मित्रता, सहानुभूति तथा सहयोग का व्यवहार हो जिससे विश्व-शान्ति की स्थापना की जा सके।

(4) अन्तर्राष्ट्रवाद, राष्ट्रवाद का विरोधी नहीं—अन्तर्राष्ट्रीयता की प्रथम सीढ़ी राष्ट्रीयता ही है। जिस प्रकार से परिवार से राष्ट्र की भावना आती है, उसी प्रकार राष्ट्रवाद से अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना आगे बढ़ती है। अन्तर्राष्ट्रीयता और राष्ट्रीयता परस्पर विरोधी नहीं बल्कि सहायक हैं। गाँधीजी का विचार था, **"अन्तर्राष्ट्रवाद का विकास राष्ट्रवाद के बिना सम्भव नहीं है।"**

(5) अन्तर्राष्ट्रवाद विश्ववाद नहीं है—यद्यपि अन्तर्राष्ट्रवाद विश्व सरकार का समर्थक है परन्तु यह नहीं चाहता कि विश्व के सभी मनुष्य एक ही जीवन के अभ्यस्त हो जायें। यह धर्म, भाषा, संस्कृति तथा आर्थिक जीवन की विभिन्नताओं को बनाये रखना चाहता है। अन्तर्राष्ट्रवाद का ध्येय तो विभिन्नताओं के मध्य एकता की स्थापना करना है। यह विश्व-संघ की स्थापना करना चाहता है लेकिन एकात्मकता की नहीं।

अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास
(GROWTH OF INTERNATIONALISM)

अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना किसी-न-किसी रूप में प्राचीनकाल से ही विद्यमान रही है लेकिन आधुनिक रूप में अन्तर्राष्ट्रीयता का उदय प्रायः उस समय से माना जाता है जब राष्ट्रीय राज्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

मध्यकाल में सर्वप्रथम दाँते ने विश्व साम्राज्य की कल्पना की थी। उस समय कोई प्रभावशाली नियामक सत्ता न होने के कारण यूरोप के राज्यों में निरन्तर युद्ध हुए। परिणामतः अनेक विद्वानों को इस बात की आवश्यकता अनुभव होने लगी थी कि राष्ट्रीय राज्यों के बीच सम्बन्धों को सुचारु रूप से चलाने के लिए किसी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था का होना आवश्यक है। इसी कारण 16वीं शताब्दी में ह्यूगो ग्रोशियस ने प्रचलित प्रथाओं एवं नैतिक नियमों का एक संकलन किया जो 'युद्ध और शान्ति के नियम' के नाम से प्रसिद्ध है।

19वीं शताब्दी में नेपोलियन के युद्धों के बाद पहली बार इस दिशा में व्यावहारिक कदम उठाया गया और 'यूरोपीय सहयोग की व्यवस्था' की स्थापना हुई। इसका उद्देश्य ऐसी

व्यवस्था का प्रचलन करना था जिसके अन्तर्गत बड़े-बड़े राज्यों के प्रतिनिधि इस बात के लिए सदैव प्रयत्नशील रहें कि पारस्परिक विवाद शान्तिपूर्ण उपायों द्वारा सुलझाये जायें और शान्ति भंग न हो। प्रथम विश्वयुद्ध तक इस प्रकार की व्यवस्था का प्रचलन रहा और इसके द्वारा अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवाद भी सुलझाये गये।

20वीं शताब्दी में रूस के सम्राट जार के प्रयत्नों से हालैण्ड के हेग नामक स्थान पर युद्ध तथा युद्ध-व्यय को रोकने के लिए, यूरोपीय राष्ट्रों के सम्मेलन हुए जिनमें युद्ध की क्रूरताओं को कम करने के लिए नियम बनाये गये। 1907 के सम्मेलन के बाद हेग में ही एक अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की भी स्थापना की गयी। जब प्रथम विश्वयुद्ध ने विश्व की मानवता पर निर्मम अत्याचार किया तो विश्व जनमत ने विश्व-शान्ति की स्थापना के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग को आवश्यक समझा। इसलिए 1919 में 'राष्ट्र संघ' की स्थापना की गयी। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध ने अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति को झकझोर दिया। इसलिए जब 1945 में युद्ध की समाप्ति हुई तब 'संयुक्त राष्ट्र संघ' की स्थापना करके अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को बहुत निखारा गया। संयुक्त राष्ट्र संघ वर्तमान समय भी क्रियाशील है और अन्तर्राष्ट्रीयता आज के समय की एक अनिवार्य आवश्यकता प्रतीत होती है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्त्व
(FACTORS HELPFUL IN THE GROWTH OF INTERNATIONALISM)

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में अनेक तत्त्वों ने योग दिया है जिनमें से मुख्य निम्न प्रकार हैं—

(1) वैज्ञानिक उन्नति एवं आविष्कार—विज्ञान की उन्नति तथा आविष्कारों ने विश्व के राज्यों को एक दूसरे के बहुत निकट ला दिया है। रेल, जहाज, मोटर, वायुयान, टेलीफोन, तार तथा रेडियो इत्यादि ने विभिन्न राज्यों के बीच की दूरी को समाप्त कर सम्पूर्ण विश्व को एक इकाई बना दिया है। वैज्ञानिक आविष्कारों के कारण विश्व के जिस नवीन रूप का प्रादुर्भाव हुआ है उससे अन्तर्राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति को विशेष प्रोत्साहन मिला है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक तत्त्व
* वैज्ञानिक उन्नति एवं आविष्कार
* विश्व-बन्धुत्व की धारणा और मानवाधिकार
* समाचार-पत्र, रेडियो और साहित्य
* अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और संगठन
* अन्तर्राष्ट्रीय कानून
* औद्योगिक क्रान्ति और आर्थिक क्षेत्र में परस्पर-निर्भरता
* राष्ट्रीयता

(2) विश्व-बन्धुत्व की धारणा और मानवाधिकार—समस्त धर्मों के आधारभूत सिद्धान्त मानवता एवं विश्व-बन्धुत्व की धारणा का ही प्रचार-प्रसार करते हैं। सभी महापुरुषों ने भी यही कहा है कि समस्त मानव भाई-भाई हैं क्योंकि वे एक ही ईश्वर की सन्तान हैं। इन आध्यात्मिक सिद्धान्तों ने जाति, धर्म और राष्ट्र की सीमा को पार करके मानव कल्याण तथा अन्तर्राष्ट्रीयता की धारणा का पोषण किया है। इन्हीं सब आदर्शों के आधार पर संयुक्त राष्ट्र संघ ने विश्वव्यापी मानवाधिकारों की घोषणा की है जिसे सभी सभ्य और प्रगतिशील राष्ट्रों ने स्वीकार कर लिया है।

(3) समाचार-पत्र, रेडियो और साहित्य—अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में समाचार-पत्र, रेडियो और अन्तर्राष्ट्रीय साहित्य ने भी महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। एक देश के समाचार-पत्र

दूसरे देश में भी जाते हैं। आज अनेक ऐसे समाचार-पत्र हैं जो अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति को प्राप्त कर चुके हैं और अनेक देशों में पढ़े जाते हैं। अनेक अन्तर्राष्ट्रीय संघ एवं संगठन जैसे—यूनेस्को ऐसे साहित्य का प्रकाशन प्रचुर मात्रा में कर रहे हैं जिससे विभिन्न देशों के निवासी एक-दूसरे के जीवन, संस्कृति और समस्याओं से भली-भाँति परिचित हो सकें। इस प्रकार समाचार-पत्र एवं साहित्य अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण विकसित करने में बहुत सहायक सिद्ध होते हैं।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन और संगठन—विभिन्न राष्ट्रों में पारस्परिक सौहार्द्र और सद्भावना का विकास करने में राष्ट्र संघ, संयुक्त राष्ट्र संघ, राष्ट्रमण्डल और इसी प्रकार के अन्य संगठनों का महत्त्वपूर्ण योगदान है। अब तो जीवन के सभी क्षेत्रों में प्रायः अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों का निर्माण हो रहा है और इनकी संख्या बढ़ती जा रही है। राजनीति के अतिरिक्त, आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक क्षेत्रों में भी अब ऐसे संगठनों की कमी नहीं है जिनका रूप अन्तर्राष्ट्रीय है और जो अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में यथेष्ट योग दे रहे हैं। ये सम्मेलन और संगठन ऐसे वातावरण की सृष्टि करते हैं जिसका होना अन्तर्राष्ट्रीयता के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

(5) अन्तर्राष्ट्रीय कानून—आधुनिक समय में विश्व के विभिन्न राज्य परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित करते जा रहे हैं और विभिन्न राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों ने कुछ ऐसी निश्चित परम्पराओं को जन्म दिया है जो कालान्तर में अन्तर्राष्ट्रीयता का रूप ग्रहण कर लेती हैं। लगभग एक शताब्दी से विभिन्न राज्यों के मध्य उठने वाले विवादों का शान्तिपूर्ण ढंग से समाधान करने के लिए विभिन्न प्रणालियाँ विकसित हुई हैं, जैसे, मध्यस्थता और सद्प्रयत्न, पंच फैसला और कानूनी विवादों पर अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णय आदि। शान्तिकाल के सम्बन्ध, तटस्थता, दूसरे राज्यों पर हवाई जहाजों के उड़ने, युद्धबन्दियों और युद्ध में विषाक्त गैसों के प्रयोग आदि के सम्बन्ध में अनेक अन्तर्राष्ट्रीय कानून विकसित हो गये हैं। इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों ने अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में पर्याप्त योगदान दिया है।

(6) औद्योगिक क्रान्ति और आर्थिक क्षेत्र में परस्पर-निर्भरता—19वीं शताब्दी की औद्योगिक क्रान्ति ने विश्व की अर्थ-व्यवस्था में आमूल परिवर्तन कर दिया। इस औद्योगिक क्रान्ति के परिणामस्वरूप अधिक मात्रा में वस्तुओं का उत्पादन होने लगा। विभिन्न राज्यों ने एक-दूसरे से व्यावसायिक सम्बन्ध बनाये और अपनी आवश्यकता की वस्तुएँ खरीदीं तथा एक-दूसरे पर आश्रित हो गये। वर्तमान समय में प्रायः सभी देश अपनी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अन्य राज्यों पर अधिक-से-अधिक निर्भर होते चले जा रहे हैं। पारस्परिक आर्थिक आदान-प्रदान सभी राष्ट्रों को निकट ले आता है और इस प्रकार अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(7) राष्ट्रीयता—हालांकि यह कहना विरोधाभासपूर्ण प्रतीत होता है कि राष्ट्रीयता ने अन्तर्राष्ट्रीयता को जन्म दिया लेकिन इसमें बहुत कुछ सत्य का अंश है। गाँधीजी का मत है कि राष्ट्रीयता अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में सहायक रही है। इतिहास यह बताता है कि विकास-क्रम के अन्तर्गत विचारधाराएँ प्रतिक्रियाओं के रूप में उत्पन्न होती हैं। जब 19वीं शताब्दी के राष्ट्रीय राज्य विकसित होकर अपनी चरम सीमा पर पहुँच गये तो उनके कई दुर्गुण सामने आये और उन्होंने विश्वयुद्ध जैसी भीषण समस्याएँ पैदा कर दीं। इसलिए मानवता के कल्याण और विश्व-शान्ति के लिए इस संकुचित राष्ट्रीयता को समाप्त कर अन्तर्राष्ट्रीयता की स्थापना के

प्रयास आरम्भ किये गये। अतः राष्ट्रीयता की प्रतिक्रिया के रूप में अन्तर्राष्ट्रीयता की धारणा का उदय हुआ।

वर्तमान युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है। अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के विकास में सहायक इन तत्त्वों का अत्यधिक योगदान है। इन तत्त्वों के फलस्वरूप आर्थिक दृष्टि के साथ-साथ राजनीतिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और अन्य दृष्टियों से भी सम्पूर्ण विश्व इस प्रकार एक इकाई बन गया है कि कहीं भी किसी प्रकार की घटना दूसरे देशों पर प्रभाव डाले बिना नहीं रह सकती है। अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना अपनाये बिना विश्व का कल्याण और शान्ति की स्थापना कठिन है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाएँ
(OBSTACLES IN THE WAY OF INTERNATIONALISM)

अन्तर्राष्ट्रीयता वर्तमान समय की सर्वमान्य विचारधारा होने पर भी इसका अपेक्षित शीघ्रता से विकास नहीं हो रहा है। अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की प्रमुख रूप से निम्नलिखित बाधाएँ हैं—

(1) उग्र एवं संकीर्ण राष्ट्रीयता—अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना के प्रसार में सबसे बड़ी बाधा राष्ट्रीयता की उग्र तथा संकीर्ण भावना है। उग्र राष्ट्रीयता अन्य देशों पर अधिकार करके अपने स्वार्थ सिद्ध करने की प्रवृत्ति का विकास करती है। इसका आधार जातीय उच्चता का दूपित विचार है। उग्र राष्ट्रीयता अपने राष्ट्र को ही सर्वस्व मानती है। इसका नारा है कि "मुझे अपने देश का प्रत्येक परिस्थिति में समर्थन करना है, चाहे वह सही हो या गलत।" उग्र राष्ट्रीयता अपने देश के अतिरिक्त अन्य किसी देश में कोई गुण नहीं देखती तथा अपने राष्ट्र की शक्ति का विस्तार करने के लिए युद्ध और संघर्ष के हिंसात्मक साधन अपनाने को प्रेरित करती है। इसके सर्वोत्तम उदाहरण हिटलर का जर्मनी तथा मुसोलिनी का इटली है। प्रथम एवं द्वितीय विश्वयुद्ध इस उग्र राष्ट्रवाद के ही परिणाम थे।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाएँ
* उग्र एवं संकीर्ण राष्ट्रीयता
* क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति
* साम्राज्यवाद
* शस्त्रीकरण एवं सैन्यवाद
* राज्यों की सम्प्रभुता

(2) क्षेत्रवाद की प्रवृत्ति—अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में क्षेत्रवाद बहुत बड़ी बाधा है। पारस्परिक अविश्वास के ही कारण-अमेरिका और रूस ने विश्व को नाटो, सीटो तथा वारसा पैक्ट आदि सैनिक संगठनों में बाँट कर विश्व-शान्ति को भंग किया। श्री नेहरू के शब्दों में, "हमारा दृढ़ विश्वास है कि सैनिक सन्धियों की प्रणालियाँ शान्ति के मार्ग में बाधा बनकर आती हैं।"

(3) साम्राज्यवाद—अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में एक अन्य प्रमुख बाधा शक्तिशाली राज्यों की साम्राज्यवादी भावना है जिसका एक रूप उपनिवेशवाद माना जाता है। साम्राज्यवाद राजनीतिक और आर्थिक शोषण का एक ऐसा साधन है जो पिछड़े हुए देशों के विकास में लकवा का कार्य करता है। डॉ. डी. एन. प्रिट ने उचित ही कहा है, "विश्व संघ सम्बन्धी कोई भी प्रस्ताव उस समय तक सफलता के द्वार तक नहीं पहुँच सकता है जब तक कि संसार में पूँजीवाद और साम्राज्यवाद उपस्थित है।"

(4) शस्त्रीकरण एवं सैन्यवाद—शस्त्रीकरण विश्व तनाव और अशान्ति उत्पन्न करता है। अनेक राष्ट्रों के पास परमाणु अस्त्र हैं जो सम्पूर्ण विश्व को किसी भी समय नष्ट कर सकते

हैं। विश्व में शान्ति और एकता बनाये रखने के लिए निःशस्त्रीकरण बहुत आवश्यक है। एस. डी. मेडेरी आगा ने उचित कहा है, **"निःशस्त्रीकरण की समस्या निःशस्त्रीकरण की नहीं है, यह वास्तव में विश्व समाज के संगठन की समस्या है।"**

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद से लेकर अभी कुछ वर्ष पूर्व तक अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की एक बड़ी बाधा **राजनीतिक क्षेत्र में सैद्धान्तिक मतभेद** की उपस्थिति रही है। ये सैद्धान्तिक मतभेद पूँजीवाद और साम्यवाद के रूप में थे और इन दोनों विचारधाराओं के पारस्परिक विरोध के कारण अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में शीतयुद्ध का वातावरण बना हुआ था। किन्तु अब सोवियत संघ और पूर्वी यूरोप के अन्य राज्यों द्वारा साम्यवाद को अस्वीकार कर दिया गया है तथा 1991 में उस सोवियत संघ का भी विघटन हो गया है जो द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् एक महाशक्ति बन गया था। इस प्रकार शीतयुद्ध आज समाप्त हो गया है और इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की वह बाधा भी समाप्त हो गयी है। लेकिन आज भी विभिन्न राज्यों के मध्य पारस्परिक मतभेद अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में मुख्य बाधक हैं।

(5) राज्यों की सम्प्रभुता—सम्प्रभुता राज्य को बाहरी हस्तक्षेप से मुक्त करती है और ऐसे सम्प्रभुता-सम्पन्न राज्य को किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय सन्धि या समझौते को मानने के लिए बाध्य नहीं किया जा सकता। परिणामस्वरूप राज्यों द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में मनमाने तरीके से आचरण किया जाता है। दक्षिण अफ्रीका की सरकार के कार्य इसके ज्वलन्त प्रमाण हैं। अतः विश्व संघ की कल्पना के साकार होने के लिए राज्यों की सम्प्रभुता बड़ी बाधा है।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय

(MEANS OF REMOVING HINDRANCES TO INTERNATIONALISM)

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के लिए निम्न उपायों को अपनाया जा सकता है—

(1) राज्यों की बाहरी सम्प्रभुता की समाप्ति—जिस प्रकार व्यक्ति आवश्यक रूप से राज्य के कानूनों का पालन करते हैं, उसी प्रकार से राज्यों को अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का पालन करना चाहिए। वास्तव में, यह आवश्यक है कि राज्यों की बाहरी सम्प्रभुता को समाप्त किया जाय।

अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग की बाधाओं को दूर करने के उपाय

* राज्यों की बाहरी सम्प्रभुता की समाप्ति
* सांस्कृतिक आदान-प्रदान
* अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रसार
* उदारवादी राष्ट्रीयता का प्रचार
* स्वस्थ और सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन
* साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त

(2) सांस्कृतिक आदान-प्रदान—विभिन्न राष्ट्रों के बीच होने वाला सांस्कृतिक आदान-प्रदान उनके निवासियों को मानसिक रूप से एक-दूसरे के निकट लाता है तथा उनमें राष्ट्रीय संस्कृति और सभ्यता की सीमाओं से ऊपर उठकर मानव मात्र की संस्कृति एवं सभ्यता की दृष्टि से सोचने की उस प्रवृत्ति का उदय होता है जिससे अन्तर्राष्ट्रवाद की भावना को प्रोत्साहन मिलता है।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय कानून का प्रसार—आधुनिक काल में विभिन्न राज्यों के पारस्परिक व्यवहार के सम्बन्ध में किन्हीं निश्चित अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का अभाव है और अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में सर्वसम्मत नियमों का अभाव होने के कारण विभिन्न राज्यों द्वारा अपने स्वार्थों की पूर्ति हेतु मनमाना व्यवहार एवं आचरण किया जाता है। इसलिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का समुचित

विकास होना चाहिए जिससे राज्यों के पारस्परिक सम्बन्धों को भली-भाँति नियमित किया जा सके।

(4) उदारवादी राष्ट्रीयता का प्रचार—अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास के लिए राष्ट्रीयता के उस उदारवादी रूप को स्वीकार किया जाना चाहिए जो अपने राष्ट्रीय स्वार्थों को ही सब कुछ न समझकर सम्पूर्ण मानवता के हित में कार्य कर सके और जिसके द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में 'जीओ और जीने दो' के विचार को अपनाया जा सके। राष्ट्रीयता का यह उदार रूप ही अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक हो सकता है। अरविन्द घोष ने लिखा है, **"जिस प्रकार एक व्यक्ति दूसरे व्यक्तियों के सहारे जीवित रहता है, वैसे ही एक राष्ट्र दूसरे राष्ट्रों से अपने मानसिक, आर्थिक तथा शारीरिक जीवन के लिए सामग्री ग्रहण करके जीवित रहता है।"**

(5) स्वस्थ और सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन—अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को व्यावहारिक रूप देने के लिए सबसे अधिक आवश्यक कार्य स्वस्थ और सबल अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना करना है। ऐसा अन्तर्राष्ट्रीय संगठन विश्व के सभी राष्ट्रों की आधारभूत समानता पर आधारित होना चाहिए और इसमें विश्व के सभी राष्ट्रों को उचित प्रतिनिधित्व प्राप्त होना चाहिए। इन अन्तर्राष्ट्रीय संगठनों द्वारा विश्व के सभी राष्ट्रों के बीच शान्ति, सद्भावना और सहयोग का वातावरण बनाने का कार्य किया जाना चाहिए तथा यह संगठन इतना शक्तिशाली भी होना चाहिए कि यदि कोई राष्ट्र सर्वसम्मत अन्तर्राष्ट्रीय कानूनों का उल्लंघन कर शान्ति भंग करने का साहस करे तो इस संगठन द्वारा शक्ति के बल पर उसे ऐसा करने से रोका जा सके। इस दृष्टि से संयुक्त राष्ट्र संघ में कुछ सुधार किये जाने आवश्यक हैं।

(6) साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त—अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना को मानव मात्र की आधारभूत समानता के आधार पर ही प्रोत्साहित किया जा सकता है। अतः यह आवश्यक है कि मानव द्वारा मानव के शोषण पर आधारित साम्राज्यवाद को समाप्त कर दिया जाये। साम्राज्यवादी प्रवृत्ति का अन्त होने पर ही एशिया और अफ्रीका के अविकसित देश अमेरिका और यूरोप के विकसित देशों के साथ सहयोग कर सकते हैं।

यदि उपर्युक्त बातों को अपनाया जाय तो अन्तर्राष्ट्रीय तनाव बहुत कुछ सीमा तक दूर हो सकते हैं और अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना का विकास हो सकता है। वर्तमान समय में अन्तर्राष्ट्रीयता की भावना केवल आदर्श कल्पना ही नहीं बल्कि युद्धों में पीड़ित मानवता के लिए अनिवार्य आवश्यक साधन है।

संयुक्त राष्ट्र संघ
(UNITED NATIONS ORGANIZATION)

प्रथम विश्वयुद्ध के बाद 1919 में एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन 'राष्ट्र संघ' (League of Nations) की स्थापना युद्ध को रोकने और समस्त विश्व में शान्ति बनाये रखने के उद्देश्य से की गयी थी। 1939 में द्वितीय विश्वयुद्ध प्रारम्भ हो जाने पर राष्ट्र संघ की असफलता स्पष्ट हो गयी। द्वितीय विश्वयुद्ध के भीषण नरसंहार और विध्वंस ने विचारशील व्यक्तियों को मानव-जाति की रक्षा के लिए तथा विश्व में शान्ति को सुरक्षित बनाये रखने वाले एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन बनाने की प्रबल प्रेरणा दी। ऐसी स्थिति में विविध अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलनों में नवीन अन्तर्राष्ट्रीय संगठन की स्थापना पर विचार किया गया और **'सेन फ्रांसिस्को सम्मेलन'** के परिणामस्वरूप 24 अक्टूबर, 1945 को संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना हुई।

संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्य
(OBJECTS OF UNITED NATIONS)

संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र के अनुसार इस संगठन के निम्नांकित चार प्रमुख उद्देश्य हैं—

(1) सामूहिक व्यवस्था द्वारा अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखना और आक्रामक प्रवृत्तियों को नियन्त्रण में रखना।

(2) राष्ट्रों के बीच मित्रतापूर्ण सम्बन्ध स्थापित करना एवं विश्व-शान्ति को सुदृढ़ बनाने के लिए अन्य उपाय करना।

(3) आर्थिक, सामाजिक और अन्य सभी अन्तर्राष्ट्रीय समस्याओं के समाधान के लिए अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग प्राप्त करना।

(4) उपर्युक्त उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विभिन्न राष्ट्रों के प्रयत्नों एवं कार्यों में सामंजस्य स्थापित करना और इस दृष्टि से एक केन्द्र के रूप में कार्य करना।

संयुक्त राष्ट्र संघ के सिद्धान्त
(PRINCIPLES OF U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ के निम्नलिखित मौलिक सिद्धान्त हैं—

(1) इसका प्रधान आधार छोटे-बड़े सभी देशों की समानता का सिद्धान्त है।

(2) संयुक्त राष्ट्र संघ किसी देश के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगा।

(3) सभी राष्ट्र संयुक्त राष्ट्र संघ के उद्देश्यों के प्रतिकूल कोई कार्य नहीं करेंगे, वे किसी देश की स्वतन्त्रता का हनन करने की या आक्रमण करने की न तो धमकी देंगे और न ऐसा कार्य करेंगे।

(4) कोई भी देश चार्टर के प्रतिकूल कार्य करने वाले देश की सहायता नहीं करेगा।

(5) सभी सदस्य राज्य अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को शान्तिपूर्ण साधनों से हल करेंगे।

(6) सभी सदस्य देशों से यह आशा रखी जाती है कि वे घोषणा-पत्र (चार्टर) द्वारा उन पर लागू होने वाले दायित्वों का पालन पूरी निष्ठा से करेंगे।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता
(MEMBERSHIP OF THE UNITED NATIONS)

संयुक्त राष्ट्र संघ के चार्टर में दो प्रकार की सदस्यता का उल्लेख है। **प्रथम,** प्रारम्भ में ही संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र पर हस्ताक्षर करने वाले 51 राज्य इसके प्रारम्भिक सदस्य हैं। **द्वितीय,** संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता उन सभी राष्ट्रों को भी उपलब्ध हो सकती है जो शान्तिप्रिय हों एवं चार्टर में विश्वास रखते हों। महासभा के दो-तिहाई बहुमत और सुरक्षा परिषद के 15 सदस्यों में से 9 सदस्यों की स्वीकृति से जिसमें 5 स्थायी सदस्य अवश्य हों, संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्यता प्राप्त होती है। महासभा में निर्णय के पूर्व भी सुरक्षा परिषद की स्वीकृति आवश्यक होती हैं अर्थात् सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर भी महासभा किसी राज्य को सदस्यता प्रदान कर सकती है। इस पर सुरक्षा-परिषद के 5 स्थायी सदस्यों को **निषेधाधिकार (Veto)** का अधिकार प्राप्त है। घोषणा-पत्र के सिद्धान्त का उल्लंघन करने पर सम्बन्धित राज्य को संघ से निष्कासित किया जा सकता है।

संयुक्त राष्ट्र संघ की सदस्य संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है और अब कुल मिलाकर इस संगठन की सदस्य संख्या 188 हो गयी है। यदि कोई सदस्य देश जान-बूझकर

तथा लगातार घोषणा-पत्र में वर्णित सिद्धान्तों का उल्लंघन करता है तो उसे सुरक्षा परिषद् के सुझाव पर महासभा द्वारा संस्था से निकाला जा सकता है। चूँकि सदस्यों का निष्कासन एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, इसके लिए सुरक्षा परिषद के 9 सदस्यों की सहमति, जिसमें 5 स्थायी सदस्य भी सम्मिलित हों तथा महासभा का निर्णय दो-तिहाई सदस्यों के बहुमत से होना चाहिए।

संयुक्त राष्ट्र संघ के अंग
(ORGANS OF THE U.N.O.)

संयुक्त राष्ट्र संघ के मुख्य 6 अंग हैं—

(1) महासभा (The General Assembly)

(2) सुरक्षा परिषद (The Security Council)

(3) आर्थिक और सामाजिक परिषद (The Economic and Social Council)

(4) न्यास परिषद (The Trusteeship Council)

(5) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय (The International Court of Justice)

(6) सचिवालय (The Secretariat)

1. महासभा
(THE GENERAL ASSEMBLY)

महासभा संयुक्त राष्ट्र के प्रमुख अंगों में से सर्वाधिक वृहत् एवं महत्त्वपूर्ण अंग है। शूमां ने इसे **'विश्व की नगरसभा'** कहा है तथा सीनेटर **वाण्डेनबर्ग** ने इसे **'विश्व की लघु संसद'** कहकर पुकारा है। संघ के सभी सदस्य महासभा के सदस्य होते हैं। प्रत्येक सदस्य राज्य को 5 प्रतिनिधि भेजने का अधिकार है किन्तु वह वोट एक ही दे सकता है। महासभा का नियमित अधिवेशन वर्ष में एक बार ही होता है जिसके प्रारम्भ होने की तिथि सितम्बर माह का तृतीय बृहस्पतिवार होती है। सुरक्षा परिषद अथवा संयुक्त राष्ट्रसंघ के सदस्यों के बहुमत द्वारा अनुरोध किये जाने पर महासचिव इसका विशेष अधिवेशन बुला सकता है। महासभा प्रत्येक अधिवेशन के लिए अपना सभापति निर्वाचित करती है जो महासभा की कार्यवाही का संचालन करता है। भारत की श्रीमती विजयलक्ष्मी पण्डित इसके आठवें अधिवेशन की सभापति थीं। महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर महासभा के निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के दो-तिहाई बहुमत से और अन्य प्रश्नों पर निर्णय उपस्थित एवं मतदान करने वाले सदस्यों के साधारण बहुमत द्वारा किये जाते हैं।

चार्टर के अनुसार महासभा के दो प्रकार के कार्य हैं। इसमें एक ऐच्छिक और दूसरा अनिवार्य है। ऐच्छिक कार्य के अन्तर्गत शान्ति की स्थापना, अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति के खतरे को दूर करना और सुरक्षा तथा निरस्त्रीकरण के लिए समस्त देशों में सहयोग स्थापना की चेष्टा है। महासभा के अनिवार्य कार्य निम्न हैं—

(1) संयुक्त राष्ट्र संघ के वार्षिक बजट पर विचार करना और उसे पारित करना।

(2) सुरक्षा परिषद तथा अन्य संस्थाओं व संगठनों की रिपोर्ट पर विचार करना।

(3) न्यास परिषद (Trusteeship Council) पर निरीक्षण रखना।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग के उद्देश्यों से आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक, शिक्षा तथा स्वास्थ्य के सम्बन्ध में अध्ययन एवं जाँच-पड़ताल करवाना तथा उनसे सम्बन्धित सिफारिशें करना।

(5) प्रत्येक व्यक्ति को बिना जाति, लिंग, भाषा एवं धर्म के मानव अधिकार तथा मौलिक स्वतन्त्रता का उपयोग करने में सहायता देना।

महासभा को अधिवेशन में उन सभी विषयों पर वाद-विवाद करने का अधिकार होता है जो संयुक्त राष्ट्र संघ के घोषणा-पत्र में दिये गये हैं। इस सभा को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति तथा सहयोग की स्थापना हेतु, अन्तर्राष्ट्रीय कानून तथा निःशस्त्रीकरण के सम्बन्ध में विशाल शक्तियाँ प्राप्त हैं। वह किसी भी घटना को अन्तर्राष्ट्रीय घटना कहकर सुरक्षा परिषद को उस पर विचार करने की आज्ञा दे सकती है। सुरक्षा परिषद तथा अन्य अंग अपने वार्षिक कार्य-विवरण की रिपोर्ट महासभा के पास भेजते हैं और सभा में निर्धारित तिथि को इन पर विचार होता है।

महासभा द्वारा सुरक्षा परिषद के 10 अस्थायी सदस्यों, आर्थिक तथा सामाजिक परिषद के 54 सदस्यों, न्यास परिषद के अस्थायी सदस्यों तथा अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय के न्यायाधीशों का निर्वाचन किया जाता है। महासचिव की नियुक्ति में भी महासभा भाग लेती है। सुरक्षा परिषद की स्वीकृति प्राप्त होने पर महासभा नये सदस्यों को पद ग्रहण करने की अनुमति देती है। उद्दण्ड राष्ट्रों को निकालने का अधिकार महासभा को प्राप्त है।

संयुक्त राष्ट्र संघ का बजट महासभा द्वारा स्वीकृत होता है। महासभा के द्वारा अपने दो-तिहाई बहुमत से घोषणा-पत्र (चार्टर) में संशोधन का कार्य भी किया जाता है।

महासभा अपना कार्य संचालन 6 प्रमुख समितियों द्वारा करती है जो इस प्रकार हैं—(1) राजनीतिक एवं सुरक्षा समिति, (2) आर्थिक और वित्त समिति, (3) सामाजिक, मानवीय एवं सांस्कृतिक समिति, (4) न्यास समिति, (5) प्रशासनिक एवं बजट समिति तथा (6) कानूनी समिति।

गुडरिच के अनुसार, "महासभा एक सार्वजनिक सभास्थल ही नहीं बल्कि इसने अपने आपको निर्णय लेने योग्य भी प्रमाणित कर दिया है। विश्व-शान्ति और सुरक्षा स्थापित करने में भी इसने महत्त्वपूर्ण योग दिया है।" संघ की स्थापना के बाद से इसकी शक्तियों और महत्त्व में वृद्धि हुई है। मूल विधान के अनुसार शान्ति और सुरक्षा के सम्बन्ध में महासभा को केवल विचार सम्बन्धी अधिकार प्राप्त थे परन्तु 3 नवम्बर, 1950 को 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' (Unity for Peace Resolution) या 'एचेसन योजना' पारित की गयी जिसके अनुसार यदि सुरक्षा परिषद् अपने स्थायी सदस्यों के एकमत न होने के कारण अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने के लिए आवश्यक कार्यवाही करने में असफल रहे तो महासभा को यह अधिकार प्राप्त होगा कि वह शान्ति और सुरक्षा से सम्बन्धित विशेष मामले पर विचार कर सके और संघ के सदस्यों से ऐसी आवश्यक कार्यवाही (जिसमें सैनिक कार्यवाही भी सम्मिलित है) करने का अनुरोध कर सके जिससे अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनी रहे अथवा पुनः स्थापित हो सके। 'शान्ति के लिए एकता प्रस्ताव' अथवा 'शान्ति समेकता संकल्प' का उद्देश्य उन छोटी-छोटी भिड़न्तों को रोकना है जिनमें कोई महाशक्ति खुल्लम-खुल्ला भाग लेना नहीं चाहती तथा इसके द्वारा वीटो के डंक को कम किया जा सके। इस प्रस्ताव से महासभा की प्रतिष्ठा एवं शक्तियों में अभूतपूर्व वृद्धि हो गयी है।

2. सुरक्षा परिषद
(SECURITY COUNCIL)

सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ की कार्यकारिणी है और इसका स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। सुरक्षा परिषद को अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा का पहरेदार माना जाता है। पामर और पर्किन्स ने इसे 'संयुक्त राष्ट्र की कुंजी' कहा है, ए. एच. डाक्टर ने इसे 'संघ की

प्रवर्तन भुजा' तथा डेविड कुशमैन ने इसे 'दुनिया का पुलिसमैन' कहा है। सुरक्षा परिषद संयुक्त राष्ट्र संघ का हृदय है। संकट का समय हो अथवा शान्ति का, संयुक्त राष्ट्र संघ के दूसरे अंग कार्य कर रहे हों अथवा न कर रहे हों, वर्ष का कोई समय हो या कैसा ही मौसम हो, सुरक्षा परिषद अपना कार्य करती ही रहती है।

1 जनवरी, 1996 से परिषद में 15 सदस्य हैं जिनमें 5 स्थायी और 10 अस्थायी सदस्य हैं। परिषद के 5 स्थायी सदस्य हैं—संयुक्त राज्य अमेरिका, रूसी गणराज्य, ग्रेट ब्रिटेन, फ्रांस और साम्यवादी चीन। उल्लेखनीय है कि भारत को सुरक्षा परिषद् का स्थायी सदस्य बनाने हेतु विश्व के अनेक प्रभावशाली राष्ट्रों का समर्थन मिल रहा है। शेष 10 अस्थायी सदस्यों का चुनाव महासभा द्वारा 2 वर्ष के लिए किया जाता है। सितम्बर, 1965 में चार्टर के संशोधन द्वारा इन 10 अस्थायी सदस्यों में से 5 एशियाई-अफ्रीकी राज्यों में से, 1 पूर्वी यूरोप में से, 2 दक्षिणी अमरीका एवं शेष 2 पश्चिमी यूरोप व अन्य राज्यों में से होने चाहिए जिससे सभी भौगोलिक क्षेत्रों को परिषद में प्रतिनिधित्व मिल जाय। सुरक्षा परिषद के जिस अस्थायी सदस्य देश का कार्यकाल समाप्त हो जाता है उसे उसी वर्ष पुनः उम्मींदवार होने का अधिकार प्राप्त नहीं होता।

चार्टर में यह व्यवस्था की गयी है कि यदि कभी सुरक्षा परिषद में ऐसे विषय पर विचार होता है जिससे संयुक्त राष्ट्र के किसी ऐसे सदस्य राज्य के विशेष हितों पर प्रभाव पड़ता हो जो सुरक्षा परिषद का सदस्य न हो तब वह राज्य सुरक्षा परिषद की कार्यवाही में भाग ले सकता है परन्तु उसे मतदान में भाग लेने का अधिकार नहीं होता। सुरक्षा परिषद की बैठक बराबर होती रहती है और परिषद की अध्यक्षता परिषद के सदस्यों में अंग्रेजी वर्णमाला के अनुसार सदस्य राज्यों के क्रम से प्रतिमाह बदलती रहती है। परिपद अपने कार्यों को सम्पादित करने की नियमावली स्वयं बनाती है।

सुरक्षा परिषद में प्रत्येक सदस्य राष्ट्र के केवल एक-एक प्रतिनिधि रहते हैं अतः इस परिषद की बैठक में अधिक-से-अधकि 15 सदस्य उपस्थित रहते हैं जिससे गम्भीर विषयों पर विचार-विमर्श करने और निर्णय देने में सुविधा होती है। परिषद में प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में 15 में से 9 सदस्यों के मत से निर्णय किया जा सकता है। प्रक्रिया सम्बन्धी विषयों का आशय ऐसे मामलों में है जिनमें सुरक्षा परिपद की बैठक के समय या स्थान का निर्णय करना, इसके सहायक अंगों की स्थापना, कार्यवाही चलाने के नियम और सदस्यों को बैठक में सम्मिलित होने के लिए निमन्त्रित करना आदि। परन्तु अन्य सभी महत्त्वपूर्ण मामलों में निर्णय के लिए 9 मतों में परिपद के पाँचों स्थायी सदस्यों का मत अवश्य ही सम्मिलित होना चाहिए। इस प्रकार प्रत्येक स्थायी सदस्य को सभी महत्त्वपूर्ण विषयों में निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त है। परिपद में पाँच स्थायी सदस्यों को प्राप्त यह निषेधाधिकार बहुत विवादास्पद है।

सुरक्षा परिषद का मुख्य कार्य अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति और सुरक्षा स्थापित करना है। परिषद उन विवादों और परिस्थितियों पर तत्काल विचार कर सकती है जो शान्ति के लिए खतरा उत्पन्न कर रही हों अथवा जिनमें इस प्रकार की सम्भावना हो। चार्टर के अनुसार अन्य विषयों पर भी इसके द्वारा विचार किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय विवादों को निपटाने के लिए सुरक्षा परिषद निम्नलिखित चार प्रकार के तरीके अपना सकती है—

(1) वह ऐसे राष्ट्रों को जिनमें कोई विवाद हो, पारस्परिक वार्ता और पत्र-व्यवहार करके फैसला करने के लिए प्रेरित करती है।

(2) प्रथम तरीके से असफल रहने पर सम्बन्धित राष्ट्रों के सामने पंचों, मध्यस्थों और अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा निर्णय का सुझाव रखती है।

(3) यह आक्रमणकारी राष्ट्र के विरुद्ध आर्थिक और अन्य प्रकार से प्रतिबन्ध लगा सकती है।

(4) आवश्यकता पड़ने पर अन्तिम उपाय के रूप में सैनिक कार्यवाही कर सकती है। संयुक्त राष्ट्र संघ के पास अपनी सेना नहीं है पर सैनिक कार्यवाही के लिए उसे सदस्य राष्ट्रों की सेनाएँ प्राप्त होती हैं।

बड़े राष्ट्रों ने सुरक्षा परिषद को अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति के लिए औजार की तरह प्रयोग किया है। कुछ विद्वानों का मत है कि सुरक्षा परिषद शक्तिशाली राष्ट्रों के हाथ में खिलौना मात्र है। सुरक्षा परिषद के निर्णयों का आज अनेक राष्ट्र सम्मान नहीं करते एवं बड़े राष्ट्र स्वयं उसकी उपेक्षा करते हैं। फिर भी सुरक्षा परिषद का महत्त्व बिल्कुल समाप्त नहीं हुआ है। इसका महत्त्व इसलिए भी कम नहीं हो सकता क्योंकि पाँचों महाशक्तियों का इसमें प्रतिनिधित्व है और वर्तमान समय में विश्व के किसी भी महत्त्वपूर्ण कार्य को करने के लिए पाँचों का सहयोग आवश्यक है।

3. आर्थिक तथा सामाजिक परिषद
(THE ECONOMIC AND SOCIAL COUNCIL)

आर्थिक और सामाजिक परिषद इस धारणा पर आधारित है कि अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति केवल राजनीतिक विवादों के समाधान पर ही निर्भर नहीं करती है वरन् अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक और उनसे सम्बन्धित अन्य समस्याओं के सम्बन्ध में उचित और प्रभावपूर्ण कार्यवाही पर भी निर्भर करती है। डलेस के शब्दों में, "आर्थिक और सामाजिक समस्याएँ युद्ध के अन्तर्निहित कारण हैं।" फैनविक के अनुसार, "महासभा के अधीनस्थ एवं उसके कार्यों को उसके प्रतिनिधि के रूप में सम्पन्न करने वाली संस्था आर्थिक और सामाजिक परिषद है।"

प्रारम्भ में इस परिषद में 18 सदस्य थे, 1966 में चार्टर में एक संशोधन द्वारा इसके सदस्यों की संख्या 27 की गयी और बाद में एक बार पुनः संशोधन द्वारा 24 सितम्बर, 1973 से इसके सदस्यों की संख्या 54 कर दी गयी है। यह एक स्थायी संस्था है परन्तु इसके एक-तिहाई सदस्य प्रति वर्ष पदमुक्त होते रहते हैं अर्थात् 18 सदस्य प्रतिवर्ष तीन वर्ष की अवधि के लिए महासभा के दो-तिहाई बहुमत से चुने जाते हैं। अवकाश ग्रहण करने वाला सदस्य तुरन्त पुनः निर्वाचित हो सकता है। परिषद में प्रत्येक सदस्य राज्य का एक ही प्रतिनिधि होता है। सभापति का चुनाव एक वर्ष की अवधि के लिए परिषद द्वारा किया जाता है। आर्थिक एवं सामाजिक परिषद की बैठकें वर्ष में दो बार होती हैं अप्रैल और जुलाई में क्रमशः न्यूयार्क और जेनेवा में। प्रत्येक सदस्य को एक मत देने का अधिकार है और इसके समस्त निर्णय साधारण बहुमत से किये जाते हैं। 'अपने कार्यों के लिए परिषद महासभा के प्रति उत्तरदायी है।

यह परिषद अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक शैक्षिक, स्वास्थ्य तथा अन्य सम्बन्धित मामलों पर अध्ययन कर सकती है तथा इस विषय में महासभा, संयुक्त राष्ट्र के सदस्यों तथा विशिष्ट अभिकरणों को रिपोर्ट दे सकती है। यह अपने क्षेत्र के अन्तर्गत आने वाले विषयों पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुला सकती है और अपने कार्यों को पूरा करने के लिए समितियाँ व स्थायी और अस्थायी आयोग नियुक्त करती है।

आर्थिक एवं सामाजिक परिषद ने एक विश्वव्यापी कल्याणकारी परिषद के रूप में कार्य किया है। इसने विश्व को अभाव, दरिद्रता, रोग और निरक्षरता से मुक्ति दिलाने का प्रयास किया है। अब तक परिषद के द्वारा किया गया सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य 10 दिसम्बर, 1948 की 'मानवीय अधिकारों की सार्वलौकिक घोषणा' (Universal Declaration of Human Rights) है। 1952 के महिलाओं के राजनीतिक अधिकारों से सम्बन्धित सम्मेलन द्वारा इसने अपार जन-जागृति पैदा करने का प्रयास किया है।

4. न्यास परिषद
(THE TRUSTEESHIP COUNCIL)

संयुक्त राष्ट्र संघ ने राष्ट्रसंघ की संरक्षण व्यवस्था के स्थान पर न्यास पद्धति को अपनाया है। न्यास पद्धति का मूल सिद्धान्त यह है कि इस समय संसार में कुछ पिछड़े हुए, अल्प-विकसित और आदिम दशा वाले प्रदेशों के निवासी इस योग्य नहीं हैं कि वे अपने देश का शासन स्वयं कर सकें, उनको दूसरे विकसित और उन्नत देशों की सहायता अपेक्षित है। सभ्य देशों का यह दायित्व है कि वे उनके विकास में पूरी सहायता दें और जब तक ये अपनां शासन करने में समर्थ नहीं हो जाते तब तक इनके हितों की देखभाल इन्हें न्यास या अमानत (Trust) समझते हुए करें और इनका अपने स्वार्थों के लिए शोषण न करें। इन शक्तियों द्वारा यह कार्य संयुक्त राष्ट्र संघ के नियन्त्रण में होना चाहिए।

न्यास परिपद का संगठन निम्न प्रकार से होता है—

(क) सुरक्षा परिपद् के सभी स्थायी सदस्य, चाहे वे न्यास क्षेत्रों का शासन प्रबन्ध करते हैं अथवा नहीं;

(ख) सदस्य राज्य, जो न्यास क्षेत्रों का प्रबन्ध करते हैं; ऐसे राज्य—(1) आस्ट्रेलिया, (2) न्यूजीलैण्ड, (3) अमरीका और (4) ब्रिटेन हैं।

(ग) न्यास क्षेत्रों का शासन प्रबन्ध करने वाले न करने वाले सदस्यों में समानता बनाये रखने के लिए महासभा द्वारा निर्वाचित अन्य सदस्य राज्य।

इस प्रकार न्यास परिपद के आज 12 सदस्य हैं जिनमें चार प्रबन्धकर्ता देश हैं, तीन सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्य होने के कारण स्थायी सदस्य और पाँच निर्वाचित सदस्य हैं।

परिपद के वर्ष में साधारणतया दो अधिवेशन होते हैं जिनमें पहला जून के अन्तिम पक्ष में और दूसरा नवम्बर के उत्तरार्द्ध में। आवश्यकतानुसार विशेष अधिवेशन भी बुलाया जा सकता है। परिषद के सभी निर्णय साधारण बहुमत से किये जाते हैं। परिषद न्यास प्रदेशों की जनता से सीधे प्रार्थना-पत्र प्राप्त कर सकती है, घटना-स्थल पर आर्थिक और राजनीतिक अवस्था के अध्ययन के लिए आयोग अथवा प्रेक्षक मण्डल भेज सकती है तथा शासन प्रबन्ध करने वाले राष्ट्रों से सिफारिश कर सकती है। शासन प्रबन्ध करने वाले प्रत्येक राज्य को उस क्षेत्र की आर्थिक, राजनीतिक, सामाजिक व शिक्षा सम्बन्धी उन्नति की वार्षिक रिपोर्ट महासचिव को प्रस्तुत करनी पड़ती है।

न्यास परिपद को अपने उद्देश्यों में अपूर्व सफलता मिली है। कुछ वर्ष पहले तक इस पद्धति के अन्तर्गत 11 प्रदेश थे किन्तु अब इसके अन्तर्गत एक भी प्रदेश नहीं रहा है। सभी प्रदेशों को स्वाधीनता प्राप्त हो गयी है। इस प्रकार न्यास परिषद् का कार्य समाप्त हो गया है। प्लेनो और रिग्स ने लिखा है, **"अपनी सफलताओं के कारण न्यास परिषद को विलोपन का सामना करना पड़ रहा है"**[1]

---

1 "The trusteeship council is one of those rare human institutions (which is) threatened with extinction by its successes."
—*Plano & Riggs*

5. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय
(INTERNATIONAL COURT OF JUSTICE)

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ की प्रमुख कानूनी संस्था है। यह वही पुराना अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय है जिसे राष्ट्र संघ ने सन् 1921 में हेग में स्थापित किया था।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में 15 न्यायाधीश होते हैं। इन न्यायाधीशों की नियुक्ति बिना किसी राष्ट्रीयता के भेद-भाव के सुरक्षा परिषद् व महासभा के बहुमत से होती है। इनका कार्यकाल 9 वर्ष की अवधि तक होता है और प्रति 3 वर्ष बाद 5 न्यायाधीश अवकाश ग्रहण करते हैं। अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का न्यायाधीश होने के लिए अन्तर्राष्ट्रीय कानून का ज्ञाता होना चाहिए, उच्च नैतिक गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए और अपने देश में सर्वोच्च न्यायिक पद धारण करने की योग्यता होनी चाहिए। ये न्यायाधीश अपना कार्यकाल समाप्त होने पर पुनर्निर्वाचित भी हो सकते हैं। परन्तु एक ही देश से दो न्यायाधीश नहीं हो सकते हैं। न्यायाधीशों में से ही 3 वर्ष की अवधि के लिए सभापति और उपसभापति का निर्वाचन होता है। न्यायालय के सभी निर्णय बहुमत से होते हैं।

स्थायी न्यायालय का कार्यालय हेग में द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ तक था। युद्धकाल में वह स्विट्जरलैण्ड चला गया था क्योंकि सारे हालैण्ड पर जर्मनी का अधिकार हो गया था। युद्ध समाप्ति के बाद संयुक्त राष्ट्र संघ के अन्तर्गत जिस न्यायालय की स्थापना हुई, उसका मुख्य स्थान हेग ही रखा गया। इसका कारण यह था कि कार्यालय के भव्य भवन का निर्माण अमरीकी दानवीर स्वर्गीय कार्नेगी ने अपने धन से कराया था। अतः आज अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का कार्यालय उसी भवन में है। न्यायालय की भाषा फ्रेंच तथा अंग्रेजी है। अन्य भाषाओं को भी अधिकृत रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है।

न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत मुकदमों में वादी और प्रतिवादी केवल राष्ट्र ही हो सकते हैं, व्यक्ति नहीं। ऐसे राष्ट्र भी जो संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्य नहीं हैं, अपने विवाद का निर्णय इस न्यायालय द्वारा करा सकते हैं लेकिन सुरक्षा परिषद् द्वारा निर्धारित शर्तों को मानना पड़ेगा। मुकदमे की सुनवाई साधारणतया सार्वजनिक रूप से होती है किन्तु न्यायालय स्वतः अथवा वादी-प्रतिवादी की प्रार्थना पर बन्द कमरे में मुकदमे की सुनवाई कर सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय में किसी भी विवाद या समस्या पर 15 न्यायाधीश मिलकर विचार करते हैं परन्तु न्यायालय का कार्य संचालित करने के लिए कम-से-कम 9 न्यायाधीशों की उपस्थिति आवश्यक होती है। सभी विवादों का निर्णय उपस्थित न्यायाधीशों के बहुमत से होता है। यदि किसी प्रश्न पर न्यायाधीशों का मत बराबर हो तो सभापति अपना निर्णायक मत (Casting Vote) दे सकता है। न्यायालय का निर्णय अन्तिम समझा जाता है, इसकी अपील नहीं की जा सकती परन्तु विवाद से सम्बन्धित नवीन तथ्यों के आधार पर पुनर्विचार हो सकता है।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्र

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्राधिकार निम्न प्रकार विभाजित किया जा सकता है—

(1) **ऐच्छिक क्षेत्राधिकार**—न्यायालय उन सभी मामलों पर विचार कर सकता है जिनको सम्बन्धित राज्य न्यायालय के सम्मुख प्रस्तुत करने को तैयार हों।

(2) **अनिवार्य क्षेत्राधिकार**—यद्यपि न्यायालय को अनिवार्य क्षेत्राधिकार प्राप्त नहीं है किन्तु राज्य स्वयं घोषणा करके इन क्षेत्रों में न्यायालय के अधिकार-क्षेत्र को बाध्य रूप से

स्वीकार कर लेते हैं—(i) सन्धि की व्याख्या, (ii) अन्तर्राष्ट्रीय क़ानून का कोई प्रश्न, (iii) किसी ऐसे तत्त्व का अस्तित्व जिसके सिद्ध होने पर किसी अन्तर्राष्ट्रीय कर्त्तव्य का उल्लंघन समझा जाये, (iv) किसी अन्तर्राष्ट्रीय समझौते के उल्लंघन पर क्षतिपूर्ति में दिये जाने वाले धन का रूप अथवा उसकी मात्रा। लेकिन विभिन्न देश ऐसी घोषणा करते हुए इसके साथ अनेक शर्तें लगा देते हैं। ऐसी शर्तों से अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का क्षेत्र बहुत संकुचित और सीमित हो गया है।

(3) **परामर्शात्मक क्षेत्राधिकार**—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय महासभा, सुरक्षा परिषद तथा अन्य अंगों और विशिष्ट संस्थाओं की प्रार्थना पर उन्हें कानूनी प्रश्न पर परामर्श भी देता है। न्यायालय का परामर्श केवल परामर्श होता है जिसे मानने के लिए किसी भी संस्था को बाध्य नहीं किया जा सकता।

अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय द्वारा विवादों का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय समझौते, परम्पराओं, रीति-रिवाज, सभ्य राष्ट्रों द्वारा स्वीकृत कानून के सामान्य सिद्धान्त और न्याय विशेषज्ञों की समितियों के आधार पर किया जाता है। इस न्यायालय ने अनेक अन्तर्राष्ट्रीय विवादों में अपना निर्णय देकर महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों का समाधान किया है। एस. एस. लोटस विवाद, कोर्फू चैनल विवाद, आंग्ल-ईरानियन विवाद और दक्षिणी-पश्चिमी अफ्रीका की अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति पर विवाद का इस सम्बन्ध में प्रमुख रूप से उल्लेख किया जा सकता है।

एम. सी. छागला के अनुसार, "यह न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्त्वपूर्ण न्यायालय है हालांकि उसके पास वे शक्तियाँ एवं अधिकार नहीं जो इसे वास्तव में प्राप्त होने चाहिए थे, फिर भी यह महान् उद्देश्यों की एक साकार प्रतिमा है।" गुडस्पीड ने लिखा है, "अपनी क्षमता के बावजूद न्यायालय एक ऐसे विश्व समाज में कार्य करता है जो अभी भी इसे महत्त्वपूर्ण मामले सौंपने को तैयार नहीं है अथवा वह भी कार्य करने देने के लिए तैयार नहीं जो चार्टर में इसके लिए निर्देशित हैं।"

6. सचिवालय
(SECRETARIAT)

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र संघ का एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसकी महत्ता के सम्बन्ध में मैक्सवेल कोहन ने उचित ही लिखा है, "संयुक्त राष्ट्र के अन्य अंगों की अपेक्षा कहीं अधिक महत्त्व वाला अंग सचिवालय ही है जो महासभा एवं सुरक्षा परिषद के नियतकालिक अधिवेशनों को वास्तविक, स्थायी एवं शाश्वत स्वरूप प्रदान करता है। अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था में वह केन्द्र-बिन्दु है। इसके अभाव में सम्पूर्ण संयुक्त राष्ट्र सूचना एवं सहयोग के केन्द्रों से वंचित हो जायेगा।"

सचिवालय में महासचिव और संघ की आवश्यकतानुसार अन्य कर्मचारी होते हैं। महासचिव की नियुक्ति सुरक्षा परिषद की सिफारिश पर महासभा द्वारा 5 वर्ष की अवधि के लिए की जाती है। उनका वार्षिक वेतन 1,80,000 (एक लाख अस्सी हजार) डालर है और यह राशि कर-मुक्त है। महासचिव की दुबारा नियुक्ति पर कोई प्रतिबन्ध नहीं है। 1 फरवरी, 1946 को नार्वे के त्रिग्वे ली महासचिव नियुक्त किये गये थे। 1 नवम्बर, 1950 को उनका कार्यकाल तीन वर्ष के लिए बढ़ा दिया गया। 10 नवम्बर, 1952 को उन्होंने पद से त्याग-पत्र दे दिया। 10 अप्रैल, 1953 को स्वीडन के डॉग हैमरशोल्ड को महासचिव नियुक्त किया गया।

कांगो में विमान दुर्घटना में डॉग हैमरशोल्ड की मृत्यु होने पर उनके स्थान पर सितम्बर, 1961 को बर्मा के उ-थाण्ट (U-Thant) को महासचिव बनाया गया। सितम्बर, 1971 को डॉ. कुर्त वाल्डहीम को इस पद पर नियुक्त किया गया। 1981 के उत्तरार्द्ध में महासचिव के निर्वाचन के प्रश्न पर गतिरोध की स्थिति पैदा हो गयी। अन्त में गतिरोध दूर हुआ और जनवरी, 1982 में पेरू के जावियर पेरेज द कुइयार नये महासचिव नियुक्त किये गये। ये भी 10 वर्ष तक अपने पद पर बने रहे। 1 जनवरी, 1992 को मिस्र के उप-प्रधानमंत्री डॉ. बुतरस घाली ने महासचिव पद का कार्यभार सँभाला। संयुक्त राष्ट्र सुरक्षा परिषद द्वारा डॉ. घाली को सर्वसम्मति से महासचिव बनाने की सिफारिश की गयी। वे संयुक्त राष्ट्र संघ के छठे महासचिव थे। महासचिव पद को ग्रहण करने वाले वे पहले अफ्रो-अरब व्यक्ति थे। वे शान्तिपूर्ण समझौतों के समर्थक और उदार नीतियों के लिए जाने जाते थे। वर्तमान में इसके महासचिव घाना के कोफी अन्नान हैं। इनका कार्यकाल 2001 तक है।

सचिवालय संयुक्त राष्ट्र का एक प्रशासनिक अंग है। इसके प्रमुख कार्य निम्नलिखित हैं—

वह महासभा, आर्थिक और सामाजिक परिषद तथा न्यास परिषद की बैठकों को आयोजित करता, उसमें भाग लेता और वह सभी कार्य सम्पादित करता है जो इन अंगों द्वारा उसे सौंपे जाते हैं।

वह संघ के कार्यों के सम्बन्ध में महासभा को वार्षिक रिपोर्ट प्रस्तुत करता है। वास्तव में महासभा का वार्षिक अधिवेशन महासचिव की रिपोर्ट पर बहस से प्रारम्भ होता है।

वह किसी ऐसे मामले की ओर सुरक्षा परिषद का ध्यान आकृष्ट कर सकता है जिससे उसके विचार में अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा के बने रहने में संकट उत्पन्न हो सकता है।

वह महासभा द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार कर्मचारियों की नियुक्ति करता है। संयुक्त राष्ट्र संघ के सदस्यों के साथ पत्र-व्यवहार करना भी इसका कार्य है।

संयुक्त राष्ट्र संघ के विशिष्ट अभिकरण (Specialized Agencies)—संयुक्त राष्ट्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विशिष्ट अभिकरण हैं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्राकोष (IMF)—इसकी स्थापना 27 दिसम्बर, 1944 को हुई। इसका प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा व्यापार इत्यादि की व्यवस्था की देखभाल करना है। इसका मुख्यालय वाशिंगटन में है।

(2) संयुक्त राष्ट्र शिक्षा, विज्ञान तथा संस्कृति से सम्बन्द्ध संगठन (UNESCO)—यह अपना कार्य तीन प्रमुख अंगों, जैसे—महासम्मेलन, कार्यवाहक बोर्ड तथा सचिवालय के द्वारा सम्पन्न करता है। यह विश्व में शिक्षा का विस्तार, शिक्षा की उन्नति तथा विश्व समुदाय में रहने की शिक्षा देता है। अमेरिका ने यूनेस्को के कार्यों से असन्तुष्ट होकर जनवरी, 1985 से इसकी सदस्यता छोड़ने की उद्घोषणा कर दी।

(3) अन्तर्राष्ट्रीय नागरिक उड्डयन संगठन (ICAO)—इसकी स्थापना 4 अप्रैल, 1947 को हुई। इसके तीन प्रमुख अंग—(i) सभा (ii) परिषद, और (iii) सचिवालय हैं। इसका प्रमुख कार्य अन्तर्राष्ट्रीय उड्डयन नियमों के सम्बन्ध में सुझाव देना है। इसका मुख्यालय मॉण्ट्रियल में है।

(4) अन्तर्राष्ट्रीय श्रमिक संगठन (ILO)—यह संयुक्त राष्ट्र के विशिष्ट अभिकरणों में से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अभिकरण है। श्रमिकों की उन्नति के लिए इसकी स्थापना की गयी

है। इनके तीन प्रमुख अंग हैं—(i) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम सम्मेलन (ii) शासक संस्था और (iii) अन्तर्राष्ट्रीय श्रम कार्यालय। इसने विश्व में अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य सम्पादित किये हैं; जैसे—इसने मजदूरों के काम के घंटे निश्चित किये हैं तथा बेकारी उन्मूलन का प्रयत्न करके संकट के दिनों में श्रमिकों को महत्त्वपूर्ण सहायता भी पहुँचायी है।

(5) विश्व डाक संघ (UPU)—इसकी स्थापना 1875 में हुई थी। 1947 में इसे संयुक्त राष्ट्र का अंग बना लिया गया। अन्तर्राष्ट्रीय संघों में यह सबसे पुरानी संस्था है। यह संघ के उद्देश्यों की पूर्ति करता है तथा विभिन्न देशों की डाकसेवा में जो बुराइयाँ हैं, उन्हें सुधारने की सिफारिश करता है।

(6) खाद्य और कृषि संगठन (FAO)—इसकी स्थापना 1945 में हुई। इसका प्रमुख उद्देश्य अविकसित देशों को कृषि के सम्बन्ध में सहायता पहुँचाना तथा खाद्य के स्तर में वृद्धि करना है।

(7) अन्तर्राष्ट्रीय आणविक ऊर्जा अभिकरण (IAEA)—इसकी स्थापना 29 जुलाई, 1957 को हुई। इसका मुख्यालय वियेना में है। इसका प्रमुख उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण विश्व में अणु शक्ति का अधिक से अधिक उपयोग शान्ति, स्वास्थ्य तथा समृद्धि के लिए हो। यह अणु शक्ति के सम्बन्ध में शोधकार्य करता है तथा सदस्य राष्ट्रों की सरकारों द्वारा प्रार्थना किये जाने पर अणुशक्ति-निर्माण में सहायता प्रदान करता है।

(8) विश्व बैंक (World Bank)—इसका मुख्यालय वाशिंगटन में है। इसका मुख्य कार्य सदस्य राष्ट्रों के पुनर्निर्माण में सहायता पहुँचाना है।

(9) विश्व ऋतुविज्ञानीय संगठन (WMO)—इसका स्थापना 23 मार्च, 1950 को ऋतु, वर्षा, तूफान तथा भौगोलिक परिवर्तन इत्यादि के सर्वेक्षण के लिए की गयी है। यह संगठन वायु, ऋतु तथा आकाश-विषयक ज्ञान प्राप्त करने तथा शोध करने में प्रोत्साहन देता है।

(10) अन्तर्राष्ट्रीय तार-संवाद-संघ (ITCU)—इस संघ का निर्माण तार, टेलीफोन और रेडियो के क्षेत्र में विविध देशों में सहयोग की स्थापना के प्रयोजन से किया गया है। इसका प्रधान कार्यालय जेनेवा में है।

(11) विश्व-स्वास्थ्य संगठन (WHO)—इसकी स्थापना 1946 में हुई। इसका मुख्यालय न्यूयार्क में है। मानव स्वास्थ्य की उन्नति ही इस संघ का मुख्य उद्देश्य है।

(12) अन्तर्राष्ट्रीय शरणार्थी संगठन (IRO)—इसकी स्थापना 1948 में हुई। इसका कार्यालय जेनेवा में है। इसका मुख्य उद्देश्य शरणार्थियों की रक्षा की व्यवस्था तथा निवास स्थान का प्रबन्ध करना है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में आने वाली दो प्रमुख बाधाओं का उल्लेख करिए।

उत्तर—(1) उग्रराष्ट्रीयता की भावना तथा (2) साम्राज्यवाद।

प्रश्न 2. संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख उद्देश्य क्या है?

उत्तर—संयुक्त राष्ट्र संघ का प्रमुख उद्देश्य युद्धों को रोकना तथा विश्व में स्थायी शान्ति बनाये रखना है।

प्रश्न 3. संयुक्त राष्ट्र संघ के किन्हीं दो महत्त्वपूर्ण अंगों के नाम बताइए। (1991, 2000)

उत्तर—(1) महासभा तथा (2) सुरक्षा परिषद्।

प्रश्न 4. अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रधान कार्यालय कहाँ स्थित है?

उत्तर—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का प्रधान कार्यालय हेग (हालैण्ड) में स्थित है।

प्रश्न 5. संयुक्त राष्ट्र संघ का न्यायिक अंग कौन-सा है?

उत्तर—अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय संयुक्त राष्ट्र संघ का न्यायिक अंग है।

प्रश्न 6. उस भारतीय महिला का नाम लिखिए जो संयुक्त राष्ट्र संघ की साधारण सभा की अध्यक्षा बनीं।

उत्तर—श्रीमती विजय लक्ष्मी पण्डित संयुक्त राष्ट्र संघ की महासभा की आठवें अधिवेशन की अध्यक्षा थीं।

प्रश्न 7. संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना कब हुई? **(1990, 94)**

अथवा

संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना की तिथि और वर्ष बताइए। **(2000)**

उत्तर—संयुक्त राष्ट्र संघ की स्थापना 24 अक्टूबर, 1945 ई. को हुई।

प्रश्न 8. संयुक्त राष्ट्र संघ के वर्तमान महासचिव का नाम बताइए। **(2000)**

उत्तर—वर्तमान में इसके महासचिव घाना के कोफी अन्नान हैं। इनका कार्यकाल 2001 ई. तक है।

प्रश्न 9. एक अन्तर्राष्ट्रीय संगठन का नाम लिखिए। **(1988)**

उत्तर—1919 में स्थापित 'राष्ट्र संघ' तथा 1945 में स्थापित 'संयुक्त राष्ट्र संघ'।

प्रश्न 10. वर्तमान समय में संयुक्त राष्ट्र संघ के कितने सदस्य हैं?

उत्तर—इस संगठन की सदस्य संख्या 188 है।

प्रश्न 11. सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की संख्या कितनी है? **(1991, 95, 98)**

उत्तर—सुरक्षा परिषद के स्थायी सदस्यों की संख्या पाँच है।

प्रश्न 12. अन्तर्राष्ट्रीयता के दो गुण बताइए। **(1991)**

उत्तर—(1) विभिन्न राष्ट्रों में सहयोग की भावना उत्पन्न होती है तथा (2) युद्ध की सम्भावनाएँ कम होती हैं।

प्रश्न 13. अन्तर्राष्ट्रीयता के विकास में सहायक दो मुख्य कारक बताइए। **(1993)**

उत्तर—(1) आर्थिक क्षेत्र में पारस्परिक निर्भरता तथा (2) समाचार-पत्र तथा साहित्य।

प्रश्न 14. सुरक्षा परिषद् के किसी एक स्थायी सदस्य देश का नाम लिखिए। **(1993)**

उत्तर—संयुक्त राज्य अमेरिका।

प्रश्न 15. संयुक्त राष्ट्र की सुरक्षा परिषद की स्थायी सदस्यता का प्रमुख दावेदार देश बताइए। **(1996)**

उत्तर—भारत।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. "आधुनिक युग अन्तर्राष्ट्रीयता का युग है", इस कथन की विवेचना कीजिये।
2. "संयुक्त राष्ट्र संघ की सफलता में ही मानव जाति का कल्याण है", विवेचना कीजिए।
3. संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न अंगों का वर्णन कीजिये तथा विश्व-शान्ति में इसके योगदान की विवेचना कीजिये। (1990)
4. अन्तर्राष्ट्रीयता के पक्ष और विपक्ष में युक्तियाँ दीजिए। (1969)

5. अन्तर्राष्ट्रीयता से आप क्या समझते हैं ? अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में कौन-कौनसी बाधाएँ हैं ? (1987, 91, 92)
6. अन्तर्राष्ट्रीयता का क्या अर्थ है ? इसके विकास में क्या बाधाएँ हैं ? (1995)
7. "अन्तर्राष्ट्रीयता के अब तक के विकास की परिणिति संयुक्त राष्ट्र संघ है", इस कथन के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास संक्षेप में लिखिए। (2000)
8. टिप्पणी लिखिए—
   (i) अन्तर्राष्ट्रीयता (1979, 83, व्यक्तिगत, 91, 94, 96)
   (ii) संयुक्त राष्ट्र संघ (1996, 98)
   (iii) सुरक्षा परिषद (2000)
   (iv) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय।

● ●

22

गुटनिरपेक्षता अथवा असंलग्नता

[NON-ALIGNMENT]

"गुटनिरपेक्षता की नीति का अर्थ युद्ध में तटस्थ रहना नहीं है। इसका अर्थ स्वतन्त्रता, शान्ति तथा सामाजिक न्याय के कार्य में सक्रिय योगदान है।"

—इण्डोनेशिया के पूर्व राष्ट्रपति सुकर्ण

गुटनिरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में लोकप्रिय किन्तु नया शब्द है। द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के स्वरूप में परिवर्तन लाने वाले तत्वों में 'गुटनिरपेक्षता' का विशेष महत्त्व है। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की शुरूआत संयोगवश नहीं हुई बल्कि यह राज्यों द्वारा सोच-विचार कर अपनायी गयी नीति है। यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का ही प्रभाव है कि एशिया, अफ्रीका और लैटिन अमेरिका के अनेक देश गुटनिरपेक्ष होने का दावा करने लगे हैं और इसके प्रभाव से साम्यवादी और पश्चिमी गुटों के अखंडित अस्तित्व में भी दरारें दिखाई देने लगी हैं।

गुटनिरपेक्षता : उदय

(NON-ALIGNMENT: ITS ORIGIN)

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति का बड़े पैमाने पर ध्रुवीकरण हुआ और इसी के चलते शीत युद्ध के प्रभाव से विश्व दो विरोधी गुटों—साम्यवादी एवं पूँजीवादी में विभाजित हो गया। इन दोनों गुटों में शक्ति-राजनीति के कारण विश्व के सभी देश प्रभावित हुए। इस समय तक एशिया तथा अफ्रीका के अनेक राष्ट्रों का स्वतन्त्र अस्तित्व उभरने लगा था। अमेरिकी गुट एशिया तथा अफ्रीका के इन नवोदित राष्ट्रों पर इस ढंग से दबाव डाल रहा था ताकि वे उसके गुट में सम्मिलित हो जायें। इसकी प्रतिक्रिया-स्वरूप एशिया और अफ्रीका के राष्ट्रों में नवजागरण हुआ और इन्होंने दोनों शक्ति-गुटों की राजनीति से पृथक् रहने की नीति अपनायी। इन देशों ने सोवियत साम्यवाद और अमेरिकी पूँजीवाद दोनों को अस्वीकार कर अपने को एक सर्वथा भिन्न तीसरी शक्ति के रूप में ढालना प्रारम्भ किया। इनका उद्देश्य दोनों गुटों के विभाजन को अधिक जटिल सन्तुलन में परिणित करके अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग का मार्ग प्रशस्त करना था। गुटों से पृथक रहने की प्रवृत्ति अर्थात् गुटनिरपेक्षता एशियाई नवजागरण की प्रमुख विशेषता बनती गयी। सन् 1947 में स्वतन्त्र होने के उपरान्त भारत ने इस नीति का पालन करना शुरू किया, उसके बाद एशिया के अनेक देशों ने इस नीति में अपनी आस्था व्यक्त की। जैसे-जैसे अफ्रीका के देश स्वतन्त्र होते गये वैसे-वैसे उन्होंने भी इस नीति का अवलम्बन करना शुरू किया। भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री जवाहर लाल नेहरू

मिस्र के राष्ट्रपति कर्नल नासिर तथा यूगोस्लाविया के मार्शल टीटो ने अपने प्रयास से गुट-निरपेक्षता के रूप में 'तीसरी शक्ति' की अवधारणा को बहुत सुदृढ़ किया। 1961 तक 25 देशों ने गुटनिरपेक्षता की नीति को अपना लिया था और आज निर्गुट आन्दोलन के सदस्यों की संख्या 114 हो गयी है। इन 114 सदस्यों के अतिरिक्त चीन सहित 11 देश 'पर्यवेक्षक देश' के रूप में इस आन्दोलन के साथ सम्बन्धित हैं।

गुटनिरपेक्षता : अर्थ एवं परिभाषा
(NON-ALIGNMENT : MEANING AND DEFINITION)

'गुटनिरपेक्षता' शब्द का विभिन्न अर्थों में प्रयोग किया गया है। पश्चिमी देशों में साधारणतया 'तटस्थता' शब्द प्रचलित है और इसकी सहायता से ही गुटनिरपेक्षता का अर्थ समझने का प्रयत्न किया जाता है। इसलिए वे गुटनिरपेक्षता को तटस्थता का ही एक प्रकार समझ लेने की भूल करते हैं। तटस्थता और गुटनिरपेक्षता का अन्तर स्पष्ट करते हुए जार्ज लिस्का ने कहा है, "किसी विवाद के सन्दर्भ में यह जानते हुए कि कौन सही है और कौन गलत, किसी का पक्ष नहीं लेना तटस्थता है किन्तु गुटनिरपेक्षता का आशय सही और गलत में विभेद करते हुए सदैव सही का समर्थन करना है।"

शीत युद्ध से पृथक्करण गुटनिरपेक्षता का सार तत्व है। यह नीति चुप्पी लगाकर बैठ जाने की या अन्तर्राष्ट्रीय मामलों से संन्यास लेने की नहीं है बल्कि इसके अन्तर्गत स्वतन्त्र राष्ट्रों के साथ मैत्रीपूर्ण सम्बन्ध स्थापित किये जाते हैं और अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में न्यायपूर्ण ढंग से सक्रिय भाग लिया जा सकता है। गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रतिपादक पं. नेहरू ने सन् 1949 में अमेरिकी सीनेट में कहा था, "जब स्वतन्त्रता के लिए संकट उत्पन्न हो, न्याय पर आघात पहुँचे या आक्रमण की घटना घटित हो, तब हम तटस्थ नहीं रह सकते और न ही हम तटस्थ रहेंगे।"[1] गुटनिरपेक्षता पर प्रकाश डालते हुए आगे उन्होंने कहा, "हमारी तटस्थता का अर्थ है निष्पक्षता जिसके अनुसार हम उन शक्तियों और कार्यों का समर्थन करते हैं जिन्हें हम उचित समझते हैं और उनकी निन्दा करते हैं जिन्हें हम अनुचित समझते हैं, चाहे वे किसी भी विचारधारा की पोषक हों।"

जॉर्ज स्वार्जनबर्गर के अभिमत में, "गुटनिरपेक्षता मैत्री सन्धियों अथवा गुटों से बाहर रहने की नीति है। गुटनिरपेक्षता का अर्थ शक्तिमूलक राजनीति से पृथक् रहना तथा सभी राज्यों के साथ शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व और सक्रिय अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग है, चाहे वे राष्ट्र गुटबद्ध हों या गुटनिरपेक्ष।"

गुटनिरपेक्षता का स्पष्ट आशय है, "किसी भी देश के साथ सैनिक गुटबन्दी में सम्मिलित न होना, पश्चिमी अथवा पूर्वी गुटों के किसी भी विशेष देश के साथ सैनिक दृष्टि से न बँधना, आक्रामक सन्धियों से दूर रहना, शीत-युद्ध से अलग रहना और राष्ट्रीय हित का ध्यान रखते हुए न्यायोचित पक्ष में अपनी विदेश नीति का संचालन करना।"

सन् 1961 में बेलग्रेड में आयोजित असंलग्न देशों के प्रथम शिखर सम्मेलन में गुट-निरपेक्षता के तीन कर्णधारों—नेहरू, नासिर और टीटो ने इस नीति के निम्नलिखित पाँच आधार स्वीकार किये—

(i) सम्बद्ध देश स्वतन्त्र नीति का अनुसरण करता हो,
(ii) सदस्य देश उपनिवेशवाद का विरोध करता हो,

---
1 "Where freedom is menaced, justice thereatened or aggression takes place, we cannot be and shall not be neutral." —Pt. Nehru

(iii) वह किसी भी सैनिक गुट का सदस्य न हो,

(iv) उसने किसी भी महाशक्ति के साथ द्विपक्षीय सैनिक समझौता नहीं किया हो,

(v) सदस्य देश ने किसी भी महाशक्ति को अपने क्षेत्र में सैनिक अड्डा बनाने की स्वीकृति न दी हो।

इस प्रकार वे ही देश गुटनिरपेक्ष माने जा सकते हैं जो स्वतन्त्र विदेश नीति का पालन करते हों, राष्ट्रीय स्वतन्त्रता आन्दोलन का समर्थन करते हों, शक्ति अथवा सैनिक गुटों के सदस्य नहीं हों। वास्तव में, एक-दूसरे के विरोधी शक्ति शिविरों से अलग रहने वाले, युद्ध की विभीषिका को टालने वाले, तनाव को कम करने वाले तथा शान्ति समर्थक देश ही गुटनिरपेक्ष देश कहे जा सकते हैं।

संक्षेप में कहा जा सकता है कि गुटनिरपेक्षता से अभिप्राय है शान्ति, न्याय और राष्ट्रों की समानता के सिद्धान्त पर आधारित स्वतन्त्र रीति-नीति का अवलम्बन। गुटों से अलग रहने से प्रत्येक प्रश्न के औचित्य-अनौचित्य को आँका जा सकता है।

गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रेरक तत्व
(THE MOTIVATING FACTORS FOR NON-ALIGNMENT)

1945 के बाद से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटनिरपेक्षता को प्रोत्साहन मिल रहा है। गुटनिरपेक्षता के अभ्युदय के उत्तरदायी कारणों को निम्न प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है—

गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रेरक तत्व
* शीत युद्ध
* सैनिक गुटों से पृथक् रहना
* मनोवैज्ञानिक विवशता
* आर्थिक कारक
* अपने पृथक् अस्तित्व की अभिलाषा
* ऐतिहासिक अनुभव
* स्वतन्त्र विदेश-नीति के संचालन की इच्छा

(1) **शीत युद्ध**—द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् अमेरिका और सोवियत संघ जैसी महाशक्तियों के बीच मतभेदों की एक ऐसी खाई उत्पन्न हो गयी थी और दोनों गुट एक-दूसरे के विरोध में इस प्रकार सक्रिय थे कि इसे शीतयुद्ध का नाम दिया गया। शीतयुद्ध के इस वातावरण में एशिया और अफ्रीका के नवस्वतन्त्र राष्ट्रों ने किसी भी पक्ष का समर्थन न करके पृथक् रहने का निर्णय किया। शीतयुद्ध से पृथक् रहने की नीति ही आगे चलकर गुट-निरपेक्षता के नाम से पुकारी जाने लगी।

(2) **सैनिक गुटों से पृथक् रहना**—द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद विश्व में दो गुटों का उदय हो चुका था और इसी समय एशिया-अफ्रीका के अनेक राष्ट्र स्वतन्त्र हुए जो सँभलने के लिए समय चाहते थे। अतः इन देशों ने निर्णय लिया कि किसी भी गुट द्वारा संचालित सैनिक गठबन्धन का सदस्य होने पर वे उनके चक्रव्यूह में फँस जायेंगे और उनको समस्याएँ सुलझाने का पूर्ण अवसर नहीं मिल सकेगा। उनकी इस भावना ने गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाने के लिए प्रेरित किया।

(3) **मनोवैज्ञानिक विवशता**—गुटनिरपेक्षता की नीति अपनाने का कारण नवोदित राष्ट्रों में एक भावात्मक मनोवैज्ञानिक विवशता थी और वह यह कि मात्र औपचारिक अर्थ में स्वतन्त्र न हों वरन् महाशक्तियों के प्रभुत्व या प्रभाव के अवशेषों से एकदम मुक्त प्रतीत भी हों। नवस्वतन्त्र देशों ने यह अनुभव किया कि वे गुटनिरपेक्षता में अपनी आस्था की उद्घोषणा कर महाशक्तियों के प्रभाव से बच सकते हैं।

(4) **आर्थिक कारक**—गुटनिरपेक्षता की अवधारणा के विकास में आर्थिक कारण भी उत्तरदायी रहा है। नवोदित राज्य अस्त्र-शस्त्रों की प्रतियोगिता से बचकर अपने देश का आर्थिक पुनर्निर्माण करना चाहते हैं। आर्थिक पुनर्निर्माण तीव्र गति से हो सकें, इसके लिए विकसित

राष्ट्रों से आर्थिक और तकनीकी सहयोग प्राप्त करना आवश्यक है। अतः इन देशों ने अपनी वैदेशिक अर्थनीतियों को ऐसा मोड़ दिया कि वे विश्व के किसी देश से 'बिना शर्त' आर्थिक सहायता ले सकते हैं। उन्होंने यह भी अनुभव किया कि गुटनिरपेक्ष रहकर ही दोनों महाशक्तियों से वे आर्थिक सहायता प्राप्त कर सकते हैं।

(5) अपने पृथक् अस्तित्व की अभिलाषा—विश्व के नवोदित राष्ट्रों को ऐसा लगा कि गुटनिरपेक्षता उनके लिए अपने पृथक् और विशिष्ट वैचारिक स्वरूप को अक्षुण्ण बनाये रखने का साधन थी। वे अपनी राजनीतिक, आर्थिक, सांस्कृतिक और सामाजिक संस्थाओं के पृथक् स्वरूप को बनाये रखना चाहते थे। वे यह नहीं चाहते थे कि राष्ट्रों के किसी बड़े समूह में जहाँ किसी-न-किसी सर्वोच्च शक्ति का बोलबाला हो, उनकी अपनी कोई पहचान ही न रह जाये। राष्ट्रपति सुकर्ण ने कहा था, "न तो हम छाया राष्ट्र हैं, न पाठ्य-पुस्तकीय विचारक हैं।" भारत के भूतपूर्व प्रधानमन्त्री लालबहादुर शास्त्री के शब्दों में, "हमारा स्वर किसी और स्वर की प्रतिध्वनि नहीं है। यह उन लोगों की असली आवाज है जिनका हम प्रतिनिधित्व करते हैं और जिनकी तरफ से हम बोलते हैं।"

(6) ऐतिहासिक अनुभव—असंलग्न राष्ट्रों का ऐतिहासिक अनुभव उपनिवेशवादियों और साम्राज्यवादियों द्वारा उनकी सम्प्रभुता एवं स्वतन्त्रता को कुचलकर अपने-अपने हित में उनके शोषण की कटु स्मृति से जुड़ा है। एशिया और अफ्रीका के नवोदित राज्य यह अनुभव करते हैं कि यदि वे बड़े राष्ट्रों के साथ सैनिक सन्धियों में आबद्ध हो गये तो शोषक और शोषित राज्यों के सम्बन्धों का वही प्राचीन इतिहास दोहराया जायेगा।

(7) स्वतन्त्र विदेश-नीति के संचालन की इच्छा—नवोदित एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्र गुटनिरपेक्षता की नीति के माध्यम से अपने को स्वतन्त्र शक्ति के रूप में स्थापित करना चाहते थे। गुटनिरपेक्षता की विदेश नीति के परिणामस्वरूप आज ये किसी बड़ी शक्ति के उपग्रह मात्र की स्थिति में नहीं हैं और न दूसरों के संकेतों पर नाचने के लिए लाचार हैं।

उपर्युक्त कारणों से प्रभावित होकर एशिया और अफ्रीका के देशों ने गुटनिरपेक्षता की नीति को अपनाना उचित समझा।

गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख लक्षण
(MAIN CHARACTERISTICS OF NON-ALIGNMENT)

गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख लक्षण निम्नलिखित हैं—

(1) सकारात्मक तथा गतिशील दृष्टिकोण—असंलग्नता की प्रमुख विशेषता उसका सकारात्मक, गतिशील एवं विश्व समस्याओं पर स्वतन्त्र ढंग से व्यवहार करने की सुस्पष्ट नीति है। यह एक स्थिर नीति नहीं बल्कि निरन्तर विकासशील नीति है जिसे अपनाते हुए सम्बद्ध राज्य द्वारा राष्ट्रीय हित और विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपने दृष्टिकोण एवं कार्य-पद्धति में परिवर्तन किया जा सकता है। कुछ समय पूर्व तक गुटनिरपेक्ष आन्दोलन में राजनीतिक प्रश्नों को प्रमुखता दी जाती थी किन्तु विगत एक दशक से इसके अन्तर्गत आर्थिक प्रश्नों को अधिक महत्त्व दिया जा रहा है।

(2) स्वतन्त्र विदेश नीति—गुटनिरपेक्षता का अभिप्राय यह है कि सम्बद्ध देश अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी शक्ति गुट के साथ बँधा हुआ नहीं है अपितु उसका स्वतन्त्र पथ है जो न्याय, सत्य, शान्ति और औचित्य पर आश्रित है। जिन देशों ने गुटनिरपेक्षता का मार्ग चुना है वे अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में किसी के पिछलग्गू नहीं होते वरन् स्वयं अपनी दिशा का निर्धारण करते हैं। अल्जीरिया के प्रधानमंत्री बिन बिल्लाह ने स्पष्ट कहा था, "हम किसी से बंधे नहीं——गुटनिरपेक्षता से भी नहीं।"

(3) उपनिवेशवाद का विरोध—गुट-निरपेक्षता उपनिवेशवाद, नव-उपनिवेशवाद, साम्राज्यवाद, शोषण और रंगभेद की प्रबल विरोधी है। गुटनिरपेक्षता विभिन्न राज्यों के पारस्परिक व्यवहार में राष्ट्रीय प्रभुसत्ता, स्वतन्त्रता और समानता में विश्वास करती है।

(4) शान्ति-नीति का विस्तार—गुटनिरपेक्षता का उदय विश्व-शान्ति की आकांक्षा और उद्देश्य से हुआ है। यह शांति के उद्देश्यों और संकल्पों की अभिव्यक्ति है। इसका मुख्य लक्ष्य अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में तनाव की बढ़ती प्रवृत्तियों को कमजोर करते हुए शान्ति स्थापित करना है।

गुटनिरपेक्षता की नीति के प्रमुख लक्षण

* सकारात्मक तथा गतिशील दृष्टि-कोण
* स्वतन्त्र विदेश नीति
* उपनिवेशवाद का विरोध
* शान्ति-नीति का विस्तार
* सैनिक गुटबन्दियों से पृथक् रहना
* गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन है, गुट नहीं
* गुटनिरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र का सहायक है, विकल्प नहीं

(5) सैनिक गुटबन्दियों से पृथक् रहना—गुटनिरपेक्षता का मुख्य लक्षण है शक्ति गुटों से अलग रहने की नीति का पालन करना। इसमें यह तथ्य भी निहित है कि गुटनिरपेक्ष देश किसी भी महाशक्ति के साथ सैनिक समझौता नहीं करेगा। गुटनिरपेक्षता का मूल विचार है कि विश्व के देशों को परस्पर विरोधी गुटों में विभक्त करने के प्रयासों ने विश्व में तनाव की स्थिति को जन्म दिया है और गुटनिरपेक्षता का उद्देश्य इन शक्ति गुटों से पृथक् रहते हुए तनाव की स्थिति को निर्बल बनाना है। पं. जवाहर लाल नेहरू के शब्दों में, "हम चाहते हैं कि एक-दूसरे के विरुद्ध गुटबाजी से हम यथासम्भव अलग रहें। इस गुटबन्दी के कारण ही अतीत में विश्व युद्ध हुए हैं और भविष्य में बड़े पैमाने पर विपत्ति आ सकती है।"

(6) गुटनिरपेक्षता एक आन्दोलन है, गुट नहीं—गुटनिरपेक्षता एक गुट नहीं वरन् एक आन्दोलन है, एक ऐसा आन्दोलन जो विश्व के राष्ट्रों के बीच स्वैच्छिक सहयोग चाहता है, उनमें प्रतिद्वन्द्विता या टकराव नहीं।

(7) गुटनिरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र का सहायक है, विकल्प नहीं—गुटनिरपेक्षता का विश्वास है कि "संयुक्त राष्ट्र के अभाव में वर्तमान विश्व की कल्पना नहीं की जा सकती। गुटनिरपेक्ष आन्दोलन संयुक्त राष्ट्र का विकल्प या उसका प्रतिद्वन्द्वी नहीं बल्कि इस संगठन की सहायक प्रवृत्ति है जिसका उद्देश्य है संयुक्त राष्ट्र को उचित मार्ग पर आगे बढ़ाते हुए उसे शक्तिशाली बनाना।"

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अथवा निर्गुट आन्दोलन (NAM)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के लिए किन्हीं स्थायी संस्थाओं की स्थापना नहीं की गयी फिर भी गुटनिरपेक्ष देशों में समन्वय स्थापित करने के लिए दो प्रकार की संस्थाएँ कार्य कर रही हैं। ये हैं (1) **समन्वय ब्यूरो** और (2) **सम्मेलन**। समन्वय ब्यूरो गुटनिरपेक्ष देशों में सतत् विचार-विमर्श और कार्य में समन्वय स्थापित करने के लिए एक उपयोगी सक्रिय केन्द्र है। सम्मेलन के दो प्रकार हैं (1) गुटनिरपेक्ष देशों के विदेश मन्त्रियों का सम्मेलन और (2) शिखर सम्मेलन। शिखर सम्मेलन में गुटनिरपेक्ष देशों के प्रमुख अर्थात् शासनाध्यक्ष भाग लेते हैं—पूर्ण सदस्य, पर्यवेक्षक राज्य सदस्य, पर्यवेक्षक राज्य सदस्य, पर्यवेक्षक गैर-राज्य सदस्य और अतिथि।

गुटनिरपेक्ष राज्यों के शिखर सम्मेलन
(CONFERENCES OF NON-ALIGNED COUNTRIES)

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के आयोजित शिखर सम्मेलन इस प्रकार हैं—

(1) बेलग्रेड सम्मेलन (1961)

सितम्बर 1961 में गुट-निरपेक्ष देशों का प्रथम शिखर सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के 25 देशों ने भाग लिया। 1-6 सितम्बर 1961 तक चलने वाले इस सम्मेलन में मुख्य रूप से जिन विषयों पर विचार किया गया वे निम्न प्रकार से हैं—

(1) इस सम्मेलन में विश्व की कुछ गम्भीर समस्याओं पर चिन्ता व्यक्त की गयी। जैसे—कांगो की समस्या, बर्लिन की समस्या तथा चीन का संयुक्त राष्ट्र संघ में प्रवेश का प्रश्न।

(2) आत्म-निर्णय के सिद्धान्त को अत्यधिक महत्त्व दिया जाय।

(3) साम्राज्यवाद और उपनिवेशवाद को विश्वशान्ति के लिये घातक घोषित किया गया।

(4) दक्षिण अफ्रीका की रंगभेद नीति की आलोचना की गयी।

(5) शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व (Peaceful Co-existence) के सिद्धान्त में आस्था व्यक्त की गयी।

(2) काहिरा सम्मेलन (1964)

5 अक्टूबर, 1964 को यह सम्मेलन काहिरा में प्रारम्भ हुआ। इसमें 48 देशों के प्रतिनिधि एवं 11 पर्यवेक्षक देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में विश्व की मुख्य समस्याओं के सम्बन्ध में निम्न सुझाव दिये गये—

(1) सभी देश रंगभेद की नीति अपनाने वाली दक्षिण अफ्रीका के सरकार के साथ राजनयिक सम्बन्ध विच्छेद कर दें एवं उस पर आर्थिक प्रतिबन्ध लगायें।

(2) दक्षिण रोडेशिया की समस्या पर चिन्ता व्यक्त की गयी तथा ब्रिटेन से इस प्रश्न को सुलझाने का आग्रह किया गया।

(3) सम्मेलन में सम्मिलित देश अपने यहाँ आणविक परीक्षण नहीं करेंगे।

(3) लुसाका सम्मेलन (1970)

गुट-निरपेक्ष देशों का तीसरा शिखर सम्मेलन अफ्रीकी देश जाम्बिया की राजधानी लुसाका में सितम्बर 1970 में हुआ। इस सम्मेलन में 53 राज्यों ने भाग लिया। इस सम्मेलन की उपलब्धियाँ निम्नलिखित थीं—

(1) **वियतनाम**—वियतनाम से अमेरिकी फौजें हटाने की माँग की गयी।

(2) **कम्बोडिया**—कम्बोडिया के सम्बन्ध में स्पष्ट कहा गया कि जनरल लोन-नोल की सरकार ने राजकुमार सिंहानुक को अपदस्थ करके विदेशी हस्तक्षेप के लिए मार्ग खोल दिया।

(3) **पश्चिमी एशिया**—अरबों का समर्थन तथा इजरायल का बहिष्कार तथा घेराबन्दी करने का निर्णय लिया गया।

(4) अल्जीयर्स सम्मेलन (1973)

गुट-निरपेक्ष देशों का चौथा शिखर सम्मेलन अल्जीरिया की राजधानी अल्जीयर्स में 9-10 सितम्बर, 1973 में हुआ। इस सम्मेलन में 75 देशों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में अग्रलिखित विषयों पर विचार किया गया—

(1) सम्मेलन में महाशक्तियों के मध्य तनाव शैथिल्य का स्वागत किया गया।
(2) वियतनाम की क्रान्तिकारी सरकार को समर्थन दिया जाय।
(3) इजरायल द्वारा अधिकृत अरब क्षेत्र तथा ईरान की खाड़ी में तनाव कम किया जाये।
(4) निर्गुट राष्ट्रों को अपनी असंलग्नता की परिभाषा परिवर्तित अन्तर्राष्ट्रीय स्थिति के सन्दर्भ में करनी चाहिए।

(5) कोलम्बो सम्मेलन (1976)

16 से 20 अगस्त, 1976 तक कोलम्बो में गुट-निरपेक्ष देशों का पाँचवाँ शिखर सम्मेलन आयोजित किया गया। उस सम्मेलन में 85 देशों ने भाग लिया। घोषणा-पत्र में निम्नलिखित बातें कही गयीं—

(1) अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार का पुनर्गठन हो।
(2) वर्तमान विश्व मुद्रा प्रणाली में परिवर्तन हो।
(3) विकासशील देशों पर अधिकाधिक मात्रा में अधिक साधन हस्तान्तरित किये ज़ायें।
(4) श्रम के नये अन्तर्राष्ट्रीय विभाजन के आधार पर उत्पादन को नये सिरे से पुनर्गठित किया जाय।

(6) हवाना सम्मेलन (1979)

छठा शिखर सम्मेलन हवाना (क्यूबा) में 3 सितम्बर, 1989 को क्यूबा के राष्ट्रपति डॉ. फिडेल कास्ट्रो के साम्राज्यवाद, नव-उपनिवेशवाद और अमरीका विरोधी भाषण के साथ प्रारम्भ हुआ। इसमें 92 देशों के प्रतिनिधियों ने भाग लिया। हवाना सम्मेलन के घोषणा-पत्र में कहा गया कि—

(1) गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों से अपनी स्वतन्त्र विदेश नीति एवं एकता के लिए एकजुट रहने को कहा गया।
(2) तेल निर्यातक देशों से अपील की गयी कि वे दक्षिण अफ्रीका को तेल की सप्लाई रोक दें।
(3) पश्चिमी एशिया, साइप्रस और परमाणु ऊर्जा के प्रयोग पर महत्त्वपूर्ण विचार-विमर्श हुआ।
(4) दक्षिण अफ्रीका के अश्वेत छापामार युद्ध को समर्थन देने का निर्णय किया गया।

(7) नई दिल्ली सम्मेलन (1983)

7 मार्च, 1983 को नयी दिल्ली में श्रीमती इन्दिरा गाँधी की अध्यक्षता में गुट-निरपेक्ष देशों का सातवाँ सम्मेलन सम्पन्न हुआ। इसमें 101 देशों ने भाग लिया। सम्मेलन के घोषणा-पत्र में निम्न बातें कही गयीं—

(1) महाशक्तियों से अपील की गयी कि वे शस्त्रों की प्रतिस्पर्धा रोकें।
(2) विश्व अर्थव्यवस्था को व्यवस्थित करने के लिए शीघ्र ही ठोस कदम उठाये जाने चाहिए।
(3) नामीबिया की स्वतन्त्रता के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के प्रस्ताव 435 को शीघ्र क्रियान्वित करने, मध्य अमरीका, दक्षिण-पूर्व एशिया, दक्षिण-पश्चिम एशिया, हिन्द महासागर, भूमध्य सागर तथा अन्य अशान्त क्षेत्रों में शान्ति स्थापना हेतु

शान्ति, न्याय, समानता तथा स्वतन्त्रता के सिद्धान्तों पर विश्व स्तर पर प्रयास किये जायें।

(4) अल्पतम विकसित राष्ट्रों की विकास प्रक्रिया में हस्तक्षेप किये बगैर उनके भुगतान सन्तुलन की समस्या का निदान ढूँढ़ने पर बल दिया जाय।

(8) हरारे सम्मेलन (1986)

आठवाँ गुट-निरपेक्ष सम्मेलन 1-7 सितम्बर 1986 को हरारे (जिम्बाब्वे) में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन की अध्यक्षता जिम्बाब्वे के प्रधानमन्त्री रॉबर्ट मुगावे ने की। सम्मेलन में निम्नलिखित विषयों से सम्बन्धित विचार-विमर्श हुआ—

(1) प्रीटोरिया शासन पर आर्थिक प्रतिबन्धों के परिणामों का सामना करने के लिए मोर्चाबन्द राज्यों की सहायता की जाय।

(2) अफ्रीकी कोष का गठन किया जाय।

(3) साम्राज्यवाद तथा उपनिवेशवाद का उन्मूलन किया जाय।

(4) लीबियाई नेता कर्नल गद्दाफी के इस कथन की यह आन्दोलन 'अन्तर्राष्ट्रीय छलावा' है को ध्यान में रखकर आन्दोलन को और अधिक कारगर बनाया जाये।

(5) मिस्र के विदेश मन्त्री ने अफगानिस्तान से सोवियत सैनिक हटाने की माँग की।

(6) इण्डोनेशिया के उपराष्ट्रपति ने कम्पूचिया की समस्या के हल ढूँढ़ने पर बल दिया।

(9) बेलग्रेड सम्मेलन (1989)

गुटनिरपेक्ष देशों का नवाँ शिखर सम्मेलन यूगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में सितम्बर, 1989 को हुआ। इस सम्मेलन में 102 देशों ने भाग लिया। उन्होंने अमीर देशों से अपील की कि वे गरीब देशों पर बढ़ रहे बाहरी ऋण के भीषण संकट के हल में सहयोग करें। सम्मेलन ने पूर्ण निःशस्त्रीकरण, विकासशील देशों में आपसी सहयोग बढ़ाने, दक्षिण अफ्रीका में रंगभेद की समाप्ति, अफगान संकट के हल पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता दर्शायी।

(10) जकार्ता सम्मेलन (1992)

विश्व में तेजी से बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति को ध्यान में रखते हुए 'NAM' का स्वयं और इसके दसवें सम्मेलन जो कि जकार्ता में सम्पन्न हुआ, का बहुत महत्त्व है। एक ओर जहाँ अमेरिका द्रुतगति से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अपना वर्चस्व स्थापित कर रहा है और शीत युद्ध समाप्त हो गया है वहीं असंलग्नता एवं असन्तुलन (निर्गुट) आन्दोलन के अस्तित्व पर भी प्रश्न चिन्ह लग रहे हैं। यह शिखर सम्मेलन इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में सितम्बर के प्रथम सप्ताह में सम्पन्न हुआ। एक सितम्बर से लेकर छह सितम्बर, 1992 तक चलने वाला यह सम्मेलन अपने आप में इसलिए महत्त्वपूर्ण है कि अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की परिवर्तित परिस्थितियों में भी इसमें 108 राष्ट्रों ने भाग लिया और जर्मनी तथा चीन जैसे महत्त्वपूर्ण राष्ट्र इस सम्मेलन में प्रेक्षक के रूप में सम्मिलित हुए।

यह सम्मेलन कुछ ऐसी परिस्थितियों में सम्पन्न हुआ जबकि सोवियत संघ का विघटन हो गया और अमेरिका ही एकमात्र महाबली राष्ट्र रह गया है। शीत युद्ध समाप्त हो चुका है। इस समय कुछ विद्वान तो इसको बीते हुए समय का चक्र बता रहे हैं। अमेरिका अपनी सैनिक और आर्थिक शक्ति का भरपूर प्रदर्शन कर रहा है। एक प्रकार से कुछ ऐसा लग रहा है कि

विश्व पुनः एक नवीन पूँजीवादी या उपनिवेशवादी प्रवृत्ति की ओर अग्रसर हो रहा है, जहाँ अमेरिका की शक्ति का डंका बज रहा है। यदि निर्गुट राष्ट्रों के आन्दोलन के व्यापक उद्देश्य और हितों को देखेंगे तो जहाँ एक ओर उसकी एक भूमिका (गुटों से दूर रहना) कम हुई है, वहीं उपनिवेशवादी नवीन प्रवृत्ति के विरुद्ध धर्मयुद्ध की गहरी आवश्यकता अनुभव की जा रही है।

सम्मेलन में निम्नलिखित प्रस्ताव पारित किये गये जो 'NAM' आन्दोलन के दृष्टिकोण और उसके जीवन्त होने के प्रमाण प्रस्तुत करते हैं—

(1) आन्दोलन इस बात का प्रयास करेगा कि विश्व में राजनीतिक समस्याओं के स्थान पर आर्थिक विषयों को बल दिया जाये।
(2) आन्दोलन ने सर्विया द्वारा की गयी कार्यवाही की आलोचना करते हुए कहा कि बोस्निया एवं हर्जेगोविना को अपनी समस्या का तुरन्त समाधान निकालना चाहिए। आन्दोलन का स्पष्ट मत था कि सभी क्षेत्रों से बाहरी सेनाओं को वापस कर लेना चाहिए। यदि बल प्रयोग करने की आवश्यकता है तो फिर यू.एन.ओ. की सेना (शान्ति हेतु) लगायी जानी चाहिए।
(3) एक ऐसी विश्व व्यवस्था की स्थापना का संकल्प लिया जो प्रजातन्त्र, न्याय तथा समानता पर आधारित हो।
(4) आतंकवाद की आलोचना एवं इसे अन्तर्राष्ट्रीय अपराध स्वीकार करके सभी राष्ट्रों से इसे समाप्त करवाने का अनुरोध किया गया।
(5) संयुक्त राष्ट्र के द्वारा एक ऐसा सम्मेलन आयोजित करने का आग्रह किया गया जो स्वतन्त्रता, संघर्ष व आतंकवाद जैसे विषयों पर विचार-विमर्श करे।
(6) आणविक ऊर्जा का उपयोग शान्तिपूर्ण विकास कार्यों, आर्थिक विकास तथा सामाजिक विकास के लिए करने हेतु कहा गया।
(7) बहुचर्चित एन. पी. टी. पर विचार करते हुए कहा गया कि इसका उद्देश्य शान्तिपूर्ण उपयोग होना चाहिए तथा विकास हेतु प्राविधिकी एवं उपकरण की माँग पर रोक नहीं लगानी चाहिए।
(8) जकार्ता सम्मेलन में एक सबसे महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव यह पारित हुआ कि विकासशील राष्ट्रों के आन्तरिक मामलों में विकसित राष्ट्र हस्तक्षेप न करें।

(11) कार्टाजेना सम्मेलन (1995)

34 वर्ष पुराने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का ग्यारहवाँ शिखर सम्मेलन कोलम्बिया के नगर कार्टाजेना में 18-20 अक्टूबर, 1995 को सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों पर विचार के बाद 'कोलम्बिया अपील' पारित हुई। इस अपील की बातें निम्न हैं—

(1) निशस्त्रीकरण के लक्ष्य को प्राप्त करने की दिशा में हो रहे प्रयासों को तेज करना।
(2) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन को द्विपक्षीय विवादों में नहीं घसीटना।
(3) उन्नत देशों द्वारा 'हस्तक्षेप की नीति' के विरुद्ध संयुक्त रूप से संघर्ष करना।
(4) गुट-निरपेक्ष देशों से निरक्षरता को समाप्त करना।
(5) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के नये अध्यक्ष कोलम्बिया के राष्ट्रपति इर्नेस्ट सैम्पर पिजानो को सात औद्योगिक देशों के साथ बातचीत शुरू कर विकसित और विकासशील देशों के मध्य वार्ता को और बढ़ाने के लिए अधिकृत किया गया।

(6) अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष तथा विश्व बैंक में सुधार किया जाय।

भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री पी. वी. नरसिंहराव ने शीतयुद्ध का दौर समाप्त हो जाने के बाद बदले हुए अन्तर्राष्ट्रीय परिवेश में गुट-निरपेक्ष आन्दोलन से अपनी भूमिका तथा अपने तात्कालिक लक्ष्य को पुनः परिभाषित करने का आह्वान किया।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 12वाँ विदेश मन्त्री सम्मेलन 7-8 अप्रैल 1997 को नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ। 74 देशों के विदेशमन्त्री तथा राजदूत, 113 सदस्यीय इस आन्दोलन के सम्मेलन में उपस्थित थे। इसके अतिरिक्ति सं. रा. के महासचिव कोफी अन्नान तथा निर्गुट देशों के सम्मेलन के वर्तमान अध्यक्षा कोलम्बिया की मारियो इमा मेजिया वेलेज भी उपस्थित थीं।

(12) डरबन सम्मेलन (1998)

2, 3 सितम्बर, 1998 को दक्षिण अफ्रीका के शहर डरबन में गुट-निरपेक्ष देशों के 12वें सम्मेलन का आयोजन किया गया। 1961 में प्रारम्भ होकर हर तीसरे वर्ष (1967 अपवाद वर्ष) एक नये देश की यात्रा करता हुआ गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का कारवां पाँचवीं बार अफ्रीका के किसी देश में पहुँचा। यूरोप (दो बार), दक्षिण अमेरिका (एक बार), उत्तर अमेरिका (एक बार) तथा एशिया (तीन बार) नई दिल्ली में गुट-निरपेक्ष सम्मेलन के आयोजन हो चुके हैं। वर्तमान में इस आन्दोलन में 114 सदस्य देश सम्मिलित हैं। इस आन्दोलन में इतने देशों का शामिल होना तथा इतने महादेशों में फैलाव गुट-निरपेक्षता की नीति की बहुव्यापकता एवं लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

1994 में रंग-भेदी गोरी शासन से मुक्ति के चार वर्षों में ही दक्षिण अफ्रीका में गुट-निरपेक्ष देशों के महासम्मेलन का आयोजन होना एक महत्त्वपूर्ण घटना है। नब्बे के दशक में अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य में सोवियत संघ जैसे भीमकाय और शक्तिशाली देश के विघटन, दोनों जर्मनियों के संघटन और गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के जनक देशों में से एक यूगोस्लाविया के विघटन तथा हाल ही में भारत एवं पाकिस्तान द्वारा परमाणु बमों के परीक्षण जैसी विश्व प्रभावी घटनाओं की छाया किसी भी अन्तर्राष्ट्रीय आयोजन पर पड़ना सहज-सम्भाव्य है क्योंकि उपर्युक्त सभी घटनाएँ अपनी-अपनी प्रकृति और स्वरूप से ऐतिहासिक तथा प्रभाव की दृष्टि से अत्यन्त उत्प्रेरक भी रही हैं। उपर्युक्त घटनाओं का कमोबेश सुदूर अथवा निकटलक्षी प्रभाव डरबन गुट-निरपेक्ष सम्मेलन पर पड़ना आश्चर्यजनक है।

सम्मेलन के उद्घाटन सत्र में कोलम्बिया के राष्ट्रपति आन्द्रे पस्त्राना ने औपचारिक रूप से निर्गुट आन्दोलन की अध्यक्षता मेजबान देश के राष्ट्रपति डॉ. नेल्सन मण्डेला को सौंप दी। 114 सदस्यीय गुट-निरपेक्ष देशों के नये अध्यक्ष डॉ. नेल्सन मण्डेला ने जहाँ अपने उद्घाटन भाषण में कश्मीर मसले को उठाकर अब तक की गुट-निरपेक्ष सम्मेलन की परम्परा, द्विपक्षीय मामलों से दूर रहना, को तोड़ दिया, वहीं सम्मेलन के समापन पर जारी घोषणा-पत्र में भारत और पाकिस्तान द्वारा हाल ही में किये गये परमाणु बमों के परीक्षण पर तीखी प्रतिक्रिया से बचते हुए मात्र इतना कहा गया कि "दक्षिण एशिया में इस तरह के विस्फोटों से जटिलता पैदा हो गयी है।" भारत और पाकिस्तान की सम्भावित नाराजगी के मद्देनजर इन देशों द्वारा किये गये हाल के बम परीक्षण पर कटुक्ति से बचते हुए भी विश्व महाशक्तियों, विशेषकर परमाणु सम्पन्न देशों ने परमाणिक हथियारों को समाप्त करने की जोरदार अपील की गयी। प्रकारान्तर से भारत और पाकिस्तान को भी परमाणुविक हथियारों की होड़ में न पड़ने की अपील हो गयी। पाकिस्तान ने इस अपील पर अपनी सकारात्मक प्रतिक्रिया भले नहीं की लेकिन भारत ने इस अपील पर अपनी सकारात्मक प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए यह स्पष्ट किया

कि उसे नाभिकीय हथियार बनाने की दिशा में बढ़ने में कोई दिलचस्पी नहीं है। इस सम्मेलन में भारत का प्रतिनिधित्व कर रहे प्रधानमन्त्री श्री अटल बिहारी बाजपेयी ने आगे से परमाणु परीक्षण न करने की एकतरफा घोषणा भी कर दी। हालांकि भारत ने अब तक व्यापक परमाणु परीक्षण सन्धि (सी.टी.बी.टी.) पर हस्ताक्षर नहीं किये हैं क्योंकि वह इस सन्धि को भेद-भाव का मूलक मानता है लेकिन सम्मेलन में भारत द्वारा 'परमाणु हथियार मुक्त विश्व' का नारा देना भारत की परमाणुमुक्त विश्व के प्रति उसकी सदिच्छा को दर्शाता है। यहाँ पर उल्लेखनीय है कि निर्गुट आन्दोलन के सदस्य देशों ने भारत की इस सद्इच्छा के अनुरूप 1999 में अन्तर्राष्ट्रीय निशस्त्रीकरण सम्मेलन बुलाने का आह्वान किया।

डरबन सम्मेलन में आतंकवाद का मुद्दा भी जोर-शोर से उभरा। हाल ही में तंजानिया और केन्या स्थित अमेरिकी दूतावास को लक्ष्य कर किये गये आतंकवादी हमले, जिसमें सैकड़ों लोग मारे गये, के प्रतिरोध में अमेरिका ने सूडान तथा अफगानिस्तान स्थित आतंकवादियों के अड्डों पर मिसाइलों से हमला किया। इस घटना पर चर्चा होना स्वाभाविक था। हालांकि घोषणा-पत्र में अफगानिस्तान में अमेरिकी हमलों का उल्लेख नहीं किया गया लेकिन सूडान पर हमले के सन्दर्भ में अमेरिका की निन्दा करते हुए इसे आक्रमण की संज्ञा दी गयी। भारतीय प्रधानमन्त्री ने अमेरिकी हमले की अप्रत्यक्ष रूप से आलोचना करते हुए कहा कि आतंकवाद के खिलाफ लड़ाई एकतरफा अथवा चुनिन्दा कार्यवाही के द्वारा नहीं लड़ी जा सकती। उन्होंने सीमा पार से फैलाये जा रहे आतंकवाद की चर्चा करते हुए इसके निपटने के उपायों पर विचार-विमर्श हेतु एक अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन बुलाने का आह्वान किया। घोषणा-पत्र में भारत की इस भावना के अनुरूप आतंकवाद के विरुद्ध सभी देशों में अन्तर्राष्ट्रीय सहयोग बढ़ाने पर बल दिया गया। सम्मेलन के सदस्य देशों ने भारत की आतंकवाद विरोधी नीति के साथ सामूहिक आवाज उठाते हुए 1999 तक दुनिया भर में जारी आतंकवादी गतिविधियों को कुचलने के लिए 'साझा अभियान' का संकल्प लिया। सदस्य देशों ने आतंकवादियों और उनके शिकार लोगों के नस्ल, धर्म और राष्ट्रीयता पर ध्यान दिये बिना सभी प्रकार के आतंकवाद से लड़ने के प्रति अपनी प्रतिबद्धता जताई।

डरबन सम्मेलन के शुरूआती दिन ही मेजबान देश के राष्ट्रपति ने कश्मीर का उल्लेख करके माहौल में थोड़ी गरमी पैदा कर दी। मण्डेला ने कहा, "यह हम सब की चिन्ता है कि जम्मू-कश्मीर के मुद्दे को शान्तिपूर्ण बातचीत से हल किया जाये। इस समस्या के समाधान हेतु हमारे पास जो भी शक्ति है, उसे लगा देना है। उसे लगा देने की इच्छा हम सब में होनी चाहिए।" मण्डेला का यह बयान भले ही सद्इच्छा से भरा हुआ हो लेकिन यह गुट-निरपेक्ष आन्दोलन की उस भावना के विरुद्ध था जिसमें द्विपक्षीय मामलों को उठाने से यथासम्भव परहेज किया जाता है। स्वाभाविक रूप से भारत ने इस पर अपनी आपत्ति व्यक्त की। भारत की भावना को समझकर दक्षिण अफ्रीका के उपराष्ट्रपति ने श्री मण्डेला के इस बयान पर श्री बाजपेयी से क्षमा माँग ली। इस प्रकार एक कटु प्रसंग का सुखद पटाक्षेप हो गया।

इस सम्मेलन में आर्थिक मुद्दों पर भी विस्तृत विचार-विमर्श हुआ। मेजबान देश ने आर्थिक मुद्दों पर विशेष रुचि दिखायी। श्री मण्डेला ने गरीब देशों पर कर्ज के बोझ को धनी देशों के लिए सबसे फौरी चुनौती बताया। उन्होंने कहा, "बहुत कुछ कहा गया है लेकिन अब जरूरत धनी देशों और दक्षिण में उनके भागीदारों की तरफ से कुछ ठोस किये जाने की है।" उन्होंने विश्व में एक ओर धन के आधिक्य और दूसरी ओर बढ़ती गरीबी के विरोधाभास को इंगित करते हुए प्रश्न किया कि क्या वह समय नहीं आ गया है जब निर्गुट आन्दोलन

का विकास एजेण्डा विश्व समुदाय की प्राथमिकता सूची को निर्धारित करे। डॉ. मण्डेला के इस कथन का, कि भूमण्डलीकरण ने 'दिखावे की एकरूपता' पैदा कर दी है, सम्मेलन में भाग ले रहे संयुक्त राष्ट्र महासचिव कोफी अन्नान ने भी समर्थन किया। उन्होंने धनी देशों की संरक्षणवादी नीतियों की आलोचना करते हुए औद्योगिक देशों का आह्वान किया कि वे भी अपने बाजार गरीब देशों के लिए खोल दें।

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि इस सम्मेलन में एक ओर जहाँ परमाणु निशस्त्रीकरण तथा आतंकवाद का मुद्दा जोर-शोर से उछला, वहीं आर्थिक, मानव कल्याण और विकास के मुद्दे भी उठाये गये। भारत के प्रधानमन्त्री ने सुरक्षा परिषद् के पुनर्गठन का सुझाव देकर इसमें पनप चुके जातिवाद, गुटबाजी और एकतरफा दादागीरी की विसंगतियों और विद्रूपताओं की ओर संकेत किया। अतः कहा जा सकता है कि डरबन गुट-निरपेक्ष सम्मेलन ने विश्व की वर्तमान ज्वलंत समस्याओं पर अपनी स्वतन्त्र और खुली सोच का इजहार कर गुट-निरपेक्षता की अवधारणा को और मजबूत किया। इस सम्मेलन में बेलारूस 114वें सदस्य के रूप में सम्मिलित हुआ। प्रत्येक सम्मेलन में सदस्यों की संख्या बढ़ते जाना निर्गुट आन्दोलन के बढ़ते प्रभाव एवं मजबूती को दर्शाता है।

गुटनिरपेक्षता आन्दोलन का अतीत

अमेरिका और सोवियत संघ के बीच द्विध्रुवीकृत तत्कालीन विश्व परिदृश्य में गुट-निरपेक्षता महाशक्तियों की शक्ति राजनीति से बचाव के सर्वाधिक सशक्त विकल्प के रूप में उभरकर सामने आयी। अपने-अपने आर्थिक विकास और राजनीतिक ढाँचे के निर्माण का कार्य ये नव-स्वतन्त्र अफ्रो-एशियाई देश शान्ति और गुटबाजी के संघर्षमय माहौल से अलग रहकर ही कर सकते थे। इस प्रकार कहा जा सकता है कि गुट-निरपेक्षता की नीति अपने स्वरूप में शीतयुद्ध एवं महाशक्तियों की प्रतिद्वन्द्विता की विरोधी तथा स्वतन्त्रता एवं विकास की समर्थक थी।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बनाने के लिए, जून 1961 में काहिरा में 21 राष्ट्रों की एक बैठक में पाँच मापदण्ड निर्धारित किये गये। इनके अनुसार वह देश जो (क) उपनिवेशवाद का विरोध करता हो; (ख) गुटनिरपेक्षता तथा शान्तिपूर्ण सह-अस्तित्व की नीति का अनुसरण करता हो; (ग) शीतयुद्ध से सम्बन्धित किसी सैनिक गुट का सदस्य न हो; (घ) सोवियत संघ तथा अमेरिका से सैनिक सन्धि में न बँधा हो; (ङ) उसके यहाँ कोई विदेशी सैनिक अड्डा न हो, गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य बन सकता है। सम्मेलन का आयोजन प्रत्येक तीसरे वर्ष करने का निर्णय लिया गया।

गुट-निरपेक्ष सम्मेलन का आयोजन 1961 से आज तक कुछ व्यवधानों को छोड़कर प्रत्येक तीसरे वर्ष निरन्तर होता रहा है और यह भी दृष्टव्य है कि प्रत्येक आयोजन वर्ष में इसकी सदस्य संख्या में निरन्तर वृद्धि होती रही है। यह तथ्य इस आन्दोलन की बढ़ती हुई लोकप्रियता का प्रत्यक्ष प्रमाण है।

1947 में देश को आजादी मिलने से पूर्व ही अन्तरिम सरकार के अन्तर्गत वैदेशिक गतिविधि का दायित्व सँभालते ही 7 सितम्बर, 1946 को पं. नेहरू ने गुट-निरपेक्षता की भारतीय नीति की व्याख्या करते हुए कहा था, "जहाँ तक सम्भव हो, हम महाशक्तियों की शक्ति-राजनीति से विलग होकर रहना चाहते हैं। महाशक्तियों के मध्य परस्पर विरोध की स्थिति ने विश्व को विश्वयुद्ध की विभीषिका तक दो बार पहुँचाया है। हम एक ऐसा विश्व चाहते हैं कि जिसमें स्वतन्त्र जनों के मध्य स्वतन्त्र सहयोग होगा तथा किसी के द्वारा किसी का शोषण नहीं होगा।"

इस प्रकार हम देखते हैं कि आजादी से पूर्व ही भारत गुट-निरपेक्षता की अवधारणा के प्रति अपनी प्रतिबद्धता प्रकट कर चुका था। अतः जब द्विध्रुवीय विश्व के मध्य एक समन्वयकारी और तटस्थ विश्व संस्था की स्थापना की चर्चा चली, तब भारत ने स्वाभाविक रूप से इसमें बढ़-चढ़कर भाग लिया और 1961 में गुट-निरपेक्षता आन्दोलन का शुभारम्भ हो गया। 1983 में भारत की राजधानी नई दिल्ली में 7वाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन का आयोजन हुआ जिसमें तत्कालीन प्रधानमन्त्री इन्दिरा गाँधी ने महती भूमिका निभाई। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य होने के नाते विश्व राजनीति में जब और जहाँ कहीं भी संघर्ष की परिस्थितियाँ पैदा हुईं, भारत ने वहाँ एक हस्तक्षेप करने वाले देश के रूप में नहीं बल्कि एक समन्वयकर्ता देश के रूप में अपनी सार्थक भूमिका निभायी। 1980 में अफगानिस्तान में सोवियत सेना के प्रवेश पर भारत ने किसी एक महाशक्ति पर दोषारोपण नहीं कर, वहाँ से सोवियत सेना की वापसी तथा किसी विदेशी हस्तक्षेप की समाप्ति की माँग की। गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य होने के नाते भारत निरन्तर परमाणु निशस्त्रीकरण की माँग करता रहा है।

यद्यपि भारत समेत कई देशों पर यह आरोप लगाया जाता रहा है कि उसने गुट-निरपेक्ष आन्दोलन का सदस्य होने के बावजूद अंपने किसी एकपक्षीय झुकाव का प्रदर्शन किया है लेकिन इस झुकाव के बावजूद यह कहना उचित होगा कि भारत ने अपनी एक स्वतन्त्र विदेश नीति रखी है तथा विश्व राजनीति में कतिपय प्रश्नों पर एकपक्षीय झुकाव होते हुए भी एक सन्तुलनकारी रवैये को नहीं छोड़ा तथा 'सकारात्मक तटस्थता एवं गुटनिरपेक्षता' को बनाये रखने की भरसक कोशिश की है।

गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के अब तक हुए सम्मेलन
(Conferences of Non-aligened Movement held so for)

क्र. सं.	आयोजन वर्ष	आयोजन स्थल	भाग लेने वाले देशों की संख्या
1.	1961	बेलग्रेड	25
2.	1964	काहिरा	47
3.	1970	लुसाका	53
4.	1973	अल्जीयर्स	75
5.	1976	कोलम्बो	85
6.	1979	हवाना	92
7.	1983	नई दिल्ली	101
8.	1986	हरारे	102
9.	1989	बेलग्रेड	102
10.	1992	जकार्ता	108
11.	1995	कार्टाजेना	113
12.	1998	डरबन	114

गुटनिरपेक्ष देशों का 13वाँ शिखर सम्मेलन 2001 में बांग्लादेश में प्रस्तावित था किन्तु वर्तमान बांग्लादेश सरकार इसको आयोजित नहीं कर रही है। नये स्थान के विषय में निर्णय होना शेष है।

गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियाँ
(ACHIEVEMENTS OF NON-ALIGNMENT)

अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में गुटनिरपेक्षता एक नई संकल्पना है और समय बीतने के साथ उसने अपनी लोकप्रियता को बहुत बढ़ाया है। इसकी उपलब्धियों को निम्नलिखित रूपों में अभिव्यक्त किया जा सकता है—

गुटनिरपेक्षता की उपलब्धियाँ
* गुटनिरपेक्षता को दोनों गुटों द्वारा मान्यता
* विश्व समुदाय के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण
* निःशस्त्रीकरण और अस्त्र-नियन्त्रण की दिशा में प्रगति
* शीत-युद्ध को शस्त्र-युद्ध में परिवर्तित होने से रोकना
* शीत-युद्ध का दितान्त में परिवर्तन
* विभिन्न संघर्षों को टालना
* संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप को रूपान्तरित करना
* अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुरूप विकास के प्रतिमान

(1) गुटनिरपेक्षता को दोनों गुटों द्वारा मान्यता—प्रारम्भ में दोनों महाशक्तियाँ गुट-निरपेक्षता को एक ढोंग समझती थीं और यह मानती थीं कि युद्धोत्तर विश्व में किसी भी राष्ट्र के सामने केवल एक ही रास्ता रह गया है कि वह उनमें से किसी एक के साथ गुटबद्ध हो जाये। लेकिन दोनों महाशक्तियों के इस दृष्टिकोण में धीरे-धीरे परिवर्तन आया। साम्यवादी गुट के दृष्टिकोण में परिवर्तन तो 1953 में स्टालिन की मृत्यु के बाद से ही दिखने लगा था। पश्चिमी गुट ने सातवें दशक में जाकर गुटनिरपेक्षता की नीति को मान्यता दी। अब दोनों शक्ति गुट यह समझने लगे हैं कि गुट निरपेक्षता अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति की वास्तविकता है।

(2) विश्व समुदाय के लिए उपयुक्त वातावरण का निर्माण—नवोदित एशियाई और अफ्रीकी राष्ट्रों को महाशक्तियों के चंगुल से निकालकर उन्हें स्वतन्त्रता के वातावरण में अपना अस्तित्व बनाये रखने का अवसर गुटनिरपेक्षता ने प्रदान किया है। गुटबन्दी की राजनीति के दमघोंटू राष्ट्र समाज में गुटनिरपेक्षता ताजी हवा का झोंका लेकर आयी। यह ताजी हवा थी खुले समाज के गुणों की, मुक्त और खुली चर्चा के वरदान की, तीव्र मतभेद और रोष के समय भी सम्पर्क के रास्ते खुले रखने के महत्त्व की। शीत युद्ध के कारण जो अनुदारताएँ और विकृतियाँ पैदा हो गयी थीं, गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने उन्हें दूर करने के अथक प्रयास किये और इससे वर्तमान विश्व-समाज कहीं अधिक खुला समाज बन गया है।

(3) निःशस्त्रीकरण और अस्त्र- नियन्त्रण की दिशा में प्रगति—निःशस्त्रीकरण और अस्त्र नियन्त्रण के लिए वार्तालाप करने में गुटनिरपेक्ष देशों ने जो भूमिका निभायी, उसमें उन्हें एकदम सफलता तो नहीं मिली, फिर भी उसने व्यक्तियों को यह नहीं भूलने दिया कि विश्व-शान्ति को प्रोत्साहन देने की सारी चर्चा के सामने अस्त्र-शस्त्र बढ़ाने की बे-लगाम दौड़ कितनी खतरनाक है। गुट- निरपेक्ष भारत को यह देखकर सन्तोष हुआ कि उसने अप्रैल 1954 में न्यूक्लीय शस्त्रों के परीक्षण पर प्रतिबन्ध लगाने के जो प्रस्ताव रखे थे वे 1963 में आंशिक परीक्षण प्रतिबन्ध सन्धि के रूप में फलीभूत हुए।

(4) शीत-युद्ध को शस्त्र-युद्ध में परिवर्तित होने से रोकना—यह गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की ही देन है कि महाशक्तियों के बीच उत्पन्न शीतयुद्ध ने सशस्त्र युद्ध का रूप धारण नहीं किया

है। अनेक गुटनिरपेक्ष देश दोनों महाशक्तियों के बीच सद्भावना के लिए सम्पर्क के माध्यम का कार्य करने को तैयार रहे। दोनों महाशक्तियों की तथाकथित गलतफहमियों को दूर कर उनमें शिखर-वार्ता का मार्ग प्रशस्त कराने में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन की विशेष भूमिका रही है।

(5) शीत युद्ध का दितान्त में परिवर्तन—शीत युद्ध को दितान्त अर्थात् तनाव-शैथिल्य की स्थिति में लाने का श्रेय गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को ही प्राप्त है।

(6) विभिन्न संघर्षों को टालना—गुटनिरपेक्षता की उपलब्धि यह है कि इसके प्रभाव से विश्व के कुछ जटिल संघर्ष टल गये। दोनों गुटों की योजनाओं के विपरीत बहुत-से देशों ने राष्ट्र समाज को पूरी तरह से दो भागों में बँटने से रोक दिया जिससे दोनों गुटों के बीच सीधा संघर्ष रोकने में निश्चय ही सफलता मिली।

(7) संयुक्त राष्ट्र संघ के स्वरूप को रूपान्तरित करना—गुटनिरपेक्षता की नीति और गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संगठन को कुछ दृष्टियों से सदैव के लिए रूपान्तरित करने में सहायता दी है। एक तो अपनी संख्या के कारण, दूसरे शीत-युद्ध में अपनी अधिक तटस्थ दृष्टि और भूमिका के कारण गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों ने संयुक्त राष्ट्र संगठन को छोटे राज्यों के बीच शान्ति कायम रखने वाले संगठन से ऐसे संगठन में रूपान्तरित करने में सहायता दी जिसमें छोटे राष्ट्र बड़े राष्ट्रों पर कुछ नियन्त्रण रख सकें। उन्होंने संयुक्त राष्ट्र महासभा की भूमिका का महत्त्व बढ़ा दिया जिसमें सभी सदस्यों का बराबर प्रतिनिधित्व होता है और सुरक्षा परिषद की भूमिका का महत्त्व कम कर दिया (जिसकी सदस्यता सीमित और असमानता पर आधारित है) यद्यपि उसकी मूल संकल्पना विश्व संगठन के सबसे महत्त्वपूर्ण अंग के रूप में की गयी थी।

(8) अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुरूप विकास के प्रतिमान—गुटनिरपेक्ष देशों की विशिष्ट उपलब्धियों में से एक यह है कि उन्होंने अमरीकी और सोवियत आदर्श अपने ऊपर थोपे जाने का विरोध किया और अपनी राष्ट्रीय प्रकृति के अनुसार विकास के अपने राष्ट्रीय सांचों और पद्धतियों का आविष्कार किया। इस तरह भारत ने अपने '**समाज के समाजवादी ढाँचे**' का आविष्कार किया और अरब राष्ट्रों ने '**अरब समाजवाद**' का।

गुटनिरपेक्षता की कमजोरियाँ अथवा विफलताएँ

(WEAKNESSES OR FAILURES OF NON-ALIGNMENT)

गुटनिरपेक्षता की विफलताएँ क्या हैं? इस सिलसिले में निम्नलिखित बातों का उल्लेख किया जाता है—

(1) सिद्धान्ततः उपयुक्त किन्तु अव्यावहारिक नीति—आलोचकों के मतानुसार यह नीति सिद्धान्ततः जितनी उपयुक्त है, व्यवहारतः उससे बहुत भिन्न है और सिद्धान्ततः इसमें चाहे कितने ही गुण क्यों न हों, व्यवहारतः यह अनेक प्रकार से विफल हुई है। अतः यह कहा जाता है कि जहाँ सिद्धान्त के धरातल पर गुटनिरपेक्षता का ध्येय राष्ट्रों की स्वतन्त्रता सुनिश्चित करना है, व्यवहार के धरातल पर इसने बहुत-से गुटनिरपेक्ष देशों के सन्दर्भ में इस दायित्व को वस्तुतः निभाया नहीं है।

(2) अवसरवादी और काम निकालने की नीति—पश्चिमी आलोचकों के अनुसार गुटनिरपेक्षता एक अवसरवाद और काम निकालने की नीति होकर रह गयी है कि गुटनिरपेक्ष देश 'सिद्धान्तहीन' हैं, कि साम्यवादी और गैर-साम्यवादी गुटों के साथ अपने सम्बन्धों के सन्दर्भ में 'दोहरी कसौटी' का प्रयोग करते हैं, और यह कि उनका ध्येय पश्चिमी और साम्यवादी दोनों गुटों से अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करने का और 'जिसका पलड़ा भारी हो' उसकी ओर मिल जाने का रहा है।

(3) गुटनिरपेक्षता की नीति किसी तरह सुरक्षा का साधन नहीं—आलोचकों का यह कहना है कि गुटनिरपेक्ष राष्ट्र गुटनिरपेक्षता को अपनी सुरक्षा के लिए पर्याप्त मानते थे। अक्टूबर 1962 में भारत पर चीन के आक्रमण ने भारत के व्यक्तियों को अनुभव करा दिया कि वर्तमान राष्ट्र समाज में जो सर्वथा आदर्श नहीं है, कोई भी चीज किसी देश की सुरक्षा का प्रमाण नहीं हो सकती, गुटनिरपेक्षता भी नहीं। वाह्य आक्रमण से मुकाबला करने के लिए बाहर से सैनिक सहायता स्वीकार करना कोई गलत कार्य नहीं है।

गुटनिरपेक्षता की कमजोरियाँ

* सिद्धान्ततः उपयुक्त किन्तु अव्यावहारिक नीति
* अवसरवादी और काम निकालने की नीति
* गुटनिरपेक्षता की नीति किसी तरह सुरक्षा का साधन नहीं
* बाह्य सहायता पर निर्भरता
* गुटनिरपेक्षता—एक दिशाहीन आन्दोलन
* राष्ट्रहित के बजाय नेतागीरी की नीति

(4) बाह्य सहायता पर निर्भरता—गुटनिरपेक्ष देशों की एक विफलता यह बतायी जाती है कि वे बाहरी आर्थिक और रक्षा सहायता पर बहुत अधिक सीमा तक निर्भर रहे हैं। चूँकि वे दोनों गुटों से सहायता प्राप्त करने की स्थिति में थे, इसलिए उन्होंने इतनी भारी आर्थिक और रक्षा सहायता लेने का मार्ग निकाल लिया कि आज वे अपने सहज-सामान्य कार्य-निर्वाह के लिए भी इस सहायता पर आश्रित हो गये हैं।

(5) गुटनिरपेक्षता—एक दिशाहीन आन्दोलन—कुछ आलोचकों का मत है कि नई विश्व व्यवस्था का जिसमें शक्ति नहीं, सद्भावना नियामक तत्त्व हो, निर्माण करना तो दूर रहा, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अपने आप में ही बिखरता जा रहा है।

(6) राष्ट्रहित के बजाय नेतागीरी की नीति—कुछ आलोचक उसे ऊर्ध्वमूल नीति कहते हैं, ऐसी नीति जिसकी जड़ें ऊपर हैं, नीचे नहीं। राष्ट्रहित उसके केन्द्र में नहीं है वरन् नेतागीरी की भावना है। विश्व के राजनयिक मंच पर नेतागीरी का ढोंग ही इसकी वास्तविकता है।

गुटनिरपेक्षता : गतिशीलता और नूतन प्रवृत्तियाँ
(THE NON-ALIGNMENT : DYNAMISM AND NEW TRENDS)

गुटनिरपेक्षता की नीति का महत्त्वपूर्ण लक्षण गतिशीलता है। विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों का गुटनिरपेक्षता और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन पर व्यापक प्रभाव पड़ा है। द्वितीय विश्व युद्ध के तुरन्त बाद विश्व में जिस प्रकार के उग्र शीतयुद्ध का वातावरण था, अब उसमें परिवर्तन आ गया है। सोवियत संघ के विघटन के कारण शीतयुद्ध के एक पक्ष का अन्त हो गया है। आज विश्व दो विरोधी शिविरों में विभाजित न रहकर 'एक ध्रुवीय विश्व' बन गया है और एकमात्र महाशक्ति अमेरिका है। इसके साथ ही अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति 'बहु-ध्रुवीय विश्व' की ओर अग्रसर हो रही है जिसमें भारत, साम्यवादी चीन, यूरोपियन साझा बाजार, ब्रिटेन, फ्रांस और जर्मनी अपने-अपने प्रभाव का विस्तार कर महाशक्ति बनने का प्रयत्न कर रहे हैं।

इन सब बातों का गुटनिरपेक्षता और गुटनिरपेक्ष आन्दोलन पर प्रभाव पड़ा है और गुट निरपेक्षता की नीति समय के साथ अधिकाधिक सक्रिय, गतिशील और व्यावहारिक बनती जा रही है। प्रारम्भ में इस नीति में नैतिकता और आदर्शवाद का पुट अधिक था लेकिन गुट-निरपेक्ष देश अब यह अच्छी तरह समझने लगे हैं कि कोई भी नीति तभी सार्थक और उपादेय हो सकती है जब उसे यथार्थवाद के धरातल पर उतारा जाये।

गुटनिरपेक्ष आन्दोलन एक राजनीतिक आन्दोलन से आर्थिक आन्दोलन का रूप धारण करता जा रहा है। 'कोलम्बो शिखर सम्मेलन', 1976 के समय से गुटनिरपेक्ष देशों ने यह अनुभव किया कि राजनीतिक समस्याओं की अपेक्षा आर्थिक समस्याएँ अधिक महत्त्वपूर्ण हैं। अतः गुटनिरपेक्षता की नीति में पारस्परिक आर्थिक सहयोग के तत्त्व पर विशेष बल दिया जाने लगा है। टी. एन. कौल के शब्दों में, "अन्तर्राष्ट्रीय सम्बन्धों में राजनीतिक पहलू की अपेक्षा आर्थिक पहलू पर उत्तरोत्तर अधिक बल दिये जाने से गुटनिरपेक्षता की धारणा की सार्थकता सिद्ध हुई है।"

इसके साथ ही आजकल गुटनिरपेक्ष आन्दोलन नव-उपनिवेशवादी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करने में पूर्णतया रत है।

आज निम्नलिखित क्षेत्रों में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन प्रमुख रूप से बल दे रहा है—

(1) नवीन अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था की पुरजोर माँग करना,
(2) दक्षिण-दक्षिण सहयोग को प्रोत्साहन देना,
(3) आणविक निरस्त्रीकरण के लिए दबाव डालना,
(4) विकसित और विकासशील (उत्तर-दक्षिण संवाद) देशों के बीच सार्थक वार्ता के लिए दबाव डालना,
(5) एक-ध्रुवीय विश्व व्यवस्था में अमेरिकी दादागीरी का विरोध करना,
(6) सुरक्षा परिषद का विस्तार, विशेषतया परिषद के स्थायी सदस्यों में वृद्धि,
(7) अच्छी वित्तीय स्थिति वाले गुटनिरपेक्ष देशों (जैसे ओपेक राष्ट्रों) को इस बात के लिए तैयार करना कि वे अपना फालतू धन पश्चिमी देशों के बैंकों में जमा करने के स्थान पर विकासशील देशों में विकासात्मक उद्देश्यों के लिए प्रयोग करें,
(8) संयुक्त राष्ट्र के अंगों, विशेषतया सुरक्षा परिषद को महासभा के प्रति उत्तरदायी बनाना,
(9) नव-औपनिवेशिक शोषण का विरोध करना।

गुटनिरपेक्षता का भविष्य : प्रासंगिकता

(THE FUTURE OF NON-ALIGNMENT : RELEVANCE)

विश्व की बदलती हुई परिस्थितियों में गुटनिरपेक्षता का स्वरूप भी बदला है और इसका महत्त्व पहले से अधिक हो गया है। गुटनिरपेक्षता विश्व राजनीति में राष्ट्रों के लिए एक नये विकल्प के रूप में निश्चय ही स्थायी रूप धारण कर चुकी है। इसने विशेषतया राष्ट्र समाज के छोटे-छोटे और अपेक्षाकृत कमजोर सदस्यों के सन्दर्भ में, राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और समता बनाये रखने में योग दिया है। यही कारण है कि आज गुटनिरपेक्षता का पालन करने वाले राष्ट्रों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। संयुक्त राष्ट्र में गुटनिरपेक्ष राष्ट्रों की आवाज प्रबल बन सकी है।

इसने विश्व के दो प्रतिस्पर्धी गुटों में सन्तुलन पैदा करने और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति एवं सुरक्षा बनाये रखने में महत्त्वपूर्ण योग दिया है। संयुक्त राष्ट्र संघ के विभिन्न मंचों से गुट-निरपेक्ष राष्ट्रों ने विश्व-शान्ति, उपनिवेशवाद के अन्त, परमाणु अस्त्रों पर रोक, निःशस्त्रीकरण, हिन्द महासागर को शान्ति क्षेत्र घोषित करना, नयी अन्तर्राष्ट्रीय व्यवस्था के निर्माण आदि विषयों पर संगठित रूप से कार्यवाही की है और सफलता प्राप्त की है। विश्व के परतन्त्र राष्ट्रों को स्वतन्त्र कराने तथा रंगभेद की नीति का विरोध करने में भी निर्गुट आन्दोलन की भूमिका सराहनीय रही है।

कहा जाता है कि गुटनिरपेक्षता की सार्थकता द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात्-शीत-युद्ध के वातावरण में तो थी लेकिन विगत दो दशकों से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में अनेक परिवर्तन हो गये हैं; जैसे—शीत युद्ध का अन्त हो चुका है, सोवियत संघ का विघटन हो चुका है, वारसा पैक्ट भंग कर दिया गया है, पूर्वी यूरोप के देशों में साम्यवाद को कब्र में दफनाया जा चुका है, जर्मनी का एकीकरण हो चुका है और नाटो की भूमिका में विशेष परिवर्तन आ रहा है। गुटनिरपेक्षता का प्रादुर्भाव शीत-युद्ध के परिप्रेक्ष्य में हुआ था और शीत-युद्ध की समाप्ति के साथ गुटनिरपेक्ष आन्दोलन अप्रासंगिक हो गया है तथा इसका औचित्य नहीं रह गया है।

वास्तव में, वर्तमान समय में शीत युद्ध का तो अन्त हो गया है लेकिन बदलती हुई अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के अनेक क्षेत्रों में तनाव की स्थितियाँ बनी हुई हैं। महाशक्ति के रूप में अमेरिका तथा विश्व के अन्य कुछ शक्तिशाली देश आर्थिक और राजनीतिक क्षेत्र में **'नव-साम्राज्यवाद की नीति'** अपनाने की ओर उन्मुख हैं। इस स्थिति में आर्थिक रूप से पिछड़े हुए गुटनिरपेक्ष देशों को बचाने के लिए, यह आवश्यक है कि विकसित और विकासशील देशों के बीच सार्थक वार्ता के लिए दबाव डाला जाये और विकासशील देशों के मध्य पारस्परिक सहयोग सुदृढ़ और सक्रिय बनाया जाये। इसके लिए निर्गुट आन्दोलन एक अपरिहार्य मंच है। गुटनिरपेक्षता एक 'शान्तिवादी आन्दोलन' रहा है और आधुनिक युग की परिस्थितियों में इस शान्तिवादी आन्दोलन की महती आवश्यकता है। एन. सी. मेनन के शब्दों में, **"विश्व के मामलों में निर्गुट आन्दोलन का प्रभाव निरन्तर बढ़ रहा है। आज निर्विवाद रूप से यह कहा जा सकता है कि विश्व के मामलों में निर्गुट आन्दोलन ने महती भूमिका प्राप्त कर ली है।"**

आज 'संयुक्त राष्ट्र संघ' को केन्द्र बनाकर निर्गुट आन्दोलन महत्त्वपूर्ण भूमिका निर्वाह कर सकता है। यह कहा जाता है कि 21वीं सदी आर्थिक युद्ध की होगी। आर्थिक दृष्टि से समृद्ध राष्ट्रों के गुट उभरकर स्वयं ही प्रतिस्पर्धा कर लेंगे और इससे विकासशील राष्ट्रों की स्वतन्त्रता और हितों को संकट उत्पन्न होगा। इस संकट को रोकने के लिए गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अधिक सक्रिय होकर कार्य करना होगा।

संयुक्त राष्ट्र संघ के बाद, गुटनिरपेक्ष आन्दोलन सबसे बड़ा अन्तर्राष्ट्रीय मंच है, इस दृष्टि से यदि यह वास्तव में चाहे तो सामूहिक रूप से अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। आज आवश्यकता इस बात की है कि सभी गुटनिरपेक्ष देश आपसी मतभेद भुलाकर गुटनिरपेक्ष आन्दोलन को अधिक प्रभावकारी बनायें।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. गुटनिरपेक्षता से क्या आशय है?

उत्तर—गुटनिरपेक्षता का आशय है, "सैनिक गुटों से अलग रहते हुए अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में स्वतन्त्र नीति' अपनाना।

प्रश्न 2. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के भारतीय कर्णधार का नाम बताइए। (2000)

उत्तर—गुटनिरपेक्षता के प्रणेता और भारतीय कर्णधार थे—भारत के प्रथम प्रधानमन्त्री पं. जवाहरलाल नेहरू।

प्रश्न 3. गुटनिरपेक्षता की त्रिमूर्ति से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—नेहरू, नासिर और टीटो। कर्नल नासिर मिस्र के राष्ट्रपति थे और मार्शल टीटो यूगोस्लाविया के राष्ट्रपति।

प्रश्न 4. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 12वाँ शिखर सम्मेलन कब और कहाँ सम्पन्न हुआ? (2000)

उत्तर—गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 12वाँ शिखर सम्मेलन डरबन में सितम्बर 1998 को सम्पन्न हुआ।

प्रश्न 5. गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन कहाँ और कब आयोजित हुआ?

उत्तर—गुटनिरपेक्ष देशों का प्रथम सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में 1–6 सितम्बर, 1961 तक आयोजित हुआ। इस सम्मेलन में एशिया और अफ्रीका के 25 देशों ने भाग लिया।

प्रश्न 6. भारतीय प्रधानमन्त्री निर्गुट आन्दोलन के अध्यक्ष किस अवधि में रहे?

उत्तर—भारतीय प्रधानमन्त्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी 1983 में तीन वर्ष के लिए निर्गुट आन्दोलन की अध्यक्षा निर्वाचित हुईं और अक्टूबर, 1984 में उनका निधन हो जाने पर शेष अवधि के लिए अध्यक्ष पद पर राजीव गाँधी आसीन रहे।

प्रश्न 7. 'नाम' (NAM) से आप क्या समझते हैं?

उत्तर—'गुटनिरपेक्ष आन्दोलन' अथवा 'निर्गुट आन्दोलन' (Non-Aligned Movement) को 'नाम' कहा जाता है।

प्रश्न 8. वर्तमान समय में गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य कितने राज्य हैं?

उत्तर—आज विश्व के 114 देश गुटनिरपेक्ष आन्दोलन के सदस्य हैं। इसके अतिरिक्त, 11 देश 'पर्यवेक्षक देश' के रूप में इस आन्दोलन के साथ सम्बन्धित हैं।

प्रश्न 9. नवाँ गुटनिरपेक्ष शिखर सम्मेलन कहाँ और कब सम्पन्न हुआ?

उत्तर—यह सम्मेलन युगोस्लाविया की राजधानी बेलग्रेड में 4 से 7 सितम्बर, 1989 को सम्पन्न हुआ।

प्रश्न 10. दसवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन कहाँ और कब सम्पन्न हुआ?

उत्तर—दसवाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन इण्डोनेशिया की राजधानी जकार्ता में 1-6 सितम्बर, 1992 को सम्पन्न हुआ।

प्रश्न 11. 11वाँ गुटनिरपेक्ष सम्मेलन कहाँ और कब सम्पन्न हुआ?

उत्तर—यह सम्मेलन कोलम्बिया राज्य के कार्टेजेना नगर में 18-20 अक्टूबर, 1995 को सम्पन्न हुआ।

प्रश्न 12. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 12वाँ विदेश मन्त्री सम्मेलन कब एवं कहाँ सम्पन्न हुआ?

उत्तर—गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का 12वाँ विदेश मन्त्री सम्मेलन 7-8 अप्रैल, 1997 को नई दिल्ली में सम्पन्न हुआ।

प्रश्न 13. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का प्रवर्तक कौन था? (2000)

उत्तर—गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का प्रवर्तक कर्नल नासिर, मार्शल टीटो और पं. जवाहरलाल नेहरू थे।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. गुटनिरपेक्ष आन्दोलन का संक्षिप्त विवरण दीजिए और इसमें भारत की भूमिका बताइए। (1989)
2. गुटनिरपेक्षता से आप क्या समझते हैं? इसके उद्देश्यों का विवेचन कीजिए। (1992)
3. गुटनिरपेक्षता पर एक निबन्ध लिखिए। (1988, 92, 93)

●●

23

आरक्षण–जाति और धर्म के आधार पर : आवश्यकता, क्षेत्र तथा परिणाम

[RESERVATION–ON THE BASIS OF CASTE AND RELIGION : NECESSITY, SCOPE AND RESULTS]

"राज्य जनता के दुर्बलतर अंगों विशेषतया अनुसूचित जातियों तथा अनुसूचित जनजातियों के शिक्षा तथा अर्थ सम्बन्धी हितों की विशेष सावधानी से रक्षा करेगा और सामाजिक अन्याय तथा सभी प्रकार के शोषण से उनकी रक्षा करेगा।" —*भारतीय संविधान का अनुच्छेद* 46

आरक्षण वह कमजोर वैशाखी है जिसके सहारे अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और तथाकथित अन्य पिछड़े वर्गों के लोग ज़ीवन रूपी माउण्ट एवरेस्ट पर पहुँचकर अपनी सफलता का झण्डा फहराना चाहते हैं। सामाजिक विकास की प्रक्रिया में आर्थिक और सामाजिक रूप से पिछड़ी हुई जातियों को राष्ट्र की मुख्य धारा में लाने के लिए सरकार द्वारा समय-समय पर आरक्षण की सुविधा प्रदान की जाती रही है।

आरक्षण का विकास
(DEVELOPMENT OF RESERVATION)

भारत में सर्वप्रथम आरक्षण अंग्रेजों ने सन् 1909 ई. में मुसलमानों को प्रदान किया था। उस समय अंग्रेजों ने भारत में 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति अपनायी थी जिसके अन्तर्गत उन्होंने मुसलमानों को आरक्षण प्रदान कर हिन्दू-मुस्लिम एकता में दरार उत्पन्न करने का प्रयास किया था। इसके बाद सन् 1919 ई. में मुसलमानों, ईसाइयों तथा सिखों के लिए कुछ सीटों का आरक्षण किया गया। इसके बाद पुनः सन् 1932 में 'पूना पैक्ट' के अन्तर्गत डॉ. भीमराव अम्बेडकर एवं महात्मा गाँधी के बीच हुई वार्ता में डॉ. अम्बेडकर ने कहा, "दलितों को हिन्दुओं से पृथक् किया जाये।" इस पर गाँधी जी ने असहमति व्यक्त की थी और कहा था, "दलितों को कुछ सीटों पर आरक्षण अवश्य दिया जायेगा।"

आरक्षण के पक्ष में तर्क
(ARGUMENTS IN FAVOUR OF RESERVATION)

आरक्षण का पक्ष लेते हुए अग्रलिखित तर्क प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(1) आरक्षण से कमजोर वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा में आमूल-चूल परिवर्तन होकर उनकी आर्थिक उन्नति सम्भव हुई है।

(2) लोकसेवाओं में आरक्षण द्वारा ही पिछड़े वर्ग का प्रतिनिधित्व बढ़ा है।

(3) पिछड़े वर्गों की गरीबी के निवारण का मार्ग आरक्षण द्वारा ही प्रशस्त हुआ है।

(4) कमजोर वर्गों को शिक्षा के प्रति जागरूक बनाने में आरक्षण ने महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। इससे उनमें राजनीतिक चेतना का भी संचार हुआ है।

(5) पिछड़े वर्गों में सत्ता में भागीदारी तथा समान अधिकारों पर जोर देने की भावना आरक्षण से ही बढ़ी है।

(6) समाज के उच्च वर्गों के साथ निम्न वर्गों को भी शासन प्रणाली एवं राजनीतिक व्यवस्था में हिस्सेदारी अदा करने का अवसर आरक्षण ने ही प्रदत्त किया है।

आरक्षण के विपक्ष में तर्क
(ARGUMENTS AGAINST THE RESERVATION)

आरक्षण की आलोचना करते हुए इसके विपक्ष में निम्नलिखित तर्क दिये जा सकते हैं—

(1) आरक्षण ने समाज में अनुसूचित एवं जनजाति का अलग समूह बना दिया है जिससे यह जातियाँ मुख्य धारा से कट गई हैं।

(2) आरक्षण ने प्रशासन एवं राजनीति में जातिवाद को बढ़ाया है जिससे उच्च जातियों तथा पिछड़ी जातियों के बीच संघर्ष एवं टकराहट की स्थिति पैदा हो गयी है।

(3) आरक्षण का लाभ अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के एक छोटे वर्ग ने उठाया है जिससे इस छोटे वर्ग एवं इन जातियों के बहुत बड़े वर्ग के बीच एक खाई उत्पन्न हो गई है।

(4) आरक्षण से कमजोर वर्गों की स्थिति में सुधार होने की अपेक्षा उनकी निर्भरता बढ़ गयी है तथा ये आरक्षण रूपी वैसाखियों पर चलने के आदी हो गये हैं।

(5) आरक्षण भारतीय संविधान द्वारा मिले समानता के अधिकार के खिलाफ है। अनुच्छेद 14 से 18 में स्पष्ट उल्लेख है कि जाति, धर्म तथा लिंग के आधार पर नागरिकों में कोई अन्तर नहीं किया जाना चाहिए। अतः अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों के लिए किया गया आरक्षण संविधान के समानता के अधिकार का स्पष्ट उल्लंघन है।

(6) आरक्षित जातियों की सूची में शामिल होने हेतु अन्य पिछड़ी जातियों में प्रतिस्पर्द्धा उत्पन्न हो गयी है जिसके फलस्वरूप आरक्षण 'वोट बैंक' बनाने का साधन बन गया है।

आरक्षण की आवश्यकता
(NECESSITY OF RESERVATION)

जनतान्त्रिक प्रणाली तथा विकास का मौलिक सिद्धान्त समानता है जिसका तात्पर्य धर्म, जाति, वर्ण तथा लिंग इत्यादि के भेदभाव के बिना समस्त नागरिकों को अपने व्यक्तित्व के विकास के लिए समान अवसर एवं सुविधाएँ प्रदत्त कराना है। यदि नागरिकों का छोटा अथवा बड़ा वर्ग सामाजिक या क्षेत्रीय विषमताओं के कारण विकास की दौड़ में काफी पीछे रह गया है तो इस समूह के पिछड़ेपन का दायित्व समाज पर है। समाज का यह दायित्व है कि नागरिकों के इस पिछड़े हुए समूह अथवा वर्ग के विकास हेतु विशेष अवसर अथवा सुविधाएँ उपलब्ध

कराये जिससे यह वर्ग अपने पिछड़ेपन से छुटकारा पाकर समाज के अन्य नागरिकों के समान स्तर पर आकर उनसे प्रतिस्पर्द्धा कर सके। उक्त वर्ग को समानता दिलाने हेतु 'आरक्षण' एक जरूरी प्रावधान है। आरक्षण के द्वारा ही कमजोर वर्गों को अन्य लोगों की तुलना में विकास के लिए कुछ विशेष अवसर एवं सुविधाएँ प्राप्त होती हैं।

विश्व के विभिन्न प्रजातान्त्रिक देशों में आरक्षण की व्यवस्था को अपनाया गया है। भारत में आरक्षण को विश्व के अन्य देशों की अपेक्षा लम्बी समयावधि एवं व्यापक रूप में अपनाया गया है। भारतीय संविधान शिल्पियों ने समाज के कुछ वर्गों को सामाजिक एवं क्षेत्रीय विषमताओं के कारण उनके पिछड़ेपन के आधार पर आरक्षण की सुविधा प्रदत्त की।

निम्न जातियों पर सवर्ण जातियों द्वारा घोर अमानवीय अत्याचार किये गये जिससे वे विकास की दौड़ में अत्यधिक पिछड़ गये। चूँकि भारतीय संविधान भ्रातृत्व एवं समानता के सिद्धान्त पर बना था। अतः भारतीय संविधान शिल्पियों ने विचार किया कि यदि समानता को एक वास्तविकता की स्थिति देनी है तो समाज के इस वर्ग को विशेष सुविधाएँ देनी होंगी। इन विशेष सुविधाओं के आधार पर ही समाज के ये दलित एवं कमजोर वर्ग, अन्य वर्गों की भाँति विकास की स्थिति को हासिल कर पायेंगे। इन निम्न जातियों को संविधान ने 'अनुसूचित जातियों' की उपमा देकर प्रतिनिधि संस्थाओं तथा सेवाओं में आरक्षण की सुविधा एवं विकास हेतु अन्य विभिन्न सुविधाएँ प्रदत्त कीं।

क्षेत्र एवं जनसंख्या की दृष्टि से विविधताओं से परिपूर्ण भारत में जातीय विषमताओं की भाँति क्षेत्रीय विषमताओं की स्थिति विद्यमान है। भारत के अनेक राज्यों में ऐसे क्षेत्र हैं जहाँ आजादी मिलने तक शहरी जीवन की सुविधाएँ नहीं थीं। इन क्षेत्रों में निवास करने वाले लोग अत्यन्त पिछड़ा हुआ जीवन जी रहे थे। भारतीय संघ के इन पिछड़े इकाई क्षेत्रों के निवासियों को आदिवासी, वन्य जाति, गिरिजन तथा जनजाति इत्यादि नामों से सम्बोधित किया जाता है। चूँकि इन पिछड़े क्षेत्रों का दायित्व भी पूरे समाज एवं राज-व्यवस्था पर था। अतः संविधान शिल्पियों ने इन्हें 'अनुसूचित जनजातियों' की उपमा देकर प्रतिनिधि संस्थाओं एवं सेवाओं में आरक्षण की सुविधा प्रदत्त की। भारतीय संविधान के भाग-16 में अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों के लिए आरक्षण का प्रावधान किया गया है।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय संविधान जातिगत आधार पर तो आरक्षण की अनुमति देता है लेकिन धर्म के आधार पर आरक्षण की कोई अनुमति नहीं देता है।

आरक्षण का क्षेत्र
(SCOPE OF RESERVATION)

भारत में अनुसूचित जातियों के निर्धारण का आधार जाति तथा अनुसूचित जनजाति के निर्धारण का आधार क्षेत्र एवं जाति है। 1931 की जनगणना के आधार पर अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति को अन्य जातियों से अलग माना गया। भारतीय संविधान में यह प्रावधान है कि राज्यपाल के परामर्श से राष्ट्रपति लोक अधिसूचना द्वारा ऐसी जातियों का उल्लेख कर सकता है। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि प्रत्येक राज्य में वहाँ की जातियों के अनुसार इनकी अलग-अलग सूचियाँ निर्मित की गयी हैं।

सामान्यतया अनुसूचित जातियों में आर्थिक दृष्टि से कमजोर एवं सामाजिक दृष्टि से अछूत समझी जाने वाली जातियाँ सम्मिलित हो गयी हैं। ये जातियाँ पीढ़ियों से अप्रिय, अमान्य तथा अत्यधिक खराब समझने जाने वाले कार्य—झाड़ू देना, मल उठाना, मरे हुए जानवरों को उठकर उनका चमड़ा उठाना तथा चर्म शोधन इत्यादि करती रही हैं।

अनुसूचित जनजातियाँ ऐसे क्षेत्रों में निवास करती हैं जिनकी सभ्यता बहुत कम पहुँच पाने के कारण भौतिक विकास नहीं हुआ है। घुमक्कड़ प्रवृत्ति की ये जातियाँ वर्षों से अपराधी प्रवृत्ति के कार्यों द्वारा अपनी आजीविका चलाती रही हैं।

अपनी विशेष स्थिति के कारण उक्त जातियाँ समाज से अलग-थलग हो गई थीं अतः इन्हें विकास की धारा के साथ जोड़ने हेतु निम्नलिखित विशेष सुविधाएँ प्रदान की गई हैं—

(1) **प्रतिनिधित्व सम्बन्धी व्यवस्था**—भारतीय संविधान द्वारा अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु जनसंख्या के आधार पर स्थान सुरक्षित किये गये हैं। उक्त जातियों के लोग आरक्षित स्थानों के अलावा अन्य चुनाव क्षेत्रों से भी चुनाव लड़ सकते हैं। जहाँ 1952 में 489 लोक सभाई सीटों में अनुसूचित जातियों के लिए 70 तथा अनुसूचित जनजातियों के लिए 27 स्थान आरक्षित थे, वहीं वर्तमान 543 सदस्यीय लोकसभा में इनके लिए क्रमशः 79 तथा 42 स्थान सुरक्षित हैं। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि 1999 में किये गये संविधान संशोधन के उपरान्त उक्त जातियों हेतु संसद एवं राज्य विधान मण्डलों में स्थान सुरक्षित रखने की व्यवस्था 25 जनवरी, 2010 तक के लिए कर दी गयी है।

(2) **सेवाओं एवं शिक्षण संस्थाओं में प्रवेश सम्बन्धी व्यवस्था**—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 335 द्वारा उक्त जातियों हेतु केन्द्र एवं राज्य सरकारों की प्रशासनिक सेवाओं में प्रशासनिक कुशलता के अनुरूप स्थान आरक्षित किये गये हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि संविधान ने आरक्षित स्थानों के प्रतिशत तथा समय सीमा का निर्धारण नहीं किया है। आरक्षित स्थानों के प्रतिशत तथा समय सीमा का निर्धारण प्रशासन द्वारा नियमों के अन्तर्गत किया जाता है।

(3) **जाँच आयोग की व्यवस्था**—भारतीय संविधान में 65वाँ संशोधन करके अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों हेतु एक सात सदस्यीय राष्ट्रीय आयोग की स्थापना की गई है। यह आयोग उक्त जातियों के हितों की रक्षा तथा उन पर होने वाले अत्याचारों को रोकने में प्रभावी भूमिका का निर्वहन करता है।

(4) **जाँच आयोगों की नियुक्ति सम्बन्धी व्यवस्था**—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 340 द्वारा यह प्रावधान किया गया है कि राष्ट्रपति दो आयोगों को नियुक्त करेगा। इनमें जहाँ पहले आयोग का कार्य अनुसूचित क्षेत्रों में प्रशासन तथा अनुसूचित जातियों के कल्याण सम्बन्धी मसलों की जाँच-पड़ताल करना है, वहीं दूसरा आयोग पिछड़ी जातियों की सामाजिक एवं शैक्षणिक स्थिति की जाँच सम्बन्धी कार्य करता है।

(5) **विशेष अनुदानों की व्यवस्था**—भारतीय संविधान के अनुच्छेद 275 द्वारा अनुसूचित जातियों के विकास के लक्ष्य से निर्मित की गयी योजनाओं हेतु राज्य सरकारों को अनेक प्रकार के अनुदान दिये जाते हैं। उक्त जातियों के छात्र-छात्राओं को छात्रवृत्ति दिये जाने अथवा निःशुल्क शिक्षा देने तथा प्राविधिक एवं व्यावसायिक शिक्षा संस्थानों में स्थान आरक्षित रखे जाते हैं।

(6) **पृथक् मन्त्रालयों की व्यवस्था**—भारत के संविधान में यह भी व्यवस्था की गयी है कि उड़ीसा, मध्य प्रदेश तथा बिहार में जनजातियों के कल्याण हेतु एक मन्त्री बनाया जायेगा जो अनुसूचित जाति तथा पिछड़ी हुई जातियों के कल्याण के लिए पूर्णरूपेण उत्तरदायी होगा। वर्तमान में भारत के अनेक राज्यों में इस प्रकार के मन्त्रालयों की व्यवस्था की गई है।

वर्तमान में आरक्षण
(RESERVATION AT PRESENT)

आधुनिक अर्थ-प्रधान युग में आरक्षण का यद्यपि कोई विशिष्ट महत्त्व तो नहीं है परन्तु कुछ स्थानों पर आरक्षण न रहने से विकास कार्य उतनी गति से नहीं हो पाता, जितनी गति से उसे होना चाहिए था। ऐसी जगहों पर आरक्षण प्रदान करना ठीक समझा जाता है परन्तु प्रश्न यह उठता है कि आरक्षण किस क्षेत्र में, किसे और कितना प्रदान किया जाये।

अभी हाल ही में मुसलमानों और जैन धर्मावलम्बियों को अल्पसंख्यक कहकर उन्हें आरक्षण देने की बात की जा रही है। इनकी जनसंख्या सम्पूर्ण भारतवर्ष की जनसंख्या का 17% है। यदि आरक्षण प्राप्त श्रेणी वाले लोगों की जनसंख्या का योग किया जाय तो वे लोग भारत में बहुसंख्यक हो जायेंगे और जिन्हें आरक्षण प्राप्त नहीं है, वे लोग (जैसे—भूमिहार, ब्राह्मण, राजपूत आदि) अल्पसंख्यकों की श्रेणी में आ जायेंगे। इस प्रकार एक ओर तो यह कहा जा रहा है कि अल्पसंख्यकों को आरक्षण प्रदान किया जाये परन्तु वही नियम पूर्णतः विपरीत होता नजर आ रहा है। आज भारत में **'वोट बैंक'** को आरक्षित किया जा रहा है। भारत एक लोकतान्त्रिक देश है जिसमें बहुमत के आधार पर सरकार का गठन होता है और बहुमत पाने के लिए विभिन्न राजनीतिक दलों द्वारा अनेक प्रकार के प्रलोभन भी दिये जाते हैं, इसी में एक विशेष प्रकार का प्रलोभन आरक्षण भी है।

आरक्षण उस समय एक मुद्दा बनकर आया जब वी. पी. मण्डल की अध्यक्षता में गठित आयोग की सिफारिशों को अगस्त, सन् 1990 में वी. पी. सिंह द्वारा लागू किया गया। इसके विरोध में कुछ जगहों पर नवयुवकों ने आत्मदाह भी किया। कहीं-कहीं तोड़-फोड़ और आगजनी जैसी अप्रिय घटनाएँ भी हुईं। इन्हीं सब कारणों से विश्वनाथ प्रताप सिंह को प्रधानमन्त्री की कुर्सी छोड़नी पड़ी। इसके बाद यह आग उस समय बुझी जब तत्कालीन प्रधानमन्त्री पी. वी. नरसिंह राव ने कहा, **"सवर्णों को आर्थिक पिछड़ेपन के आधार पर 10% का आरक्षण प्रदान किया जायेगा।"**

आरक्षण के प्रभाव अथवा परिणाम
(EFFECTS OR RESULTS OF RESERVATION)

आरक्षण से व्यक्ति के व्यक्तित्व पर नकारात्मक प्रभाव पड़ता है। इससे योग्यता के मूल्यांकन में भी बहुत-सी कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। किसी भी देश की सर्वांगीण उन्नति के लिए उसके सरकारी कर्मचारियों को सुयोग्य होना चाहिए। यदि आरक्षण प्रदान किया जा रहा है तो आप व्यर्थ ही योग्य कर्मचारियों की आशा में बैठे रहेंगे। आज मध्य प्रदेश तथा महाराष्ट्र में मेडीकल तथा इन्जीनियरिंग की पढ़ाई में आरक्षण के चलते एक पिछड़ी जाति के एकदम कम अंक पाने वाले अभ्यर्थियों का प्रवेश हुआ है जबकि अधिक अंक प्राप्त करने वाले तथाकथित अग्रणी जातियों के अभ्यर्थियों का प्रवेश तक नहीं हो पाया, बड़े-बड़े नेता अपनी सन्तानों के लिए फर्जी जाति प्रमाण-पत्र दिलाकर इनमें प्रवेश दिलाने के लिए संलग्न पाये गये। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि आरक्षण कितनी बड़ी सीढ़ी है जिस पर चढ़कर लोग बड़े से बड़े महलों पर बिना झिझक के आसानी से चढ़ जाना चाहते हैं। आज आरक्षण के चलते अयोग्य लोग राजकीय सेवाओं में उच्च स्थानों पर आ रहे हैं और प्रतिभावान लोग बेरोजगारी का शिकार होकर दर-दर की ठोकरें खाकर अपना जीवन व्यतीत करने को विवश हैं। इस विवशता का एकमात्र कारण यही है कि उनका जन्म एक विशेष जाति में हुआ है।

आरक्षण के कारण ही आज हमारे देश में समाज का जातिगत बँटवारा हो गया है जिसमें आजकल के स्वार्थी नेता राजनीतिक लाभ उठा रहे हैं। वे पिछड़ों को अपना 'वोट बैंक' समझकर घटिया राजनीति कर अपनी स्वार्थ सिद्धि कर रहे हैं।

आरक्षण की नीति के कारण प्रतिकूल रूप से प्रभावित होने वाले मेधावी लोगों का भी राष्ट्र के निर्माण और विकास में योगदान लिया जाये तो इस बात की प्रबल सम्भावना है कि भारत विश्व के किसी भी राष्ट्र से पिछड़ा नहीं रहेगा तथा पूरी तरह से विकसित हो जायेगा। आज जिन्हें राजकीय सेवाओं में स्थान नहीं मिलता, वे खिन्न होकर अपने स्वत्व को दबा देते हैं और राष्ट्र निर्माण कार्य से विमुख होकर राष्ट्र-विरोधी विध्वंसात्मक कार्यों में लिप्त हो जाते हैं।

आरक्षण की चाह उन्हीं लोगों को रहती है जो अपने को असमर्थ एवं अक्षम पाते हैं। ऐसे में आरक्षण इन लोगों के लिए रामबाण की तरह काम करता है। आजकल पुरुषों के कदम से कदम मिलाकर चलने वाली महिलाएँ भी आरक्षण की माँग जोर-शोर से कर रही हैं। आखिर महिलाएँ ऐसी माँग क्यों नहीं करें ? वे देख रही हैं कि आरक्षण रूपी वैसाखी के आधार पर लोग राजकीय सेवाओं में ऊँचे से ऊँचे पदों पर आसीन हैं। सुख किसे नहीं भाता ? एक तरफ कहा जा रहा है कि पुरुष एवं महिलाएँ कदम से कदम मिलाकर अपना कार्य सम्पादित करें, वहीं दूसरी ओर कुछ लोगों को आरक्षण प्रदान किया जाता है जो प्रासंगिक नहीं लगता है।

समस्त भारतवासी एक ही माता की सन्तान हैं लेकिन एक ही माता की सन्तान होते हुए भी कोई आरक्षण पाता है तो किसी को आरक्षण की भेदभावपूर्ण नीति के चलते बेरोजगारी जैसी समस्याओं का सामना करना पड़ता है।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. आरक्षण से क्या अभिप्राय है ?

उत्तर—आरक्षण कुछ वर्गों को दी जाने वाली वे विशेष सुविधाएँ हैं जो इन वर्गों को आर्थिक एवं सामाजिक रूप से पिछड़े होने के कारण प्रदान की जाती हैं।

प्रश्न 2. भारत में सर्वप्रथम आरक्षण किसे और कब प्रदान किया गया था ?

उत्तर—भारत में सर्वप्रथम आरक्षण 1909 के 'मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम' द्वारा मुसलमानों को प्रदान किया गया था।

प्रश्न 3. अंग्रेजों ने भारत में शासन करने के लिए किस नीति को अपनाया था ?

उत्तर—अंग्रेजों ने भारत में शासन करने के लिए 'फूट डालो और शासन करो' की नीति को अपनाया था।

प्रश्न 4. 'पूना पैक्ट' कब और किस-किसके बीच हुआ था ?

उत्तर—'पूना पैक्ट' 1932 में महात्मा गाँधी एवं डॉ. भीमराव अम्बेदकर के बीच हुआ था।

प्रश्न 5. पिछड़े वर्गों के लिए की गई 'मण्डल समिति' की सिफारिशें किस सरकार द्वारा लागू की गई थीं ?

उत्तर—विश्वनाथ प्रताप सिंह सरकार द्वारा।

प्रश्न 6. प्रतिनिधि संस्थाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए कब तक आरक्षण का प्रावधान है ?

उत्तर—25 जनवरी, 2010 तक।

प्रश्न 7. मण्डल आयोग ने अपनी रिपोर्ट कब प्रस्तुत की थी ?

उत्तर—30 अप्रैल, 1982 को।

प्रश्न 8. केन्द्रीय सेवाओं में पिछड़ी हुई जातियों को कितने प्रतिशत आरक्षण प्राप्त है ?

उत्तर—सत्ताइस प्रतिशत।

प्रश्न 9. केन्द्रीय सेवाओं में पिछड़ी जातियों हेतु आरक्षण कब से लागू किया गया है ?

उत्तर—8 सितम्बर, 1993 से।

प्रश्न 10. केन्द्रीय सेवाओं में अनुसूचित जातियों एवं जनजातियों के लिए कितने प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गये हैं ?

उत्तर—अनुसूचित जातियों तथा जनजातियों हेतु क्रमशः पन्द्रह प्रतिशत तथा साढ़े सात प्रतिशत स्थान सुरक्षित रखे गये हैं।

प्रश्न 11. हमारे प्रदेश में राज्य सेवाओं में पिछड़ी हुई जातियों हेतु कितने प्रतिशत स्थान आरक्षित हैं ?

उत्तर—सत्ताइस प्रतिशत।

प्रश्न 12. आरक्षण के पक्ष में कोई एक तर्क दीजिए।

उत्तर—आरक्षण से कमजोर वर्गों की सामाजिक प्रतिष्ठा में आमूल-चूल परिवर्तन होकर उनकी आर्थिक उन्नति सम्भव हुई है।

प्रश्न 13. आरक्षण के विपक्ष में कोई एक तर्क दीजिए।

उत्तर—आरक्षण ने समाज में अनुसूचित जाति एवं अनुसूचित जनजाति का एक अलग समूह बना दिया है जिससे ये जातियाँ मुख्य धारा से कट गई हैं।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. आरक्षण की नीति पर एक निबन्ध लिखिए।
2. आरक्षण की वर्तमान स्थिति पर प्रकाश डालिए।
3. आरक्षण की नीति के क्या दुष्प्रभाव सामने आये हैं ?
4. आरक्षण का आशय स्पष्ट करते हुए इसके पक्ष एवं विपक्ष में तर्क दीजिए।
5. टिप्पणी लिखिए—
   (i) 1909 का 'मार्ले-मिण्टो सुधार अधिनियम'
   (ii) पूना पैक्ट
   (iii) मण्डल आयोग की सिफारिशें।

24

भारत में आदिवासी व जनजाति—समस्याएँ व उनका समाधान

[PROBLEMS OF SCHEDULED TRIBES IN INDIA AND THEIR SOLUTIONS]

"पिछड़े हुए वर्गों का अभिप्राय समाज के उन वर्गों से है जो आर्थिक, सामाजिक तथा शैक्षिक निर्योग्यताओं के कारण समाज के अन्य वर्गों की तुलना में नीचे स्तर पर हैं। हालांकि भारतीय संविधान में इस शब्द बन्ध का एकाधिक स्थलों पर प्रयोग हुआ है। अनुच्छेद 16(4) तथा 340 पर इसकी परिभाषा नहीं की गयी है।"

—सुभाष कश्यप तथा विश्व प्रकाश गुप्ता

आदिवासी व अनुसूचित जनजातियाँ
(SCHEDULED TRIBES)

भारत के दुर्गम स्थानों व जंगलों में निवास करने वाले विभिन्न आदिवासी समूहों को ही जनजाति कहा जाता है।

भारतीय अनुसूचित जनजातियों की प्रमुख विशेषताएँ निम्न हैं—

(1) भारत में 1981 में जनजातीय जनसंख्या 5.16 करोड़ थी जो 1991 में बढ़कर 8.66 करोड़ हो गयी। यह देश की जनसंख्या का 9.55 प्रतिशत भाग है। विश्व में अफ्रीका के बाद भारत में सर्वाधिक जनजातीय जनसंख्या पायी जाती है।

(2) देश की करीब 2/3 जनजातीय जनसंख्या 5 राज्यों—मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, गुजरात व महाराष्ट्र में निवास करती है।

(3) देश के पाँच राज्यों—मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल एवं त्रिपुरा की कुल जनसंख्या का 75 से 95 प्रतिशत भाग अनुसूचित जनजातियों का ही है।

(4) इनके निवास स्थान एकाकी और दुर्गम भू-भाग में पाये जाते हैं जहाँ न तो इनके गाँवों को जोड़ने वाली सड़कें व पुल आदि मिलते हैं और न इनके निकट क्षेत्रों में बाजार ही होते हैं।

(5) जनजातियों की आय का मुख्य स्रोत कृषि और वन उत्पादन एकत्रित करना है।

(6) जनजातीय क्षेत्रों में सेवाओं और वस्तुओं के आदान-प्रदान के लिए अब भी वस्तु विनिमय प्रथा मिलती है। सूदकार अथवा महाजन इन क्षेत्रों में प्रभावी भूमिका निभाते हैं।

(7) जनजातियाँ अपनी आय का बड़ा भाग सामाजिक और धार्मिक समारोहों पर व्यय करती हैं जिसके कारण ये सदा ऋणदाताओं की कर्जदार रहती हैं।

(8) ये प्राय: निरक्षर हैं, इस कारण वन-ठेकेदार और बेईमान व्यक्ति इन्हें आसानी से अपना शिकार बना लेते हैं।

अनुसूचित जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ
(MAJOR PROBLEMS OF SCHEDULED TRIBES)

आज के प्रगतिशील युग में सम्पूर्ण जनजातीय समाज अनेक समस्याओं से गुजर रहा है। जनजातियों की समस्याओं का पता लगाने के लिए अनेक सरकारी संस्थाओं, समाजशास्त्रियों आदि ने प्रयास किये हैं। 1972 में **'इण्डियन इन्स्टीट्यूट ऑफ एडवांस्ड स्टडी'**, शिमला और **'भारतीय सामाजिक अनुसन्धान परिषद'**, दिल्ली ने मिलकर दिल्ली में आयोजित एक गोष्ठी में जनजातियों की समस्याओं पर विचार किया। इन गोष्ठियों में जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ—सांस्कृतिक क्षेत्रीय (भौगोलिक), आर्थिक तथा राजनीतिक बतायी हैं। इसके अतिरिक्त इन जनजातियों को राष्ट्रीय धारा से जोड़ने एवं उनके एकीकरण करने की विकट समस्या है। इस दृष्टि से डॉ. घुरिये ने भारतीय जनजातियों की समस्याओं को तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है। ये हैं—(1) उन जनजातियों की समस्या जो हिन्दू समाज में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त कर चुकी हैं, जैसे—राजगोंड आदि; (2) उन जनजातियों की समस्याएँ जिनका आंशिक रूप से हिन्दूकरण हुआ है; और (3) उन जनजातियों की समस्याएँ जो पहाड़ी क्षेत्र में निवास करती हैं एवं जिन्होंने परिवर्तन के प्रति विरोध प्रकट किया है। अक्षय देसाई इनकी अधिकांश समस्या शोषण से सम्बन्धित मानते हैं। मजूमदार एवं मदान इनकी समस्याओं को सम्पर्क एवं अलगाव के कारण जनित मानते हैं। इन्होंने इनकी समस्याओं को दो भागों में विभाजित किया है, ये हैं—(1) सामाजिक-आर्थिक समस्याएँ जो नयी भू-राजस्व नीतियों एवं भू-अधिकार व्यवस्था के प्रभाव, प्रतिबन्धक वन-नीति; सम्पूर्ण देश पर समान रूप से लागू दीवानी एवं फौजदारी कानूनों से उत्पन्न हुई हैं। इसके अतिरिक्त कर्ज, भूमि-हस्तान्तरण, जमींदार एवं सरकारी अधिकारियों द्वारा शोषण आदि की भी इसी कोटि की समस्याएँ हैं। (2) विशिष्ट जनजातीय समस्याएँ, जैसे—स्थानान्तरित कृषि, भूक्षय एवं भू-शोषण के कारण उत्पन्न भुखमरी एवं अपनी परम्परागत आर्थिक क्रियाओं का परित्याग आदि।

जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ निम्न हैं—

(1) सांस्कृतिक सम्पर्क की समस्या—जनजातियों में अनेक सांस्कृतिक समस्याएँ उत्पन्न हो गयी हैं। ऐसी समस्याएँ बाहर से आयी संस्कृतियों के कारण ही उत्पन्न हुई हैं। ये समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) भाषा सम्बन्धी समस्या—जनजातियों को बाहरी संस्कृतियों के सम्पर्क में आने के कारण एक ही स्थान पर भिन्न-भिन्न भाषाओं की समस्या उत्पन्न हुई है क्योंकि जनजातीय समुदाय के लोग बाहरी संस्कृति के प्रभाव में आकर बाहर की भाषा भी बोलने लगते हैं और धीरे-धीरे वह बाहरी भाषा के इतने आदी हो जाते हैं कि अपनी भाषा को भी भूल जाते हैं। इस कारण एक-दूसरी जनजाति के लोगों के सामने संस्कृति के आदान-प्रदान में बहुत समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं। इससे सांस्कृतिक मूल्यों व आदर्शों को भारी धक्का लगता है।

(ii) सांस्कृतिक विभिन्नता की समस्या—दो अलग-अलग जातियों व धर्मों के मानने वालों में आपसी सम्पर्क के कारण सांस्कृतिक विभिन्नता की समस्या पैदा हुई है। एक धर्म या जाति के व्यक्तियों को डरा-धमकाकर या कोई लालच देकर और उनको आकर्षित करके धर्म परिवर्तन या जाति परिवर्तन के लिए उकसाया जाता है जिससे कुछ जनजाति के लोग तो धर्म परिवर्तन कर लेते हैं और कुछ हिन्दुओं की जाति प्रथा के अन्तर्गत अपने को ला पाने में सफल हो जाते हैं। इस प्रकार की प्रक्रिया से जनजातियों में आपस में ही सांस्कृतिक भिन्नता हो जाती है। इस प्रकार बाहरी संस्कृति के सम्पर्क में आकर कुछ जनजातीय समूह बाहरी संस्कृतियों को ग्रहण कर अपनी संस्कृति से दूर होते चले जाते हैं। इससे वे स्वयं की संस्कृति को तो नीची समझने लगते हैं, साथ ही बाहरी संस्कृति की बराबरी करने में भी असमर्थ रहते हैं। इस कारण सामाजिक व व्यक्तिगत विघटनों का जन्म होता है।

अनुसूचित जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ

* सांस्कृतिक सम्पर्क की समस्या
* स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ
* आर्थिक समस्याएँ
* सामाजिक समस्याएँ
* शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ
* दुर्गम स्थानों में निवास की समस्या
* भारतीय समाज का सबसे कमजोर वर्ग
* सीमा प्रान्त जनजातियों की समस्याएँ
* दलबन्दी का दूषित प्रभाव
* एकीकरण की समस्या

(iii) ललित कलाओं का ह्रास—बाहरी संस्कृतियों के प्रभाव के कारण जनजाति की ललित कलाओं का ह्रास हुआ है। उनकी ललित कलाएँ जो चरम सीमा पर थीं; जैसे—संगीत, नृत्य, लकड़ी पर नक्काशी आदि; आज लगातार ह्रास की ओर अग्रसर हो रही हैं। पहले एक जाति जो नागा लोगों के नाम से जानी जाती थे, के द्वारा युवा-गृहों के लकड़ी के खम्भों पर बहुत ही सुन्दर ढंग से काम किया जाता था परन्तु अब यह कला भी नष्टप्राय होती जा रही है।

(iv) पाश्चात्य संस्कृति से जनित समस्या—ईसाई मिशनरियों ने सेवा के नाम पर अपने धर्म का प्रसार किया और आदिवासियों के अज्ञान और अशिक्षा का लाभ उठाया। ईसाई मिशनरियों के प्रभाव के कारण अनेक आदिवासियों ने अपनी संस्कृति को त्यागकर पाश्चात्य संस्कृति को अपनाया। वे अंग्रेजी पोशाक, मादक वस्तुएँ, प्रसाधन के नवीन साधनों का प्रयोग करने लगे और अपने रीति-रिवाजों, प्रथाओं तथा युवागृहों को त्यागने लगे और उनकी प्राचीन ललित कला का ह्रास होने लगा।

(2) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ—आज जनजातियों के सामने परिस्थितियोंवश कई प्रकार की स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ पैदा हो गयी हैं जिनमें से प्रमुख समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) खान-पान सम्बन्धी समस्या—पहले जनजातीय लोगों के द्वारा ताड़ अथवा महुआ अथवा चावल के बने मादक द्रव्यों का सेवन किया जाता था। जनजाति के लोगों का यह प्रतिदिन का द्रव्य था। इसके अलावा उत्सवों और समारोहों में ये लोग इसका विशेष प्रयोग करते थे। इन मादक द्रव्यों में विटामिन बी व सी अधिक मात्रा में पाये जाते थे जो उनके स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होते थे परन्तु वर्तमान में सरकार द्वारा इन पेय पदार्थों पर रोक लगा देने के कारण इन्हें अंग्रेजी अथवा देशी (ठर्रा) शराब का सेवन करना पड़ रहा है जो कि स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती है।

(ii) चिकित्सा का अभाव—वर्तमान में जनजातियों की स्थिति ऐसी है कि उन्हें पौष्टिक भोजन नहीं मिल पा रहा है जिससे उनके शरीर में कई विटामिनों की कमी हो जाती है और रोग निरोधक शक्ति में कमी आती है जिससे उनके शरीर में कई बीमारियाँ प्रवेश कर जाती हैं; जैसे—चेचक, हैजा, क्षय रोग आदि; जबकि इनकी चिकित्सा की कोई व्यवस्था नहीं है। इसलिए जनजातियों में स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ भयंकर रूप से व्याप्त हैं। स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याओं के प्रमुख कारण गरीबी, बीमारियों से अनभिज्ञ होना, डॉक्टरों में इन लोगों का विश्वास न होना, दुर्गम स्थानों में बसे होने के कारण डॉक्टरों का उपलब्ध न होना, सफाई का ध्यान न रखना व पौष्टिक आहार की कमी आदि सम्मिलित हैं।

(iii) वस्त्रों का अभाव—अब तक जनजातियों के लोग प्रायः वस्त्रहीनता की अवस्था में रहते थे परन्तु वर्तमान में सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने के कारण इन्हें वस्त्रों की आवश्यकता महसूस होने लगी है किन्तु इनकी आर्थिक स्थिति कमजोर होने के कारण इनके सामने वस्त्रों की समस्या उत्पन्न हो गयी है। जनजाति के लोग एक समय में एक कपड़ा भी बड़ी मुश्किल से उपलब्ध कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त अधिकांश समय गन्दे वस्त्र धारण करने के कारण इन्हें चर्म रोग, निमोनिया, टायफ़ाइड जैसे भयंकर रोग हो जाते हैं। इन लोगों में मलेरिया, पीलिया, चेचक, रोहे व गुप्तांगों की बीमारियाँ भी पायी जाती हैं। अण्डमान तथा निकोबार की जनजातियों की जनसंख्या घटने का सबसे बड़ा कारण इनमें व्याप्त बीमारियाँ हैं।

(3) आर्थिक समस्याएँ—भारतीय जनजातियों के सामने सबसे विकट समस्या आर्थिक समस्या है। इन जनजातियों की आर्थिक स्थिति इतनी दयनीय हो गयी है कि इन्हें भरपेट खाने के लिए अनाज व तन ढँकने के लिए वस्त्र भी उपलब्ध नहीं हो पाते हैं। इनकी आर्थिक समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) भूमि की समस्या—प्राचीन समय में जनजातियों का अपनी भूमि पर एकाधिकार था और भूमि का प्रयोग वे जैसे चाहते थे, वैसे ही करते थे परन्तु सरकार द्वारा नयी भूमि व्यवस्था नीति के कारण इनके सभी एकाधिकार छिन गये हैं। इसके बदले में उन्हें निश्चित भूमि दी गयी है परन्तु ये लोग उस पर खेती करने से डरते हैं। इसके अलावा इन जमीनों पर खेती करने के लिए इन्होंने महाजनों से ऋण ले लिये, अतः महाजन वर्ग इनकी भूमि को धीरे-धीरे हड़पते जा रहे हैं। इस प्रकार इनके सामने आर्थिक रूप से बड़ी भयंकर समस्या आयी है।

(ii) स्थानान्तरित खेती—जनजातियों के सभी लोग जो खेती पर निर्भर हैं, स्थानान्तरित खेती को अपनाये हुए हैं, जबकि इस प्रकार की खेती से जमीन बर्बाद होती है और उपज भी काफी कम हो पाती है। इसी कारण उनको कृषि व्यवसाय को छोड़ना पड़ता है और नौकरी की खोज में शहरों में घूमना पड़ता है। इसलिए आज इनके सामने बड़ी गम्भीर समस्या उत्पन्न हो गयी है।

(iii) जंगलों की समस्याएँ—प्राचीन समय में ये लोग जंगलों को काटकर, लकड़ियाँ बेचकर एवं जंगली पशुओं का शिकार करके आदि साधन अपनाकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। इससे इनके सामने इतनी समस्या नहीं थी परन्तु आज सभी जंगल सरकारी नियन्त्रण में होने के कारण उन्हें जंगलों से लकड़ी काटने की मनाही कर दी गयी है और जंगली जानवरों को भी सरकार द्वारा संरक्षण प्रदान किया जा रहा है जिससे रोजी-रोटी छिन गयी है और इनके

सामने और भी भयंकर समस्या खड़ी हो गयी है। ये बाध्य होकर अपने मूल स्थान को त्यागकर चाय बागानों, खानों और फैक्ट्रियों में कार्य करने के लिए चले गये हैं। अब वे भूमिहीन कृषि श्रमिकों एवं औद्योगिक श्रमिकों के रूप में कार्य करने लगे हैं।

(iv) **ऋणग्रस्तता की समस्या**—जनजातियों के अधिकतर लोग ऋणग्रस्त हैं। इन लोगों ने अपनी आर्थिक स्थिति सुदृढ़ करने के लिए या अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए महाजन लोगों से ऋण ले लिये हैं और उनके चंगुल में फँस गये हैं। ये महाजन इन्हें ऋण देकर इनका सब-कुछ हड़प जाते हैं और इनके सामने और भी अधिक गम्भीर समस्याएँ उत्पन्न हो जाती हैं।

(v) **कृषि समस्या**—जनजातियों की आर्थिक समस्या कृषि समस्या से जुड़ी हुई है। जनजाति आयुक्त के प्रतिवेदन के अनुसार जनजाति जनसंख्या का 68.2 प्रतिशत भाग किसानों का है और 19.7 प्रतिशत लोग कृषि में मजदूरी करते हैं। इस प्रकार 87.9 प्रतिशत भाग कृषि पर आश्रित है किन्तु पहाड़ी क्षेत्रों में रहने के कारण कृषि योग्य भूमि का इनके पास अभाव है। यही नहीं, इनके पास उन्नत पशु, बीज, औजार तथा पूँजी का भी अभाव है एवं कृषि लाभप्रद नहीं है। जंगलों को काटने तथा शिकार करने की मनाही है। ये महाजनों व साहूकारों के चंगुल में फँसकर ऋणग्रस्त हो रहे हैं और विवश होकर अपनी भूमि को उन्हें बेच रहे हैं।

(4) **सामाजिक समस्याएँ**—नगरीय एवं सभ्य समाजों के सम्पर्क में आने के फलस्वरूप आदिवासियों में कई सामाजिक समस्याओं ने जन्म लिया है। जनजातियों में प्रमुख सामाजिक समस्याएँ निम्नलिखित हैं—

(i) **बाल विवाह**—प्राचीनकाल में जनजातियों के लोग बड़ी उम्र में ही शादियाँ करते थे परन्तु हिन्दुओं में बाल विवाह प्रथा प्रचलित होने व उनके सम्पर्क में जनजातियों के आने के कारण इन जातियों में भी बाल विवाह जैसी भयंकर सामाजिक समस्या ने जन्म लिया है और अब ये लोग बाल विवाह करने लगे हैं।

(ii) **कन्या मूल्य**—जनजातियों के सामने आज आर्थिक समस्या इतनी भयंकर हो गयी है जिसके कारण विवाह के समय कन्या मूल्य का प्रचलन हो गया है। यह लोग पहले कन्या मूल्य वस्तुओं के रूप में भी स्वीकार करते थे परन्तु अब यह मूल्य रुपयों के रूप में स्वीकार किया जाता है।

(iii) **वेश्यावृत्ति**—जनजातियों में व्याप्त निर्धनता के कारण इनकी स्त्रियाँ वेश्यावृत्ति जैसे घृणित कार्य को करने के लिए मजबूर हो जाती हैं। उन्हें इस धन्धे की ओर आकर्षित करने वाले व्यापारी, ठेकेदार व एजेण्ट आदि होते हैं जो इन्हें रुपयों का प्रलोभन देकर इनसे अनुचित यौन सम्बन्ध स्थापित करके इन्हें वेश्यावृत्ति की ओर अग्रसर करते हैं। इसके अलावा जो ग्रामीण जनजातीय लोग उद्योगों में काम करने के लिए शहरों में आते हैं, वे भी वेश्यावृत्ति को अपना लेते हैं जिससे उनमें कई गुप्त रोग हो जाते हैं और वे जब घर लौटते हैं तो अपनी स्त्रियों में भी रोग फैला देते हैं। इस प्रकार गुप्त रोगों में भी वृद्धि हो रही है।

(iv) **युवागृहों का समाप्त होना**—सभ्य समाज के लोग जनजातियों में प्रचलित युवागृहों को हीन दृष्टि से देखते हैं। ये युवागृह आदिवासियों में मनोरंजन, सामाजिक प्रशिक्षण, आर्थिक हितों की पूर्ति के साधन तथा शिक्षा के केन्द्र थे किन्तु अब ये समाप्त हो रहे हैं जिसके फलस्वरूप कई हानिकारक प्रभाव पड़े हैं।

(5) शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ—कुछ नवीन आँकड़ों के अनुसार जनजातियों में केवल 24% लोग ही शिक्षित हैं। इससे स्पष्ट होता है कि इनमें शिक्षा का अत्यन्त अभाव है। अशिक्षा के कारण इनमें अनेक कुरीतियाँ, कुसंस्कार, अन्धविश्वास आदि विद्यमान हैं। ये लोग शिक्षा के प्रति उदासीन हैं क्योंकि इनका मानना है कि शिक्षा से इन्हें कोई विशेष लाभ नहीं होने वाला है। कुछ ईसाई मिशनरियों ने इनके धर्म परिवर्तन के उद्देश्य से इन्हें शिक्षित करने का प्रयास किया है। सामान्यतः यह माना जा सकता है कि इनमें अशिक्षा भयंकर रूप से व्याप्त है। अधिकांश आदिवासी प्राथमिक शिक्षा ही ग्रहण कर पाते हैं। वे उच्च प्राविधिक एवं विज्ञान की शिक्षा में अधिक रुचि नहीं रखते।

(6) दुर्गम स्थानों में निवास की समस्या—प्रायः अधिकतर जनजातियाँ दुर्गम व पर्वतीय क्षेत्रों में निवास करती हैं जिससे ये लोग आधुनिक संचार के साधनों व यातायात के साधनों से बिल्कुल अनभिज्ञ रहे हैं। इनके निवास क्षेत्रों में आधुनिक संचार व यातायात के साधन भी नहीं पहुँच पाये हैं। इसलिए आधुनिक युग में इनके सामने यह भयंकर समस्या है कि इन क्षेत्रों में न तो सड़कों की व्यवस्था है, न रेडियो, न दूरदर्शन, न समाचार-पत्र ही इन लोगों को उपलबध हो पाते हैं। अतः इनका आधुनिकीकरण नहीं हो पाया है और इन्हें देश के साथ एकता के सूत्र में बाँधने में बाधा उपस्थित हो रही है।

(7) भारतीय समाज का सबसे कमजोर वर्ग—भारत में निवास करने वाली अनुसूचित जनजातियाँ भारतीय समाज में सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक विकास में सबसे कमजोर और सबसे पीछे हैं। अनुसूचित जातियों एवं अनुसूचित आदिम जातियों में सबसे अधिक निर्धनता पायी जाती है। इनमें से भी प्रत्येक व्यक्ति की स्थिति अलग-अलग है। यह वर्ग हमेशा से उपेक्षा का शिकार रहा है। इन जनजातियों में भी कुछ जनजातियाँ अत्यधिक अपेक्षित एवं निर्धन हैं। ये हैं—गुजरात में चारण, दुबला, नयी कडा और बरली जनजातियाँ; मध्य प्रदेश में बैगा, गोंड, मारिया, भूमिया, कमार और मवासी जनजातियाँ; उत्तर प्रदेश में भोटिया, जौनसा, और थारू तथा राजस्थान में भील, डामोर और सहरिया जनजातियाँ।

(8) सीमा प्रान्त जनजातियों की समस्याएँ—उत्तर पूर्वी सीमा प्रान्तों में निवास करने वाली जनजातियों की समस्याएँ देश के अन्य भागों की समस्याओं से भिन्न हैं। चीन, पाकिस्तान, बांग्लादेश ने अपनी सीमा से लगने वाले प्रान्तों की जनजातियों में विद्रोह की भावना को भड़काया है; उन्हें अस्त्र-शस्त्रों की सहायता दी है; भूमिगत नेताओं को अपने यहाँ शरण दी है। परिणामस्वरूप यहाँ स्वायत्तता की माँग प्रबल हो रही है।

(9) दलबन्दी का दूषित प्रभाव—जब से भारत को एक सार्वभौम सत्ताधारी राज्य घोषित किया गया है, तब से इन जनजातियों को भी भारतीय समाज के अन्य नागरिकों की भाँति पंचायत समिति, जिला परिषद्, राज्य विधान सभा, संसद सदस्य व प्रधानमन्त्री व राष्ट्रपति तक बनने के अधिकार प्राप्त हैं। अतः इन लोगों में राजनीतिक चेतना ने जन्म लिया है। परिणामस्वरूप इन जातियों में जातिवाद, राजनीतिक दलबन्दी तथा पारस्परिक तनाव की स्थितियाँ पैदा हो गयी हैं।

(10) एकीकरण की समस्या—भारतीय जनजातियों में अर्थव्यवस्था, समाज व्यवस्था, संस्कृति, धर्म एवं राजनीतिक व्यवस्था के आधार पर अनेक भिन्नताएँ पायी जाने के कारण गरीबी, शोषण, अशिक्षा, बीमारी, बेकारी आदि समस्याओं का निवारण नहीं हो पाता है। अतः जनजातियों का एकीकरण भी बहुत बड़ी समस्या है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि भारतीय जनजातियाँ विभिन्न आर्थिक, सामाजिक, शारीरिक, सांस्कृतिक, राजनीतिक तथा भौगोलिक समस्याओं से पीड़ित हैं।

जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु किये गये प्रयत्न
(EFFORTS MADE TO SOLVE THE PROBLEMS OF SCHEDULED TRIBES)

भारत में जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु किये गये प्रयासों को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है—

(अ) स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा किये गये प्रयास।

(ब) सरकारी प्रयास।

(अ) स्वयं सेवी संस्थाओं द्वारा किये गये प्रयास (Efforts made by Voluntary Institutions)

इस देश की अनेक स्वयं सेवी संस्थाएँ आदिवासियों और जनजातियों की समस्याओं से चिन्तित रही हैं और इन समस्याओं के समाधान हेतु अनेक स्तरों पर इन संस्थाओं द्वारा कार्य भी किये गये हैं। जनजातियों के हित के लिए कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाएँ निम्नांकित हैं—

(i) रामकृष्ण मिशन, (ii) भारतीय आदिम जाति संघ, नई दिल्ली, (iii) आन्ध्र प्रदेश आदिम जाति सेवक संघ, हैदराबाद, (iv) ठक्कर बापा आश्रम, (v) भारतीय रेडक्रॉस सोसायटी और (vi) ईसाई मिशनरियाँ आदि।

उपर्युक्त स्वयं सेवी संस्थाओं के अतिरिक्त महात्मा गाँधी भी जीवन पर्यन्त जनजातियों के उत्थान के लिए प्रयासरत रहे। उन्होंने इस दिशा में अनेक कार्य भी किये। ज्योति राव फुले व ठक्कर बापा का नाम भी जनजातियों के कल्याण के लिए कार्य करने वालों में प्रमुखता से लिया जाता है। ठक्कर बापा इनको आधुनिक सुविधाएँ दिलाकर गरीबी, अज्ञानता, बीमारी एवं कुशासन से मुक्ति दिलाना चाहते थे। इनके उत्थान व इनकी समस्याओं के समाधान के लिए अनेक धार्मिक संस्थाओं ने भी महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आर्य समाज व ईसाई मिशनरियाँ इनमें प्रमुख हैं। यद्यपि इन संस्थाओं ने धर्म प्रचार का कार्य ही अधिक किया है। इन संस्थाओं द्वारा किये गये कार्यों से कुछ समस्याओं का समाधान तो हुआ है किन्तु कुछ नयी समस्याएँ भी बढ़ी हैं। इस विषय में डॉ. दुबे का कथन है, "वैज्ञानिक दृष्टि से यह कह सकना कठिन है कि धार्मिक प्रयासों ने आदिवासियों का हित अधिक किया है या अहित। यदि आदिवासियों का धर्म परिवर्तन अपने पड़ोसी समुदायों से उन्हें दूर किये बिना ही उनकी सामाजिक एकता में सहायक होता है और उन्हें आधुनिक जीवन में भाग लेने के लिए तैयार करता है तो उसका विरोध नहीं किया जा सकता किन्तु यदि यह धर्म परिवर्तन उनमें सांस्कृतिक विघटन उत्पन्न कर, उन्हें भारतीय जीवन की मुख्य धारा से विमुख करता है तो उसकी उपयोगिता संदिग्ध होगी।"

(ब) सरकार द्वारा किये गये प्रयत्न (Efforts made by the Government)

जनजातियों की अनेक समस्याओं का समाधान करने के लिए केन्द्र व राज्य सरकारों द्वारा भी अनेक प्रयत्न किये गये हैं। इनमें से मुख्य प्रयत्न निम्नानुसार हैं—

(1) संवैधानिक प्रावधान (Constitutional Provisions)—स्वतन्त्र भारत के संविधान में जनजातियों के कल्याण के लिए कई विशेष प्रावधान किये गये हैं। संविधान देश के सभी नागरिकों के आर्थिक, सामाजिक एवं राजनीतिक न्याय, विचार अभिव्यक्ति, मान्यता, धार्मिक स्वतन्त्रता और प्रतिष्ठा एवं अवसर की समानता का आश्वासन देता है। इसके अन्तर्गत किसी भी जाति अथवा लिंग के आधार पर किसी भी प्रकार का भेदभाव वर्जित माना गया

है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 335 के अनुसार सार्वजनिक सेवाओं और सरकारी नौकरियों में देश की जनजातियों के लिए स्थान सुरक्षित रखने का आश्वासन दिया गया है। अनुच्छेद 325 में कहा गया है कि किसी को भी धर्म, प्रजाति, जाति एवं लिंग के आधार पर मताधिकार से वंचित नहीं किया जायेगा। आदिवासियों के जन-प्रतिनिधियों के लिए लोकसभा व राज्य विधान सभाओं में अनुच्छेद 330 व 332 के अनुसार स्थान सुरक्षित कर दिये गये हैं। इन आरक्षित स्थानों पर जनजातियों एवं अनुसूचित जातियों के अतिरिक्त अन्य कोई चुनाव नहीं लड़ सकता। अनुच्छेद 338 में राष्ट्रपति द्वारा इनके लिए विशेष अधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। इसी प्रकार से संविधान के दसवें भाग तथा पाँचवीं व छठी अनुसूचियों में जनजातीय क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में विशेष प्रावधान किये गये हैं। अनुच्छेद 342 व 344 में राज्यपालों को भारतीयों के सन्दर्भ में विशेष अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसी प्रकार संविधान के अनुच्छेद 47 में राज्य का यह दायित्व माना गया है कि वह जनजातियों की शिक्षा की उन्नति और आर्थिक हितों की सुरक्षा की ओर विशेष ध्यान दे। इसी प्रकार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 164 में असम के अतिरिक्त उड़ीसा, बिहार, मध्य प्रदेश आदि राज्यों में जनजातियों के कल्याण हेतु पृथक् मन्त्रालय स्थापित करने का प्रावधान किया गया है। इसी तरह से अनुच्छेद 224(2) के अन्तर्गत असम की जनजातियों के लिए जिला और प्रादेशिक परिषदें स्थापित करने का प्रावधान किया गया है। इससे स्पष्ट होता है कि संविधान में रखे गये विभिन्न प्रावधानों का उद्देश्य जनजातियों को देश के अन्य नागरिकों के समकक्ष लाना है, उन्हें देश की मुख्य जीवनधारा के साथ जोड़ना और उनका एकीकरण करना है, ताकि वे देश की आर्थिक एवं राजनीतिक व्यवस्था में भागीदार बन सकें।

सरकार द्वारा जनजातियों की समस्याओं के समाधान के प्रयत्न

* संवैधानिक प्रावधान
* प्रशासनिक प्रावधान
* कल्याणकारी तथा सलाहकारी संस्थाएँ
* विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व
* राजकीय सेवाओं में आरक्षण
* कल्याण योजनाएँ

(2) **प्रशासनिक प्रावधान** (Administrative Provisions)—आन्ध्र प्रदेश, हिमाचल प्रदेश, मध्य प्रदेश, बिहार, गुजरात, राजस्थान, उड़ीसा और महाराष्ट्र के कुछ क्षेत्र अनुच्छेद 224 और संविधान की पाँचवीं अनुसूची के अन्तर्गत 'अनुसूचित' (Scheduled) किये गये हैं। इस सम्बन्ध में इन राज्यों के राज्यपाल अपनी रिपोर्ट राष्ट्रपति को देते हैं। असम, मेघालय और मिजोरम का प्रशासन संविधान की छठी अनुसूची के उपबन्धों के आधार पर किया जाता है। इन प्रदेशों के कुछ जिले स्वायत्तशासी जिलों के रूप में कार्य करते हैं। इस प्रकार के आठ जिले हैं। ये जिले हैं—असम के उत्तरी कछार व धूधड़ी जिले तथा मिजोरम के चकमा, लोखर व पावी जिले। इनमें एक जिला परिषद् कार्य करती है जिसमें 30 से अधिक सदस्य नहीं होते। इस परिषद् को प्रशासनिक, वैधानिक और न्यायिक अधिकार प्राप्त हैं।

(3) **कल्याणकारी एवं सलाहकारी संस्थाएँ** (Welfare and Advisory Agencies)—भारत सरकार के गृह मन्त्रालय का यह दायित्व है कि वह इन जातियों के कल्याण के लिए योजनाएँ बनाये और उन्हें क्रियान्वित करे। सन् 1978 में संविधान के अनुच्छेद 338 के अन्तर्गत इन जातियों के लिए एक 'कमीशन' की स्थापना की गयी है। यह कमीशन इन लोगों के लिए किये गये 'सुरक्षा सम्बन्धी प्रावधानों' की जाँच करता है और उचित उपायों का सुझाव देता है। केन्द्र सरकार ने सन् 1968, 1971 व 1973 में संविधान में प्रदत्त सुरक्षा एवं उनके कल्याण की जाँच के लिए तीन संसदीय समितियाँ भी नियुक्त की हैं। वर्तमान

में इस प्रकार की स्थायी समिति बनायी गई है। इसके सदस्यों का कार्यकाल एक वर्ष होता है। इसी प्रकार से इनकी देखरेख व कल्याण हेतु प्रत्येक राज्य व केन्द्र-शासित क्षेत्र में पृथक् विभागों की स्थापना की गयी है। कुछ राज्यों में इनके कल्याण हेतु पृथक् से मन्त्री भी नियुक्त किये जाते हैं। कुछ राज्यों में केन्द्र की भाँति विधानमण्डल समितियाँ गठित की गयी हैं।

(4) **विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व (Representation in Legislatures)**—संविधान के अनुच्छेद 330 व 332 के अन्तर्गत राज्य व केन्द्र में इनके प्रतिनिधियों हेतु स्थान सुरक्षित रखे गये हैं। मूल रूप से पहले यह व्यवस्था 10 वर्षों के लिए की गई थी जिसे अब बढ़ाकर सन् 2010 तक कर दिया गया है। वर्तमान में विधानसभाओं में 527 स्थान व लोकसभा में 41 स्थान इन जनजातियों के प्रतिनिधियों के लिए सुरक्षित हैं। इसी प्रकार से राज्यों में व केन्द्र में होने वाले अन्य चुनावों में भी इनके लिए स्थान सुरक्षित किये गये हैं।

(5) **राजकीय सेवाओं में आरक्षण (Reservation in Government Services)**—इस प्रकार की नियुक्तियों में जनजातियों के लिए साढ़े सात प्रतिशत स्थान सुरक्षित हैं। नियुक्तियों के अतिरिक्त लगभग सभी प्रकार की पदोन्नतियों में भी इनके लिए स्थान सुरक्षित रखे जाते हैं। दिसम्बर 1999 तक 3,62,532 जनजातियों के व्यक्ति केन्द्र सरकार की सेवाओं में कार्यरत थे। इन्हें कई प्रकार की रियायतें भी प्राप्त हैं, जैसे—आयु सीमा में छूट, उपयुक्तता के मापदण्ड में छूट, अनुभव सम्बन्धी योग्यता में छूट, चयन सम्बन्धी योग्यताओं में छूट आदि। इसके अतिरिक्त समय-समय पर होने वाली पदोन्नतियों में भी अलग से इन्हें छूट प्रदान की जाती है व अनेक प्रकार के लाभ दिये जाते हैं। राज्य सरकारों ने भी इनको राजकीय सेवाओं में भर्ती करने और उन्हें पदोन्नतियाँ देने के सम्बन्ध में कई प्रावधान किये हैं।

(6) **कल्याण योजनाएँ (Welfare Schemes)**—पंचवर्षीय योजनाओं में संविधान में दिये गये निर्देशों को दृष्टिगत रखते हुए जनजातियों को शैक्षिक और आर्थिक स्तरों को राष्ट्रीय स्तर पर लाने का प्रयास किया गया है। इनके अन्तर्गत सामान्य विकास कार्यक्रमों द्वारा इन जातियों को विशेष लाभ पहुँचाने के लिए आर्थिक व्यवस्था की गयी है। प्रथम और द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में इन जातियों के विकास कार्यक्रमों के लिए क्रमशः 30.4 तथा 79.41 और तीसरी योजना में 100.40 करोड़ रुपयों का प्रावधान किया गया था। प्रथम व द्वितीय पंचवर्षीय योजनाओं में क्रमशः 9.83 करोड़ रुपया तथा 42.92 करोड़ रुपया व्यय किया गया। चौथी पंचवर्षीय योजना में 172.70 करोड़ रुपये व्यय किये गये। पाँचवीं व छठी पंचवर्षीय योजना में इन योजनाओं पर क्रमशः 296.19 करोड़ रु. व 2,030.30 करोड़ रुपये व्यय किये गये। सातवीं व आठवीं योजनाओं में क्रमशः 3,145.52 करोड़ रुपये एवं 3,952.32 करोड़ रुपये व्यय किये गये।

उपर्युक्त योजनाओं के अतिरिक्त जनजातियों के कल्याण हेतु राज्य सरकारों को भी विशेष सुविधाएँ प्रदान की जाती हैं। विभिन्न पंचवर्षीय योजनाओं में जनजातियों के कल्याण के लिए अनेक नये-नये कार्यक्रम लागू किये गये हैं। इनमें प्रमुख हैं—प्रशिक्षण एवं शिक्षण व पथ-प्रदर्शन केन्द्र, छात्रवृत्तियाँ, बालिका छात्रावास, जनजातीय अनुसन्धान संस्थान व विदेशों में पढ़ने वाले छात्रों के लिए छात्रवृत्ति आदि।

अनुसूचित जनजातियाँ कुछ विशिष्ट क्षेत्रों में रहती हैं इसलिए इन विशिष्ट क्षेत्रों के लिए 'जनजातीय उपयोजनाएँ' बनायी गयी हैं। वर्तमान में देश के 20 राज्यों में जनजातीय

उपयोजनाएँ प्रभावी हैं। इन राज्यों के अन्तर्गत 3.72 करोड़ जनजातीय जनसंख्या आती है। ये उपयोजनाएँ 193 एकीकृत जनजातीय विकास परियोजनाओं के माध्यम से चलायी जा रही हैं। इन परियोजनाओं के अन्तर्गत 73 जनजातियाँ आती हैं।

अति लघु उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1. 1991 की जनगणना के अनुसार भारत में जनजातियों की संख्या कितनी थी ?

उत्तर—8.66 करोड़।

प्रश्न 2. जनजातियों की यह संख्या भारत की कुल जनसंख्या का कितने प्रतिशत थी ?

उत्तर—9.55 प्रतिशत।

प्रश्न 3. भारत के किस-किस राज्य में जनजातियों की संख्या बहुतायत में पाई जाती है ?

उत्तर—मध्य प्रदेश, उड़ीसा, बिहार, गुजरात, महाराष्ट्र, मिजोरम, नागालैण्ड, मेघालय, अरुणाचल प्रदेश एवं त्रिपुरा में।

प्रश्न 4. जनजातियों की आय का मुख्य स्रोत क्या है ?

उत्तर—कृषि और वन उत्पादनों को एकत्रित करने से प्राप्त आय।

प्रश्न 5. डॉ. घुरिये ने भारतीय जनजातियों की समस्याओं को कितने भागों में विभाजित किया है ?

उत्तर—तीन भागों में।

प्रश्न 6. जनजातियों की प्रमुख समस्याएँ कौन-कौन-सी हैं ?

उत्तर—(i) सांस्कृतिक सम्पर्क की समस्याएँ, (ii) स्वास्थ्य सम्बन्धी समस्याएँ, (iii) आर्थिक समस्याएँ, (iv) सामाजिक समस्याएँ, (v) शिक्षा सम्बन्धी समस्याएँ, (vi) दुर्गम स्थानों में निवास की समस्या तथा (vii) एकीकरण की समस्या।

प्रश्न 7. जनजातियों के कल्याण के लिए कार्य करने वाली प्रमुख संस्थाएँ कौन-कौन-सी हैं ?

उत्तर—(i) रामकृष्ण मिशन, (ii) भारतीय आदिम जाति संघ, (iii) आन्ध्र प्रदेश आदिम जाति सेवक संघ, (iv) ठक्कर बापा आश्रम, (v) भारतीय रेडक्रॉस सोसायटी तथा (vi) ईसाई मिशनरियाँ।

प्रश्न 8. सरकारी स्तर पर जनजातियों के कल्याण हेतु क्या-क्या प्रयास किये गये हैं ?

उत्तर—(i) संवैधानिक प्रयास, (ii) प्रशासनिक प्रावधान, (iii) कल्याणकारी संस्थाएँ, (iv) विधानमण्डलों में प्रतिनिधित्व तथा (v) राजकीय सेवाओं में आरक्षण।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

1. जनजातियों की विभिन्न समस्याओं पर एक लेख लिखिए।
2. जनजाति समुदाय की आर्थिक समस्याओं को विस्तार से समझाइए।
3. भारत की जनजातियों की प्रमुख विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. विभिन्न स्वयंसेवी संस्थाओं द्वारा जनजातियों की समस्याओं के समाधान हेतु किये गये प्रयासों की विवेचना कीजिए।
5. सरकार ने जनजातियों की दशा में सुधार करने हेतु क्या-क्या प्रयास किये हैं ? समझाइए।

● ●

माध्यमिक शिक्षा मण्डल, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 2000

136/1—472(AW)

नागरिकशास्त्र

प्रथम प्रश्न-पत्र

समय : तीन घण्टे] [पूर्णांक : 50

निर्देश :

(i) केवल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिए।

(ii) प्रश्न संख्या 1 अनिवार्य है।

1. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर दीजिए :

(i) नागरिकशास्त्र एवं समाजशास्त्र में एक मूलभूत समानता क्या है ? 1

(ii) सम्मिलित (संयुक्त) परिवार के दो लाभ उल्लिखित कीजिए। 1

(iii) आदर्श नागरिक के दो आवश्यक गुणों को समझाइए। 1

(iv) रूसो द्वारा लिखित एक पुस्तक का नाम लिखिए। 1

(v) कठोर (अनमनीय) संविधान के दो गुण समझाइए। 1

(vi) एकसदनात्मक व्यवस्थापिका के दो दोषों का वर्णन कीजिए। 1

(vii) आदर्शवाद की कोई दो विशेषताएँ लिखिए। 1

(viii) गुट निरपेक्ष आन्दोलन का प्रवर्तक कौन था ? 1

(ix) दो मानव अधिकारों के नाम लिखिए। 1

(x) वयस्क मताधिकार के दो गुणों का उल्लेख कीजिए। 1

2. नागरिकशास्त्र से आप क्या समझते हैं ? उसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए। 4 + 6

3. "समुदाय आधुनिक समय में नागरिक की तलवार तथा ढाल दोनों ही हो गए हैं।" इस कथन के संदर्भ में समुदायों के महत्व एवं कार्यों का परीक्षण कीजिए। 4 + 6

4. स्वतंत्रता पर एक लेख लिखिए। 10

5. आधुनिक राज्यों में पाई जाने वाली कार्यपालिका के विभिन्न रूपों का वर्णन कीजिए। 10

6. एकात्मक सरकार की क्या विशेषताएँ हैं ? संघात्मक सरकार से इसकी तुलना कीजिए। 5 + 5

7. सरकार के प्रमुख अंग कौन से हैं ? व्यवस्थापिका कार्यपालिका पर किस प्रकार नियंत्रण रखती है ? 4 + 6

8. जनमत से आप क्या समझते हैं ? स्वस्थ जनमत निर्माण की आवश्यक शर्तों का वर्णन कीजिए। 4 + 6

9. सांविधानिक राजतंत्र क्या है ? इसके गुणों का उल्लेख कीजिए। 4 + 6

10. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए : 5 + 5
(i) पंचशील
(ii) एकदलीय व्यवस्था के गुण और दोष
(iii) राज्य की उत्पत्ति का पितृसत्तात्मक सिद्धान्त
(iv) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय

माध्यमिक शिक्षा मण्डल, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 2000

136/1—472(AX)

नागरिकशास्त्र

प्रथम प्रश्न-पत्र

निर्देश :

(i) केवल **पाँच** प्रश्नों के उत्तर दीजिए।
(ii) प्रश्न संख्या **10** अनिवार्य है।

1. नागरिकशास्त्र की परिभाषा दीजिए तथा इसके क्षेत्र की विवेचना कीजिए। 5 + 5
2. समुदाय की परिभाषा दीजिए तथा राज्य और अन्य समुदायों में अन्तर स्पष्ट कीजिए। 5 + 5
3. सीमित परिवार से आप क्या समझते हैं ? वर्तमान युग में सीमित परिवार के गुणों की विवेचना कीजिए। 3 + 7
4. नागरिकता की परिभाषा के साथ-साथ नागरिकता प्राप्त करने तथा खोने की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए। 3 + 4 + 3
5. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर टिप्पणियाँ लिखिए : 5 + 5
(अ) नागरिक के कर्तव्य
(ब) पर्यावरण की सुरक्षा
(स) अधिकारों का वर्गीकरण
(द) अधिकारों और कर्तव्यों के बीच सम्बन्ध
6. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षेप में टिप्पणियाँ लिखिए : 5 + 5
(अ) राज्य की उत्पत्ति का विकासवादी सिद्धान्त
(ब) सामाजिक संविदा सिद्धान्त
(स) राज्य की उत्पत्ति का दैवी सिद्धान्त
(द) समाजवाद के प्रमुख सिद्धान्त
(य) आदर्शवाद के प्रमुख सिद्धान्त
(र) व्यक्तिवाद की अवधारणा
7. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षेप में लिखिए— 5 + 5
(अ) ऑस्टिन के सम्प्रभुता सिद्धान्त का मूल्यांकन

(ब) सम्प्रभुता के विविध रूप और लक्षण
(स) विधि के स्रोत
(द) अच्छे कानून के लक्षण
(य) स्वतंत्रता की आवश्यकता और रूप
(र) समानता के विविध रूप

8. लचीले और कठोर संविधान के गुण-दोष बताइए। 5 + 5

अथवा

लिखित और अलिखित संविधान के गुण-दोष लिखिए। 5 + 5

9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षेप में लिखिए : 5 + 5
(अ) शक्ति-पृथक्करण सिद्धान्त
(ब) एकात्मक और संघात्मक शासन
(स) संसदात्मक और अध्यक्षात्मक शासन
(द) लोकतंत्र के गुण-दोष

10. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर दीजिए :
(अ) समुदाय के दो प्रमुख तत्व 1
(ब) परिवारों का वर्गीकरण 1
(स) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के भारतीय कर्णधार का नाम 1
(द) संयुक्त राष्ट्र-संघ के दो प्रमुख अंग 1
(य) संयुक्त राष्ट्र-संघ की स्थापना की तिथि और वर्ष 1
(र) संयुक्त राष्ट्र-संघ के वर्तमान महासचिव का नाम 1
(ल) जनमत निर्माण के दो प्रमुख साधन 1
(व) दलीय प्रणाली के रूप 1
(श) वयस्क मताधिकार के पक्ष में दो तर्क 1
(ष) राष्ट्रीयता के दो तत्व 1

माध्यमिक शिक्षा मण्डल, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 2000

136/1—472 (AY)

नागरिकशास्त्र

प्रथम प्रश्न-पत्र

निर्देश :

(i) कुल पाँच प्रश्नों के उत्तर लिखिये जिनमें प्रश्न संख्या 10 अनिवार्य है।

1. "नागरिकशास्त्र मुख्यत: पड़ोस के अध्ययन से सम्बन्धित है।" इस कथन की व्याख्या करते हुये नागरिकशास्त्र का अध्ययन-क्षेत्र समझाइये। 5 + 5

2. अधिकारों का वर्गीकरण कीजिये। अधिकार और कर्तव्यों का सम्बन्ध निरूपित कीजिये। 4 + 6
3. राज्य के मुख्य तत्वों का आलोचनात्मक वर्णन कीजिये। भारत संघ के सन्दर्भ में बिहार को राज्य कहना कहाँ तक समीचीन है ? 7 + 3
4. प्रभुसत्ता के प्रमुख लक्षणों का वर्णन कीजिए। इसे कहाँ तक असीमित कहा जा सकता है ? 6 + 4
5. स्वतन्त्रता का अर्थ स्पष्ट कीजिये। स्वतन्त्रता के प्रकारों की व्याख्या कीजिये। 3 + 7
6. "अन्तर्राष्ट्रीयता के अब तक के विकास की परिणति संयुक्त राष्ट्र संघ है"—इस कथन के परिप्रेक्ष्य में अन्तर्राष्ट्रीयता का विकास संक्षेप में लिखिये। 3 + 7
7. संघात्मक शासन किसे कहते हैं ? संघीय शासन के प्रमुख लक्षणों का विवेचन कीजिये। 4 + 6
8. स्वतन्त्र न्यायपालिका का क्या महत्व है ? न्यायपालिका की स्वतन्त्रता सुरक्षित करने के लिये कौन-से उपाय किये जाते हैं ? 4 + 6
9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो शीर्षकों पर टिप्पणी लिखियें : 5 + 5
   (क) शक्ति-पृथक्करण।
   (ख) पर्यावरण के प्रति नागरिक का दायित्व।
   (ग) न्यायपालिका के मुख्य कार्य।
   (घ) लोकतन्त्र और समानता।
10. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर लिखिये :
   (i) नागरिक के दो प्राकृतिक अधिकार लिखिए। 1
   (ii) समुदाय के मुख्य तत्वों का उल्लेख कीजिये। 1
   (iii) राष्ट्रीयता के दो मुख्य लाभ लिखिये। 1
   (iv) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका का एक लाभ लिखिये। 1
   (v) राष्ट्र और राज्य का एक अन्तर लिखिये। 1
   (vi) अच्छे कानून के दो लक्षणों का उल्लेख कीजिये। 1
   (vii) संविधान के दो मुख्य प्रकार क्या हैं ? 1
   (viii) 'अर्थशास्त्र' का लेखक कौन है ? 1
   (ix) बहुदलीय प्रणाली का एक दोष लिखिए। 1
   (x) ऐसे दो राज्यों का नाम लिखिये जहाँ राज्य का प्रधान राजा है किन्तु सरकार जनतन्त्रात्मक है।

माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद,

2001

136/1 472 (BV)

नागरिक शास्त्र (कक्षा XII)

(प्रथम प्रश्नपत्र)

Time : Three Hours] [*Maximum Marks* : 50

निर्देश :

(i) कुल पाँच प्रश्नों के उत्तर दीजिये।

(ii) प्रश्न संख्या 10 अनिवार्य हैं।

1. नागरिक शास्त्र की परिभाषा लिखिये तथा इसका मनोविज्ञान और इतिहास से सम्बन्ध बताइये। 3 + 3 + 4
2. आदर्श नागरिक के प्रमुख गुणों की विवेचना कीजिये। 10
3. पर्यावरण की सुरक्षा के प्रति नागरिक के दायित्व की विवेचना कीजिये। 10
4. स्वतन्त्रता की परिभाषा लिखिये। स्वतन्त्रता एवं समानता का सम्बन्ध बताइये। 4 + 6
5. राज्य के कार्यों के सम्बन्ध में मनु के विचारों की विवेचना कीजिये। 10
6. संविधान से आप क्या समझते हैं ? लिखित संविधान के गुण, दोषों की विवेचना कीजिये। 3 + 7
7. कार्यपालिका के प्रमुख कार्यों का वर्णन कीजिये। 10
8. जनमत से आप क्या समझते हैं ? स्वस्थ जनमत के विकास के लिये आवश्यक परिस्थितियों का वर्णन कीजिये। 3 + 7
9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिये : 5 + 5

   (क) संवैधानिक राजतन्त्र।

   (ख) द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के दोष।

   (ग) अन्तर्राष्ट्रीयता के मार्ग में बाधायें

   (घ) भारतीय जनजातियों की समस्यायें
10. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर लिखिये— 10×1

   (i) आदर्श नागरिकता की 2 बाधाओं को लिखिये।

   (ii) नागरिक के 2 प्रमुख कर्तव्य बताइये।

   (iii) राज्य और सरकार में दो अन्तर बताइये।

   (iv) कल्याणकारी राज्य की कोई एक विशेषता लिखिये।

(v) अच्छे संविधान के 2 आवश्यक लक्षण बताइये।
(vi) एकात्मक सरकार के 2 दोष लिखिये।
(vii) न्यायपालिका के 2 कार्य लिखिये।
(viii) संसदात्मक शासन के 2 गुण लिखिये।
(ix) राजनीतिक दलों के 2 उद्देश्य लिखिये।
(x) भारत में पिछड़ी जातियों को केन्द्र सरकार की सेवाओं में कितने प्रतिशत आरक्षण प्रदान किया गया है ?

माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 2001

136/1 472 (BW)

प्रथम प्रश्न-पत्र

1. नागरिक शास्त्र की परिभाषा लिखिए। इसके अध्ययन की उपयोगिता का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए। 2 + 8
2. लोक कल्याणकारी राज्य की अवधारणा का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। 10
3. राज्य की विस्तृत परिभाषा दीजिए और सरकार से उसका अन्तर स्पष्ट कीजिए। 5 + 5
4. अरस्तू द्वारा राज्यों के वर्गीकरण का आलोचनात्मक परीक्षण कीजिए। 10
5. स्वतन्त्रता के विभिन्न प्रकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए। 10
6. संघात्मक शासन क्या है ? इसके गुण-दोषों की विवेचना कीजिए। 4 + 6
7. संविधानों के वर्गीकरण के आधारों की व्याख्या कीजिए। 10
8. 'कार्यपालिका' से आप क्या समझते हैं ? इसके विविध रूपों की विवेचना कीजिए। 4 + 6
9. द्विसदनात्मक व्यवस्थापिका के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए। 10
10. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर दीजिए :
    (i) गुट-निरपेक्ष आन्दोलन के किसी एक जनक का नाम लिखिए।
    (ii) 'अर्थशास्त्र' के लेखक का नाम बताइए।
    (iii) मनु के अनुसार राज्य के दो कार्य क्या हैं ?
    (iv) स्वस्थ जनमत की दो बाधाएँ लिखिए।
    (v) अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय का मुख्यालय कहाँ है ?
    (vi) समानता की दो किस्में लिखिए।
    (vii) नागरिक के दो अधिकार बताइए।
    (viii) सीमित परिवार के दो महत्वपूर्ण लाभ लिखिए।
    (ix) वयस्क मताधिकार के दो गुण बताइए।
    (x) राष्ट्रीयता के दो तत्व लिखिए।

माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 2001

136/1 472 (BX)

प्रथम प्रश्न-पत्र

1. नागरिक शास्त्र की प्रकृति (स्वरूप) की व्याख्या कीजिए। 10
2. नागरिकता से आप क्या समझते हैं ? नागरिक तथा विदेशी में अन्तर स्पष्ट कीजिए। 5 + 5
3. प्रजातन्त्र की परिभाषा दीजिए तथा उसके गुण व दोषों की विवेचना कीजिए। 5 + 5
4. अध्यक्षात्मक तथा संसदात्मक शासन प्रणालियों की तुलना कीजिए। 10
5. कार्यपालिका से आप क्या समझते हैं ? इसके विविध रुपों का उल्लेख कीजिए। 3 + 7
6. समानता को परिभाषित कीजिए तथा स्वतन्त्रता के साथ इसके सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए। 5 + 5
7. संविधान से क्या तात्पर्य है ? एक अच्छे संविधान के लक्षण बताइए। 4 + 6
8. राजनीतिक दल किसे कहते हैं ? प्रजातान्त्रिक प्रणाली में राजनीतिक दलों का क्या महत्व है ? 4 + 6
9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए : 5 + 5
   (i) आदर्श नागरिक
   (ii) सीमित परिवार
   (iii) जनमत
   (iv) राष्ट्रीयता।
10. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर दीजिए : 10× 1
    (i) नागरिक शास्त्र की दो अध्ययन पद्धतियों का उल्लेख कीजिए।
    (ii) सुखी परिवार के लिए दो आवश्यक दशाएँ बताइए।
    (iii) नागरिकों के दो प्रमुख कर्तव्यों का उल्लेख कीजिए।
    (iv) मनु की पुस्तक का नाम बतलाइए।
    (v) राज्य के दो अनिवार्य कार्य लिखिए।
    (vi) सुरक्षा परिषद के दो स्थायी सदस्यों के नाम लिखिए।
    (vii) राष्ट्रीयता की कोई दो विशेषताएँ लिखिए।
    (viii) राज्य और सरकार के कोई दो अन्तर बतलाइए।
    (ix) लिखित संविधान के कोई दो उदाहरण दीजिए।
    (x) एकात्मक शासन प्रणाली का एक दोष लिखिए।

माध्यमिक शिक्षा परिषद्, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद, 2001

136/1 472 (BY)

प्रथम प्रश्न-पत्र

1. नागरिक शास्त्र की परिभाषा कीजिये और इसकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिये। 5 + 5
2. सीमित परिवार से आप क्या समझते हैं ? सीमित परिवार के गुणों की विवेचना कीजिये। 3 + 7
3. पर्यावरण प्रदूषण से आप क्या समझते हैं ? इसे दूर करने के लिये नागरिकों के दायित्व का उल्लेख कीजिये। 5 + 5
4. कल्याणकारी राज्य की अवधारणा की विवेचना कीजियें। 10
5. स्वतन्त्रता क्या है ? समानता से इसका सम्बन्ध बतलाइये। 6 + 4
6. संविधान क्या है ? विकसित तथा निर्मित संविधानों की व्याख्या कीजिये। 3 + 7
7. अध्यक्षात्मक सरकार से आप क्या समझते हैं ? इसके गुण दोषों की विवेचना कीजिये। 4 + 6
8. राजनीतिक दल की परिभाषा कीजिये तथा इसके महत्वपूर्ण कार्यों का वर्णन कीजिये। 3 + 7
9. निम्नलिखित में से किन्हीं दो पर संक्षिप्त टिप्पणियाँ लिखिये : 5 + 5

   (क) राष्ट्रीयता (ख) आरक्षण

   (ग) एकल और बहुल कार्यपालिकायें (घ) संसदीय शासन-प्रणाली।
10. निम्नलिखित प्रश्नों के अति लघु उत्तर दीजिये :

   (i) कौटिल्य की पुस्तक का नाम क्या है ?

   (ii) भारतीय जनता पार्टी के अध्यक्ष का क्या नाम है ?

   (iii) स्वस्थ जनमत-निर्माण की एक बाधा कौन-सी है ?

   (iv) नागरिक शास्त्र की एक अध्ययन-पद्धति का नाम बताइये।

   (v) संयुक्त राष्ट्र संघ का एक मुख्य अंग का नाम बताइये।

   (vi) एकदलीय प्रणाली का एक दोष बताइये।

   (vii) एक लचीले संविधान का नाम लिखियें।

   (viii) दो "गुट निरपेक्ष" राज्यों के नाम बताइये।

   (ix) एक निर्वाचन-प्रणाली का नाम बताइये।

   (x) आदर्श नागरिकता की दो बाधायें क्या हैं ?













आदि शंकराचार्य मुनि

पं० रामानुजाचार्य

साध्वी निर्मला योगभारती

डा0 नन्दनम् सत्यम्

ता शास्त्री

तुर्वेदा

